रासायनिक संगठन—इसके बीजों में २½% राख होती है। उसमें मैंगेनीज़ का अंश रहता है।

गुण और प्रयोग—यह संग्राहक एवं नेत्राभिष्यंदप्रशमन है। पूययुक्त नेत्राभिष्यंद में भुने हुए बीजों की मज्जा का ½ र० चूर्ण पलकों के अन्दर रखते हैं। बीजों को पानी में साने हुए गेहूँ के आटे में रख, गरम राख में गरम कर, छिलका निकाल कर नेत्ररोगों में प्रयोग किया जाता है। चाकसू के २१ बीज तथा सफेद चंदन ५ माशे रात में जल में भिगो कर सुबह उस जल को छानकर पिलाने से रक्त मूत्र ठीक होता है।

इति श्रीमिश्रलटकनतनयश्रीमिश्रभावविरचिते भावप्रकाशे वर्गप्रकरणे
तृतीयः कर्पूरादिवर्गः समाप्तः ॥ ३ ॥

अथ गुडूच्यादिवर्गः

अथ गुडूची। तस्या उत्पत्तिं नामानि गुणाँश्चाह

अथ लङ्केश्वरो मानी रावणो राक्षसाधिपः रामपत्नीं बलात्सीतां जहार मदनातुरः ॥ १ ॥
ततस्तं बलवान् रामो रिपुं जायाऽपहारिणम्। वृतो वानरसैन्येन जघान रणमूर्धनि ॥ २ ॥
हते तस्मिन्सुराराती रावणे बलगर्विते। देवराजः सहस्राक्षः परितुष्टश्च राघवे ॥ ३ ॥
तत्र ये वानराः केचिद्राक्षसैर्निहता रणे। तानिन्द्रो जीवयामास संसिच्यामृतवृष्टिभिः ॥ ४ ॥
ततो येषु प्रदेशेषु कपिगात्रात्परिच्युताः। पीयूषबिन्दवः पेतुस्तेभ्यो जाता गुडूचिका ॥ ५ ॥
गुडूची मधुपर्णी स्यादमृताऽमृतवल्लरी। छिन्ना छिन्नरुहा छिन्नोद्भवा वत्सादनीति च ॥ ६ ॥
जीवन्ती तन्त्रिका सोमा सोमवल्ली च कुण्डली। चक्रलक्षणिका धीरा विशल्या च रसायनी ॥
चन्द्रहासा वयस्था च मण्डली देवनिर्मिता। गुडूची कटुका तिक्ता स्वादुपाका रसायनी ॥८॥
संग्राहिणी कषायोष्णा लघ्वी बल्याऽग्निदीपिनी। दोषत्रयामतृड्दाहमेहकासांश्च पाण्डुताम् ॥
कामलाकुष्ठवातास्रज्वरक्रिमिवमीन्हरेत्। (प्रमेहश्वासकासार्शः कृच्छ्रहृद्रोगवातनुत्) ॥१०॥

अब यहां से गुडूच्यादिवर्ग आरम्भ होता है। उसमें प्रथम 'गिलोय' की उत्पत्ति, नाम तथा गुण कहते हैं।

उत्पत्ति—जब कि अभिमानी, लङ्का के राजा, राक्षसों के स्वामी रावण ने कामातुर हो श्रीरामचन्द्रजी की पत्नी श्रीसीताजी को बलपूर्वक हरण किया, तब बलवान् श्रीरामचन्द्रजी ने स्त्री के हरण करनेवाले उस शत्रु (रावण) को वानरों की सेनाओं से युक्त हो युद्ध में मारा। बल से गर्वीले, देवताओं के शत्रु उस रावण के मारे जाने पर हजार नेत्रों वाले देवताओं के राजा इन्द्र, श्रीरामचन्द्रजी पर अत्यन्त प्रसन्न हुये और उन्होंने उस युद्ध में जो कोई वानर राक्षसों के द्वारा मारे गये थे उन्हें अमृत की वर्षा से सींचकर जिला दिया। उसके बाद जिन स्थानों पर वानरों के शरीर से अमृत की बूँदे पृथ्वी पर गिरीं, उनसे 'गिलोय' की उत्पत्ति हुई।

नाम—गुडूची, मधुपर्णी, अमृता, अमृतवल्लरी, छिन्ना, छिन्नरुहा, छिन्नोद्भवा, वत्सादनी, जीवन्ती, तन्त्रिका, सोमा, सोमवल्ली, कुण्डली, चक्रलक्षणिका, धीरा, विशल्या, रसायनी, चन्द्रहासा, वयस्था, मण्डली और देवनिर्मिता ये सब संस्कृत नाम 'गिलोय' के हैं।

गुण—गिलोय कटु, तिक्त तथा कषाय रस युक्त एवं विपाक में मधुर रसयुक्त, रसायन, संग्राही, उष्णवीर्य, लघु, बलकारक, अग्निदीपक तथा त्रिदोष, आम, तृषा, दाह, मेह, कास, पाण्डुरोग, कामला, कुष्ठ, वातरक्त, ज्वर, क्रिमि और वमि को दूर करती है। (यह प्रमेह, श्वास, कास, अर्श, मूत्रकृच्छ्र, हृद्रोग और वात इन सबों का नाश करने वाली होती है) ॥ १–१० ॥

इसके पत्तों के गुण आगे शाकवर्ग में लिख हुवे हैं।

१ गिलोय

हि०–गिलोय, गुरुच, गुडुच। **बं०**–गुलंच, पालो (सत्व)। **म०**–गुलवेल, गरुड़ वेल। **गु०**–गलो। **क०**–अमरदवल्ली, अमृत वल्ली। **ते०**–तिप्पतीगे। **ता०**–शिन्दिलकोडि, अमृडवल्ली। **उ०**–गुलंचा। **पं०**–गिलो। **क०**–गरुड़वेल। **मला०**–अम्रितु। **गोआ०**–अमृतवेल। **फा०**–गिलोई,

गिलोय। अ०–गिलोइ। अं०–टिनोस्पोरा (Tinospora)। ले०–*Tinospora cordifolia (Willd.) Miers* (टिनोस्पोरा कॉर्डिफोलिया मायर्स)। Fam. Menispermaceae (मेनिस्पर्मेसी)।

गिलोय—प्रायः सब प्रान्तों के जंगल झाडियों में पाई जाती है विशेष कर गरम प्रान्तों में अधिक होती है। देहरादून और सहारनपुर के जङ्गलों में बहुत पायी जाती है।

इसकी बहुवर्षायु, चिकनी एवं मांसल लता–बहुत विस्तार में वृक्षों पर फैल जाती है। शाखाओं से डोरे के समान शोरियाँ निकल कर भूमि की ओर लटकती हैं। पत्ते–पान के समान, २–४ इञ्च के घेरे में गोलाकार नुकीले, चिकने, पतले, ७–९ शिराओं से युक्त एवं १–३ इञ्च लंबे पर्णवृन्त से युक्त होते हैं। प्रायः वसन्त ऋतु में इसके पुराने पत्ते पीले होकर गिर जाते हैं और ज्येष्ठ तक नवीन पत्ते निकल आते हैं। उसी समय हरापन युक्त पीले रंग के अथवा केवल पीले रंग के फूलों के गुच्छे आते हैं। फल–मटर के समान होते हैं और पकने पर ये लाल हो जाते हैं। बीज–कुछ टेढ़े तथा चिकने होते हैं।

इसके मूल तथा कांड का व्यवहार औषध के लिये किया जाता है। ताजी अवस्था में कांड की छाल हरी तथा मांसल रहती है तथा उस पर पतली भूरे रंग की बाह्य त्वचा रहती है जिसकी पपड़ी निकलती रहती है। इस पर छोटे-छोटे गठ्ठे होते हैं। इसको काटने से अन्दर का भाग चक्राकार दिखाई देता है। ताजी एवं हरी गुडुच ज्यादा लाभप्रद होती है। गरमी में मई महीने के आखिर में इसका संग्रह करना चाहिये। प्रयोग के पूर्व इसके ऊपर की छाल खुरचकर निकाल दी जाती है। इसमें गन्ध नहीं होती किन्तु स्वाद कडवा होता है।

इससे कुछ भिन्न इसकी एक दूसरी जाति प्रायः बड़ी (४″–९″×८″), मृदु रोमश और प्रायः त्रिखण्ड पत्तियों वाली होती है। इसके बीज के कठोर आवरण पर छोटे-छोटे दाने होते हैं। इसे सं०–पद्मगुडूची, बं०–पद्मगुलंच, माल०, पं०–बड़ी सरसटील एवं ले०–Tinospora malabarica (Lam.) Miers (टिनोस्पोरा मलबारिका मायर्स) कहते हैं। दोनों के गुण और स्वरूप में स्थूल-रूप से कोई अन्तर न मिलने के कारण दोनों का ही व्यवहार गुडूची के नाम से किया जाता है। इसे कुछ विद्वानों ने सुदर्शन माना है।

रासायनिक संगठन—इसकी ताजी कांड त्वक् में तीन रवेदार पदार्थ, गिलोइन ग्लूकोसाइड (Giloin, $C_{23}H_{32}O_{10}, 5H_2O$), गिलोइनिन नामक कडवा पदार्थ (Giloinin, $C_{17}H_{18}O_5$) तथा गिलोस्टेरॉल (Gilosterol, $C_{28}H_{48}O$) पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त इसमें बर्बेरिन (Berberine) एवं मोम की तरह का एक पदार्थ पाया जाता है।

गुडूचीसत्व—अच्छी मोटी गुडुच बरसात के पूर्व संग्रहकर ऊपर की छाल छुडाकर साफ धोकर छोटे टुकड़े बना पत्थर के खरल में महीन कूट डाले। इसमें चौगुना जल डाल १२–२४ घंटा भींगने के बाद अच्छी तरह मसलकर कपड़े से छान ले। सत्व नीचे बैठने के बाद ऊपर का जल धीरे से नितार कर सत्व को सुखाकर बन्द बोतलों में रखें। कुछ लोग नितरे हुवे जल में फिर से उसी गुडुच को मसल एवं उबाल कर छान लेते हैं तथा उस द्रव को पहले निकाले हुये सत्व में मिलाकर धूप में सुखा लेते हैं जिससे इसमें उष्ण जल में घुलनशील पदार्थ भी आजाते हैं। कुछ लोग नितारे हुये जल को औटाकर स्वतन्त्र प्रयोग भी करते हैं।

गुण और प्रयोग—गुडुच कडवी, उष्ण, त्रिदोषघ्न, रसायन, बल्य, ज्वरहर, दीपन, मूत्रजनन, त्वग्रोगहर, पित्तसारक तथा विषघ्न है। नवीन अनुसंधानों से गुडुची का व्याधिप्रतिकारक गुण व्यापक रूप में प्रमाणित हुआ है। जीर्ण पूतिकेन्द्र (Chronic septic focus) जनित विकार,

जीर्ण विषमज्वर तथा यकृत की हीनकार्यता आदि में कुछ काल तक गुडूची का प्रयोग करते रहने से अवश्य लाभ होता है।

इसका प्रयोग त्वग्रोग, विषमज्वर, जीर्णज्वर, कुष्ठ, वातरक्त, प्रमेह, मूत्रकृच्छ्र, कामला, पांडु, मन्दाग्नि, वमन, तृषा, दाह, रक्तार्श एवं कृमि आदि अनेक रोगों में किया जाता है।

(१) ताजी गिलोय को साफ धोकर बनाया कल्क १० तो० एवं अनन्तमूल का चूर्ण १० तो० इनको १०० तो० उबलते जल में बन्द पात्र में दो घंटे बन्द रखें। फिर मसल कर छान लें। यह फांट उत्तम रसायन एवं मूत्रजनन है। कुष्ठ, फिरङ्गोपदंश की द्वितीयावस्था, वातरक्त तथा जीर्ण आमवात में यह बहुत लाभदायक होता है। ज्वर के पश्चात् उत्पन्न दौर्बल्य तथा अन्य दौर्बल्य युक्त व्याधियों में इसका उपयोग पौष्टिक रूप में किया जाता है। इसको ५–१० तो० दिन में ३ बार पिलाते हैं।

(२) सौम्य विषमज्वर तथा जीर्णज्वर में जो शीत मालूम पड़ता है वह इसके क्वाथ से दूर होता है। जीर्णज्वर में इसके क्वाथ में या स्वरस में छोटी पीपल एवं मधु मिलाकर पिलाते हैं जिससे ज्वर, कफ, प्लीहावृद्धि एवं अरुचि आदि दूर होती है।

(३) प्रमेह, नवीन सोजाक तथा अन्य मूत्रविकारों में इसका स्वरस अधिक मात्रा में दिया जाता है। अधिक मात्रा से पाखाना भी साफ होता है। प्रमेह में २–३ ड्रा० स्वरस पाषाणभेद-चूर्ण ५–८ र० एवं मधु के साथ या दुग्ध एवं शर्करा के साथ दिन में ३ बार पिलाते हैं। गुडुच, हरिद्रा एवं आंवला इनका क्वाथ अथवा गुडुची स्वरस एवं मधु का प्रयोग भी लाभदायक होता है।

(४) गुडूची से पित्तमार्ग का अभिष्यन्द कम होने के कारण पित्त का स्राव ठीक होने लगता है। कुपचन, मन्द उदरशूल तथा कामला में इसका उपयोग किया जाता है। कामला में इसका स्वरस मधु मिलाकर सुबह पिलाना चाहिये। इसमें गुडुच के पत्तों का कल्क तक्र के साथ लाभदायक होता है। पैत्तिक वमन में इसका स्वरस पिलाने से लाभ होता है।

(५) त्वग्रोगों में यह प्रधान औषध है। इनमें एक हाथ प्रमाण में गुडुच, गुग्गुलु के साथ या कडवी नीम या हरिद्रा, खदिर एवं आंवला के साथ देते हैं। इससे कंडू, दाह, दाग एवं चकत्ते आदि अच्छे होते हैं। वातरक्त में दुग्ध के साथ सिद्ध किया हुआ इसका तैल लाभदायक माना जाता है। पित्ताधिक्य युक्त वातरक्त में इसका क्वाथ पिलाते हैं।

(६) अर्श में इसका स्वरस या चूर्ण तक्र के अनुपान से देते हैं।

(७) स्तन्यशुद्धि के लिये इसका क्वाथ पिलाया जाता है।

(८) रसायन रूप में इसका स्वरस या मधु एवं गुड के साथ इसके चूर्ण का प्रयोग किया जाता है।

(९) गुडूचीसत्व—ज्वरहर रूप में इसका बहुत उपयोग किया जाने से इसे भारतीय क्विनीन कहा जाता है। प्लीहावृद्धि एवं बस्तिशोथ में यह बहुत उपयोगी है। आंव, जीर्ण अतिसार, रक्तातिसार, अम्लपित्त, मूत्रविकार एवं शुक्रक्षय में यह लाभदायक है। औषधीय गुणों के अतिरिक्त यह उत्तम पोषक पदार्थ भी है।

मात्रा—चूर्ण १–३ मा०, क्वाथ ४–८ तो०; सत्व ५–२५ र०।

अथ नागवल्ली (पान)। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

ताम्बूलवल्ली ताम्बूली नागिनी नागवल्लरी। ताम्बूलं विशदं रुच्यं तीक्ष्णोष्णं तुवरं सरम्॥११॥
वश्यं तिक्तं कटु क्षारं रक्तपित्तकरं लघु। बल्यं श्लेष्मास्यदौर्गन्ध्यमलवातश्रमापहम्॥१२॥

पान के नाम तथा गुण–ताम्बूलवल्ली, ताम्बूली, नागिनी, नागवल्लरी और ताम्बूल ये सब संस्कृत नाम 'पान' के हैं। **पान**–विशदगुणयुक्त, रुचिकारक, तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, कसैला, दस्तावर, वशकारक, तिक्त, कटु रसयुक्त, क्षार गुणयुक्त, रक्तपित्त का उत्पादक, लघु तथा बलकारक होता है। यह कफ, मुख की दुर्गन्धता, मल, वात तथा श्रम को दूर करता है ॥ ११–१२ ॥

२ पान

हि०–पान **बं०**–पान । **म०**–नागवेल, विड्याचेपान । **ते०**–तमाल पाकु । **ता०**–वेत्तिलै। **गु०, मा०**–नागरवेल । **मला०**–वेत्तिल । **फा०**–तंबोल, बर्गे तम्बोल । **अ०**–तंबूल । **अं०**–Betel Leaf (बिटल लीफ) । **ले०**–*Piper betle Linn.* (पाइपर बीटल लिन.) । Fam. Piperaceae (पाइपरेसी) ।

पान –सर्वप्रसिद्ध और सर्वप्रिय एक बेल के पत्र हैं। भारतवर्ष, लंका एवं मलयद्वीप के उष्ण एवं आर्द्र प्रदेशों में इसकी खेती की जाती है। इसकी मूलारोहिणी लता–अत्यन्त सुहावनी और कोमल होती है। कांड–अर्धकाष्ठमय, मजबूत तथा गांठों पर मोटा रहता है। पत्ते-पीपल के पत्तों के समान, बड़े, चौड़े अंडाकार, कुछ हृदयाकृति, कुछ लंबाग्र, प्रायः ७ शिराओं से युक्त, चिकने, मोटे एवं करीब १ इञ्च लंबे पर्णवृन्त से युक्त रहते हैं। पुष्प–अवृन्त काण्डज (Spike) पुष्पव्यूहों में आते हैं। फल–करीब दो इञ्च लंबे, मांसल, लटकते हुये व्यूहाक्ष में छोटे-छोटे बहुत फल रहते हैं। पान में मनोहर गंध रहती है तथा इसका स्वाद कुछ उष्ण एवं सुगंधयुक्त रहता है।

इसके खेत की जमीन बीच में ऊँचा और दोनों किनारे नीची होती है। इससे खेत में पानी नहीं ठहरता। धूप और पाले से बचाव के लिये खेत के चारों ओर फूस की दीवार और छाजनी बना देते हैं। खेत के भीतर क्यारी बनाकर फरहद, जियल इत्यादि की डालियाँ लगा देते हैं। इन्हीं के सहारे पान की बेल फैलती है। बंगला, सांची, महोबा, महाराज पुरी, बिलोआ, कपुरी, फुलवा इत्यादि नामों से इसकी कई जातियाँ होती हैं। ध० नि० में इसके कृष्ण और शुभ्र ये दो भेद लिखे हुये हैं। रा० नि० में श्रीवाटी (सिरिवाडीपान), अम्लवाटी (अंबाडेपर्ण), सतसा (सातसीपर्ण), गुहागरे (अडगरपर्ण), अम्लसरा (मालव में होने वाला अंगरापर्ण), पटुलिका (आंध्र में होने वाला पोटकुली पर्ण) एवं हेसणीया (समुद्रदेशपर्ण) ये पान के सात भेद लिखे हैं जिनके अलग-अलग गुण भी लिखे हैं।[1] स्थानादि भेद से पान विभिन्न प्रकार का होता है। अति प्राचीनकाल से अपने

१. श्रीवाटी मधुरा तीक्ष्णा वातपित्तकफापहा ।
रसाढ्या सरसा रुच्या विपाके शिशिरा स्मृता ॥
स्यादम्लवाटी कटुकाम्लतिक्ता तीक्ष्णा तथोष्णा मुखपाककर्त्री ।
विदाहपित्तास्रविकोपनी च विष्टंभदा वातनिबर्हणी च ॥
सतसा मधुरा तीक्ष्णा कटुरुष्णा च पाचनी । गुल्मोदराध्मानहरा रुचिकृद्दीपनी परा ॥
गुहागरे सप्तशिरा प्रसिद्धा तत्पर्णजूतातिरसाऽतिरुच्या ।
सुगन्धितीक्ष्णा मधुरातिहृद्या सन्दीपनी पुंस्त्वकराऽतिबल्या ॥
नाम्नाऽन्याऽम्लसरा सुतीक्ष्णमधुरा रुच्या हिमा दाहनुत् ।
पित्तोद्रेकहरा सुदीपनकरी बल्या मुखमोदनी ॥
स्त्रीसौभाग्यविवर्धनी मदकरी राज्ञां सदा वल्लभा ।
गुल्माऽऽध्मानविबन्धजिच्च कथिता, सा मालवे तु स्थिता ॥
अन्ध्रे पटुलिका नाम कषायोष्णा कटुस्तथा । मलापकर्षा कंठस्य पित्तकृद्वातनाशनी ॥
हेसणीया कटुस्तीक्ष्णा हृद्या दीर्घदला च सा । कफवातहरा रुच्या कटुर्दीपनपाचनी ॥ (रा०नि०)

यहां पान का व्यवहार मुखशुद्धि, रुचिवृद्धि एवं सुगन्धि के लिये किया जाता है। चरक में मात्राशितीय अध्याय में 'धार्याण्यास्येन वैशद्यरुचिसौगन्ध्यमिच्छता'''कंकोलकफलं पत्रं तांबूलस्य शुभं तथा' एवं सुश्रुत में अन्नपानविधि अध्याय में इसका उल्लेख है।

रासायनिक संगठन—पान के पत्तों में एक सुगन्धि उड़नशील तैल (०.२–१.०%), स्टार्च, शर्करा, टॅनिन एवं डायास्टेस (Diastase, 0.8–1.8%) ये पदार्थ पाये जाते हैं। इसका तैल हलके पीले रंग का, सुगन्धि, स्वाद में तीक्ष्ण तथा दाहकारक एवं ०.९५८–१.०५७ वि० गु० वाला रहता है। इस तैल में चविकॉल (Chavicol), कॅडेनीन (Cadenene), चविबेटॉल (Chavibetol), यूजेनॉल का समाजिक (Isomeride of Eugenol) एवं सेस्क्विटर्पेन (Sesquiterpene) ये पदार्थ पाये जाते हैं। जावा एवं मनिला के तैल में फेनॉल (Phenols) की मात्रा बहुत (५५%) रहती है। पुराने पत्तों की अपेक्षा नवीन पत्तों में तैल, डायास्टेस एवं शर्करा की मात्रा अधिक रहती है। चविकॉल यह कार्बोलिक एसिड की अपेक्षा ५ गुना अधिक प्रतिदूषक (Antiseptic) है जो इसके स्वरस में रहता है।

गुण और प्रयोग—पान उत्तम दीपन, पाचन, श्लेष्मघ्न, वातहर, पित्तप्रकोपक, उष्ण, स्वर्य, सुगंधि, शोथघ्न, व्रणरोपक, प्रतिदूषक, कृमिघ्न, वृष्य एवं मुंह की कंडू–मल–क्लेद–दुर्गन्ध नाशक है।

इसका प्रयोग पीनस, कास, कफविकार, आध्मान तथा शोथादि में एवं कफविकारों में अनुपान के रूप में बहुत किया जाता है। सुपारी, चूना, कत्था एवं इलायची आदि पान के पत्ते में रख कर उसका बीड़ा बनाकर मुखशुद्धि आदि के लिये लोग खाते हैं। इसको खाते खाते लोगों को इसका व्यसन हो जाता है। कोकेन खाने वाले पान में कोकेन रखकर खाते हैं। कई औषधों को पान में रख कर खाने की प्रथा है।

जिसने पान कभी नहीं खाया है उसे प्रथम इसके सेवन के पश्चात् मुंह में जलनसी मालूम होती है, गले में एक तरह की जकड़न मालूम होती है, स्वाद ग्रहण करने की शक्ति कम होती है एवं मुंह आदि में छाले पड़ जाते हैं। कुछ देर तक बेचैनी, जी का धंसना, मूर्च्छा, संन्यास, कुछ उत्तेजना एवं स्वेदोत्पत्ति आदि लक्षण किसी-किसी में होते हैं।

इसके तैल के सेवन के पश्चात् मुख तथा आमाशय में उष्णता का अनुभव होता है। प्रारंभ में केन्द्रीय वातनाडी संस्थान की उत्तेजना के पश्चात् अधिक मात्रा से एक तरह का नशा उत्पन्न होता है। इसमें डायास्टेस (Diastase) की पर्याप्त मात्रा होने के कारण यह स्टार्च आदि पिष्टमय पदार्थों के पाचन में सहायक होता है। इसके अतिरिक्त पान चबाने से लालास्राव की वृद्धि होती है जो पाचन में सहायक होती है। भात खाने वालों में इससे विशेष लाभ होता है और यदि वे पान बंद कर दें तो उनका पाचन ठीक नहीं होता।

पान खाने का जिन्हें व्यसन हो जाता है उन्हें पान खाने से अच्छा मालूम होता है। उनका मन प्रसन्न होता है, थकावट दूर होती है, प्यास तथा भूख मालूम नहीं पड़ती एवं कुछ कामोत्तेजना होती है। यह तीव्र मादक नहीं होता तथा इसके व्यसन से कोई विषैले परिणाम नहीं होते। सोकर उठने पर, स्नान के पश्चात्, भोजन के पश्चात् एवं वमन के पश्चात्, पान के सेवन का विधान है।[1]

(१) कफप्रधान रोगों में यह बहुत लाभदायक होता है। तमक श्वास, श्वसनिका शोथ एवं स्वरयंत्र शोथ आदि में पान का रस पिलाते हैं एवं पान को ऊपर से बांधते हैं। बच्चों के कास,

१. पथ्यं सुप्तोत्थिते स्नाते भुक्ते वांते च संगरे। सभायां विदुषां राज्ञां कुर्यात् तांबूलचर्वणम् ॥

श्वासकृच्छ्र, श्वसनिकाशोथ एवं प्रतिश्याय आदि में पान के पत्तों को एरंडतैल लगाकर, गरम कर छाती पर बांधने से बहुत लाभ होता है।

(२) रोहिणी (डिफ्थीरिया Diphtheria) नामक बच्चों में अधिक होने वाले घातक गले के विकार में ४ पत्तों का रस थोड़े गरम पानी में मिलाकर गरारा करने को देते हैं। पान के तैल को १ बूंद की मात्रा में करीब आध पाव उष्ण जल में मिलाकर इसी प्रकार प्रयोग करते हैं तथा उसकी बाष्प सूंघते हैं।

(३) गांठ, शोथ एवं व्रण पर इसके पत्तों को गरम कर बांधने से शोथ एवं वेदना कम होती है एवं व्रण जल्दी अच्छा होता है। इसी प्रकार स्तनों पर बांधने से दुग्ध रुक जाता है तथा सूजन कम होती है। पान के रस में थोड़ा चूना मिलाकर शोथ आदि पर पोल्टिस के रूप में व्यवहार करते हैं।

(४) कोंकण की तरफ पान के फलों को मधु के साथ खांसी में देते हैं।

(५) उड़ीसा में इसके मूल को काली मिर्च के साथ संततिनियमन के लिये सेवन करते हैं।

(६) नेत्राभिष्यंद एवं रतौंधी में पत्तों का रस मधु मिलाकर आंख में डाला जाता है।

निषेध—नेत्ररोग, रक्तपित्त, क्षत, वातविकार, विषबाधा, शोष, मदात्यय, मोह एवं मूर्च्छा में इसका सेवन निषिद्ध है।[1]

मात्रा—स्वरस ½–१ तो०।

अथ बिल्वः (बेल)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

बिल्वः शाण्डिल्यशैलूषौ मालूरश्रीफलावपि।[2] श्रीफलस्तुवरस्तिक्तो ग्राही रूक्षोऽग्निपित्तकृत्।
वातश्लेष्महरो बल्यो लघुरुष्णश्च पाचनः ॥ १२ ॥

बेल के नाम तथा गुण—बिल्व, शाण्डिल्य, शैलूष, मालूर और श्रीफल ये सब संस्कृत नाम बेल के हैं। बेल-कषाय तथा तिक्त रस युक्त, ग्राही, रूक्ष, अग्निवर्धक, पित्तकारक, वात कफनाशक, बलकारक, लघु, उष्णवीर्य तथा पाचक है॥ १२ ॥

३ बेल

हि०–बेल, श्रीफल। **बं०, म०**–बेल। **गु०**–बीली। **क०**–बेलपत्रे। **ते०**–मारेडु, बिल्वपंडु। **ता०**–बिल्वम, बिश्वपझम। **मा०**–बील, बीलो। **मल०**–कुवलप–पेझम। **सिन्ध०**–बिल, कटोरी। **उडि०**–बेलो। **अ०**–सफरजले हिंदी। **फा०**–बेह हिंदी, बल, शुल। **अं०**–Bengal Quince (बेंगॉल् क्विन्स); Bael fruit (बेल फ्रुट)। **ले०**–*Aegle marmelos Corr.* (इगल् मार्मेलोस् कॉर)। Fam. Rutaceae (रूटॅसी)।

यह आसाम, ब्रह्मा, बंगाल, बिहार, युक्तप्रान्त, अवध, झेलम, मध्य और दक्षिण हिन्दुस्तान तथा सिलोन में जंगली और प्रायः सभी स्थानों में बागी दोनों प्रकार से उत्पन्न होता है।

इसका **वृक्ष**–मध्यमाकार का ५० फुट से भी ऊँचा होता है। शाखाओं पर सीधे, मोटे, तीक्ष्ण एक इञ्च तक लम्बे कांटे होते हैं। टहनियों पर पत्ते विषमवर्त्ती रहते हैं। प्रत्येक सींक पर तीन-तीन

---

१. न नेत्ररोगे न च रक्तपित्ते क्षते न वाते न विषे न शोषे।
मदात्यये नापि च मोहमूर्च्छाश्वासेषु ताम्बूलमुशन्ति वैद्याः॥ (सुषेणदेवः)

२. गन्धगर्भः शलाटुश्च कण्टकी च सदाफलः। (क्वाचित्कः)

पत्रकों से युक्त पत्ते रहते हैं। **पत्रक**–कसौंदी के पत्तों के आकार वाले एवं अंडाकार–भालाकार होते हैं। बीचवाला पत्ता अन्य दो से कुछ बड़ा होता है। फाल्गुन-चैत्र में पुराने पत्ते गिर जाते हैं और चैत्र-वैशाख में क्रम से नवीन पत्ते निकल आते हैं। इसी समय में हरियाली लिये सफेद रङ्ग के, ४, ५ पंखडियों (अन्तर्दल) वाले एवं करीब १ इञ्च चौड़े फूल लगते हैं और उनमें मधु के समान मन्द गन्ध निकलती है। **फल** (बीजिमांसल फल–Berry)–गोलाकार ३–८ इञ्च व्यास के, हरिताभ रंग के, पकने पर पीताभ भूरे रंग के एवं चिकने होते हैं। बहिर्भित्ति (Epicarp) से बाह्य कठोर काष्ठमय छिलका बनता है जो करीब ३ मि. मि. मोटा, रक्ताभ रंग का एवं अन्दर से रेशेदार होता है। मध्यभित्ति एवं अन्तर्भित्ति से गूदा बनता है जो आवरण से चिपका हुआ तथा हलके रक्ताभ नारंगी रंग का होता है। **बीज**–बहुत, १०–१५ समूहों में, बिनौले के सदृश सफेद रोमों से युक्त एवं चिकने तथा रंगहीन गोंद से लिपटे रहते हैं। फलों में मन्द सुगंध आती है तथा इनका स्वाद गोंद की तरह होता है। बेल के दो तरह के फल होते हैं। लगाये हुये फल बड़े, सुस्वादु एवं कम बीज वाले होते हैं। जंगली फल छोटे, कुछ मादक एवं इसके बीज अधिक गोंद से लिपटे होते हैं तथा ये मछली मारने के काम में आते हैं।

बेल अपने यहां बहुत पवित्र माना गया है। सूतिकागार के निर्माण में एवं सूतिका के पलंग की लकड़ी बेल की लेने का चरकादि में विधान है। सुश्रुत में मेधायुष्कामीय अध्याय (चि० अ० २८) में विशिष्ट पद्धतिसे ऋग्वेदोक्त श्रीसूक्त के द्वारा बिल्व की आहुति आदि का विधान किया है जिससे अलक्ष्मी का नाश एवं आयुवृद्धि होती है।

बेल के मूल, त्वचा, पक्व-अपक्व फल, पत्र एवं पुष्प का औषध में व्यवहार किया जाता है। चूर्णादि के लिये कच्चे फल का, मुरब्बे के लिये अधपके फल का और पानक के लिये परिपक्व फल का गूदा लेना चाहिये। दशमूल आदि कषायों में मूल या वृक्ष की त्वचा ली जाती है।

रासायनिक संगठन—बेल के फलों में गोंद एवं पेक्टिन (Pectin) के अतिरिक्त प्रह्रासक (Reducing) शर्करा ३·७%, संपूर्णशर्करा ४·६%, तैल जिसमें मार्मेलोसिन (Marmelosin, $C_{13}H_{12}O_3$) नामक एक महत्व का रवेदार पदार्थ रहता है तथा उड़नशील तैल रहता है। पक्व फलों में टॅनिन सदृश पदार्थ अत्यल्प मात्रा में रहते हैं। इसके मूल, पत्र एवं छाल में प्रह्रासक शर्करा एवं टैनिन पाया जाता है। इसके बीजों में एक हलके पीले रंग का तैल होता है।

गुण और प्रयोग—कच्चा बेल कटु, तिक्त, कषाय, स्निग्ध, उष्ण, दीपन, ग्राही, वात-कफ-नाशक एवं आन्त्र को बल देने वाला है। **पक्व फल** मधुर, सुगन्धि, गुरु, विदाही, विष्टम्भि, दुर्जर, दोषकर, आनुलोमिक एवं दुर्गन्धयुक्त अधोवायु उत्पन्न करने वाला है। **बिल्वपत्र** वातहर, शोथहर, ज्वरहर, श्लेष्मनिःसारक, ग्राही एवं आमशूलघ्न होते हैं। **बिल्वमूल**–वातनाडीसंस्थान के लिये शामक, मधुर, छर्दिघ्न एवं वातहर है। **पुष्प**–अतिसार, तृषा एवं वमन में लाभदायक होते हैं। इसकी मज्जा का तैल उष्ण एवं उत्तम वातहर माना जाता है। इसके **बीज**–१॥ माशे की मात्रा में अच्छे विरेचक होते हैं।

बिल्व का उपयोग अतिसार, प्रवाहिका, संग्रहणी, मधुमेह, कर्णरोग, वातरोग, वमन, कामला, अर्श, शोथ एवं ज्वर में किया जाता है।

(१) इसके पके फल का गूदा मृदुविरेचक होने के कारण इसका जल में शर्बत बनाकर लेने से जीर्ण विबन्ध, अर्श, आध्मान एवं कुपचन में लाभ होता है। जिन्हें बार-बार विबन्ध एवं अतिसार क्रमशः हुआ करता है उन्हें नित्य सुबह यह दिया जाता है। स्निग्ध एवं मृदुविरेचक रूप में यह प्रवाहिका की रोग-निर्मुक्तावस्था एवं संग्रहणी की प्रारंभिक अवस्था में दिया जाता

है। प्रवाहिका में इसको लेते रहने से विबन्ध नहीं होता जिससे आन्त्रिक व्रण जल्दी अच्छे होते हैं। संग्रहणी (Sprue) की प्रारंभिक अवस्था में ताजा फल तथा शर्करा से अवश्य लाभ होता है।

(२) भुना हुआ कच्चा फल या कच्चे फल का सुखाया हुआ गूदा ग्राही एवं दीपन होने के कारण अतिसार, रक्तातिसार एवं प्रवाहिका में दिया जाता है। जब ज्वर न हो, रोगी दुर्बल हो तथा पाचन खराब हो गया हो तब इससे विशेष लाभ होता है। आंव, रक्त एवं कुंथन युक्त तीव्र प्रवाहिका में यद्यपि इसके चूर्ण को लाभदायक माना गया है तथापि इन अवस्थाओं की अपेक्षा जीर्ण विकारों में इसका गुणकारी प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। इसके सेवन के पश्चात् धीरे-धीरे रक्त कम होकर पाखाना बँधा होने लगता है। अधिक दिन लेते रहने से आंव भी कम हो जाती है तथा बाद में बिलकुल नहीं रहती। जीर्ण आंव की शिकायत होने पर इसके साथ बड़ी सौंफ एवं घोडवच मिलाकर क्वाथ बनाकर देते हैं। रक्तपित्त वाले रोगी को आंव होने पर यह विशेष लाभदायक है। अरारुट के साथ इसकी पेया बनाकर देने से आन्त्र को बल प्राप्त होता है। प्रवाहिका में बेल का कल्क, तिल का कल्क, दही की मलाई तथा घृत देते हैं। पित्त एवं रक्तातिसार में इसकी मज्जा एवं मुलेठी, शर्करा, मधु एवं तंडुलांबु के साथ देने से लाभ होता है। बिल्व एवं गुड़ का प्रयोग आमशूल, विबंध, कुक्षिशूल तथा रक्तातिसार में लाभदायक होता है। अत्युग्र ग्रहणी में बिल्व के साथ सौंठ एवं गुड़ मिलाकर सेवन करे एवं आहार में तक्र का सेवन करें। पुराने विकारों में बेल का मुरब्बा भी लाभदायक होता है। पुराने सोजाक में ताजा गूदा एवं कबाबचीनी दूध के साथ देते हैं।

(३) अर्श में सुखोष्ण मूलक्वाथ में रोगी को बैठावें। रक्तार्श में बिल्वमज्जा एवं तक्र का उपयोग लाभदायक होता है।

(४) बेल की जड़ शामक होने के कारण हृदय की धड़कन, उदासीनता, निद्रानाश तथा पागलपन इनमें दी जाती है। विषमज्वर में इसके जड़ की छाल का क्वाथ पिलाते हैं। जीरा एवं मूलत्वक् को पीसकर घी के साथ शुक्र-तारल्य में देते हैं। विषैले जन्तुओं के दंश में इसका लेप किया जाता है। बच्चों को जब कै एवं दस्त होते हैं तब इसको चावल के मांड के साथ उबालकर वह मांड चीनी मिलाकर देते हैं।

(५) इसके ताजे पत्तों का स्वरस ज्वर, कफज्वर, अभिष्यन्द, शोथ तथा कफ विकारों में देते हैं। दमा में इसका क्वाथ देते हैं। नेत्राभिष्यन्द में इसका स्वरस देते हैं तथा पत्तों का लेप पलकों पर करते हैं। शोथयुक्त विकारों में तथा व्रण पर पत्तों का पुल्टिस लाभदायक होता है। इसका स्वरस काली मिर्च के साथ जलशोथ, विबंध एवं कामला में देते हैं। यह शरीर की दुर्गंध को भी दूर करता है। मधुमेह में १-२ तोला स्वरस देने से लाभ होता है।

(६) बिल्वफल को गोमूत्र के साथ पीसकर अजाक्षीर के साथ तैल सिद्ध कर कर्णबिन्दु के रूप में प्रयोग करने से बाधिर्य में लाभ होता है।

मात्रा—चूर्ण २-८ माशा; प्रवाहीसत्व ½-२ ड्राम; क्वाथ ½-२ औंस।

अथ गम्भारी। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

गम्भारी भद्रपर्णी च श्रीपर्णी मधुपर्णिका। काश्मीरी काश्मरी हीरा काश्मर्यः पीतरोहिणी॥१४॥
कृष्णवृन्ता मधुरसा महाकुसुमिकाऽपि च। काश्मरी तुवरा तिक्ता वीर्योष्णा मधुरा गुरुः॥१५॥
दीपनी पाचनी मेध्या भेदिनी भ्रमशोषजित्। दोषतृष्णाऽऽमशूलार्शोविषदाहज्वरापहा॥१६॥

गम्भारी के नाम तथा गुण—गम्भारी, भद्रपर्णी, श्रीपर्णी, मधुपर्णिका, काश्मीरी, काश्मरी, हीरा, काश्मर्य, पीतरोहिणी, कृष्णवृन्ता, मधुरसा और महाकुसुमिका ये सब संस्कृत नाम गम्भारी के हैं। **गम्भारी**–मधुर, कषाय तथा तिक्त रस युक्त, उष्णवीर्य, गुरु, अग्निदीपक, पाचक, मेधा के लिये हितकर तथा मलभेदक होती है। वह भ्रम, शोष, वातादिक दोष, तृषा, आम, शूल, बवासीर, विष, दाह और ज्वर इन सब रोगों को दूर करने वाली होती है॥ १४-१६॥

अथ गम्भारीफलगुणानाह

तत्फलं बृंहणं वृष्यं गुरु केश्यं रसायनम्। वातपित्ततृषारक्तक्षयमूत्रविबन्धनुत्॥ १७॥
स्वादु पाके हिमं स्निग्धं तुवराम्लं विशुद्धिकृत्। हन्याद्दाहतृषावातरक्तपित्तक्षतक्षयान्॥१८॥

इसके फल के गुण—इसका फल बृंहण (धातुवर्धक), वृष्य (वीर्यवर्धक), गुरु, बालों के लिये हितकर और रसायन होता है। यह वात, पित्त, तृषा, रक्तक्षय, मूत्र-सम्बन्धी विबद्धता का नाशक है और पाक में मधुर रस, स्वाद में कषाय तथा अम्ल रसयुक्त, शीतवीर्य, स्निग्ध एवं शुद्धिकारक होता है। यह दाह, तृषा, वात, रक्तपित्त, क्षत और क्षय इन सब रोगों को दूर करता है॥१७-१८॥

४ गम्भारी

हि०, पं०–गम्भारी, खम्भारि, कम्भार, गम्भार, गम्हार, कुम्हार, कासमर। **बं०**–गामार गाछ, गम्भार। **म०**–शिवण। **गु०**–शीवण, सवन। **क०**–सीवनी। **ते०**–गुमारटेक। **ता०**–गुमड़ी। **आसाम**–गोमरी। **गारो०**–बोल्को बक। **मा०**–शेवण, शिवण, कुम्भेरन। **ले०**–*Gmelina arborea Linn.* (मेलीना आर्बोरिआ लिन.)। Fam. Verbenaceae (वर्बिनेसी)।

गम्भारी—इस देश के कई प्रान्तों में उत्पन्न होती है, विशेषकर दक्षिण, कोंकण, मध्यभारत, बरार, सिलोन, पश्चिमोत्तर–हिमालय, चट्टगांव, पूर्व बङ्गाल एवं बिहार आदि प्रान्तों में पाई जाती है। इसका वृक्ष–बड़ा होता है। ऊँचाई में कहीं-कहीं ६० फुट से भी ऊँचा वृक्ष देखने में आता है। छाल का रंग सफेद, ताजी छाल किञ्चित् पीलापन युक्त हरियाली लिये सफेद तथा सफेदी लिये भूरे रंग की होती है। छाल पर काले चिह्न या छोटे-छोटे गोल दाने होते हैं। इसकी टहनियाँ–श्वेताभ एवं रोमश होती हैं। काष्ठ–प्रायः आधा इञ्च मोटा, बिना रेशे का और हलका या गहरा नारंगी रंग से मिला रहता है। **पत्ते**–४-९ इञ्च लम्बे, ३-७ इञ्च चौड़े, लट्वाकार, चौड़े, प्रायः हृद्वत्, नोकीले, अधरतल पर प्रायः क्षोदलिप्त, २-६ इञ्च लम्बे वृन्त से युक्त और आमने-सामने, परन्तु प्रायः एक सन्धि के दोनों पत्ते कुछ छोटे-बड़े होते हैं। वसन्त ऋतु में पुराने पत्ते गिरकर नये पत्ते निकलते हैं। इसी समय ३-८ इञ्च लम्बी मंजरियों में रक्ताभ या पीले रंग के १-१·५ इञ्च लम्बे फूल आते हैं और उन पर भूरे रंग की छींटें रहती हैं। फल–बहेड़े के समान परन्तु कुछ लम्बाई लिये अष्ठिल, अभ्यण्डाकार, ·७५-१ इञ्च व्यास वाले और २-१ कोश तथा बीज वाले होते हैं। वे जेठ आषाढ़ तक पक कर भूमि में गिर पड़ते हैं।

इसके दो भेद भी पाये जाते हैं जिनमें से एक में पुष्पव्यूह बड़े होते हैं तथा दूसरे में पत्ते कुछ छोटे, चर्मिल, अधर तल पर नसें उभरी हुई तथा पुष्पव्यूह छोटे होते हैं।

यह दशमूल गण की औषध है। इसका 'कासमर' नाम काश्मर्य का और 'गम्हार' गम्भारी का अपभ्रंश है। इसके फल, मूल, त्वक् एवं पत्र का चिकित्सा में उपयोग होता है।

रासायनिक संगठन—इसके मूल में पीतवर्ण का गाढ़ा तैल, राल, क्षाराभ, अल्पस्व बेंझोइक् एसिड एवं मँगॅनीझ रहित राख ये पदार्थ पाये जाते हैं। इसके फल में ब्यूटिरिक् (Butyric)

तथा टार्टरिक (Tartaric) अम्ल, क्षाराम, शर्करासदृश पदार्थ, राल तथा अत्यल्प टैनिन ये पदार्थ पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—इसके कोमल पत्र शीतल तथा स्नेहन; फल तृषाहर, दाहशामक, स्नेहन एवं रक्तपित्तघ्न; मूल कटु, दीपन, बल्य एवं आनुलोमिक; पुष्प बल्य, वृष्य एवं रक्तपित्तनाशक; बीजतैल कफ एवं पित्त का शमन करने वाला है।

(१) इसके कोमल पत्तों का स्वरस दुग्ध के साथ सोजाक में देते हैं। ग्रीष्मऋतु में होने वाले शिरःशूल में पत्तों को दुग्ध में पीसकर सर पर मलते हैं।

(२) दाह तथा तृषायुक्त पैत्तिक ज्वर मे इसके फल की मज्जा का शीतल क्वाथ शर्करा मिलाकर पिलाते हैं। रक्तपित्त में मधु के साथ इसके फल की मज्जा का प्रयोग किया जाता है। वायु के कारण गर्मशोष या बालशोष हो तो मुलेठी के साथ इससे सिद्ध दुग्ध का उपयोग लाभदायक होता है।

(३) इसके मूल का क्वाथ ज्वर, अपचन तथा शोथ में देते हैं। मुलेठी के साथ बनाया हुआ इसका क्वाथ मधु एवं शर्करा मिलाकर दुग्धवृद्धि के लिये देते हैं। स्तनपुष्टि के लिये इसके रस से सिद्ध तिल तैल में रूई भिगोकर उसके धारण का विधान है।

मात्रा—मूलचूर्ण ३–६ माशा; फल १–३ माशा।

प्रतिनिधि एवं व्यामिश्रण—(क) अरिया कासमर या बूढ़ीकासमर के नाम की एक अन्य वृक्ष जाति (Premna flavescens Ham.–प्रेम्ना फ्लॅवेसेन्स हॅम्) भी पाई जाती है जिसके पत्ते गंभारी के पत्तों से मिलते-जुलते हैं। इसकी पत्तियों में एक मंद प्रिय गंध होती है और इसके पुष्प तथा फल बहुत छोटे होते हैं जिनसे इसका भेद मालूम हो जाता है।

(ख) हि०–तुम्री, पिंडार, धवलपेड, पानी-गम्हार। म०–सिवनो, पितारी। बं०–पिताली। ले०–*Trewia nudiflora Linn.* (ट्रेविआ न्युडिफ्लोरा लिन.)। Fam. Euphorbiaceae (यूफोर्बिएसी)।

इसके भी गम्हार एवं सिवनी (म.) नाम होने के कारण वास्तविक गम्हार के स्थान पर इसका कहीं-कहीं प्रयोग लोग करते हैं। इसके बड़े-बड़े वृक्ष होते हैं। छाल–चिकनी और धूसर वर्ण की होती है। पत्ते–लट्वाकार, ३–८ इञ्च लंबे एवं ४–७ इञ्च चौड़े होते हैं। पर्णमूल गोल या हृद्वत् और पर्णवृन्त १·५–४ इञ्च लंबा होता है। पुष्प–हरित-पीत होते हैं और नवीन पत्तियों के आने के पहले ही निकलते हैं। नरपुष्पों की मंजरियां ४–८ इञ्च लंबी और नीचे की ओर लटकी हुई तथा स्त्री-पुष्प एकाकी अथवा २–३ और अग्रग होते हैं। फल–पकने पर छोटे आलू के समान दिखाई देता है। नवीन शाखाओं पर जातच्युत उपपत्रों के कारण उभरी हुई स्पष्ट रेखाएं होती हैं जिनके द्वारा वास्तविक गम्हार से इसकी भिन्नता मालूम होती है। इसके अतिरिक्त गम्हार की तरह इसकी पत्ती में दो छोटी पीली ग्रन्थियां नहीं होती यद्यपि दोनों के शिराक्रम में बहुत साम्य होता है। इसके मूल का उपयोग किया जाता है। मूल की छाल मोटी एवं चिकनी हलके भूरे रंग की होती है। इसका स्वाद कसैला एवं कडवा होता है। आमवात एवं वातरक्त में मूल को खिलाते हैं तथा लेप करते हैं। इससे उदरवात, पित्त एवं आमदोष का निर्हरण होता है।

अथ पाटला (पाढल) घण्टापाटलिश्च। तयोर्नामानि गुणांश्चाह

पाटलिः पाटलाऽमोघा मधुदूती फलेरुहा। कृष्णवृन्ता कुबेराक्षी कालस्थाल्यलिवल्लभा[1] ॥१९॥
ताम्रपुष्पी च कथिताऽपरा स्यात्पाटला सिता। मुष्कको मोक्षको घण्टापाटलिः काष्ठपाटला ॥२०॥

१. काचस्थाली इति पाठा०।

पाढल तथा घण्टापाढल के नाम और गुण—पाटलि, पाटला, अमोघा, मधुदूती, फलेरुहा, कृष्णवृन्ता, कुबेराक्षी, कालस्थाली, अलिवल्लभा और ताम्रपुष्पी ये सब संस्कृत नाम 'पाढल' के हैं। और जो दूसरा 'घण्टापाढल' है उसके संस्कृत नाम—पाटला सिता, मुष्कक, मोक्षक, घण्टापाटलि तथा काष्ठपाटला ये सब हैं ॥ १९–२० ॥

पाटला तुवरा तिक्ताऽनुष्णा दोषत्रयापहा। अरुचिश्वासशोथास्रच्छर्दिहिक्कातृषाहरी ॥ २१ ॥

पाढल—कषाय तथा तिक्तरस युक्त एवं अनुष्णवीर्य है। यह त्रिदोष, अरुचि, श्वास, शोथ, रक्तप्रकोप, वमन, हिचकी और तृषा को दूर करने वाली है ॥ २१ ॥

अथ तत्पुष्पफलयोर्गुणानाह

पुष्पं कषायं मधुरं हिमं हृद्यं कफास्रनुत्। पित्तातिसारहृत्कण्ठ्यं फलं हिक्काऽस्रपित्तहृत् ॥२२॥

इसके फूल तथा फल के गुण—फूल–कषाय तथा मधुररस युक्त, शीतवीर्य, हृदय को हितकर तथा कफ, रक्तविकार और पित्तातिसार का नाशक एवं कण्ठ के लिये हितकर है। फल–हिचकी तथा रक्तपित्त का नाशक है ॥ २२ ॥

नोट—भावप्रकाशकार पाटला के दो भेद लिखते हैं एक 'पाटला' तथा दूसरी 'सिता पाटला'। किन्तु दोनों के गुणों में कोई भेद नहीं लिखा है। आधुनिक ग्रन्थकारों ने भी इसके दो प्रकार के वृक्षों का वर्णन किया है जिनमें से नं० ५ (पाटला) के पुष्प बाहर से लाल किन्तु अन्दर से पीली रेखाओं से युक्त होते हैं। यह दक्षिण में कम होने के कारण इसके स्थान पर वहां नं० ६ (सिता पाटला) का प्रयोग किया जाता है जिसके पुष्प पीले तथा गुलाबी रंग के होते हैं। श्री ठा० बलवन्तसिंह जी का मत है–काष्ठपाटला, मोक्षक यह भिन्न वर्ग तथा प्रजाति का वृक्ष है जिसका लैटिन नाम Schrebera swietenioides Roxb. (श्रेबेरा स्वीटेनिओइडिस् राक्स.); Fam. Oleaceae (ओलिएसी) है तथा इसी के क्षार को क्षारश्रेष्ठ कहा गया है। भावप्रकाशकार ने भी इसका (मोक्षक) स्वतंत्र वर्णन आगे वटादिवर्ग में किया है। इस दृष्टि से मोक्षक यह पाटला का पर्याय असमीचीन लगता है।

५ पाढ़ल

हि०–पाढ़ल, पाडर, पारल। बं०–पारुल गाछ। म०, गु०–पाडल। क०–हुडे। उ०–बोरो, पाढुली। पं०–पाढ़ल, पाडल। कोल०–कंडियोर। सन्ता०–पपरी, पडेर। ने०–परेर। लि०–सिगियन। गोंड०–उन्तकार, पड़र। मील०–पन, डन। मा०–पाडल, पडियाल। ले०–*Stereospermum suaveolens DC.* (स्टेरिओस्पर्मम् स्वावियोलेन्स डीसी)। Fam. Bignoniaceae (बिग्नोनिएसी)।

यह प्रायः समस्त भारत, हिमालय की तराई से ट्रावनकोर और टेन सरीम तक तथा सिलोन में किन्तु श्वेत भेद की अपेक्षा कुछ शुष्क भागों में पाया जाता है। इसका वृक्ष–३० से ६० फुट तक ऊँचा एवं सुन्दर होता है। इसके ऊँचे स्तम्भ पर शाखाएँ दिखाई पड़ती हैं। इसके नवीन भाग चिपचिपे, रोमश और ग्रन्थिमय होते हैं। छाल–चौथाई इञ्च मोटी, लगभग चिकनी, धूसर और काटने पर हलके पीले रंग की होती है और उसमें कड़े तथा मुलायम पर्त बारी बारी से निकलते हैं। पत्ते–विपरीत, १–२ फीट लम्बे और अयुग्म पक्षाकार होते हैं। पत्रक–संख्या में ५–९ प्रायः ७, अण्डाकार या आयताकार, ३–८ इञ्च लम्बे, २–३॥ इञ्च चौड़े, एकायक लम्बाग्र, अवृन्त या छोटे

वृन्त वाले, प्रायः मृदुरोमश परन्तु छोटे पौधे के पत्रक खुरखुरे और तीक्ष्ण दन्तुर होते हैं। वसन्त ऋतु में इसके पुराने पत्ते गिरकर नवीन पत्ते निकल आते हैं और प्रायः इसी समय वृक्षों पर नलिकाकार फूल आते हैं। पुष्प-सुगन्धित, १-१·५ इञ्च लम्बे, बाहर से लाल परन्तु भीतर पीली रेखाओं से युक्त होते हैं। फलियाँ-१८ से २४ इञ्च तक लम्बी, गोल एवं पृष्ठ पर बिन्दुकित होती हैं। बीज-सपक्ष होते हैं और कार्क सदृश और लम्बगोल रचनाओं में छिपे रहते हैं।

यह भी दशमूलगण का एक प्रसिद्ध द्रव्य है। इसके फल के भीतर से लम्बगोल टुकड़े निकाल कर जुलपित्ती तथा अधकपारी में बाँधे जाते हैं इसलिए कहीं-कहीं इस वृक्ष को अधकपारी कहते हैं। इसका छाल, पुष्प तथा फलमज्जा का चिकित्सा में उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसके सूखे हुए फूलों में शर्करा, एक तरह का लुआब तथा मांसल पदार्थ पाये जाते हैं। पुष्प जल में डालने से जल सुगन्धित हो जाता है।

गुण और प्रयोग—इसके पुष्प वाजीकर, पौष्टिक एवं शीतल होते हैं। इसकी छाल कफघ्न, वातहर, अधोभाग दोषहर, त्रिदोषघ्न, विषघ्न एवं शोथहर है।

कफ तथा वातप्रधान रोगों में पाटला का प्रयोग करते हैं।

(१) फूलों का रस मधु के साथ हिचकी में देते हैं।

(२) मधुमेह, अश्मरी एवं मूत्राघात में इसके पंचांग का क्षार तैल के साथ खिलाते हैं।

(३) इसके छाल का फांट अम्लपित्त में देते हैं।

(४) इसके फूलों का गुलकन्द पौष्टिक माना जाता है।

(५) इसके मूल के घन क्वाथ में तैल मिलाकर अग्निदग्ध व्रण पर लगाते हैं तथा कोमल पत्तों से व्रणबन्धन करते हैं।

मात्रा—चूर्ण १-३ माशा।

६ सफेद पाढ़ल (घंटा पाढ़र)

हिं०-सफेद पाढ़ल, पाडर, परारी, घण्टा पाढ़र, कठपाडर। **बं०**-घंटा पारुल। **म०, गु०**-पाडल। **ता०**-पादिरि। **ते०**-कलिगोट्टु। **कोल०**-कंडियोर। **ने०**-परारी। **भील०**-पडुरनी। **उ०**-कोंगारी पाट्ली। **अं०**-Trumpet flower (ट्रम्पेट फ्लावर्)। **ले०**-*Stereospermum chelonoides DC.* (स्टेरिओस्पर्मम् केलोनॉइडिस् डीसी.)।

यह आसाम से सिलोन तक की गीली भूमि में, कुमाऊँ के पहाड़ पर, मध्य और दक्षिण हिन्दुस्तान तथा राजपूताना आदि कई प्रान्तों में होता है। यह दक्षिण में पहाड़ी प्रान्तों में विशेषकर पाया जाता है।

इसका **वृक्ष**-३०-४० फुट तक ऊँचा होता है तथा कहीं-कहीं ६० फुट तक ऊँचा वृक्ष भी देखने में आता है। **स्तम्भ**-सीधा, बहुत ऊँचा एवं मोटा होता है और उस पर अनेक शाखा-प्रशाखाएँ होती हैं। नीचे की शाखाएँ भूमि के समानान्तर एवं ऊपर की सीधी होती हैं। **छाल**-भूरे रंग की, मोटी तथा खुरदरी होती है। **पत्ते**-१२-१८ इञ्च लम्बे, अयुग्म पक्षाकार, विपरीत और छोटी-छोटी टहनियों के अग्रपर समूहबद्ध होकर रहते हैं। **पत्रक**-संख्या में ७-११, चिकने, अंडाकार और ३·५-५ इञ्च बड़े होते हैं। **फूल**-बड़े, तूर्याकृति, पीले और गुलाबी रंग के, सुगन्धित एवं रुचिकर होते हैं। **फलियां**-१०-२० इञ्च लम्बी, पतली, घेरे में गोल न होकर सपक्ष या चार उभरी हुई रेखाओं से युक्त होती हैं।

प्रथम पाढल दक्षिण में कम मिलने के कारण वहां इस वृक्ष की छाल तथा पुष्प का पाटला के स्थान पर प्रयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसमें एक रवेदार कड़वा पदार्थ पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह शीतल, वातहर एवं ज्वरघ्न है। मस्तिष्क तथा वातनाडी संस्थान पर इसकी अवसादक क्रिया होती है।

इसके मूल का फांट ज्वर में रोगी को शांतता लाने के लिये देते हैं। इसके फूलों का रस पाचन ठीक होकर दूषित पित्त का निर्हरण हो इसलिये देते हैं।

मात्रा—चूर्ण १-३ माशा।

अथाग्निमन्थः। (अगेथू, अरनी इति च लोके) तस्य नामानि गुणाँश्चाह

अग्निमन्थो जयःस्यात्छ्रीपर्णी गणिकारिका। जया जयन्ती तर्कारी नादेयी वैजयन्तिका॥
अग्निमन्थः श्वयथुनुद्वीर्योष्णः कफवातहृत्। पाण्डुनुत्कटुकस्तिक्तस्तुवरो मधुरोऽग्निदः॥२४॥

अगेथू या अरनी के नाम तथा गुण—अग्निमन्थ, जय, श्रीपर्णी, गणिकारिका, जया, जयन्ती, तर्कारी, नादेयी और वैजयन्तिका ये सब संस्कृत नाम 'अगेथू' या 'अरनी' के हैं। अरनी या अगेथू शोथनाशक, उष्णवीर्य, कफवात तथा पाण्डु रोग को दूर करने वाला, कटु, तिक्त, कषाय तथा मधुर रस युक्त एवं अग्निवर्धक है॥ २३-२४॥

नोट—भावप्रकाशकार ने यद्यपि एक ही अग्निमंथ का वर्णन किया है तथापि अन्य निघंटुओं में लघु एवं बृहद् ऐसे दो भेद अग्निमंथ के लिखे हैं। दोनों के गुणों में विशेष अन्तर नहीं हैं किन्तु लघु अग्निमंथ को लेप, उपनाह एवं शोफ में विशेष उपयोगी लिखा है। 'लघ्वाग्निमंथस्य गुणाः प्रोक्ताः बृहदाग्निमंथवत्। विशेषाल्लेपने चोपनाहे शोफे च कीर्तितः॥' (नि. र.)। सुश्रुत के वरुणादि गण में तर्कारी और अग्निमंथ ये दोनों शब्द आये हैं। इससे ऐसा मालूम होता है कि ये दोनों भिन्न द्रव्य हैं। आधुनिक ग्रन्थकारों ने प्रेम्ना इन्टेग्रिफोलिआ (बृहद् अग्निमंथ) एवं क्लेरोडेन्ड्रम् फ्लोमाइडीस् (क्षुद्र अग्निमंथ) ऐसे दो द्रव्यों का वर्णन किया है। ये दोनों ही एक वर्ग के हैं तथा इनके गुणों में भी साम्य होने के कारण दोनों को एक दूसरे के स्थान में प्रयोग किया जा सकता है। इनमें से प्रथम को कुछ लोगों ने तर्कारी माना है तथा द्वितीय को अग्निमंथ माना है। कुछ लोग इसके विपरीत मानते हैं जो अधिक उचित है क्योंकि क्लो० फ्लोमाइडिस् का स्थानिक नाम 'टेकार', तर्कारी का अपभ्रंश मालूम होता है। यहां दोनों का अलग अलग वर्णन दिया जा रहा है।

७ क्षुद्राग्निमंथ

हिं०-अरनी (णी), टेकार, उरिन। **बं०**-अरनी, गणियारी। **संथा०**-ननजोत। **मुंगे०**-रैन। **गु०**-अरणी। **म०**-ऐरण, टांकळी। **ता०**-थलंजी **ते०**-तलूकि। **क०**-तगि। **मल०**-तिरूतालि। **ले०**-*Clerodendrum phlomidis Linn. f.* (क्लेरोडेन्ड्रम् फ्लोमाइडीस् लिन.)। Fam. Verbenaceae (वर्बिनेसी)।

यह महाराष्ट्र, गुजरात, सिंध आदि सब प्रान्तों में प्रायः बाड़ों पर या सूखी जगहों में पाई जाती है।

इसके **गुल्म** बड़े (छोटे वृक्ष), प्रायः शाखाएं प्रसरणशील और टहनियां हलके खाकी रंग की तथा मृदुरोमश होती हैं। **पत्ते**-विपरीत, चौड़े लट्वाकार अथवा कुछ-कुछ तिर्यगायताकार, अखण्ड या दूर-दूर गोलदन्तुर, प्रायः २×१·५ इञ्च बड़े, सवृन्त और मृदुरोमश (नवीन) या चिकने होते हैं। **पुष्प**-श्वेत, सुगंधि, पत्रकोणीय या अग्रग गुच्छों में आते हैं। आभ्यंतर नाल

·७५–१ इञ्च बड़ा और मुख व्यास में ·७५ इञ्च होता है। फल–अष्ठिल फल, करौंदे इतने बड़े, शीर्ष पर दबे हुए परन्तु अन्त में शुष्क होकर चार खण्डों में फट जाते हैं। जानवरों के प्रवाहिका तथा कृमिरोग में क्षुद्राग्निमंथ का उपयोग ग्रामीण करते हैं। बृहद् अग्निमंथ के अभाव में इसके पंचांग, मूल तथा पत्र का उपयोग किया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह उष्ण, दीपन, सारक, बल्य, रसायन, शोथहर एवं वातकफहर है।

वायु, कफ तथा सूजन जिन-जिन रोगों में होती है उनमें इसका उपयोग करते हैं। आमवात तथा अन्तरित ज्वर में इसकी जड़ सोंठ एवं मिरिच के साथ दी जाती है। इसके मूल का क्वाथ सोजाक, विस्फोटक ज्वरों की रोगमुक्तावस्था, आमवात तथा नाडीशूल में देते हैं। इसके पत्र तथा काण्ड का उपयोग मधुमेह में उपयोगी पाया गया है। आध्मान में इसके पत्ररस से लाभ होता है। मोच तथा शरीरपीडा में पत्तों को पीसकर उसका लेप किया जाता है। त्वचा के रोगों में ½ औं० पत्ररस दिन में दो बार पिलाते हैं।

मात्रा—चूर्ण १–२ माशा।

८ बृहदग्निमंथ

हिं०–अरनी, अरणी, अंगेथु, गणियारी, गनियार, गनियारी, वाकर। **बं०**–गनिर, गनियारि। **मा०**–अरणी। **म०**–नरवेल, अरणी। **पं०**–अगेथु, गनियार। **गु०**–अरणी। **संथा०**–कण्डा–मिया। **फा०**–गनियार। **अवधी**–गनियारी। **गढ़वाल**–वकोरचा। **ता०**–इरुमै मुल्लै, मुन्नै। **ने०**–गिनेरी। **उड़ि०**–गन्धौना। **ते०**–पेंबुनेल्लि। **मला०**–अप्पेल। **उत्क०**–अगबिथ। **ले०**–*Premna integrifolia Linn* (प्रेम्ना इन्टेग्रिफोलिआ लिन)। Fam. Verbenaceae (वर्बिनेसी)।

यह बंगाल, बिहार, मध्यप्रदेश, अवध, गढ़वाल, राजपूताना, दक्षिण–हिन्दुस्तान, बम्बई, सिलोन तथा अन्यान्य प्रान्तों में विशेष रूप से समुद्री किनारों पर पाई जाती है।

इसका झाड़ीदार वृक्ष–२०–२५ फुट तक ऊँचा होता है। स्तम्भ छोटा तथा बहुत सी काँटेदार टहनियां नीचे लटकी हुई रहती हैं। छाल–पतली सफेदी–युक्त हलके पीले रंग की और लकड़ी हलकी किंचित् दृढ़ होती है। पत्ते–विपरीत, लंबे, पर्णवृन्त से युक्त, साधारण हृदयाकृति किन्तु अग्र कुछ कटा हुआ तथा चिकने रहते हैं। चैत्र–वैशाख में छोटे-छोटे हरापन लिये सफेद रंग के फूल झूमकों में आते हैं। फल–छोटी मकोय के समान झूमकों में लगते हैं और पकने पर काले हो जाते हैं। पूरे वृक्ष में एक प्रकार की उग्र गंध आती है। इसका स्वाद खट्टा सा तथा कषाय रहता है। इसके मूल तथा पत्तों का व्यवहार किया जाता है।

इसका एक अन्य भेद प्रेम्ना लॅटिफोलिया राक्स. (Premna latifolia Roxb.) पाया जाता है। इसके पत्ते कुछ-कुछ दुर्गन्धयुक्त, प्रायः लट्वाकार, कभी-कभी अंडाकार, २–५ इञ्च लंबे, २–३ इञ्च चौड़े, अखंड, लंबे नोकवाले तथा एक ओर (नीचे) या नवीन रहने पर दोनों तलों पर मृदुरोमश होते हैं। पुष्पव्यूह–त्रि–विभक्त और व्यास में २–५ इञ्च, रोमश और कोण पुष्पकों से युक्त होता है। बाह्यकोश शीर्ष पर दन्तुर होता है और दांत पांच होते हैं। आभ्यन्तर कोश स्पष्टतः द्वयोष्ठ होता है। फल–गोल, अग्रपर दबा हुआ और ·२५ इञ्च बड़ा होता है।

इसका जो भेद इस प्रान्त के शाल वनों में मिलता है उसे प्रे० मक्रोनॅटा राक्स (P. mucronata Roxb. कहते हैं। यह नम स्थानों में प्रायः बहुत बड़ा हो जाता है। नवीन शाखाओं पर प्रायः १–३ इञ्च लंबे मजबूत काँटे होते हैं और इनकी पत्तियां तीन-तीन या चार-चार एक चक्र में होती हैं। काट प्रायः ½ इञ्च मोटा, सफेद और बिना रेशे का होता है। पत्तियां मसलने पर

गंधयुक्त और सूखने पर काली हो जाती हैं। इस वृक्ष की लकड़िओं को परस्पर रगड़ने से आग पैदा होती है। इसके अन्य भी कई भेद होते हैं।

गुण और प्रयोग—यह कटु, उष्ण, तिक्त, शोथघ्न, वातहर, दीपन, श्लेष्मघ्न, ज्वरघ्न, सारक, शीत प्रशमन, अनुवासनोपग तथा गर्भाशय के लिये अवसादक है।

इसका प्रयोग वातरोग, कफरोग, शोथ, आमवात, नाडीशूल, पांडु, अर्श, अग्निमांद्य, विबंध, प्रतिश्याय, ज्वर एवं पार्यायिक तथा विस्फोटक ज्वर में किया जाता है।

(१) इसकी २ छटाक जड़ को चौगुने जल में १५ मिनट उबाल कर १–२ छटाक की मात्रा में दीपन, पाचन, पौष्टिक रूप में दो बार पिलाते हैं।

(२) गंडमाला तथा शोथ में इसको खिलाते हैं तथा बाह्य लेप भी करते हैं। ग्रन्थि पर बांस के पत्तों के साथ इसकी जड़ का लेप करने से लाभ होता है।

(३) अर्श में इसके क्वाथ में बैठाने से पीड़ा शांत होती है।

(४) उरुस्तम्भ में इसकी जड़ को गोमूत्र में पीस कर लेप करते हैं या करंज के साथ क्वाथ बनाकर उससे सिंचन करते हैं।

(५) वसामेह तथा इक्षुमेह में इसकी जड़ का क्वाथ पिलाया जाता है।

(६) इसकी जड़ को पीसकर घृत के साथ सेवन करने से १ सप्ताह में शीतपित्त, उदर्द तथा कोठ आदि अच्छे होते हैं।

(७) अतिस्थौल्य में इसका रस दिया जाता है।

मात्रा—चूर्ण १–२ माशा।

अथ श्योनाकः (सोनापाठा–अरलू)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

श्योनाकः शोषणश्च स्यान्नटकट्वङ्गटुण्टुकाः। मण्डूकपर्णपत्रोर्णशुकनासकुटन्नटाः ॥ २५ ॥
दीर्घवृन्तोऽरलुश्चापि पृथुशिम्बः कटम्भरः। श्योनाको दीपनः पाके कटुकस्तुवरो हिमः।
ग्राही तिक्तोऽनिलश्लेष्मपित्तकासप्रणाशनः ॥ २६ ॥

सोनापाठा या अरलू के नाम तथा गुण—श्योनाक, शोषण, नट, कट्वङ्ग, टुण्टुक, मण्डूकपर्ण, पत्रोर्ण, शुकनास, कुटन्नट, दीर्घवृन्त, अरलु, पृथुशिम्ब और कटम्भर ये सब संस्कृत नाम 'सोनापाठा' के हैं। सोनापाठा–अग्निदीपक, पाक में कटुरस तथा स्वाद में कषाय और तिक्तरस से युक्त, शीतवीर्य और मलसंग्राहक है। यह वात, कफ, पित्त तथा कास का विनाशक है ॥ २५–२६ ॥

अथ श्योनाकस्य बालप्रौढफलयोर्गुणानाह

टुण्टुकस्य फलं बालं रूक्षं वातकफापहम् ॥ २७ ॥
हृद्यं कषायं मधुरं रोचनं लघु दीपनम्। गुल्मार्शःकृमिहृत् प्रौढं गुरु वातप्रकोपणम् ॥ २८ ॥

इसके कोमल तथा प्रौढ फल के गुण—सोनापाठा का कोमल फल रूक्ष, वातकफनाशक, हृदय को हितकर, कषाय तथा मधुररस युक्त, रोचक, लघु तथा अग्निदीपक एवं गुल्म, बवासीर तथा कृमि का नाशक होता है। इसका प्रौढ़ (पूरा तैयार) फल–गुरु तथा वात को प्रकुपित करने वाला होता है ॥ २७–२८ ॥

९ सोनापाठा

हि०—सोनापाठा, शोनाक, सोनपत्ता, टेंटू, अरलु। **बं०**-शोण, सोनागाछ। **म०**-टेंटू। **गु०**-टेंटु। **ते०**-दुन्दिलुम, पंपन। **उ०**-पम्पोनिया। **पं०**-मुलिन, तालवड़। **ता०**-पन, वंग। **ने०**-तोतिछ। **कोल०**-अरेंगेवनुं। **सन्ता०**-बनहाटक। **गोंड०**-जयमंगल। **आसा०**-केरिंग। **का०**-तातर। **वर्मा**-क्योंग-शा। **सिक्कि०**-तोतिछ। **लै०**-*Oroxylum indicum Vent.* (ओरोक्झाइलम् इण्डिकम् वेन्ट)। Fam. Bignoniaceae (बिग्नोनियसी)।

यह सब प्रान्तों में कहीं-कहीं पाया जाता है किन्तु पश्चिम प्रान्त की सूखी भूमि में यह देखने में नहीं आता।

इसका **वृक्ष**-मध्यमाकार का होता है तथा शाखाएँ थोड़ी होती हैं। **छाल**-चौथाई इञ्च तक मोटी, कार्कयुक्त तथा बादामी सफेद रङ्ग की चिकनी, हलकी और कोमल होती है। इसको काटने से किंचित् हरियाली लिये रस निकलता है। **काट**-½-१ इञ्च मोटा, अन्दर की ओर रेशेदार, पीला और बाहर की ओर हरिताभ होता है। **लकड़ी**-पीलापन युक्त सफेद, हलकी और साररहित होती है। **पत्ते**-२-४ फीट लम्बे, द्विपक्षवत् सदल तथा शाखाओं पर प्रायः समूहबद्ध होकर पाये जाते हैं। पत्रनाल और पत्रदण्ड पर दाने पड़े होते हैं। **पत्रक**-२॥ ५ इञ्च लम्बे, १॥-४ इञ्च चौड़े, लट्वाकार या अण्डाकार, लम्बाग्र तथा अखण्ड होते हैं। **फूल**-बहुत बड़े, मांसल और जामुनी रंग के तथा अग्रस्थ मंजरियों में सवृन्तकाण्डज क्रम से निकले रहते हैं। इनकी गन्ध अच्छी नहीं होती। **फलियाँ**-१-३ फुट लम्बी, २-३॥ इञ्च चौड़ी, चिपटी, तलवार के समान टेढ़ी एवं कठोर होती हैं। **बीज**-सफेद, चिपटे, गोल, २-३ इञ्च व्यास वाले तथा आधार के अतिरिक्त चारों ओर पंखयुक्त होते हैं। इसके मूल की छाल का दशमूल में उपयोग किया जाता है। यह हलके पीले रंग की रहती है तथा इसका स्वाद कुछ कड़वा तथा कुछ तीता रहता है। इसमें गन्ध नहीं होती।

रा० नि० ने इसके यद्यपि दो भेद लिखे हैं तथापि गुणों में अन्तर नहीं लिखा है। कुछ लोग 'अरलू' नाम से Ailanthus excelsa Roxb. (ऐलेन्थस् एक्सेल्सा राक्स.) लेते हैं और उसी को रा० नि० का श्योनाक भेद मानते हैं। ऐलेन्थस् एक्सेल्सा को कुछ लोगों ने महानिंब माना है।

रासायनिक संगठन—इसकी छाल में ओरोक्झाइलिन् (Oroxylin) नामक एक कड़वा रवेदार ग्लूकोसाइड, कटुपदार्थ, पेक्टिन, तैल एवं मोम आदि पदार्थ पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—सोनापाठा के मूल की छाल उत्तम स्वेदजनन, कुछ वेदनास्थापन, दीपन, बस्तिरोगहर, स्तम्भन, व्रणरोपण एवं शोथहर है। इसके बीज रेचक होते हैं। इसकी छाल का प्रयोग आमवात, अतिसार, कास, अरुचि एवं ज्वर में किया जाता है।

(१) शोथ तथा वातप्रधान रोगों में श्योनाकमूल देते हैं। यह नवीन आमवात में बहुत लाभ करता है। सोंठ के साथ इसका फांट (१ : १०) बनाकर १ औंस दिन में त्रिवार देते हैं। इसके चूर्ण के साथ अफीम मिलाई जा सकती है। यह डोवर्स पाउडर (Dover's powder) की अपेक्षा उत्तम स्वेदजनन तथा वेदनाहर है। छाल का क्वाथ अधिक स्तम्भन होने के कारण इसके फांट का प्रयोग उचित है। विबन्ध होने पर एरंड तैल का प्रयोग करना चाहिये। आमवात में इसके क्वाथ से शोथयुक्त संधियों को सेंकते हैं जिससे सूजन तथा पीड़ा कम होती है।

(२) इसकी छाल के कल्क तथा पद्मकेसर को गंभारी एवं कमल के पत्तों में लपेटकर, पुटपाक करके निकला हुआ रस शीत होने पर मधु मिलाकर, अतिसार में दिया जाता है।

(३) इसकी छाल से सिद्ध तैल का उपयोग कर्णस्राव तथा कर्णशूल में किया जाता है। बहुत दिन के प्रयोग के बाद इससे लाभ होता है।

(४) कहा जाता है कि अठन्नी भर छाल पीसकर छानकर दूध के साथ पिलाने से मिर्गी में लाभ होता है।

(५) कर्णमूल शोथ में इसके बीज और इरिमेद दोनों पीसकर लगाये तथा पिलाये जाते हैं।

मात्रा—चूर्ण १०-२० र० त्रिकटु के साथ।

अथ बृहत्पञ्चमूलम्। तस्य लक्षणं गुणाँश्चाह

श्रीफलः सर्वतोभद्रा पाटला गणिकारिका। श्योनाकः पञ्चभिश्चैतैः पञ्चमूलं महन्मतम् ॥२९॥
पञ्चमूलं महत् तिक्तं कषायं कफवातनुत्। मधुरं श्वासकासघ्नमुष्णं लघ्वग्निदीपनम् ॥ ३० ॥

बृहत् पञ्चमूल के लक्षण तथा गुण—बेल, गम्भारी, पाढल, अरनी और सोनापाठा इन पांचों वृक्षों के मूल एकत्र करने से 'बृहत् पञ्चमूल' होता है। बृहत् पञ्चमूल-तिक्त, कषाय तथा मधुर रसयुक्त, कफवात-नाशक एवं श्वास तथा कास को दूर करने वाला, उष्णवीर्य, लघु और अग्निदीपक होता है ॥ २९-३० ॥

अथ शालपर्णी (सरिवन) तस्या नामानि गुणाँश्चाह

शालपर्णी[1] स्थिरा सौम्या त्रिपर्णी पीवरी गुहा।
विदारिगन्धा दीर्घाङ्गी[2] दीर्घपत्रांऽशुमत्यपि ॥ ३१ ॥
शालपर्णी गुरुश्छर्दिज्वरश्वासातिसारजित् ॥ ३२ ॥
शोषदोषत्रयहरी बृंहण्युक्ता रसायनी। तिक्ता विषहरी स्वादुः क्षतकासकृमिप्रणुत् ॥३३॥

'सरिवन' के नाम तथा गुण—शालपर्णी, स्थिरा, सौम्या, त्रिपर्णी, पीवरी, गुहा, विदारिगन्धा, दीर्घाङ्गी, दीर्घपत्रा तथा अंशुमती ये सब संस्कृत नाम 'सरिवन' के हैं। **सरिवन**-पाक में गुरु और वमन, ज्वर, श्वास, अतीसार, शोष तथा त्रिदोष का नाशक है एवं बृंहण, रसायन, तिक्त तथा मधुर रसयुक्त और विष, क्षयकास तथा कृमि का भी नाशक है ॥ ३१-३३ ॥

१० शालपर्णी

हि०-सरिवन, सालवन, गौरी, सर, दिय रौथ। **बं०**-शालपान, शलपानी, छालानी। **म०**-सालवण, रानमाल। **पं०**-सरिवन, समेर। **गु०**-सालवण, समेरवो, पांदडियो। **क०**-मुई डोंवरा मरुवल होने, मरुल होन्ने, काडगांजि। **ते०**-सप्पा कुपोव, सप्पा कपोवा, शिया कुपना, कोल कुपोन्ना, गिता नरम। **उ०**-शार पाणि। **लै०**-*Desmodium gangeticum DC.* (डेस्मोडिअम् गॅन्जेटिकम् डीसी.)। Fam. Leguminosae (लेगुमिनोसी)।

यह भारत में प्रायः सर्वत्र प्राप्त होती है विशेषकर दून के शाल वनों में अधिक होती है।

इसके **पौधे** (उपक्षुप)-स्वावलम्बी परन्तु झुकी और फैली हुई शाखाओं से युक्त और २-४ फीट ऊँचे होते हैं। **काण्ड**-किंचित् कोणदार होते हैं। **पत्ते**-एकपत्रक, ३-६ इञ्च लंबे,

१. शालिपर्णी इति पाठा०। २. दीर्घाङ्गी इति पाठा०।

भिन्न भिन्न चौड़ाई के भालाकार-आयताकार या कम चौड़े और लट्वाकार तथा क्रमशः तीक्ष्णाग्र होते हैं। इनका अपर पृष्ठ मसृण, हरे रंग का और अधर पृष्ठ फीके हरे रंग का और रोमश होता है। **पुष्प**–श्वेताभ गुलाबी या जामुनी रंग के और ६–१२ इञ्च लंबी, विरल, पतली तथा अग्रज मंजरियों में श्रावणमास में लगते हैं। **फली**–आधा से पौन इञ्च लंबी, ६–८ संधियों की, टेढ़ी और टेढ़े सूक्ष्म रोमों से युक्त होने के कारण कपड़ों में चिपक जाने वाली होती है। जमीन पर फैले हुये अथवा न्यूनाधिक स्वावलंबी दोनों प्रकार के पौधे होते हैं। अल्प वृद्धि वाले पौधों में पत्ते केवल ½–१½ इञ्च लंबे और अति वृद्धि वाले पौधों में ३–६ इञ्च लंबे पत्ते होते हैं। इसके पत्तों का आकार शालपर्ण सदृश होने के कारण इसे शालपर्णी माना जाता है। इसके मूल तथा पंचांग का चिकित्सा में प्रयोग किया जाता है। इस जाति तथा वर्ग के कुछ अन्य पौधों को भी शालपर्णी के नाम से ग्रहण कर लिया जाता है।

शालपर्णी और पृश्निपर्णी के विषय में वैद्यों में मतभेद है। कहीं-कहीं के वैद्य उसे शालपर्णी मानते हैं जिसे आगे पृश्निपर्णी लिखा गया है और इस शालपर्णी को वे पृश्निपर्णी मानते हैं। पृश्निपर्णी के पर्याय में क्रोष्टुविन्ना शब्द आया है जो Uraria (यूरेरिआ) जाति की पुच्छाकार मंजरी वाले क्षुपों के लिये ही उपयुक्त हो सकता है। इस दृष्टि से Uraria picta Desv. (यूरेरिआ पिक्टा डेस्व.) को पृश्निपर्णी मानना उचित मालूम पड़ता है। Uraria lagopoides DC. (यूरेरिआ लॅगोपाइडिस् डीसी.) के पत्र शालपत्र जैसे होने के कारण उसे शालपर्णी माना जा सकता है। कुछ लोग शालिपर्णी से शालिधान्य के क्षुप जैसे पत्र वाले क्षुप मानते हैं। इसी तरह इसके विभिन्न निघण्टुओं में दिये हुये पर्याय नामों के आधार पर लोग विभिन्न क्षुपों को शालपर्णी या पृश्निपर्णी सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं।

गुण और प्रयोग—शालपर्णी उष्ण, ज्वरघ्न, शोथघ्न, मूत्रजनन, बल्य, रसायन, वयस्थापन, बृंहण, सर्वदोषहर, अंगमर्द प्रशमन तथा विषघ्न है। इससे मूत्रदाह कम होता है।

इसका प्रयोग ज्वर, वातरोग, अतिसार, वमन, शोथ, प्रमेह, अर्श, कृमि, राजयक्ष्मा एवं क्षत कास में किया जाता है। श्वासनलिकाशोथ, फुफ्फुसशोथ तथा सूतिकाज्वर में इससे विशेष लाभ होता है। इसके पंचांग के क्वाथ में कालीमिर्च मिलाकर रक्तविकार में प्रयोग करते हैं।

मात्रा—चूर्ण ½–१ तोला।

अथ पृश्निपर्णी (पिठवन) तस्या नामानि गुणाँश्चाह

पृश्निपर्णी पृथक्पर्णी चित्रपर्ण्यंहिपर्ण्यपि[1]।
क्रोष्टुविन्ना सिंहपुच्छी कलशी धावनिर्गुहा ॥ ३४ ॥
पृश्निपर्णी त्रिदोषघ्नी वृष्योष्णा मधुराऽसरा।
हन्ति दाहज्वरश्वासरक्तातीसारतृड्वमीः ॥ ३५ ॥

पिठवन के नाम तथा गुण—पृश्निपर्णी, पृथक्पर्णी, चित्रपर्णी, अंहिपर्णी, क्रोष्टुविन्ना, सिंहपुच्छी, कलशी, धावनी और गुहा ये सब संस्कृत नाम पिठवन के हैं। **पिठवन**–त्रिदोष को दूर करने वाली, वृष्य, उष्णवीर्य, मधुररस युक्त तथा संग्राही होती है। यह दाह, ज्वर, श्वास, रक्तातिसार, तृषा और वमन को दूर करती है ॥ ३४–३५ ॥

१. अंघ्रिपर्ण्यपि इति पाठा०।

११ पृश्निपर्णी (१)

हिं०–पिठवन, डाब्रा। **बं०**–शंकरजटा। **पं०**–देतेर्दानी। **म०**–पृश्निपर्णी, पिठवण। **गु०**–पीठवण, पीलो समेरवो। **ले०**–*Uraria picta Desv.* (युरेरिआ पिक्टा डेस्व.)। Fam. Leguminosae (लेगुमिनोसी)।

यह देहरादून और बाहरी हिमालय में प्रायः ऊसर भूमि एवं खुले हुए जंगलों में पाया जाता है।

इसके **क्षुप**–२–६ फीट ऊँचे, स्वावलम्बी तथा अल्प शाखाओं वाले होते हैं जिसमें पत्ते एक ही क्षुप में भिन्न तरह के होते हैं। **पत्ते**–नीचे के पत्ते छोटे और लगभग वृत्ताकार, इनके ऊपर ३–५ पत्रक सदलपर्ण जिनके पत्रक रेखाकार और इनके साथ कभी-कभी बड़े-बड़े आयताकार, भालाकार, ६ × १½ इञ्च बड़े अपत्रक पर्ण भी रहते हैं। ऊपर के पत्ते ५–९ पत्रक तथा पत्रक ३½–६ इञ्च बड़े होते हैं। पत्रकों के मध्य में पीलापन लिये भूरे या पीले सफेद रंग के पट्टे होते हैं। **पुष्प**–छोटे, लाल और ३–४ इञ्च लम्बी, सघन, अग्रज और रंभाकार मंजरियों में निकले रहते हैं। फलवती होने पर ये मंजरियाँ पुच्छाकार मालूम होती हैं। **फली**–छोटी तथा ३–६ संधियों वाली होती है। अधिकांश लोग इसे पृश्निपर्णी मानते हैं। इसे शालपर्णी मानना उचित नहीं है। पृश्निपर्णी (२) को शालपर्णी माना जा सकता है क्योंकि उसके पत्र शालपत्र जैसे होते हैं।

गुण और प्रयोग—पृश्निपर्णी उष्ण, लघु, त्रिदोषघ्न, दीपनीय, वृष्य, वातहर, संग्राही, सन्धानीय, शोथहर, अंगमर्द प्रशमन तथा जीवाणुनाशक है।

इसका उपयोग ज्वर, कास, रक्तातिसार, रक्तार्श, तृषा एवं दाह में किया जाता है।

(१) बला तथा पृश्निपर्णी का क्वाथ, रक्तार्श एवं मदात्यय में लाभदायक है।

(२) अस्थिभग्न में मांसरस के साथ इसके मूल का चूर्ण २१ दिन तक सेवन करना चाहिये।

(३) इसके पंचांग का स्वरस फुरसा (Echis carinata) नामक सर्प के विष में लाभदायक माना जाता है।

मात्रा—½–१ तोला।

१२ पृश्निपर्णी (२)

हिं०–पिठवन, पिठोनी, पितवन। **बं०**–चाकुले, चाकुलिआ। **म०**–डवला, पिठवण। **पं०**–पिठोनी, पिठौनी। **मा०**–पिठपन। **गु०**–नहानो समेरवो। **क०**–नवियल बोने। **तै०**–कोलकू-पौन्ना। **ले०**–*Uraria lagopoides DC.* (युरेरिआ लॅगोपॉइडिस् डीसी.)। Fam. Leguminosae (लेगुमिनोसी)।

यह नेपाल, बंगाल, छोटानागपूर तथा अन्य उष्ण प्रान्तों के जंगली स्थानों में होती है।

इसके **क्षुप**–बहुवर्षायु काष्ठीय मूल से प्रतिवर्ष निकलते हैं। **शाखाएँ**–प्रसरी या अत्यन्त-प्रसरी और लगभग १२ इञ्च लम्बी होती हैं, जो मूल के समीप निकलती हैं। **पत्ते**–किंचित् वृत्ताकार या चौड़ाई लिये हुए आयताकार, एकपत्रक और त्रिपत्रक दोनों प्रकार के पत्ते मिले हुए या कभी-कभी केवल अपत्रक पत्ते होते हैं। **पुष्प**–पुष्पमंजरी ८–१२ इञ्च तक लम्बी, गोल तथा पुच्छाकार होती है जो स्थायी बाह्यकोश के पंख सदृश खण्डों के कारण बहुत सघन और शृगालपुच्छ (क्रोष्टुविन्ना) जैसी दिखाई देती हैं इसीसे कहीं-कहीं जंगलों में इसे सियारपुछिया भी कहते हैं। **फली**–एक इञ्च लम्बी, टेढ़ी-मेढ़ी तथा चिकनी होती है। इसके मूल का व्यवहार किया जाता है।

इसकी एक अन्य जाति युरेरिआ हॅमोसा वाल. (Uraria hamosa Wall.) होती है जिसमें मंजरियाँ लम्बी परन्तु सघन नहीं होतीं तथा पर्ण अपत्रक या त्रिपत्रक होते हैं। इसे उड़ीसा में सालपानी (शालपर्णी) कहते हैं। वस्तुतः 'सालपानी' नाम कई जाति के पौधों को दिया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह रसायन, बल्य, श्लेष्मघ्न एवं त्रिदोषघ्न है। इसके मूल का व्यवहार ½–१ तोला की मात्रा में किया जाता है।

अथ वार्त्ताकी (बड़ी कटेरी) तस्या नामानि गुणाँश्चाह

वार्त्ताकी क्षुद्रभण्टाकी महती बृहती कुली।
हिङ्गुली राष्ट्रिका सिंही महोष्ट्री दुष्प्रधर्षिणी।
बृहती ग्राहिणी हृद्या पाचनी कफवातहृत्॥ ३६॥
कटुतिक्ताऽऽस्यवैरस्यमलारोचकनाशिनी।
उष्णा कुष्ठज्वरश्वासशूलकासाग्निमान्द्यजित्॥ ३७॥

बड़ी कटेरी के नाम तथा गुण—वार्त्ताकी, क्षुद्रभण्टाकी, महती, बृहती, कुली, हिङ्गुली, राष्ट्रिका, सिंही, महोष्ट्री और दुष्प्रधर्षिणी ये सब संस्कृत नाम बड़ी कटेरी के हैं। बड़ी कटेरी-संग्राही (मलरोधक), हृदय को हितकर, पाचक, कफवात-नाशक, कटु तथा तिक्तरस-युक्त होती है। यह मुखकी विरसता तथा मल और अरुचि का नाश करने वाली, उष्णवीर्य तथा कुष्ठ, ज्वर, श्वास, शूल, कास और अग्नि की मन्दता इन सबों को दूर करने वाली होती है॥ ३६–३७॥

१३ बृहती (बड़ी कटेरी)

हि०—बनभंटा, बनभांटा, बड़ी कटाई, बड़ी कटेरी, बरहंटा, भंजड। **बं०**—व्याकुड, व्याकुर। **म०**—डोरली, चिंचुरटी वांगी। **गु०**—उभी रिंगणी। **ते०**—तेल्ल मुलक। **ता०**—पप्पर मुल्ली। **क०**—किरिगुलि। **मा०**—उभीकटाली। **मला०**—चेरचुण्ड। **पं०**—कंडयारी। **फा०**—कटाई कलाँ। **ले०**—*Solanum indicum Linn.* (सोलॅनम् इण्डिकम् लिन.)। Fam. Solanaceae (सोलॅनेसी)।

यह भारत के प्रायः सब प्रान्तों में कहीं न कहीं पाई जाती है, विशेषकर ऊसर भूमि में अधिक मिलती है।

इसका क्षुप–३–६ फीट ऊँचा ठीक भण्टे के क्षुप के समान होता है। शाखाएँ–श्वेत रोमश और किंचित् टेढ़े तथा मृदु काँटों से भरी रहती हैं। पत्ते–२ से ६ इञ्च तक लम्बे तथा १ से ४ इञ्च तक चौड़े, कटे किनारे वाले या लहरदार, ठीक भण्टे के पत्तों के आकार के लट्वाकार या आयताकार होते हैं। अधरतल पर रोमश होने के कारण ये मैले सफेद रंग के और ऊपरी तल पर तारकाकार रोमों के कारण कुछ-कुछ खुरखुरे होते हैं। नीचे के तल पर मध्यपर्शुका पर अथवा नसों पर मृदु कंटकों से युक्त रहते हैं। फूल-भंटा के फूल के समान बैंगनी रंग के या कभी-कभी श्वेताभ, ·७५ इञ्च व्यास के और पांच दल वाले होते हैं। फल–गोल, कच्ची अवस्था में हरे, पकने पर पीले, तिहाई इञ्च व्यास के एवं प्रायः चिकने होते हैं। इनका स्थायी बाह्यकोश पहले जैसा छोटा ही रहता है। फल तथा फूल सालभर लगते रहते हैं। ताजे फल कड़वे तथा कटु रहते हैं लेकिन सूखने पर इनका कड़वापन चला जाता है।

इसका एक भेद ठंडे तथा आर्द्र स्थानों में पाया जाता है जिसे **ले०**—*Solanum torvum Swartz* (सोलॅनम् टॉर्वम् स्वार्ट्ज) तथा **सं०**—श्वेतबृहती कहते हैं।

इसके क्षुप–६–१० फीट ऊँचे तथा उपर्युक्त बृहती के समान होते हैं। ये अधिक ऊँचे, सीधे तथा शाखायें अल्प, सीधी, प्रायः मुलायम और उन पर काँटे बहुत कम होते हैं। पत्ते–३–७ इञ्च लम्बे, २–४ इञ्च चौड़े, ऊपर कम और नीचे अधिक रोमश (रोम तारकाकार) होते हैं। काँटे भी प्रायः मध्यशिरा पर नीचे की ओर केवल एक या दो होते हैं। फूल–श्वेत तथा बाह्यकोश में काँटे नहीं होते। फल–पहले से बड़े, ·५ इञ्च व्यास के तथा पीले होते हैं।

इसका एक अन्य भेद शुष्क भागों में पाया जाता है जिसे **ले०**—*Solanum melongena Linn.* (सोलॅनम् मेलोंगेना लिन.) एवं **हि०**—बनभण्टा, जंगली बैंगन, रोको, ठोको, गठेगनी कहते हैं।

यह बैंगन की ही जंगली जाति होती है जिसमें काँटे होते हैं। पत्ते-अंडाकार, ४-७ इञ्च बड़े, न्यूनाधिक अखंड, लहरदार या किंचित् खंडित (खंडगोल) होते हैं। फूल–नीले और प्रायः व्यास में १ इञ्च होते हैं। बाह्यकोश फल में बढ़ा हुआ रहता है। फल–चिकने, श्वेताभ-पीत, गोल और व्यास में करीब १ इञ्च होते हैं। इसके कृषिजन्य भेद में फल के रंग तथा आकारादि में बहुत भिन्नता आ जाती है।

नोट—प्राचीनों ने बृहतीद्वय का उल्लेख किया है जिससे कुछ लोग बृहती (बड़ी कटेरी) तथा कंटकारी (भटकटैया) ये दो द्रव्य लेते हैं। कुछ लोगों का मत है कि बृहतीद्वय अलग हैं तथा कंटकारी अलग है। बृहती के कई भेद प्राप्त भी होते हैं।

रासायनिक संगठन—इसमें सोलेनीन एवं सोलेनिडीन नामक दो क्षाराभ पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—यह उष्ण, दीपन, पाचन, ग्राही, वातघ्न, कफघ्न, हृद्य, कण्ठ्य, हिक्का-निग्रहण, शोथहर तथा अंगमर्द प्रशमन है।

इसका मूल कफ रोगों में दिया जाता है। इससे ज्वर कम होता है एवं श्वासावरोध कम होता है। इसके प्रयोग से उदरगत वात कम होने से शूल एवं मरोड़ दूर होती है। मूत्रकृच्छ्र में इसका उपयोग करते हैं। त्वग्रोगों में इसके पत्तों का लेप किया जाता है। वमन रोकने के लिये इसके पत्तों का स्वरस आर्द्रक के साथ पिलाते हैं। इसके फल अग्निदीपक माने जाते हैं तथा शिरःशूल में इसका लेप लाभदायक होता है।

मात्रा—चूर्ण १–२ माशा।

अथ कण्टकारी (भटकटैया, कटेरी)। तस्या नामान्याह

कण्टकारी तु दुःस्पर्शा क्षुद्रा व्याघ्री निदिग्धिका। कण्टालिका कण्टकिनी धावनी बृहती तथा॥

भटकटैया के नाम—कण्टकारी, दुःस्पर्शा, क्षुद्रा, व्याघ्री, निदिग्धिका, कण्टालिका, कण्टकिनी, धावनी और बृहती ये सब संस्कृत नाम भटकटैया के हैं॥ ३८॥

*** उभे च बृहत्यौ। यत आह सुश्रुतः—**
क्षुद्रा या क्षुद्रभण्टाकी बृहतीति निगद्यते॥ ३८॥

दोनों ही अर्थात् बड़ी कटेरी तथा भटकटैया (छोटी कटेरी) 'बृहती' कहलाती हैं क्योंकि 'सुश्रुत' महर्षि ने भी कहा है कि—क्षुद्रा (भटकटैया) और क्षुद्रभण्टाकी (बड़ी कटेरी) जो यह दो प्रकार की कटेरी होती है वे दोनों ही 'बृहती' नाम से कहलाती हैं॥ ३८॥

अथ श्वेतपुष्पायाः कण्टकार्या नामान्याह

श्वेता क्षुद्रा चन्द्रहासा लक्ष्मणा क्षेत्रदूतिका । गर्भदा चन्द्रमा चन्द्री चन्द्रपुष्पा प्रियङ्करी॥३९॥

सफेद फूल वाली भटकटैया के नाम—श्वेता, क्षुद्रा, चन्द्रहासा, लक्ष्मणा, क्षेत्रदूतिका, गर्भदा, चन्द्रमा, चन्द्री, चन्द्रपुष्पा और प्रियङ्करी ये सब संस्कृत नाम सफेद फूल वाली भटकटैया के हैं ॥ ३९ ॥

अथ कण्टकारीगुणानाह

कण्टकारी सरा तिक्ता कटुका दीपनी लघुः ॥ ४० ॥
रूक्षोष्णा पाचनी कासश्वासज्वरकफानिलान् । निहन्ति पीनसं पार्श्वपीडाकृमिहृदामयान् ॥४१॥

भटकटैया के गुण—भटकटैया-दस्तावर, तिक्त तथा कटुरसयुक्त, अग्निदीपक, लघु, रूक्ष, उष्णवीर्य और पाचक होती है। यह खाँसी, श्वास, ज्वर, कफ, वात, पीनस, पार्श्वपीडा (पसुली का दर्द), कृमि तथा हृद्रोग इन सबों को दूर करती है ॥ ४०–४१ ॥

अथ कण्टकारीद्वयफलगुणानाह

तयोः फलं कटु रसे पाके च कटुकं भवेत् । शुक्रस्य रेचनं भेदि तिक्तं पित्ताग्निकृल्लघु ॥
हन्यात्कफमरुत्कण्डूकासमेदःकृमिज्वरान् ॥ ४२ ॥

दोनों कटेरियों के फल के गुण—छोटी तथा बड़ी कटेरी के फल—पाक में कटुरसयुक्त, शुक्र का रेचन करने वाले, मल को भेदन करने वाले, कटु तथा तिक्तरस-युक्त, पित्त तथा अग्निवर्धक और लघु होते हैं और कफ, वात, खुजली, खाँसी, मेदरोग, कृमि तथा ज्वर को दूर करने वाले होते हैं ॥ ४२ ॥

अथ श्वेतपुष्पकण्टकार्या गुणानाह

तद्वत्प्रोक्ता सिता क्षुद्रा विशेषाद् गर्भकारिणी ॥ ४३ ॥

श्वेत फूल वाली भटकटैया के गुण—सफेद फूल वाली भटकटैया भी पूर्वोक्त इन सभी गुणों से युक्त होती है तथापि विशेष करके यह गर्भ धारण कराने वाली होती है ॥ ४३ ॥

१४ कंटकारी

हि०–कटेरी, लघुकटाई, कंटकारी, छोटी कटाई, भटकटैया, रेंगनी, रिंगणी, कटाली, कटयाली । बं०–कंटकारी । म०–रिङ्गणी, भुईरिङ्गणी । गु०–बेठी भोरिंगणी, भोयरिंगणी । क०–नेल्ल गुल्लु । ते०–चल्लन मुलग । मा०–पसरकटाई । पं०–कंडियारी, वरुम्ब । ता०–कंडनकत्तरि । अ०–हदक, ईसिम, शौकतुल्अकरब । फा०–बादंगानबर्री, कटाई खुर्द । ले०–*Solanum xanthocarpum Schrad & Wendl* (सोलॅनम् झॅन्थोकार्पम् श्रॅड, वेण्ड.) । Fam. Solanaceae (सोलेनॅसी) ।

यह प्रायः सब प्रान्तों में और सब प्रकार की मिट्टी में पाई जाती है परन्तु रेतीली भूमि में यह अधिक उत्पन्न होती है । दक्षिण-पूर्व एशिया, मलाया एवं आस्ट्रेलिया के उष्ण प्रदेशों में भी यह पाई जाती है ।

इसका परिप्रसरी क्षुप–बहुवर्षायु तथा अत्यन्त कांटेदार होता है । काण्ड–टेढ़े-मेढ़े एवं अनेक शाखाओं से युक्त रहते हैं । कांटे–सीधे, पीले, चिकने, चमकीले एवं ·५–·७ इञ्च तक लम्बे होते हैं । इनमें साथ में छोटे कांटे भी होते हैं । पत्ते–२–४ इञ्च लम्बे, १–३ इञ्च चौड़े, लट्वाकार, आयताकार या अण्डाकार, गहरे कटे हुए या पक्षवत् खण्डित होते हैं । पत्रखण्ड पुनः खण्डित या दन्तुर होते हैं । ये तारकाकार रोमों के कारण खुरदुरे होते हैं । फूल–गहरे नीले रंग के आते हैं । फल–गोल, ·५–१ इञ्च व्यास के, चिकने और पीले या कभी कभी सफेद होते हैं तथा हरी धारियों से युक्त होते हैं । बीज–चिकने एवं छोटे होते हैं । इसके मूल का उपयोग किया जाता है । यह हमेशा ताजा उपयोग में लाना चाहिये ।

श्वेतकंटकारी का पौधा वर्षायु, कुछ छोटा एवं हलके रंग का होता है । पुष्प श्वेत रंग के आते हैं । मूल छोटा एवं पतला तथा शाखायुक्त होता है । यह शीतऋतु में होता है तथा वर्षा में गल जाता है । श्वेतकंटकारी का एक पर्याय लक्ष्मणा होने के कारण तथा यह भी 'गर्भ-कारिणी' होने के कारण 'लक्ष्मणा' के स्थान पर इसका उपयोग किया जाता है । लक्ष्मणा का आगे स्वतंत्र वर्णन आया है । यह पौधा उपर्युक्त कंटकारी का केवल स्थानभेद से उत्पन्न प्रकार (Variety) है या स्वतंत्र जाति (Species) है इस संबंध में अभी शोध चालू है । इसके स्वतंत्र स्पीसीज सिद्ध होने की अधिक संभावना है ।

रासायनिक संगठन—इसमें सोलेनीन सदृश सोलेकार्पिडिन (Solacarpidin, $C_{26}H_{44}O_3N$) नामक एक क्षाराभ बहुत अल्पमात्रा में होता है जो फल में अधिक होता है । पत्तों की अपेक्षा मूल में यह अधिक होता है । इसके पंचांग में पोटॅशियम् क्लोराइड् एवं पोटॅशियम् नाइट्रेट् (Potassium chloride and Potassium nitrate) पाये जाते हैं ।

गुण और प्रयोग—यह उत्तम मूत्रल, कफनिःसारक एवं ज्वरहर है । इसके बीज वेदनास्थापक हैं ।

इसका उपयोग कास, श्वास, प्रतिश्याय, ज्वर, अंगमर्द, पार्श्वपीडा, हृद्रोग, आध्मान, विबंध, अश्मरी तथा वमन में किया जाता है ।

(१) गुडुच एवं इसकी जड़ का क्वाथ ज्वर एवं कास में बल्य रूप में दिया जाता है । इससे शरीर की पीड़ा कम होती है, कुछ पसीना होता है एवं मूत्र की मात्रा भी कुछ बढ़ती है ।

(२) इससे गला एवं श्वासनलिका की शुष्कता कम होकर कफ ढीला होने लगता है इसलिये गले का शोथ, स्वरयन्त्रशोथ एवं श्वासनलिकाशोथ इनकी प्रथमावस्था में इससे अच्छा लाभ होता है । कफ की प्रथमावस्था में मूल के क्वाथ के साथ मधु एवं सैंधव दिया जाता है । द्वितीयावस्था में पत्रस्वरस या मूलक्वाथ में छोटीपीपल एवं मधु मिलाकर देते हैं जिससे खाँसी की तकलीफ कम होती है । तमक श्वास एवं उद्वेष्टन युक्त कास में इसके मूल के क्वाथ में सैंधव एवं हींग मिलाकर देते हैं । सुश्रुत ने तमक श्वास के लिये इसका मूलचूर्ण १ तोला तथा हींग ¼ तोला, मधु के साथ ३ दिन सेवन करने को लिखा है । कास, श्वास तथा स्वरभेद में इससे सिद्ध घृत का उपयोग लिखा है । कास में इसके स्वरस से सिद्ध मुद्गयूष आँवले की खटाई डालकर उपयोग करने को लिखा है ।

(३) इसके मूल का स्वरस मद्य मिलाकर पिलाने से वमन बन्द होता है ।

(४) इसके मूल के क्वाथ को मूत्रकृच्छ्र, बस्तिगत अश्मरी एवं जलोदर में देते हैं । मूत्रदोष में इसके स्वरस में मधु मिलाकर पिलाते हैं । अश्मरी में बृहती तथा कंटकारी के मूल का चूर्ण मीठे दही के साथ ७ दिन पीने का विधान है ।

(५) इसके बीज के धूम्रपान से कृमिदन्तजन्य शूल कम होता है तथा कभी-कभी तत्काल लाभ होता है । मुखपाक में पंचांग क्वाथ से गण्डूष कराते हैं । पीड़ायुक्त अर्श में इसके बीज की धूनी दी जाती है । वेदनायुक्त अंगोंपर इसके पत्तों का लेप किया जाता है ।

(६) आमवात में इसके पत्रस्वरस में काली मिर्च मिलाकर पिलाते हैं तथा पत्तों का लेप करते हैं।

(७) गले की सूजन में फलों का स्वरस उपयोगी है।

(८) सोजाक में पंचांग का क्वाथ पिलाते हैं।

मात्रा—पत्रस्वरस ¼–½ तोला; मूलक्वाथ (अष्टमांश) २–४ तोला; मूलचूर्ण १–२ माशा।

श्वेतकंटकारी—इसकी ताजी जड़ दूध में पीसकर मासिक के चौथे दिन पिलाने से गर्भधारणा होती है।

अथ गोक्षुरः। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

गोक्षुरः क्षुरकोऽपि स्यात्त्रिकण्टः स्वादुकण्टकः। गोकण्टको गोक्षुरको वनशृङ्गाट इत्यपि॥४४॥
पलङ्कषा श्वदंष्ट्रा च तथा स्यादिक्षुगन्धिका। गोक्षुरः शीतलः स्वादुर्बलकृद्बस्तिशोधनः॥४५॥
मधुरो दीपनो वृष्यः पुष्टिदश्चाश्मरीहरः। प्रमेहश्वासकासार्शःकृच्छ्रहृद्रोगवातनुत्॥४६॥

गोखरू के नाम तथा गुण—गोक्षुर, क्षुरक, त्रिकण्ट, स्वादुकण्टक, गोकण्टक, गोक्षुरक, वनशृङ्गाट, पलङ्कषा, श्वदंष्ट्रा तथा इक्षुगन्धिका ये सब संस्कृत नाम गोखरू के हैं। गोखरू-शीतवीर्य, स्वादु, बलकारक, बस्तिशोधक, मधुररसयुक्त, अग्निदीपक, वृष्य तथा पुष्टिकारक होता है। यह पथरी, प्रमेह, श्वास, खाँसी, बवासीर, मूत्रकृच्छ्र, हृद्रोग तथा वात को दूर करने वाला होता है॥ ४४–४६॥

१५ गोखरू (छोटा)

हि०-गोखरू, छोटा गोखरू, हाथीचिकार। बं०-गोक्षुर, गोखुरी। म०-सराटे, काटे गोखरू। क०-नेगिलुमुल्लु, नेगलु। गु०-न्हाना गोखरू, बेठा गोखरू। ते०-पल्लेरु मुल्लु। ता०-नेरिंजिल, नेरुंजी। प०-मखड़ा, मखर। फा०-खारे खसक, खारे सेहगोशा। अ०-हसक, बजरुल खस्क। अं०-Small Caltrops (स्मॉल् कॅल्ट्रोप्स्)। ले०-*Tribulus terrestris Linn.* (ट्रिब्युलस् टेरेस्ट्रिस लिन.)। Fam. Zygophyllaceae (झाइगोफाइलेसी)।

छोटा गोखरू-प्रसर जाति की वनौषधि है। यह प्रायः सब प्रान्तों में पाया जाता है विशेषकर बंगाल, बिहार, उत्तरप्रदेश, पश्चिमोत्तरप्रदेश, राजपूताना और मद्रास में अधिक उत्पन्न होता है। यह अन्य उष्णप्रदेशों में भी पाया जाता है।

इसका **प्रसर**-१½ फीट से ४ फीट के घेरे में भूमि पर फैला हुआ रहता है। **मूल**-पतला, चीमड़, करीब ५ इञ्च लम्बा, गोल एवं हलके भूरे रंग का रहता है। इसमें थोड़ी सी सुगन्ध रहती है एवं इसका स्वाद कुछ मिठास लिये हुए कसैला होता है। **शाखाएँ**-१–२ फीट लम्बी, रोमश तथा जमीन पर फैली हुई रहती हैं। **पत्ते**-विपरीत, २–३ इञ्च लम्बे, प्रायः असम तथा जोड़ी में आते हैं। **पत्रक**-आयताकार, ४–७ जोड़े, छोटे, ०·८–१·२ से. मि. लम्बे, आधार की तरफ कुछ तिरछे एवं इनका अग्र रोमश रहता है। **फूल**-छोटे छोटे, पाँच पंखड़ी वाले, पीले रंग के तथा पत्रकोणों में आते हैं। **फल**-छोटे-छोटे गोल किञ्चित् चिपटे होते हैं और उनपर पाँच जोड़े बड़े काँटे लगे रहते हैं। ये पाँच दलवाले होते हैं और सूखने पर प्रायः पाँचों दल त्रिकोणाकार पृथक् पृथक् हो जाते हैं तथा उनके दोनों छोर पर एक-एक बड़े काँटे, आधार पर दो छोटे काँटे एवं अन्य सतह पर सूक्ष्म काँटे रहते हैं। प्रत्येक दल में अनेक बीज पाये जाते हैं जिनके बीच में आड़े परत होते हैं।

इसके मूल एवं फल का चिकित्सा में उपयोग किया जाता है। प्रायः चूर्ण के लिये फल एवं क्वाथ के लिये मूल काम में लेते हैं।

इसी का एक जातिभेद सिंध, पंजाब तथा बलुचिस्तान में होता है। इसे ले०-*Tribulus alatus Del.* (ट्रिब्युलस् एलॅटस् डेल्); अं०-*Winged caltrops* (विंग्ड् कॅल्ट्रोप्स्); सिंध-लतक; हिं०-गोखुरेकलान; पं०-हसक कहते हैं। इसके फल एक तरफ मोटे तथा दूसरी तरफ संकुचित होते हैं एवं इसे पंख रहते हैं। इनमें दो बीज होते हैं। इसके गुण गोखरू के समान ही होते हैं। इससे पाखाना साफ होता है एवं प्रसूता को इसके फल की पेया पिलाते हैं।

रासायनिक संगठन—इसके फलों में अत्यल्प मात्रा में एक क्षाराभ, ३·५%स्थिर तैल, कुछ उड़नशील तैल, राल एवं अधिक मात्रा में नाइट्रेट (Nitrates) ये पदार्थ पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—गोखरू शीतल, स्नेहन, मूत्रविरेचनीय, शोथहर, वातहर, बल्य, वृष्य एवं वेदनास्थापन है। मूत्र-संस्थान की श्लेष्मकला पर इसका प्रभाव बकु (Buchu) के पत्र एवं उवाअर्सी (Uva-ursi) के पुष्प सदृश होता है। इसका मूत्रल प्रभाव इसमें के नाइट्रेट एवं उड़नशील तैल के कारण होता है। यह शीतवीर्य होते हुये वृक्कोत्तेजक है। अधिक मात्रा से इससे शौच साफ होता है।

इसका उपयोग मूत्रकृच्छ्र, सोजाक, अश्मरी, बस्तिरोग, वृक्कविकार, प्रमेह, स्वप्नदोष, नपुंसकता एवं वीर्यक्षीणता में किया जाता है।

इसके फलों का फांट वृक्कविकार, अश्मरी तथा वातरक्त में मूत्रल औषधि के रूप में बहुत उपयोगी है। इसका उपयोग मूत्राघात, कास तथा हृदयविकार में भी किया जाता है। सोजाक तथा बस्तिशोथ में इसका क्वाथ देते हैं। इसका वेदना स्थापन गुण अल्प होने के कारण इसके साथ खोरासानी अजवाइन या अफीम मिलाई जाती है।

मूत्रकृच्छ्र में इससे सिद्ध दुग्ध का प्रयोग किया जाता है। मूत्र बहुत अम्ल होने पर तथा मूत्रकृच्छ्र में इसके क्वाथ में यवक्षार मिलाकर देते हैं। बस्तिशोथ या वृक्कशोथ में जब मूत्र क्षारीय, दुर्गन्ध युक्त एवं गंदला रहता है तब इसके क्वाथ में शिलाजीत देते हैं।

इसके चूर्ण को मधु के साथ खाकर ऊपर से बकरी का दूध सात दिन पीने से अश्मरी में लाभ होता है।

गोखरू तथा तिल इनका समभाग चूर्ण मधु एवं बकरी के दूध के साथ सेवन करने से हस्तमैथुनजन्य षाढ्य में लाभ होता है। गर्भाशय शुद्ध होकर वन्ध्यत्व नष्ट होने के लिये गोखरू देते हैं।

मात्रा—३–६ माशा।

१६ गोखरू बड़ा

हि०-बड़ा गोखरू, फरीदबूटी, दक्षिणी गोखरू। बं०-बड गोखरू। म०-मोठे गोखरू। गु०-ऊभा गोखरू, म्होटा गोखरू, कडवा गोखरू। पं०-गोखरू कलां, बड़ा भखडा (रा)। उडि०-गोक्षुरा। क०-आनेनेग्गिलु। ते०-पेड्डा पल्लेरु। ता०-पेरुनेरुंजि। मल०-कट्टु-नेरिंजल। सिंहा०-अतिनेरंचि। अ०-हसके कबीर। फा०-खारेखस के कलां, खसके कलाँ। ले०-*Pedalium murex Linn.* (पेडॅलिअम् म्युरेक्स लिन.)। Fam. Pedaliaceae (पेडॅलिएसी)।

यह दक्षिण में समुद्र के किनारे, गुजरात तथा सिलोन में बहुत उत्पन्न होता है।

इसका **क्षुप**-वर्षायु, नरम, मांसल तथा चिकना होता है। **शाखाएँ**-६–१८ इञ्च लम्बी तथा उत्थित प्रसरी होती हैं। **पत्ते**-न्यूनाधिक विपरीत, १–२ इञ्च लम्बे, अण्डाकार तथा लहरदार दन्तुर किनारे वाले होते हैं। **पुष्प**-पीले रंग के, १ इञ्च लम्बे तथा पत्रकोणों में निकले हुए होते हैं।

इसको मसलने से कस्तूरी जैसी सुगन्ध आती है। फल-चौकोनी, करीब ½ इञ्च लम्बा, ½ इञ्च चौड़ा तथा आधार की ओर प्रत्येक कोन पर एक-एक सीधा काँटा होता है। इसके ऊपर का भाग शंकाकार और भीतर से दो कोशवाला होता है। बीज-प्रत्येक कोश में दो दो बीज होते हैं। इसके पत्तों को जल में डालने पर जल एकदम लुआबदार हो जाता है। इसमें न स्वाद होता है न गन्ध होती है तथा कुछ समय बाद इसका लुआब भी निकल जाता है। इसके पत्ते तथा फलों का चिकित्सा में व्यवहार होता है।

रासायनिक संगठन—इसके फलों में एक क्षाराभ, वसा, राल तथा राख ५% होती है।

गुण और प्रयोग—बड़ा गोखरू स्नेहन, मूत्रजनन, बल्य तथा वाजीकर है। इसका मूत्रजनन धर्म बहुत उत्तम है तथा त्वरित मालूम पड़ता है।

(१) नये सोजाक में ताजे पंचांग का हिम करीब एक पाव की मात्रा में प्रत्येक समय ताजा बनाकर देना चाहिए। फल का काढ़ा देना हो तो उसके साथ मुलेठी एवं नागरमोथा मिलाना चाहिये। इससे मूत्रत्याग के समय जलन नहीं होती। इसके पत्तों का चूर्ण एक तोला दुग्ध एवं शर्करा के साथ सोजाक में तथा तज्जन्य संधिवात में देते हैं।

(२) स्वप्नदोष, कामशक्ति का ह्रास तथा अपने आप पेशाब हो जाना इन अवस्थाओं में इसके फल का फांट देते है। २½ तोला फल चूर्ण को २५ तोला उबलते जल में डालकर १ घंटे पश्चात् छान लें तथा बार-बार थोड़ा-थोड़ा पिलावें। फलचूर्ण को २ माशे की मात्रा में शर्करा, घृत एवं दुग्ध के साथ भी दे सकते हैं। इसका पौष्टिक तथा वाजीकर गुण कभी कभी स्पष्ट प्रतीत होता है।

(३) प्रसूति रोग में फलों का क्वाथ या पत्रस्वरस पिलाते हैं।

(४) यकृत तथा प्लीहा वृद्धि में पंचांग का रस या क्वाथ पिलाते हैं।

मात्रा—पत्रचूर्ण १ तोला; फल २-३ तोला फांट बनाकर; फलचूर्ण २-४ माशा।

अथ लघुपंचमूलम्। तस्य लक्षणं गुणाँश्चाह

शालपर्णी पृश्निपर्णी वार्ताकी कण्टकारिका। गोक्षुरः पञ्चभिश्चैतैः कनिष्ठं पञ्चमूलकम्॥
पञ्चमूलं लघु स्वादु बल्यं पित्तानिलापहम्। नात्युष्णं बृंहणं ग्राहि ज्वरश्वासाश्मरीप्रणुत्॥

लघु पञ्चमूल के लक्षण तथा गुण—सरिवन, पिठवन, बड़ी कटेरी, भटकटैया और गोखरू इन पाँचों के मूल एकत्र करने से लघु पञ्चमूल कहलाता है। लघुपञ्चमूल-लघु, स्वादु, बलकारक, वातपित्त-नाशक, बृंहण ग्राही एवम् ज्वर, श्वास और पथरी को दूर करने वाला होता है तथा यह अत्यन्त उष्णवीर्य नहीं होता है॥ ४७-४८॥

अथ दशमूलम्। तस्य लक्षणं गुणाँश्चाह

उभाभ्यां पञ्चमूलाभ्यां दशमूलमुदाहृतम्।
दशमूलं त्रिदोषघ्नं श्वासकासशिरोरुजः। तन्द्राशोथज्वरानाहपार्श्वपीडाऽरुचीर्हरेत्॥ ४९॥

दशमूल के लक्षण तथा गुण—पूर्वोक्त दोनों अर्थात् बृहत् तथा लघु पञ्चमूल के योग को दशमूल कहते हैं। दशमूल-त्रिदोषनाशक तथा श्वास, खांसी, शिर की पीड़ा, तन्द्रा, शोथ, ज्वर, आनाह, पार्श्वपीड़ा (पंसुलीका दर्द) एवम् अरुचि को दूर करनेवाला होता है॥ ४९॥

अथ जीवन्ती (शाकविशेषः-शर्करावन्मधुरपुष्पा व्रततिर्भवति)। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

जीवन्ती जीवनी जीवा जीवनीया मधुस्रवा। माङ्गल्यनामधेया च शाकश्रेष्ठा पयस्विनी॥
जीवन्ती शीतला स्वादुः स्निग्धा दोषत्रयापहा। रसायनी बलकरी चक्षुष्या ग्राहिणी लघुः॥

जीवन्ती (जो कि एक प्रकार की शाक है तथा शक्कर के समान मीठे फूलों वाली लता होती है) के नाम तथा गुण—जीवन्ती, जीवनी, जीवा, जीवनीया, मधुस्रवा, माङ्गल्यनामधेया (मङ्गलवाचक सभी शब्द इसके पर्यायवाचक होते हैं), शाकश्रेष्ठा तथा पयस्विनी ये सब संस्कृत नाम जीवन्ती के हैं। जीवन्ती-शीतवीर्य, स्वादु, स्निग्ध, त्रिदोषनाशक, रसायन, बलकारक, नेत्र को हितकर, ग्राही और लघु होती है॥ ५०-५१॥

नोट—जीवन्ती नामक शाकश्रेष्ठ के विषय मतभेद हैं। कुछ लोग जीवन्ती, स्वर्णजीवन्ती एवं ह्रस्व तथा दीर्घजीवन्ती आदि इसके भेद मानते हैं। अधिकांश विद्वान् लेप्टाडेनिआ रेटिक्युलेटा (Leptadenia reticulata W. & A.) को जीवन्ती मानते हैं। कुछ लोग डेन्ड्रोबिअम् मेक्रोइ (Dendrobium macraei) को जीवन्ती मानते हैं। इन्हीं दो का यहाँ वर्णन किया गया है। कुछ लोगों ने ड्रेगिआ होल्युबिलिस् (Dregia volubilis) को जीवन्ती लिखा है जिसे कहीं २ 'छाखन' कहा जाता है तथा उसका मूर्वा के स्थान पर कहीं कहीं प्रयोग किया जाता है। पंजाबी में जिउन्ती नाम सिमिसिफ्यूजा फिटिडा (Cimicifuga foetida) को दिया हुआ है जो जीवन्ती शाक से बिलकुल भिन्न मालूम होती है।

श्रीयुत यादवजी ने इसके दो लेटिन नाम लेप्टाडेनिआ रेटिक्युलेटा एवं होलोस्टेमा एन्युलेर लिखे हैं तथा इसके नव्यमत में श्री डा० देसाई के होलोस्टेमा हिडिआनम् का वर्णन किया है। होलोस्टेमा हिडिआनम् (हो० एन्युलेर) को कुछ विद्वानों ने अर्कपुष्पी माना है तथा उसे जीवन्ती का भेद लिखा है। अर्कपुष्पी का आगे स्वतंत्र वर्णन आया हुआ है।

१७ जीवन्ती (१)

हि०—जीवन्ती, डोडी। गु०—डोडी, डोडी, खरखोडी, राडारुडी। म०—डोडी, राईडोडी, खीरखोडी। ले०—*Leptadenia reticulata W. & A.* (लेप्टाडेनिआ रेटिक्युलेटा)। Fam. Asclepiadaceae (एस्क्लेपिएडेसी)।

यह लता सहारनपुर, शिवालिक के नीचे तथा बरकाला, रानीपुर एवं दक्षिण में भी मिलती है। देहरादून में मोथ्रनवाला के समीप घास के मैदानों में भी होती है। इसकी मधुर कलियों का रुचिकर शाक बनता है अतः शाकश्रेष्ठ जीवन्ती इसे मानना चाहिये

इसकी लता-क्षुपजातीय तथा चक्रारोही होती है। इसके पुराने काण्ड कार्क युक्त होते हैं और नवीन भाग श्वेताभ मृदु रोमश होते हैं। पत्ते-२-३ इञ्च लम्बे, १-१½ इञ्च चौड़े, लट्वाकार-आयताकार या अंडाकार, नोकीले, सरल धार, चर्म सदृश और अधःपृष्ठ पर नीलाभ श्वेत रज से ढके होते हैं। इनका आधार प्रायः गोल या नोकीला होता है। पुष्प-कुछ मटमैले हरिताभ पीत रंग के होते हैं। फलियाँ-एकाकी, २-३ इञ्च लंबी, ½-¾ इञ्च मोटी, सीधी, सरस परन्तु कठोर, चिकनी और उनका अग्रभाग मोटा परन्तु चोंचदार (टेढ़ा) होता है।

गुण और प्रयोग—जीवन्ती जीवनीय, शीतल, मधुर, लघु, त्रिदोषनाशक, चक्षुष्य, स्वर्य, ग्राही, बल्य एवं वृष्य है।

इसका उपयोग रक्तपित्त, क्षय, दाह, ज्वर, अतिसार, विषदोष, नक्तान्ध्य एवं व्रण में किया जाता है।

(१) ज्वरजन्य दाह में इसके मूल के क्वाथ में घृत मिलाकर पीने से लाभ होता है।

(२) इसका साग घृत के साथ पकाकर खाने से रतौंधी में लाभ होता है।

(३) अतीसार में इसका साग दही, अनार तथा स्नेह के साथ उपयोगी होता है।

मात्रा—३-६ माशा।

१८ जीवन्ती (२)

सं-स्वर्ण जीवन्ती (?)। हि०-जिवसाग्। बं-जिबै, जीवन्ती। गु०-जिवन्ती। ले०-*Dendrobium macraei Lindl.* (डेन्ड्रोबिअम् मेक्रीइ लिंड)। Fam. Orchidaceae (ऑर्किडॅसी)।

यह हिमालय पहाड़, खासिया पहाड़, सिक्किम, नीलगिरि के पहाड़ एवं दक्षिण, सीलोन, बर्मा तथा मलाया आदि में होती है।

इसके बांदे जामुन के वृक्षों पर पाये जाते हैं। जड (भौमिक काण्ड)-प्रसरणशील तथा बलय युक्त होती है जिससे अनेक लटकते हुवे, चमकीले तथा २-३ फीट लंबे काण्ड निकले रहते हैं। काण्ड पर विभिन्न दूरी पर मूलकाकार, कुछ दबे हुवे चमकीले तथा २-२॥ इञ्च लंबे कूटकंद (Pseuodobulbs) रहते हैं। पत्र-कूटकंद के अग्रभाग से, एकाकी, ४-८ इञ्च लंबा, करीब १ इञ्च चौड़ा, रेखाकार-आयताकार, कुण्ठिताग्र एवं अनेक समानान्तर पतली शिराओं से युक्त होता है। पुष्प-पत्र के आधार से निकले हुवे, १-३, करीब १ इञ्च बड़े तथा श्वेत वर्ण के रहते हैं। इनके ओष्ठ एवं चंचु (Spur) पीतवर्ण के रहते हैं। पुष्प कुछ ही घंटे विकसित रहते हैं।

इसके पंचांग का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह लघु, मधुर, शीतल, रसायन, स्नेहन, बल्य एवं वृष्य है। इसका उपयोग श्वास, कास, गले के विकार, क्षय, ज्वर, दाह, नेत्रविकार एवं रक्तविकार में किया जाता है। इसके पंचांग का क्वाथ अन्य सुगंधि पदार्थों के साथ त्रिदोष में देते हैं। धातुपात के कारण उत्पन्न दौर्बल्य में क्वाथ पिलाते हैं।

मात्रा—३ से ६ माशा।

अथ मुद्गपर्णी। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

मुद्गपर्णी काकपर्णी सूर्यपर्ण्यल्पिका[1] सहा॥ ५२॥
काकमुद्गा च सा प्रोक्ता तथा मार्जारगन्धिका।
मुद्गपर्णी हिमा रूक्षा तिक्ता स्वादुश्च शुक्रला॥ ५३॥
चक्षुष्या क्षतशोथघ्नी ग्राहिणी ज्वरदाहनुत्।
दोषत्रयहरी लध्वी ग्रहण्यर्शोऽतिसारजित्॥ ५४॥

मुगवन के नाम तथा गुण—मुद्गपर्णी, काकपर्णी, सूर्यपर्णी, अल्पिका, सहा, काकमुद्गा और मार्जारगन्धिका ये सब संस्कृत नाम मुगवन के हैं। **मुगवन**-शीतवीर्य, रूक्ष, तिक्तरसयुक्त, स्वादु, शुक्रजनक, नेत्र को हितकर, क्षत तथा शोथ का नाशक, ग्राही, ज्वर तथा दाह को दूर करने वाली, त्रिदोषनाशक तथा लघु होती है एवम् ग्रहणी, बवासीर तथा अतिसार को दूर करने वाली होती है॥ ५२-५४॥

---

१. शूर्पपर्ण्यल्पिका इति पाठा०।

१९ मुद्गपर्णी

हि०-मुगवन, मुंगानी, बनमूंग, जंगली मूंग, रखाल कलमी। बं०-मुंगानी। म०-रानमुग। गु०-जंगली मग, अडबाऊ मग। क०-कोहसरु, आबरेगिड। ते०-कारु पेसारा, पिल्ल पेसर चेट्टु, कलबन्द चेट्टु। पं०-मुगवन। ता०-नरिप्पयरू। ले०-*Phaseolus trilobus Ait.* (फेसिओलस् ट्राइलोबस् एट.)। Fam. Leguminosae ((लेगुमिनोसी)।

यह मूँग के समान ही लता जाति की वनौषधि प्रायः सब प्रान्तों में उत्पन्न होती है। इसके काण्ड प्रसरी, १-२ फीट लम्बे, रोमश या चिकने होते हैं। पत्रक-कद में प्रायः बहुत परिवर्तनशील होते हैं और प्रायः वृन्त से छोटे ही होते हैं। ये प्रायः सर्वदा खण्डित, खण्ड तीन और गोल होते हैं। उपपत्र बहुत बड़े और पीठ से जुड़े हुए (प्रायः ½ तक) होते हैं। उपपत्रक छोटे परन्तु पर्णवत होते हैं। मंजरी के शीर्ष पर पुष्पगुच्छ और बड़ा पुष्पदंड होता है। फली—पतली, लगभग २ इंच लम्बी एवं चिकनी होती है। बीज-६-१२ और श्वेताभ होते हैं।

इसके बीजों को कभी-कभी गरीब लोग खाने के लिये एकत्र करते हैं। पत्रकों के आकार के अनुसार इसे सूर्यपर्णी कह सकते हैं।

गुण और प्रयोग—मुद्गपर्णी शीतल, जीवनीय, शुक्रजनन, बलप्रद, चक्षुष्य एवं शामक है।

इसका प्रयोग वातरक्त, क्षय, ज्वर एवं दाह में किया जाता है। बिहार में ज्वर के लिये इसके पञ्चांग का प्रयोग किया जाता है। जीर्ण ज्वर में पुष्टि एवं निद्रा लाने के लिये इसके पत्तों का क्वाथ पिलाया जाता है। चूहे के विषमें सिन्धुवार, मुद्गपर्णी एवं माषपर्णी मधु के साथ खाने से लाभ होता है।

मात्रा—२-४ माशा।

अथ माषपर्णी। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

माषपर्णी सूर्यपर्णी काम्बोजी हयपुच्छिका।
पाण्डुलोमशपर्णी च कृष्णवृन्ता महासहा॥ ५५॥
माषपर्णी हिमा तिक्ता रूक्षा शुक्रबलासकृत्।
मधुरा ग्राहिणी शोथवातपित्तज्वरास्रजित्॥ ५६॥

बनउर्दी के नाम तथा गुण—माषपर्णी, सूर्यपर्णी, काम्बोजी, हयपुच्छिका, पाण्डुलोमशपर्णी, कृष्णवृन्ता और महासहा ये सब संस्कृत नाम बनउर्दी के हैं। **बनउर्दी**-शीतवीर्य, तिक्त तथा मधुररसयुक्त, रूक्ष, ग्राही, शुक्रजनक तथा कफकारक होती है। एवम् यह शोथ, वात, पित्त, ज्वर और रक्तविकार को दूर करने वाली होती है॥ ५५-५६॥

२० माषपर्णी

हि०—मषवन, माषोनी, बन उड़दी, जंगली उड़द, बनउर्दी, बनउड़द। बं०-माषानी। म०—रानउड़ीद। गु०-जंगली अड़द। क०-काडउद्यु, काडुलंद। ते०-रानो डिंडु, कारु मिनुरु। ता०-कट्टु अलदूं। ले०-*Teramnus labialis Spreng* (टेरॅम्नस् लेबिएलिस् स्प्रेंग)। Fam. Leguminosae (लेगुमिनोसी)।

यह सब प्रान्तों के जंगल झाड़ियों में कहीं न कहीं उत्पन्न होती है। यह लता जाति की वनौषधि झाड़ियों पर लिपटती हुई (चक्रारोही) बढ़ती है और वर्षा ऋतु में अधिक पाई जाती है। पत्ते-त्रिपत्रक और पत्रक भिन्न-भिन्न कद के होते हैं। पत्रक-कभी ·६-१·३ इञ्च और कभी

१-३ इञ्च लम्बे होते हैं। ये अण्डाकार या लट्वाकार (अग्रग्र पत्रक कभी-कभी अभिलट्वाकार), नीचे के तल पर तलशायी रोमों से युक्त होते हैं। सवृन्त पुष्पों की मञ्जरी बहुत पतली १½-५ इञ्च लम्बी और पुष्प-गुलाबी, नीलारुण या सफेद होते हैं। फली-पतली लम्बी सीधी या कुछ-कुछ टेढी होती है। बीज-ताजी अवस्था में लाल तथा सूखने पर काले तथा संख्या में लगभग १० होते हैं।

गुण और प्रयोग—माषपर्णी शीतल, बल्य, वृष्य, पुष्टिकारक, शुक्रजनन एवं जीवनीय है। इसका उपयोग ज्वर, दाह, रक्तपित्त, वातविकार, अंगघात एवं आमवात में किया जाता है। चरक ने वाजीकरण के लिये माषपर्णी खिलाई हुई समान वर्ण वत्सवाली प्रथम-प्रसवा गौ का दुग्ध, मधु, शर्करा एवं घृत के साथ सेवन करने का विधान किया है। इससे सिद्ध तैल का पिचु-धारण वातिक प्रदर में लाभदायक माना जाता है।

मात्रा—२-४ माशा।

अथ जीवनीयगणः। तस्य लक्षणं गुणाँश्चाह

अष्टवर्गः सयष्टीको जीवन्ती मुद्गपर्णिका।
माषपर्णी गणोऽयं तु जीवनीय इति स्मृतः॥ ५७॥
जीवनो मधुरश्चापि नाम्ना स परिकीर्तितः।
जीवनीयगणः प्रोक्तः शुक्रकृद् बृंहणो हिमः॥ ५८॥
गुरुर्गर्भप्रदः स्तन्यकफकृत्पित्तरक्तहृत्। तृष्णां शोषं ज्वरं दाहं रक्तपित्तं व्यपोहति॥ ५९॥

जीवनीय गण के लक्षण तथा गुण—जीवक, ऋषभकादि पूर्वोक्त अष्टवर्ग की औषधियाँ, मुलेठी, जीवन्ती (डोंडी), मुगवन और बनउर्दी इन सब औषधियों को जीवनीयगण कहते हैं। जीवनीय गण का ही नामान्तर जीवन (जीवन गण या मधुर (मधुर गण) भी ऋषियों ने कहा है। जीवनीय गण-शुक्रजनक, बृंहण, शीतवीर्य, गुरु, गर्भप्रद, स्तन्य (दुग्धवर्धक) तथा कफकारक एवं पित्त तथा रक्तदोष को दूर करने वाला तथा तृषा, शोष, ज्वर, दाह और रक्तपित्त इन सबों को नष्ट करने वाला होता है॥ ५७-५९॥

अथ शुक्लरक्तैरण्डौ। तयोर्नामानि गुणाँश्चाह

शुक्ल एरण्ड आमण्डश्चित्रो गन्धर्वहस्तकः। पञ्चाङ्गुलो वर्द्धमानो दीर्घदण्डो व्यडम्बकः॥६०॥
वातारिस्तरुणश्चापि रुबूकश्च निगद्यते। रक्तोऽपरो रुबूकः स्यादुरुबूको रुबुस्तथा॥ ६१॥
व्याघ्रपुच्छश्च वातारिश्चञ्चुरुत्तानपत्रकः। एरण्डयुग्मं मधुरमुष्णं गुरु विनाशयेत्॥ ६२॥
शूलशोथकटीबस्तिशिरःपीडोदरज्वरान्। ब्रध्नश्वासकफानाहकासकुष्ठाममारुतान्॥ ६३॥

सफेद एरण्ड तथा लाल एरण्ड के नाम एवम् गुण—शुक्लैरण्ड, आमण्ड, चित्र, गन्धर्वहस्तक, पञ्चाङ्गुल, वर्धमान, दीर्घदण्ड, व्यडम्बक, वातारि, तरुण और रुबूक ये सब संस्कृत नाम सफेद एरण्ड के हैं। रक्तैरण्ड, रुबूक, उरुबूक, रुबु, व्याघ्रपुच्छ, वातारि, चञ्चु और उत्तानपत्रक ये सब लाल एरण्ड के संस्कृत नाम हैं। दोनों एरण्ड-मधुररसयुक्त, उष्णवीर्य तथा गुरु होते हैं एवम् ये दोनों-शूल, शोथ एवं कटि, बस्ति तथा शिरकी पीडा, उदररोग, ज्वर, ब्रध्ननामक-रोग, श्वास, कफ, आनाह, खाँसी, कुष्ठ और आमवात इन सबों को दूर करते हैं॥ ६०-६३॥

अथैरण्डपत्राग्रपत्रफलमज्जगुणानाह

एरण्डपत्रं वातघ्नं कफक्रिमिविनाशनम्।
मूत्रकृच्छ्रहरं चापि पित्तरक्तप्रकोपणम्। वाताग्रदलं गुल्मबस्तिशूलहरं परम्॥ ६४॥
कफवातकृमीन्हन्ति वृद्धिं सप्तविधामपि। एरण्डफलमत्युष्णं गुल्मशूलानिलापहम्॥ ६५॥
यकृत्प्लीहोदरार्शोघ्नं कटुकं दीपनं परम्।
तद्वन्मज्जा च विड्भेदी वातश्लेष्मोदरापहः॥ ६६॥

एरण्ड के पत्ते, फुनगी, फल तथा मींगी के गुण—एरण्ड के पत्ते-वातनाशक तथा कफ, कृमि और मूत्रकृच्छ्र को दूर करनेवाले एवम् पित्त तथा रक्त को कुपित करनेवाले होते हैं। कोमल पत्ते (अग्रभाग के पत्ते) गुल्म और बस्ति-शूल को अत्यन्त दूर करनेवाले तथा कफ, वात, कृमि और सात प्रकार के वृद्धि रोग (अण्डवृद्धि) को भी दूर करने वाले होते हैं। एरण्ड के फल-अत्यन्त उष्णवीर्य, गुल्म, शूल, वायु, यकृत्, प्लीहा, उदररोग तथा बवासीर को दूर करनेवाले एवम् कटुरस-युक्त तथा अत्यन्त अग्निदीपक होते हैं। फल की मींगी भी गुणों में इसके फलों के समान होती हुई भी मल को भेदन करने वाली एवं वात, कफ तथा उदर-सम्बन्धी रोगों को दूर करने वाली होती है॥ ६४-६६॥

नोट—भावप्रकाशकार ने श्वेत एवं रक्त भेद से एरण्ड के दो भेद लिखे हैं, यद्यपि दोनों के गुण समान ही होते हैं। सामान्यतः इसके दो भेद पाये जाते हैं। एक भेद बहुवर्षायु एवं बड़े फल तथा बड़े और लाल बीजों वाला होता है। दूसरा भेद एकवर्षायु एवं छोटे, भूरे और चित्तीदार बीजों वाला होता है। यह प्रतिवर्ष बोया जाता है। प्रथम में ४०% तैल होता है लेकिन वह अधिकतर जलाने एवं स्निग्धीकरण के काम आता है। इसके पत्तों का चिकित्सा में उपयोग किया जाता है। दूसरे में तैल ३७% होता है जो चिकित्सा में अधिकतर काम आता है। इसके मूल का भी उपयोग चिकित्सा में किया जाता है।

एक अन्य प्रकार का एरंड भी मिलता है जिसे व्याघ्रैरण्ड कहते हैं। इसके गुण एरंड से काफी भिन्न हैं। इसकी एक दूसरी जाति होती है जिसे लाल व्याघ्रैरण्ड कहते हैं। एरंड के पश्चात् व्याघ्रैरण्ड का वर्णन किया गया है।

२१ एरण्ड

हि०-अरंड, एरंड, एरंडी, रेंडी। बं०-भेरेंडा। म०-एरंड, एरंडी। गु०-एरंडो, एरंडियो, दिवेलो। ते०-आमुडामु, एरंडमु। ता०-आमणक्कम्। मल०-चिट्टामणक्कु, आवणक्का। क० हरलु। फा०-बेदअंजीर, तुख्मे बेदअंजीर। अ०-खिरवा, वज़ुल, खिर्वअ। अं०-Castor-Oil plant (कॅस्टर ऑइल् प्लान्ट)। ले०-*Ricinus communis Linn.* (रिसिनस् कॉम्युनिस् लिन.)। Fam. Euphorbiaceae (युफोर्बिएसी)।

प्रायः सब प्रान्तों में एरण्ड की खेती की जाती है। यह अपने आप ही मैदानों, सड़कों के किनारे, परती जमीन एवं पहाड़ियों की खाली भूमि में उत्पन्न हुआ पाया जाता है।

इसका क्षुप-एक वर्षायु, ऊँचा, चिकना तथा क्षोदलिप्त रहता है। कभी-कभी यह झाड़ीदार या छोटे वृक्षसदृश भी हो जाता है। पत्ते-एकांतर, चौड़े, खंडित (त्रिपादानुत्तर-पाणिवत्), खण्ड ७ या अधिक एवं पत्रतट आरावत दन्तुर होता है। पुष्प-द्विलिंगी तथा सवृन्त-काण्डज पुष्पव्यूहों में आते हैं जिसमें पुंपुष्प पुष्पव्यूह के ऊपर के भाग में रहते हैं तथा स्त्रीपुष्प नीचे के भाग में रहते हैं। फल-गोल-गोल सघन गुम्बजदार लगते हैं, तथा उन पर मुलायम मुलायम

काँटे से होते हैं। फल पकने पर धूप की गरमी से फट जाते हैं और बीज भूमि में गिर पड़ते हैं। उसी समय गुच्छों को तोड़कर संग्रह करते हैं। प्रत्येक फल में तीन-तीन बीज होते हैं। बीज-गोल आयताकार तथा कुछ चिपटे, ४-१२ मि. मि. लंबे, एक तरफ से चिपटे किन्तु दूसरी तरफ कुछ गोल, लंबाई की अपेक्षा $\frac{2}{3}$ चौड़े एवं $\frac{1}{3}$ मोटे होते हैं। बीज का बाह्य त्वक् पतला, भिदुर, चिकना, चमकीला, भूरे रंग का तथा चितकबरा रहता है। इसका अन्तस्त्वक् पतला और मुलायम होता है। बीजावरण में ऊपर द्वारक के समीप एक सफेद बाह्य वृद्धि होती है जिससे कुछ २ ढँका हुआ वृन्तयु (Hilum) होता है। बीजावरण को हटा देने पर स्थूल तथा पीताभ श्वेत भ्रूणपोष (Endosperm) दिखाई देता है जिसके अन्दर तैलीय खाद्य पदार्थ संचित रहता है। भ्रूणपोष के मध्य में गर्भ होता है जिसमें दो पतले पत्र-सदृश बीजपत्र और उनके बीच छोटा भ्रूणाक्ष होता है। बीजों में नाममात्र की गंध एवं किंचित् तीता स्वाद होता है।

एरण्ड का अपने यहाँ बहुत प्राचीन काल से प्रयोग होता आ रहा है। इसकी इतनी अधिक खेती होती है जिससे इसके तेल का एवं बीजों का बहुत अधिक मात्रा में निर्यात होता है। तैल विशेषकर साबुन बनाने, मशीनों के स्निग्धीकरण (Lubrication) एवं चर्म-व्यवसाय आदि उद्योगों में उपयोग में लाया जाता है। चिकित्सा की दृष्टि से उत्तम प्रकार का तेल अपने यहाँ कम निकाला जाता है यद्यपि उसमें विशेष बाधायें नहीं हैं। उत्तम तेल फ्रांस तथा इटली से आता है। इसमें पहले बीजों को खूब अच्छी तरह साफ कर, ऊपर का छिलका हटा, बिना उष्णता पहुँचाये केवल दबाव के द्वारा तेल निकालते हैं। प्रथम दबाव में करीब आधा तेल निकालते हैं। इसे औषधि कार्य में व्यवहृत किया जाता है। फिर दुबारा दबाव देने पर करीब १६% तेल निकलता है वह अन्य व्यवसायों में काम में लाया जाता है। शीतविधि द्वारा निकाले तैल का स्वाद एवं गन्ध कम अप्रिय होता है। उष्ण विधि में बीजों को जल के साथ उबालते हैं। गरमी के कारण तैल जल पर नितर आता है। फिर इस तैल को अलग कर लेते हैं। दूसरी विधि में तैल को दबाव से ही निकालते हैं किन्तु बाहर से मंद आँच भी देनी पड़ती है। उष्णता से पतला हो जाने के कारण तेल अधिक मात्रा में तथा आसानी से निकलता है। इस तैल को धूप में रखकर शुभ्र बनाते हैं तथा बाद में जल के साथ उबालते हैं जिससे इसमें के अन्य पदार्थ निकलकर तेल स्वच्छ हो जाता है।

रासायनिक संगठन—रेंड के बीजों में करीब ५०% तैल रहता है। तैल निकालने के पश्चात् बची हुई खली में रिसिनाइन (Ricinine) नामक रवेदार पदार्थ, रिसिन (Ricin) नामक विषैला पदार्थ, तीव्र कार्य करने वाला लाइपेस् (Lipase) नामक किण्व एवं अन्य किण्व पाये जाते हैं।

इसके तैल में अनेक ग्लिसराइड्स (Glycerides) रहते हैं जिसमें से प्रधान स्नेहीय अम्ल रिसिनोलिक् एसिड (Ricinoleic acid, $C_{18}H_{34}O_3$) है जो इसका विरेचक द्रव्य माना जाता है। स्नेहीय अम्लों के ओलिक् (Oleic), लिनोलिक् (Linoleic) एवं अल्प मात्रा में स्टियरिक (Stearic) तथा हाइड्रॉक्सि स्टियरिक् (Hydroxy stearic) अम्ल पाये जाते हैं।

इसके बीजों में रिसिन नामक जो विषैला तत्व है वह इतना अधिक तीव्र है कि २, ३ बीज से मृत्यु तक हो सकती है। मुख की अपेक्षा सूचीवेध द्वारा प्रवेश करने से इसके विषैले परिणाम अधिक दिखलाई देते हैं। इससे आंत्र में रक्तस्रावयुक्त शोथ हो जाता है। इसमें कोई विरेचक गुण नहीं रहता। रिसिन एरण्ड तैल में नहीं पाया जाता। औषधि कार्य में बीजों का प्रयोग करते समय बीजों को दो फाक करके भीतर की जीभी जिसमें यह विष अधिक रहता है निकाल देना

चाहिये। कुछ समय तक दुग्ध में भिगोने एवं एक दो बार उबालने से भी इस विष का पर्याप्त शोधन होता है।

गुण और प्रयोग—एरंड तैल सौम्य, स्रंसन, स्तन्यजनन, दाहशामक एवं वातहर है। इसका मूल वृष्य एवं वातहर है। एरंड भेदनीय, स्वेदोपग, अङ्गमर्दप्रशमन, अधोभागहर एवं वातसंशमन है।

एरंड तैल बहुत अच्छा विरेचक द्रव्य है। इसका प्रभाव क्षुद्रांत्र (ग्रहणी) पर होता है। यह आंत्र की ग्रन्थियों एवं पुरस्सरण क्रिया को उत्तेजित करता है जिससे २-६ घंटों में साधारण विरेचन होता है। इससे साधारण पतले २-४ पाखाने होते हैं। आखिरी पाखाने के साथ तैल निकल जाता है तथा कभी कभी मरोड़ होती है। इसका कुछ अंश प्रचूषण के पश्चात् स्तन द्वारा उत्सर्गित होने के कारण स्तनपान करने वाले बच्चों को भी विरेचन हो जाता है। कुछ लोगों को इसकी आदत पड़ जाती है तथा कुछ लोगों में इससे विरेचन के पश्चात् विबंध हो जाता है। यह सम्भवतः बृहदांत्र की शिथिलता के कारण होता है जो २, ३ दिन रहती है।

बाल, वृद्ध, स्त्री, गर्भिणी एवं प्रसूता के लिये तथा अर्शविकार, गुदविदार, उदरगत शल्यकर्म, श्रोणिविकार, उदरावरणशोथ, जीर्ण विबंध तथा ज्वरजन्य विबंध आदि अवस्थाओं के लिये यह उत्तम तथा हानिरहित सौम्य विरेचक है। अजीर्णजन्य अतिसार विशेषकर बच्चों में होनेवाले अतिसार में इससे लाभ होता है। तीव्र प्रवाहिका के प्रारंभ में अहिफेन के साथ इसका प्रयोग लाभदायक होता है तथा जीर्ण विकार में भी इसका उपयोग किया जाता है। एरंड तैल को सुबह खाली पेट आदी के रस के साथ दिया जाता है। सोंठ के फांट के साथ या उष्ण चाय, कॉफी आदि के साथ भी इसको दे सकते हैं। शीतऋतु में इसको कुछ उष्ण करके देना चाहिये। इसके स्वाद एवं गंध को दूर करने के लिये इसे कैप्सूल में बंदकर या गोंद के साथ एमल्शन् बनाकर ले सकते हैं। बड़ों में इसकी प्रभावोत्पादक न्यूनतम एवं अधिकतम मात्रा ३० बूँद से लेकर १ पाव तक की है लेकिन प्रायः २ तोला की मात्रा मृदुरेचन के लिए पर्याप्त होती है। नवजात शिशु के लिये छोटे चाय के चम्मच बराबर मात्रा कोई बड़ी मात्रा नहीं है। विबंध में एरंड तैल की बस्ति भी दी जाती है।

कटिशूल, गृध्रसी, पार्श्वशूल, हृदयशूल, आमवात एवं संधिशोथ में इसके मूल का क्वाथ सोंठ के साथ पिलाने से लाभ होता है। इन अवस्थाओं में इसके तैल को शिलाजतु के साथ पिलाते हैं तथा इसकी मालिश भी करते हैं। नूतन तथा जीर्ण आमवात में नित्य सुबह एरंड तैल का प्रयोग लाभदायक है।

स्तनों पर इसके तैल को मर्दन कर ऊपर से एरंड पत्र बाँधने से उसमें की गाँठें विलीन होकर स्तन्य-वृद्धि होती है। स्तन-चूचुक-विदार में इसके तैल को लगाने से लाभ होता है।

आँखों में कोई चीज चली जावे तो स्वच्छ एरंड तैल डालने से वह निकल जाती है तथा आँखों की खुरखुराहट दूर होती है।

अर्श में एरंड तैल तथा घृतकुमारी का स्वरस मिलाकर लगाने से जलन कम होती है।

शिरःशूल में रेंडी के तैल की मालिश से लाभ होता है। दाह के शमन के लिये एरंडमज्जा को बकरी के दूध में पीसकर पादतल में मलते हैं। एरंड तैल के मर्दन से भी दाह का शमन होता है।

मात्रा—तैल १-२ तोला; मूलचूर्ण $\frac{1}{4}$-$\frac{1}{2}$ तोला।

२२ व्याघ्रैरण्ड

हि०–व्याघ्रैरन्ड, जंगली एरंड । **बं०**–बागा भेरेन्दा, बाघभेरंड । **म०**–मोंगली एरंड । **गोवा**–गलमर्क । **कोंक**–काडएरडि । **ता०**–कट्टमनक्कु । **ते०**–अडविआमुदमु । **क०**–कडहरलु । **अ०, फा०**–डंडेनहरी । **ले०**–*Jatropha curcas Linn.* (जॅट्रोफा कर्कस् लिन.) । Fam. Euphorbiaceae (युफोर्बिएसी) ।

यह दक्षिण अमेरिका का आदिवासी है किन्तु प्रायः सब प्रान्तों में पाया जाता है । दक्षिण में इसे लोग घरों में लगाते हैं ।

इसका **वृक्ष**–छोटा एवं करीब १०–२० फीट ऊँचा होता है । इसकी छाल धूसरवर्ण की एवं काष्ठ मुलायम होता है । **पत्ते**–चिकने, बड़े, व्यास में ४–६ इञ्च एवं ३–५ खंडों में विभक्त होते हैं । **पुष्प**–पीताभवर्ण के होते हैं । **फल**–हरे रंग के, १ इञ्च लम्बे एवं सूखने पर भी बहुत दिन तक पेड़ में लगे रहते हैं । इसके बीजों में तैल होता है । इसके पत्तों को तोड़ने से सफेद रंग का बहुत दूध निकलता है । इसके दूध एवं मूल का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है ।

इसी की दूसरी जाति जॅट्रोफा गॉसिपिफोलिआ लिन. (J. gossipifolia Linn.), **लाल व्याघ्रैरण्ड** सड़कों के किनारे तथा ऊसर भूमि में और अधिक मात्रा में उगी हुई पाई जाती है । इसके पौधे ३–६ फीट ऊँचे, पत्ते ३–५ खंडों में विभक्त एवं पुष्प लाल होते हैं । पत्रतट, पर्णवृन्त और उपपत्रों के ऊपर श्लेष्मोत्पादक ग्रंथियाँ रोमों के रूप में रहती हैं जिससे यह पौधा स्पर्श में चिपचिपा होता है । इसके मूल में कपूर जैसी गंध आती है । इसकी दातुन अच्छी समझी जाती है ।

रासायनिक संगठन—व्याघ्रैरंड के बीजों में हलके पीले रंग का तैल ३०%, शर्करा, स्टार्च तथा कर्सिन (Curcin) नामक रिसिन जैसा विषैला पदार्थ पाया जाता है ।

गुण और प्रयोग—व्याघ्रैरण्ड का दुग्ध रक्तसांग्राहिक तथा व्रणरोपक है । इसकी जड़ वातानुलोमक, पाचन एवं ग्राही है । इसका तैल जमालगोटे जैसा तीव्र विरेचक होता है तथा इसकी क्रिया अनियन्त्रित होने के कारण तैल का आन्तरिक व्यवहार नहीं किया जाता ।

इसके दुग्ध को क्षतपर लगाने से कोलोडिअन की तरह एक पतला स्तर व्रण पर बन जाता है जिससे रक्तस्राव रुकता है, उपसर्ग से व्रण की रक्षा होती है तथा व्रण का संकोच होने से व्रण जल्दी अच्छा होता है । इसे पामा, दाद, तथा छाजन पर लगाते हैं । इसके पत्तों के क्वाथ का भी इसी तरह उपयोग होता है एवं इससे कुल्ला करने से मसूड़े से खून जाना बन्द होकर दाँत मजबूत होते हैं । इसकी दतुअन से भी लाभ होता है । इसके तैल को खुजली, परिसर्प, छाजन तथा अन्य चर्मरोगों में एवं आमवात में लगाते हैं तथा व्रणशोधन के लिये भी इसका उपयोग करते हैं । दुग्धवृद्धि के लिये इसके पत्तों को जरा सा गरमकर स्तन पर बाँधते हैं या इसके क्वाथ से सेंककर फिर उन्हीं पत्तों को बाँधते हैं ।

कोंकण की तरफ अजीर्ण, अतिसार तथा उदरशूल के लिये इसकी एक अंगुल लम्बी ताजी जड़, ७ दाना काली मिर्च एवं थोड़ा हींग इन सब को पीसकर उसका रस मट्ठे के साथ पिलाते हैं ।

अथ शुक्लरक्तार्कौ [सफेद आक–लाल आक] । तयोर्नामानि गुणाँश्चाह

श्वेतार्को गणरूपः स्यान्मन्दारो वसुकोऽपि च । श्वेतपुष्पः सदापुष्पः स चालर्कः प्रतापसः ॥
रक्तोऽपरोऽर्कनामा स्यादर्कपर्णो विकीरणः ।
रक्तपुष्पः शुक्लफलस्तथाऽऽस्फोटः प्रकीर्त्तितः ॥ ६८ ॥

अर्कद्वयं सरं वातकुष्ठकण्डूविषव्रणान् ।
निहन्ति प्लीहगुल्मार्शःश्लेष्मोदरशकृत्कृमीन् ॥ ६९ ॥

सफेद आक तथा लाल आक के नाम और गुण—श्वेतार्क, गणरूप, मन्दार, वसुक, श्वेतपुष्प, सदापुष्प, अलर्क और प्रतापस ये सब संस्कृत नाम सफेद आक के हैं । लाल आक के संस्कृत नाम—रक्तार्क, अर्कनामा (सूर्य के वाचक सभी शब्द इसके पर्यायवाचक हैं), अर्कपर्ण, विकीरण, रक्तपुष्प, शुक्लफल तथा आस्फोट हैं । दोनों प्रकार के आक–दस्तावर तथा वात, कुष्ठ, खुजली, विष, व्रण, प्लीहा, गुल्म, बवासीर, कफ, उदररोग एवं मल के कृमि इन सबों को नष्ट करते हैं ॥ ६७–६९ ॥

अथ शुक्लरक्तार्कयोः पुष्पगुणानाह

अलर्ककुसुमं वृष्यं लघु दीपनपाचनम् । अरोचकप्रसेकार्शःकासश्वासनिवारणम् ॥ ७० ॥
रक्तार्कपुष्पं मधुरं सतिक्तं कुष्ठकृमिघ्नं कफनाशनञ्च ।
अर्शो विषं हन्ति च रक्तपित्तं संग्राहि गुल्मे श्वयथौ हितं तत् ॥ ७१ ॥

सफेद आक तथा लाल आक के फूल के गुण—सफेद आक का फूल—वृष्य, लघु, अग्निदीपक तथा पाचक होता है एवम् यह अरुचि, प्रसेक (मुख से लार गिरना), बवासीर, खाँसी तथा श्वास को दूर करता है । लाल आक का फूल—मधुर तथा थोड़ा तिक्त रसयुक्त, संग्राही, गुल्म तथा शोथ में हितकर होता है एवम् यह कुष्ठ, कृमि, कफ, बवासीर, विष तथा रक्तपित्त को दूर करने वाला होता है ॥ ७०–७१ ॥

अथार्कदुग्धगुणानाह

क्षीरमर्कस्य तिक्तोष्णं स्निग्धं सलवणं लघु । कुष्ठगुल्मोदरहरं श्रेष्ठमेतद्विरेचनम् ॥ ७२ ॥

'आक' के दूध के गुण—यह तिक्त तथा कुछ लवणरस से युक्त, उष्णवीर्य, स्निग्ध और लघु होता है एवम् यह कुष्ठ, गुल्म तथा उदर रोग को दूर करता है और इसके प्रयोग से उत्तम विरेचन होता है ॥ ७२ ॥

नोट—चरक ने अर्क का एक ही भेद लिखा है । सुश्रुत ने अर्क एवं अलर्क ये दो भेद लिखे हैं । भावप्रकाशकार श्वेत एवं रक्त ये दो भेद लिखते हैं । धन्वन्तरि निघण्टु में अर्क एवं राजार्क ये दो भेद दिये हैं । राजनिघण्टु में अर्क, राजार्क, शुक्लार्क एवं श्वेतमन्दारक ये ४ भेद लिखे हैं । राजार्क के जो अन्य पर्याय रा० नि० में दिये हैं वे भावप्रकाशोक्त श्वेतार्क से मिलते हैं । अरुणदत्त ने मन्दारक को श्वेतपुष्प लिखा है (सू. अ. १५) । इससे अनुमान होता है कि राजार्क तथा श्वेतमन्दारक ये श्वेतार्क के ही भेद होंगे । रा. नि. ने राजार्क को सदापुष्प एवं श्वेत मन्दारक को दीर्घपुष्प लिखा है । इससे ऐसा मालूम होता है कि श्वेत पुष्पवाले किन्तु जिसमें बारहो मास पुष्प आते हों उसे राजार्क एवं जिसके पुष्प श्वेत एवं दीर्घ हों उसे मन्दारक कहा गया हो ।

आधुनिक ग्रन्थों में इसके दो भेद पाये जाते हैं किन्तु उनके लेटिन नामों में विद्वानों में मतभेद हैं । केलोट्रोपिस् जाइगेन्टीआ को कुछ विद्वान् श्वेतार्क (अलर्क, मदार) तथा केलोट्रोपिस् प्रोसेरा को रक्तार्क (अर्क) मानते हैं किन्तु अन्य विद्वान् इसके विपरीत मानते हैं । यहां पर दोनों का वानस्पतिक वर्णन अलग-अलग दिया गया है । चिकित्सा की दृष्टि से मंदार के सभी भेदों के गुण समान होते हैं । रक्तार्क या श्वेतार्क के भेद से उपयोगिता में कोई अन्तर नहीं होता ।

२३ श्वेतार्क

सं०–अलर्क, मंदार। **हि०**–मदार, आक। **म०**–रूई, आक। **बं०**–आकंद। **गु०**–आकडो। **ता०**–वदावडम, एरुक्कु। **ते०**–मंदारमु, जिल्लेडु। **क०**–एक्क। **मल०**–एरिक्का। **अ०**–उषर, उषार। **फा०**–खरक, जहूक। **अं०**–मडार (Mudar); जायगॅन्टिक् स्वॅलोवर्ट (Gigantic Swallow–wort)। **ले०**–*Calotropis gigantea* (Linn.) R. Br. ex Ait. (कॅलोट्रोपिस् जाइगेन्टीआ लिन.)। Fam. Asclepiadaceae (एस्क्लेपिएडॅसी)।

यह हिमालय में १००० फीट की ऊँचाई तक तथा पंजाब से लेकर दक्षिण भारत, आसाम, लंका एवं सिंगापूर में ऊसर भूमि में पाया जाता है। यह मलाया द्वीप तथा दक्षिण चीन में भी होता है।

इसका **क्षुप या छोटा वृक्ष**—बहुवर्षायु तथा ८–१० फीट तक ऊँचा रहता है। **पत्र**–अवृन्त, मोटे, क्षोदलिप्त हरे रंग के, अंडाकार या अभिलट्वाकार–आयताकार, ४–८ इञ्च लंबे, १.५–४ इञ्च चौड़े एवं पर्णतल की तरफ संकुचित हृदयाकार या प्रायः काण्ड को कुछ घेरे रहते हैं। **पुष्प**–१.५–२ इञ्च व्यास के, गंधहीन तथा अन्तर्दल फैले हुये एवं नीललोहित (Purplish) या श्वेत रंग के होते हैं। **फल**–करीब ४ इञ्च लंबे, मुड़े हुवे एवं फूलो से एक सेवनीक फल (Folliole) रहते हैं। **बीज**–महीन सिल्क की तरह गुच्छेदार रूई से युक्त तथा छोटे एवं चिपटे होते हैं। इसकी शाखाओं तथा पत्रादि से दुग्ध निकलता है। इसके गुण और प्रयोग आगे रक्तार्क के साथ ही दिये गये हैं।

२४ रक्तार्क (अर्क)

ले०—*Calotropis procera (Ait.) R. Br.* (कॅलोट्रॉपिस् प्रोसेरा एट.)।

यह भारतवर्ष के प्रायः सभी प्रान्तों में उष्ण एवं शुष्क स्थानों में पाया जाता है। यह हिमालय के निचले भागों में तथा उत्तर-पश्चिम में इसके समीप के मैदानों में अधिक होता है। वजीरिस्तान, अफगानिस्तान, पर्शिआ, अरब, इजिप्त तथा अफ्रीका का उष्ण प्रदेश इन स्थानों में भी यह पाया जाता है। इसका **क्षुप**–स्वावलंबी एवं प्रायः ६–८ फीट ऊँचा होता है। **पत्र**–अवृन्त, प्रायः २।–६ इञ्च लंबे, १॥–३। इञ्च चौड़े, चौड़े लट्वाकार–आयताकार, अण्डाकार या अभिलट्वाकार होते हैं। **पुष्प**–१ इञ्च व्यास के, सुगन्ध युक्त एवं गुच्छों में आते हैं। अन्तर्दल श्वेताभ रहते हैं तथा सीधे ऊपर की ओर उठे हुये दलखण्डों के ऊपर जामुनी (आनीलारुण) रंग के दाग होते हैं। **फल**–३–४ इञ्च लंबे, २–३ इञ्च चौड़े, गोल अंडाकार होते हैं। **बीज**–रूईदार श्वेतार्क की तरह ही होते हैं। इसके पत्ते आदि से भी दूध निकलता है।

उपर्युक्त दोनों प्रकार के अर्क के मूल, पत्र, पुष्प एवं क्षीर आदि का औषध में उपयोग किया जाता है। इनके मूल की छाल का विशेष उपयोग किया जाता है। इसके छोटे, मुड़े हुवे, २–५ मि. मि. मोटे एवं २–३.५ से. मि. चौड़े टुकड़े होते हैं। कभी-कभी इनमें उपमूल लगे रहते हैं। इसका बाह्यभाग मुलायम, हलके पीतवर्ण (Buff) का एवं लम्बाई में नालीदार होता है एवं अन्दर की सतह हलके पीले रंग की एवं रवेदार होती है। इसका भग्न छोटा एवं दुग्ध युक्त होता है। इसमें गंध नहीं होती तथा इसका स्वाद कडुआ एवं तीता होता है। ग्रीष्मऋतु में पुराने से पुराने बड़े (के. जाइगेन्टीआ) क्षुप के मूल की छाल को निकाल कर, शीतल जल से जल्दी धोकर खुली हवा में सुखावें। धूप में न रखें। जब उसमें का दूध सूख जाय तब ऊपर की कार्कयुक्त सतह निकाल कर बाकी भाग को सुखा एवं चूर्ण बना हवाबंद बोतलों में रखें।

औषध के अतिरिक्त इसके बीजों की रूई एवं छाल से तन्तुनिर्माण किया जा सकता है। इसके दुग्ध का चमड़े के व्यवसाय में उपयोग किया जाता है। इससे नये चमड़े की दुर्गंध दूर होकर उसका रंग पीला हो जाता है। चमड़े के बालों को साफ करने के लिये भी इसका उपयोग करते हैं।

इसके किसी-किसी वृक्ष पर एक प्रकार का शर्करावत् निर्यास संग्रहीत होता है ऐसा हकीम मानते हैं जिसे 'सुक्करूलउषर' कहा जाता है। जिन जातियों में लड़कियों की हत्या की प्रथा है उनमें इसके दुग्ध को जबरदस्ती बच्चे को पिलाते हैं। गर्भपात के लिये भी इसका आन्तरिक तथा स्थानिक प्रयोग करते हैं।

रासायनिक संगठन—के. जाइगेन्टीआ के मूल की छाल में बीटा–एमाइरिन (B. amyrin) एवं जाइगेन्टीओल् (Giganteol) तथा आइसो जाइगेन्टीओल् (Iso Giganteol) ये दो समाजिक रवेदार सुषव (Isomeric crystalline alcohols) पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—इसकी मूलत्वक् कटु, तिक्त, उष्ण, दीपन, पाचन, स्वेदजनन, पित्तस्रावी, कफघ्न, वामक, उद्वेष्टननिरोधी, रसग्रंथी एवं त्वचा के लिये उत्तेजक, जीवनविनिमय क्रिया को उत्तेजित करने वाली, बल्य एवं रसायन है। अल्प मात्रा में यह उत्तम स्वेदल एवं कफनिःसारक होते हुए भी अधिक मात्रा से इससे वमन, विरेचन तथा प्रक्षोभ उत्पन्न होता है। इसका वामक प्रभाव आमाशयप्रक्षोभ एवं वमनकेन्द्र की उत्तेजना से होता है। इसका उद्वेष्टननिरोधी गुण साधारण है किन्तु इसका श्वासनलिकाओं पर स्पष्ट प्रभाव दिखलाई देता है। रसायन होने के कारण इसे वानस्पतिक पारद कहा जाता है। इससे यकृत् की क्रिया अच्छी होकर पित्तस्राव ठीक होने लगता है। इसका उत्सर्ग त्वचा के द्वारा होने के कारण इससे त्वचा पर उत्तेजक प्रभाव दिखलाई देता है एवं छोटी रक्तवाहिनियों का विस्फार होता है।

(१) रक्तविकार, कुष्ठ, उपदंश या किसी भी कारण से उत्पन्न व्रण में इसका आंतरिक एवं बाह्य प्रयोग करते हैं। श्लीपद में इसके साथ रसकपूर या रससिन्दूर, सुरमा (स्रोतोञ्जन) एवं सागरशृंगभस्म देते हैं तथा कांजी में पीसकर शोथ पर लेप करते हैं। उपदंश में पारद की तरह इसका उपयोग होता है। उपदंश की द्वितीयावस्था में त्वचा पर उत्पन्न चकत्ते आदि इससे कम होते हैं। बद (Bubo) तथा गंडमाला में इसको खिलाते तथा इसके दूध को लगाते है। सभी प्रकार के चर्मरोगों में छाल को जल में पीस कर लगाते हैं या खुजली अधिक होने पर निमोली के तैल में घिसकर लगाते हैं। विशेषकर पुराने त्वग्रोगों में इससे अधिक लाभ होता है।

(२) सभी प्रकार के कफविकारों में इससे लाभ होता है। १५–३० र० चूर्ण को खिलाने से इपिकाक की तरह १ घंटे के अंदर वमन होकर कफ बाहर निकल जाता है तथा कभी कभी विरेचन भी होता है। प्रतिश्याय तथा गले का नूतन शोथ, श्वासनलिकाशोथ आदि में घोडबच के साथ अर्कादिचूर्ण (अर्कचूर्ण २, अफीम १, सैंधव ७; मात्रा–३–७ र०) का उपयोग किया जाता है। तमकश्वास तथा श्वसनिकाभिस्तीर्णता (Bronchiactasis) आदि व्याधियों में इसके प्रयोग से पर्याप्त लाभ होता है।

(३) यकृत् एवं प्लीहावृद्धि तथा उससे उत्पन्न उदर, पित्त का स्राव ठीक न होने के कारण उत्पन्न अतिसार तथा नई एवं पुरानी आँव में इसका बहुत उपयोग किया जाता है। आँव में छाल को ३०–४० रत्ती की बड़ी मात्रा में देना चाहिये किन्तु इसके साथ अफीम एवं सुगन्धि पदार्थ भी देने चाहिए अन्यथा वमन की संभावना रहती है। कुपचन में १ रत्ती छाल देने से पचनशक्ति बढ़ती है।

(४) जीर्ण ज्वर एवं विसर्गी ज्वर में इसका फांट पिलाते हैं। मलेरिया में इसकी छाल पान के साथ खिलाते हैं।

(५) जीर्ण आमवात में अर्कादिचूर्ण सोंठ के साथ रात को देने से पसीना होता है, संधिशूल कम होता है एवं निद्रा आती है।

इसके **दुग्ध** का मोटा लेप करने से त्वचा का दाह होकर फोड़े उत्पन्न होते हैं किन्तु पतला लेप अल्प वेदनाहर एवं लोमशातक है। इसके आन्तरिक प्रयोग से अत्यन्त विरेचन होता है। इसके गुण भी मूल की तरह ही होते हैं किन्तु इसका कम जादा प्रभाव होता है।

(१) यकृत एवं प्लीहावृद्धि तथा तज्जन्य उदर में इसका आन्तरिक प्रयोग करते हैं।

(२) मोच, मरोड़ एवं संधिशोथ में नमक में इसको मिलाकर लगाने से सूजन कम होती है। दारुहरिद्रा के चूर्ण में इसको मिलाकर उसकी बत्ती भगंदर तथा नाडीव्रण में डालते हैं। दाद एवं छाजन आदि त्वचा के रोगों में एवं आमवात में इसको हलदी के साथ तिल के तैल में उबालकर मालिश करते हैं। अर्श में यद्यपि इसका लेप करते हैं तथापि इससे बहुत तकलीफ होती है। मुखरोगों में मधु के साथ इसे लगाते हैं। कृमिदन्त में दाँत के गढ़े में इसे लगाने से दर्द कम होता है।

इसके **पुष्प** दीपन, पाचन, कफघ्न एवं उद्वेष्टननिरोधी हैं। मूल की अपेक्षा ये गुण इसमें अधिक स्पष्ट दिखलाई देते हैं।

(१) क्षुधानाश तथा कुपचन में इससे अच्छा लाभ होता है।

(२) खाँसी एवं दमा में इसके फूलों को राब में उबालकर देते हैं।

इसके **पत्ते** वातहर, शोथहर, व्रणशोधक, व्रणरोपक एवं आनुलोमिक हैं।

(१) जीर्ण व्रण पर इसका चूर्ण डालने से व्रण जल्दी अच्छे होते हैं।

(२) इसके पत्तों को रेंडी का तेल लगाकर गरम करके सूजन पर बांधने से सूजन तथा पीड़ा कम होती है।

(३) बच्चों के आध्मान में पेट पर इनको बांधने से एकाधबार पाखाना होकर आध्मान कम होता है।

(४) इसके पत्तों को तेल में उबाल कर चोट पर उसकी मालिश की जाती है।

(५) इसके पत्ते एवं सैंधव को समान भाग में लेकर बन्द हाँडी में गरम करके बनाई हुई राख तक्र के साथ उदररोग में देते हैं।

मात्रा-मूलत्वक्चूर्ण १½-२½ रत्ती; वामक १५-३० रत्ती; दुग्ध १-२ रत्ती; पत्रचूर्ण २ रत्ती-१ माशा; फूल १-३ रत्ती।

अथ सेहुण्डः [सेहुण्ड, थूहर]। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

सेहुण्डः सिंहतुण्डः स्याद्वज्री वज्रद्रुमोऽपि च।
सुधासमन्तदुग्धा च स्नुक् स्त्रियां स्यात्स्नुही गुडा॥ ७३॥
सेहुण्डो रेचनस्तीक्ष्णो दीपनः कटुको गुरुः।
[1]शूलामाष्ठीलिकाऽऽध्मानकफगुल्मोदरानिलान्॥ ७४॥

१. शूलमष्ठीलिका इति पाठा०।

[1]उन्मादमोहकुष्ठार्शः शोथमेदोऽश्मपाण्डुताः।
व्रणशोथज्वरप्लीहविषदूषीविषं हरेत्॥ ७५॥

सेहुंड (थूहर) के नाम तथा गुण—सेहुंड, सिंहतुण्ड, वज्री, वज्रद्रुम, सुधा, समन्तदुग्धा, स्नुक् (स्नुह्), स्नुही (स्त्रीलिङ्ग में होता है) और गुडा ये सब संस्कृत नाम थूहर के हैं। थूहर-रेचक, तीक्ष्ण, अग्निदीपक, कटु रस युक्त तथा गुरु होता है। यह—शूल, आमदोष, अष्ठीलिका, आध्मान, कफ-गुल्म, उदररोग, वात, उन्माद (पागलपन), मोह (मूर्च्छा), कुष्ठ, बवासीर, शोथ, मेदरोग, पथरी, पाण्डुरोग, व्रणशोथ, ज्वर, प्लीहा, विष और दूषीविष को दूर करता है॥ ७३-७५॥

अथ स्नुहीदुग्धगुणानाह

उष्णवीर्यं स्नुहीक्षीरं स्निग्धञ्च कटुकं लघु। गुल्मिनां कुष्ठिनाञ्चापि तथैवोदररोगिणाम्॥७६॥
हितमेतद्विरेकार्थं ये चान्ये दीर्घरोगिणः।

थूहर का दूध—उष्णवीर्य, स्निग्ध, कटुरसयुक्त और लघु होता है तथा यह गुल्म, कुष्ठ और उदररोग वालों के लिये एवम् जो दीर्घकाल से रोगी हैं उनके लिये भी विरेचन कराने में हितकर है॥ ७६-७७॥

नोटः—सेहुण्ड की कई जातियां पाई जाती हैं। जिस सेहुण्ड में बहुत कांटे हों वह, अल्प एवं तीक्ष्ण कांटे वाले सेहुण्ड की अपेक्षा अच्छा माना गया है।[2] इसी प्रकार २-३ वर्ष पुराने सेहुण्डवृक्ष से शिशिर-ऋतु के अन्त में दुग्ध निकाल कर व्यवहार करने को लिखा है।[3] सुश्रुत ने (सु. अ. ३९) अधोभागहरगण में सेहुण्ड के मूल और क्षीर दोनों का उपयोग करने को लिखा है तथा स्नुक् एवं महावृक्ष ये दो अलग-अलग द्रव्य लिखे हैं। सुश्रुतने (सु. अ. ३८) श्यामादिगण में सुधा नाम से इसका उल्लेख किया है। चरक ने इसके दुग्ध को तीव्रतम विरेचन माना है तथा उचित प्रयोग से यह दोषों के महान् संचय को भी शीघ्र हरता है ऐसा लिखा है। किन्तु मृदुकोष्ठ वाले में, दोषों का संचय अल्प होने पर एवं अन्य उपाय से रोगी अच्छा हो सकता हो तो इसके प्रयोग का निषेध किया है।[4] चरक (सू. अ. १) में षोडशमूलिनी औषधियों में अधोगुडा शब्द आया है। उसका अर्थ श्रीभगीरथजी स्वामी ने 'गुडायाः (स्नुहेः) अधः (अधोभागः मूल) इति अधोगुडा' यह लिखा है तथा श्रीयादवजी ने इसका समर्थन किया है। (द्रव्यगुणविज्ञानम् , उत्तरार्ध द्वितीय खण्ड, पृ० ३३०)।

१. मेह इति पाठा०।

२. द्विविधः स मतो यश्च बहुभिश्चैव कण्टकैः।
सुतीक्ष्णैः कण्टकैरल्पैः प्रवरो बहुकण्टकः। (च. क. अ. १०)

३. तं विदार्याहरेत्क्षीरं शस्त्रेण मतिमान् भिषक्।
द्विवर्षं वा त्रिवर्षं वा शिशिरान्ते विशेषतः॥ (च. क. अ. १०)

४. विरेचनानां सर्वेषां सुधा तीक्ष्णतमा मता। संघातं हि भिनत्याशु दोषाणां कष्टविभ्रमा॥
तस्मान्नैषा मृदौ कोष्ठे प्रयोक्तव्या कदाचन। न दोषनिचये चाल्पे सति चान्यपरिक्रमे॥
पाण्डुरोगोदरे गुल्मे कुष्ठे दूषीविषार्दिते। श्वयथौ मधुमेहे च दोषविभ्रान्तचेतसि॥
रोगैरेवंविधै ग्रस्तं ज्ञात्वा सप्राणमातुरम्। प्रयोजयेन्महावृक्षं सम्यग्स ह्यवचारितः।
सद्यो हरति दोषाणां महान्तमपि संचयम्। (च. क अ. १०)

आधुनिक उद्भिदवेत्ताओं ने इसकी निम्नलिखित जातियों का वर्णन किया है। यु० तिरुकेल्लि को कुछ लोगों ने सातला माना है तथा उसका वर्णन सप्तला के अन्तर्गत किया गया है।

१. Euphorbia neriifolia Linn. (युफोर्बिआ नेराइफोलिया लिन.); सेहुण्ड, थोहर, मन्सासिज।

२. E. nivulia Buch. & Ham. (यु० निवुलिया बुच; हैम); पटके, सिज, सेहुण्ड।

३. E. antiquorum Linn. (यु० ऐन्टिकोरम् लिन.); तिधारा सेहुण्ड।

४. E. trigona Haw. (यु०ट्राइगोना हॉ.); तिधारा सेहुण्डभेद।

५. E. tirucalli Linn. (यु० तिरुकेल्लि लिन.); लंकासिज, अंगुलिया थूहर, छिमिया सेहुण्ड।

६. E. royleana Boiss (यु० रायलिआना बायस); थोर, सुरू।

२५ थूहर

हि०–थूहर, सेंहुड, सेंहुर, सेंड, मुठरिया सीज, मुठिया सीज, सौझ, थोहर, पटके। बं०–मनसा सिज। म०–थई निवडुङ्ग, मिनगुटथोर। गु०–थोर, कांटलो, कंटालो। ते०–आकुजे,मुड्ड। ता०, क०, मल–इल्लेकल्लि। फा०–लादनाम्। अ०–ज़कुमफर्युन। अं०–Milk Hedge (मिल्क हेज), Common Dulkhedge (कामन् डक हेज)। ले०–*Euphorbia neriifolia Linn.* (युफोर्बिआ नेराइफोलिआ लिन.)। Fam. Euphorbiaceae (युफोर्बिएसी)।

यह बङ्गाल, बिहार, उत्तरप्रदेश, पश्चिमोत्तरप्रदेश, दक्षिण तथा अन्य प्रान्तों में पाया जाता है। इसका झाड़–१०–१५ फीट तक ऊँचा होता है। शाखाएँ–सीधी और गूदेदार होती हैं। इसके डंठल और शाखाओं पर जगह-जगह कांटे रहते हैं और कांटे चौथाई से आध इञ्च तक लम्बे जोड़े में होते हैं। इन कंटकीभूत उपपत्रों के परस्पर मिलने से काण्ड पञ्चकोणीय बन जाता है। लकड़ी–कोमल होती है। प्रायः शाखाओं के अन्त में चारों ओर से गुच्छाकार पत्ते लगे रहते हैं। वे पत्थरचट्टे के समान मोटे, ६ से १२ इञ्च तक लम्बे, अभि·लट्वाकार होते हैं। अधःपत्रावलि (Involucre) पीताभ होती है। फूल–छोटे-छोटे हरापनयुक्त पीले और फल–आध इञ्च तक चौड़े होते हैं। बीज–चपटे तथा कोमल लोमयुक्त होते हैं। इसकी शाखाओं और पत्तों से दूध निकलता है।

इसकी दूसरी जाति यु० निवुलिया बुच, हैम (E. nivulia Buch. & Ham.) के वृक्ष–१०-३० फीट ऊँचे, शाखाएँ–सीधी, गोल, खण्डमय, चक्राकार क्रम में निकली हुई और सीधे दो-दो एक साथ कंटकीभूत उपपत्रों से युक्त होते हैं। पत्ते–अस्थायी, मांसल, ९ इञ्च लम्बे, २½ इञ्च चौड़े, रेखाकार अभिप्रासवत् अथवा स्रुवाकार कुण्ठिताग्र और अवृन्त होते हैं। शीत व ग्रीष्मकाल में पत्ते नहीं रहते। एकाभव्यूह (Cyathium) में अधः पत्रावलि (Involucre) पीली होती है। ये पौधे विशेषकर शुष्क तथा नग्न पहाड़ियों पर अधिक होते हैं। पहली जाति के पौधे गांवों की बाड़ों पर अधिक पाये जाते हैं।

चिकित्सा में इनके ताजे वा सुखाये दुग्ध, पत्र एवं मूल का व्यवहार किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसमें युफोर्बिन, राल, गोंद, रबर की तरह पदार्थ एवं कॅल्शियम् मॅलेट ये पदार्थ पाये जाते हैं। सेहुण्ड की जाति में पाये जाने वाला दाहजनक द्रव्य इसमें बहुत रहता है।

गुण और प्रयोग—इसका क्षीर अत्यन्त तीव्र विरेचन है। इससे वमन तथा पानी की तरह जुलाब होते हैं। इसके काण्ड का रस रेचन है। इसके पत्र का रस मूत्रजनन है। इसके मूल का रस उत्तेजक एवं उद्वेष्टननिरोधि है।

(१) उदररोग में इसका क्षीर देते हैं। मिरिच को इसके क्षीर में डुबोकर सुखाकर रखते हैं तथा आवश्यकता पड़ने पर १–२ मिरिच के दाने खिलाते हैं। इसी प्रकार पिप्पली, लौङ्ग एवं त्रिवृतमूल आदि को इसके क्षीर की भावना देकर उनका उपयोग अत्यन्त तीव्र विरेचन की आवश्यकता होने पर करते हैं। उदर रोगी को विबन्ध होने पर भोजन के पूर्व इसके पत्तों का शाक खिलाते हैं। क्षीर चर्म पर लगने से दाह उत्पन्न होकर फोड़े उत्पन्न होते हैं।

(२) इसकी जड़ को मिरिच के साथ सूतिका-ज्वर एवं सर्पविष में देते हैं।

(३) इसके कांड का स्वरस त्वचा पर मलने से त्वचा लाल होती है। चर्मकील (Warts) में इसे लगाने से वे गिर पड़ते हैं। जीर्ण आमवात में संधिपीड़ा होने पर इसका स्वरस निबौली के तेल में मिलाकर मलते हैं। इसके कांड को भूनकर उसका स्वरस निकाल कर मधु, टंकणक्षार तथा अडूसा के साथ कफविकारों में देते हैं। केवल स्वरस को कर्णशूल में डालते हैं।

(४) तमकश्वास में पत्तों का स्वरस या कांड का रस मधु के साथ देते हैं। पत्तों के अन्य गुण आगे शाक वर्ग में दिये हुये हैं।

(५) व्रण में इसके क्षीर को घृत के साथ मिलाकर लगाया जाता है।

मात्रा—मूल २ से ४ रत्ती; स्वरस २-५ बूँद; क्षीर ½–१ रत्ती।

२६ तिधारा थूहर

सं०–वज्रकण्टक, वज्री। हि०–तिधारासेंहुड, तिधारा थूहर। बं०–बाजबारग, तेशिरेमनसा, तेकाँटासिज। म०–तीनधारी निवडुंग। ता०, मल०–चतुरकल्ली। ते०–बोम्मजेमुड्ड। अं०–Triangular sponge (ट्राएन्गुलर स्पॉन्ज्)। ले०–*Euphorbia antiquorum Linn.* (युफोर्बिआ एन्टिकोरम् लिन.)। Fam. Euphorbiaceae (युफोर्बिएसी)।

यह प्रायः सभी प्रान्तों में पाया जाता है। इसके वृक्ष–१२-२५ फीट ऊँचे होते हैं। काण्ड–खण्डमय और शाखाएँ–प्रायः ३ या कभी-कभी ४-५ पक्षों वाली होती हैं। इन पर कंटकीभूत उपपत्र होते हैं जो छोटे होते हैं। काण्डखण्ड भी इसमें छोटे होते हैं तथा ऊपर के काण्डखंड प्रायः उतने ही लम्बे होते हैं जितने मोटे। पत्ते–छोटे-छोटे होते हैं तथा सब वृक्षों में नहीं होते। पुष्प–द्विलिंगी प्रायः ½ इञ्च बड़े हरिताभ पीत या लाल रंग के होते हैं। फल–½ इञ्च बड़े होते हैं। इसके दुग्ध, मूल एवं काण्ड का व्यवहार किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसमें युफोर्बिन ३५%, दो प्रकार की राल जिनमें से एक ईथर में घुलनशील तथा दूसरी न घुलने वाली, गोंद एवं रबर सदृश पदार्थ १·५% ये द्रव्य पाये जाते हैं। थूहर के जाति में पाया जाने वाला दाहजनक द्रव्य इसमें बहुत अल्प मात्रा में है।

गुण और प्रयोग—यह कफघ्न, ज्वरघ्न, रेचन एवं रक्तशोधक है। इससे कफ पतला होकर मुख एवं गुदा के द्वारा निकल जाता है। इसका प्रयोग प्लीहावृद्धि, कामला, कुष्ठ तथा सर्पविष में किया जाता है।

(१) बच्चों के कफविकारों में इसके कांड को गरम कर निकाले हुए रस में टंकणक्षार, मधु एवं अडूसा मिलाकर बहुत प्रयोग किया जाता है। बच्चों को इससे नुकसान नहीं होता। यदि मात्रा अधिक भी हो जाय तो इससे अधिक से अधिक एकाध वमन होता है तथा पाखाना साफ होता है।

(२) इसके मूल का क्वाथ जीर्ण आमवात एवं उपदंश में दिया जाता है।

(३) इसके दुग्ध को आमवातिक पीडा, दंतशूल एवं मस्से आदि में लगाते हैं।

(४) इसके दुग्ध को बेसन के साथ पकाकर गोली बनाकर सोजाक में देते हैं।

मात्रा—काण्डस्वरस बच्चों को १½–२ माशा; बड़ों को १½–२ तोला।

अथ सेहुण्डभेदः शातला । तस्या नामानि गुणाँश्चाह

शातला सप्तला सारा विमला विदुला च सा। तथा निगदिता भूरिफेना चर्मकषेत्यपि ॥
शातला कटुका पाके वातला शीतला लघुः। तिक्ता शोथकफानाहपित्तोदावर्त्तरक्तजित् ॥

शातला (सेंहुड़ भेद) के नाम एवम् गुण—शातला, सप्तला, सारा, विमला, विदुला, भूरिफेना और चर्मकषा ये सब संस्कृत नाम शातला के हैं।

शातला—पाक में कटु, वातकारक, शीतवीर्य, लघु और तिक्तरसयुक्त होती है तथा यह शोथ, कफ, आनाह, पित्त, उदावर्त तथा रक्त-प्रकोप का नाश करती है ॥ ७८–७९ ॥

नोटः—सप्तला एक संदिग्ध द्रव्य है—चरक क. अ. ११ में 'सप्तला शंखिनी' कल्प का वर्णन है। वहाँ सप्तला के मूल का एवं शंखिनी के फल का जो अधिक शुष्क न हों तथा जिनका छिलका निकाल दिया गया हो उनका व्यवहार कफ की अधिकतायुक्त गुल्म, गरदोष, हृद्रोग, कुष्ठ, शोफ एवं उदररोग में करने को लिखा है क्योंकि यह विकासि, तीक्ष्ण एवं रूक्ष होता है।[1] चरक ने विरेचनद्रव्यों में (सू. अ. २., वि. अ. ८) इसका उल्लेख किया है। सुश्रुत में श्यामादिगण में एवं उभयतोभागहर द्रव्यों में इसके स्वरस का तथा अधोभागहर द्रव्यों में मूल का उपयोग लिखा है। सप्तला के साथ प्रायः प्रत्येक स्थान पर शंखिनी का उल्लेख मिलता है। टीकाकारों ने शंखिनी को यवतिक्ता तथा कहीं यवतिक्ता भेद लिखा है। सप्तला का अर्थ कहीं पर स्नुहीभेद तथा कहीं पर यवतिक्ताभेद किया गया है। कहीं पर 'बुध्नामाहुः' तथा 'अपरे श्रीफलिकामाहुः' इस प्रकार उल्लेख करते हुए बुध्ना या श्रीफलिका नामक वनस्पति की तरफ निर्देश किया है। कुछ लोगों ने पीतदुग्ध सेंहुण्ड को सप्तला लिखा है। उपर्युक्त वर्णन से यह मालूम होता है कि सप्तला यह कोई सेंहुड का ही भेद होगा। कुछ आधुनिक विद्वानों ने युफोर्बिआ तिरुकेलि लिन. (Euphorbia tirucalli Linn.), अंगुलिया थूहर-नामक सेंहुड के भेद को सप्तला माना है। श्रीमान् ठा. बलवन्त सिंह जी ने युफोर्बिआ ड्रेकन्क्युलॉइड्स, लैम (Euphorbia dracunculoides Lam.)-तितली के लिये सप्तला होने की सम्भावना पर विचार करने को लिखा है। (बिहार की वनस्पतियाँ, पृ. २४)

कुछ अन्य विद्वानों ने सप्तला को शिकाकाई (Acacia concinna DC.) लिखा है। सप्तला को 'विमला', 'भूरिफेना' एवं 'चर्मकषा' ये पर्याय शिकाकाई के होने की सम्भावना दर्शित करते हैं तथा यह भी वामक एवं विरेचक है। कुछ लोगों ने ले०–*Origanum vulgare Linn.* (ओरिगॅनम् हलगेर् लिन.), हि०–सथरा, Fam. Labiatae (लेबिएटी) को सप्तला लिखा है जिसमें का सुगन्धि उड़नशील तैल उत्तेजक एवं अतिसार में बल्य होता है तथा आमवात, दन्तशूल एवं कर्णशूल में उसका उपयोग किया जाता है।

यहाँ अंगुलिया थूहर, तितली एवं शिकाकाई तीनों का अलग-अलग वर्णन किया गया है।

---

१. ते गुल्मगरहृद्रोगकुष्ठशोफोदरादिषु । विकासितीक्ष्णरूक्षत्वाद्योज्ये श्लेष्माधिकेषु तु ।
नातिशुष्कं फलं ग्राह्यं शंखिन्या निस्तुषीकृतम् । सप्तलायाश्च मूलानि गृहीत्वा भाजने क्षिपेत् ॥

२७ सातला १ (अंगुलिया थूहर)

हिं०–अंगुलिया थूहर, छिमिया सेहुण्ड। बं०–जटालंका, लंकासिज। म०–निवल, थोर, शेर। गु०–डांडलीओ थोर, खरसाणी थोर। ता०–कल्लि। ते०–जेमुडु। क०–मोंडगलि। मल०–तिरुकल्लि। ले०–*Euphorbia tirucalli Linn* (युफोर्बिआ तिरुकॅलि लिन.)। Fam. Euphorbiaceae (युफोर्बिएसी)।

यह बंगाल, बिहार, सिन्ध, कोंकण एवं गुजरात आदि स्थानों में पाया जाता है। इसका आदिम स्थान अफ्रीका है।

इसका वृक्ष-छोटा, १५-२० फीट ऊँचा होता है। इसे कहीं से काटने से बहुत दूध निकलता है। इसकी मुख्य शाखायें सीधी परन्तु उपशाखायें हरी, चिकनी, चमकीली, गोल (घेरे में), चक्राकार निकली हुई और बहुत पतली होती हैं। इसपर कांटे नहीं होते। पत्ते–बरसात में ½ इञ्च तक लम्बे एवं गूदेदार पत्र निकलते हैं। पुष्प-उपशाखाओं के बीच, छोटे एवं प्रायः स्त्री पुष्प रहते हैं। फल–५ मि. मि. चपटा एवं बीज–अंडाकार तथा चिकना रहता है। इसके दुग्ध से मछली मरती है। इसके दुग्ध एवं छाल का प्रयोग चिकित्सा में किया जाता है।

रासायनिक संगठन—थूहर की तरह।

गुण और प्रयोग—इसका दुग्ध अत्यन्त प्रक्षोभकारक है। इससे वमन एवं विरेचन होता है तथा त्वचा पर इसे लगाने से फोड़े उत्पन्न होते हैं।

जीर्ण उपदंश में संधिपीडा के लिये इसके दुग्ध का प्रयोग करते हैं। नाडीशूल में दुग्ध का लेप लाभदायक होता है। इसको लगाने से मस्से गल कर गिर पड़ते हैं। इसको लगाते समय इसमें तिल का तैल मिला लेना चाहिये।

विरेचन के लिये २ बूंद दुग्ध, बेसन एवं मधु के साथ गोली बना कर दिया जाता है। इसके कोमल कांड एवं मूल का क्वाथ उदरशूल में दिया जाता है।

मात्रा—दुग्ध १-२ रत्ती।

२८ सातला २ (शिकाकाई)

हि०–शिकाकाई, सिकाकाई, चिकेकाई पेला। बं०–बनरीठा। म०–शिकेकाई। गु०–चिकाखाई। ता०–शीयक्काय्। ते०–शीकाय। क०–शिगे। ले०–*Acacia concinna DC.* (एकॅसिआ कॉन्सिन्ना डीसी.)। Fam. Leguminosae (लेगुमिनोसी)।

उत्तर भारत तथा हिमालय में उत्पन्न होने वाले वृक्ष गुणों की दृष्टि से दक्षिण में होने वालों की अपेक्षा श्रेष्ठ माने जाते हैं। इसके गुल्म प्रायः कम मिलते हैं किन्तु सभी स्थानों पर पाये जाते हैं।

इसका **गुल्म** (क्षुप)–बहुत फैला हुआ, अत्यन्त कांटेदार एवं लंबी आरोही शाखाओं से युक्त रहता है। उपशाखायें हल्की श्वेताभ और टेढे, मजबूत कांटो की पांच कतारों से युक्त रहती हैं। **पत्ते**–पक्षाकार एवं पत्रक खट्टे होते हैं। फूल–मुण्डक (Capitulum) पीताभ श्वेत या गुलाबी रंग के लगभग ½ इञ्च व्यास में होते हैं। फली–३-५ इञ्च लम्बी, १ इञ्च चौड़ी, मोटी, मांसल, चोंचदार एवं बीजों के बीच बीच संधियों पर संकुचित होती है। इसका स्वाद रीठे के समान परन्तु अधिक खट्टा, कम कडवा तथा अधिक तीता रहता है। इसे पानी में भिगोकर मसलने से रीठे के समान झाग निकलता है। सिर के बाल एवं रेशमी वस्त्र धोने के लिये इसका उपयोग करते हैं। इसके पत्र एवं फली का चिकित्सा में उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसकी फली में सॅपोनिन् (Saponin) ११.२%, मॅलिक् एसिड् (Malic acid) १२.७५%, राल १%, ग्लूकोज् १३.९%, गोंद एवं रंजक द्रव्य २१.५%, तन्तु २२% एवं राख ३.७५% रहती है।

गुण और प्रयोग—इसकी फली उत्तेजक, कफघ्न, वामक एवं आनुलोमिक है। इसकी किया रीठा या सेनेगा जैसी होती है। इससे नाडी की गति कम होती है तथा मूत्र की मात्रा बढ़ती है। इसके पत्र खट्टे, रोचक, यकृत् उत्तेजक तथा विरेचन होते हैं। इमली के बदले इनका उपयोग किया जा सकता है।

(२) पुराने कफविकारों में कफ पतला करने के लिये एवं श्वासावरोध कम करने के लिये इसके फलीयों का फांट (१-२०) २ से ४ तोले की मात्रा में देते हैं। इससे पाखाना भी साफ होता है।

(२) कामला में काली मिरिच के साथ इसके पत्तों का उपयोग किया जाता है। इससे विरेचन तथा कभी-कभी वमन भी होता है तथा पित्त का स्राव उचित होने लगता है। यकृत की क्रिया ठीक न होती हो तो भोजन में खटाई के लिये इसके पत्तों का एवं लाल मिर्चा के स्थान पर काली मिरच का उपयोग किया जाता है।

(३) इसके फली के क्वाथ से बाल धोने से जूँए आदि मरती हैं, रूसी नष्ट होती है तथा केशवृद्धि होती है। क्वाथ में बत्ती डुबोकर बच्चों के गुदा में डालने से पाखाना होकर कृमी निकल जाती है।

मात्रा—फली का फांट २-४ तो०। पत्रचूर्ण २-४ माशा।

२९ सप्तला ३ (तितली)

हि०–जायची, तितली। **संथा०**–परवा। **बं०**–छागल पुपटी, जायची। **पं०**–कंगी। **मद्रा०**–तिरुका-काड। **ले०**–*Euphorbia dracunculoides Lam.* (युफोर्बिआ ड्रॅकन्क्युलॉईडिस् लैम्)। Fam. Euphorbiaceae (युफोर्बिएसी)।

इसके **क्षुप**-एकवर्षायु, प्रायः ४-८ इञ्च ऊँचे, चिकने तथा सामान्यतः धूसर वर्ण के होते हैं। इसमें पीताभ क्षीर होता है। शाखायें प्रायः द्विविभक्त क्रम में निकली हुई रहती हैं। **पत्ते**–अभिमुख (नीचे कुन्तल) अवृन्त, रेखाकार, रेखाकार प्रासवत् या रेखाकार आयताकार और ·७-२ इञ्च लम्बे होते हैं। **पुष्प**–पुष्पाकार व्यूह एकाकी और द्विविभक्त काण्ड के बीच में होते हैं।

इसे कुछ लोग यवतिक्ता भी मानते हैं क्योंकि जव आदि के साथ खेतों में ही इसके क्षुप अधिकतर पाये जाते हैं। श्रीयुत् ठा. बलवन्त सिंह जी ने इसे सप्तला या शंखिनी होने की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया है तथा उनके मत से इसकी सप्तला होने की अधिक सम्भावना है।

वास्तविक **सुदाब** (Ruta graveolens Linn; Fam. Rutaceae रूटा-ग्रॅविओलेन्स) के स्थान पर कहीं-कहीं पंसारी इसको बेचते हैं जो गलत है।

ग्रामीण इसके बीज तैल को जलाने के काम में लेते हैं। चर्म रोगों में भी यह उपयोगी बतलाया जाता है।

अथ कलिहारी। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

कलिहारी तु हलिनी लाङ्गली शक्रपुष्प्यपि। विशल्याऽग्निशिखाऽनन्ता वह्निवक्त्रा च गर्भनुत्॥
कलिहारी सरा कुष्ठशोफार्शोव्रणशूलजित्॥ ८०॥
सक्षारा श्लेष्मजित्तिक्ता कटुका तुवराऽपि च। तीक्ष्णोष्णा क्रिमिहृल्लघ्वी पित्तला गर्भपातिनी॥८१॥

कलिहारी के नाम तथा गुण—कलिहारी, हलिनी, लाङ्गली, शक्रपुष्पी, विशल्या, अग्निशिखा, अनन्ता, वह्निवक्त्रा और गर्भनुत् ये सब संस्कृत नाम 'कलिहारी' के हैं। **कलिहारी**–दस्तावर, कुष्ठ, शोथ, बवासीर, व्रण तथा शूल को नष्ट करनेवाली, क्षारगुणयुक्त, कफनाशक तथा तिक्त, कटु और कषायरसयुक्त, तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, कृमि को दूर करनेवाली, लघु, पित्तजनक तथा गर्भ को गिरानेवाली होती है॥ ८०-८१॥

३० कलिहारी

हि०–कलिहारी, कलिकारी, करियारी, कलहिंस, कलारी, लांगुली, करिहारी। **बं०**–विषलांगुली, उलटचण्डाल। **म०**–कललावी, इंदै, लालि, खड्यानाग, नागकरिआ। **गु०**–कलगारी, दूधियोवछनाग। **क०**–लांगुलिक। **पं०**–मलिम, करियारी। **मा०**–राजाराड। **ते०**–अग्निशिखा, अडविनाभी। **ता०**–कलईपैकिशंगु। **मल०**–मेशोन्नि। **अं०**–The glory lily (दि ग्लोरी लिलि), Tiger's claws (टाइगर्स क्लॉज्)। **ले०**–*Gloriosa superba Linn.* (ग्लोरिओजा सुपर्बा लिन.)। Fam. Liliaceae (लिलीएसी)।

भारत के प्रायः सभी प्रान्तों के जंगल झाड़ियों में आप ही आप उत्पन्न होती है तथा बर्मा एवं लंका में भी पाई जाती है

इसकी **लता**–मृदु, आरोहणशील और सुन्दर होती है जो झाड़ियों या छोटे वृक्षों के ऊपर चढ़ी हुई पाई जाती है। **काण्ड**–पतला, कलम जितनी मोटाई का, गोल, मृदु एवं हरे रंग का होता है। यह १॥-२ फीट लम्बी होने पर भूमि की ओर नत हो जाती है किन्तु जब उसे किसी दूसरे वृक्ष का आश्रय मिलता है तब उसके सहारे ८-१० फुट तक ऊँची बढ़ जाती है। यह चौमासे के प्रारंभ में निकलती है और शीतकाल के पहले ही सूख जाती है। इसका **भौमिक तना** हलाकार टेढ़ा, बेलनाकार परन्तु जगह-जगह कुछ संकुचित रहता है। इसीसे प्रतिवर्ष इसकी पुनरुत्पत्ति होती है। **पत्ते**–विषमवर्ती, ३ से ९ इञ्च तक लम्बे, पौन से एक इञ्च तक चौड़े, प्रायः विनाल, लट्वाकार-भालाकार एवं उनके अग्र सूत्राकार होते हैं जिनसे आश्रय को लपेट कर यह बढ़ती है। वर्षा के अन्त में इसमें फूल आते हैं। **फूल**–व्यास में ३-४ इञ्च, अधोमुखी और सुन्दर होते हैं। **पुष्पनाल**–३-६ इञ्च लंबा और उसका अग्र टेढ़ा होता है। **पंखुड़ियाँ**–६, लहरदार, नीचे आधार की ओर पीताभ, ऊपर नारंगी लाल और अन्त में पूर्णतः लाल होती हैं तथा जैसे-जैसे इनका विकास होता है वैसे-वैसे इनका रंग भी पीत से रक्त होता जाता है। **फलियाँ**–केराव की फलियों के समान होती हैं। उनमें केराव के आकार के गोल-गोल लाल रङ्ग के बीज होते हैं।

कंदों के भेद से कलिहारी दो प्रकार की मानी जाती है। जिसका कन्द लम्बा, गोल, दो भागों में विभक्त अथवा दो लम्बे टुकड़े समकोण के समान जुड़े हुए होते हैं वह पुरुषजाति और जिसका कन्द गोल, किञ्चित् लम्बा एक ही रहता है वह स्त्री जाति कहलाती है। पुरुषजाति की जड़-फूलने के समय संग्रह करनी चाहिये और स्त्रीजाति का कन्द फलने के बाद संग्रह किया जाता है।

इसके कन्द (भौमिक तना) का व्यवहार किया जाता है। यह श्वेत, मृदु, मांसल और स्वाद में तिक्त होता है। इसकी गणना सप्त उपविषों में की गई है यद्यपि यह साधारण मात्रा में विषैला नहीं है। सुखप्रसव एवं अपरापातन के लिये इसके लेप धारण आदि का विधान है।

लांगली यह नाम केंवाच के लिये भी आया हुआ है। कुछ लोग भूल से कोस्टस् स्पेसिओसस् (Costus speciosus (Koenn.) Sm.) को लांगली मानते हैं जो वास्तव में केमुक है।

शोधन—इसके कन्द को टुकड़े कर चार-पांच दिन कुछ सैंधव मिश्रित तक्र में भिगोकर गरम जल से धोकर सुखा लेने से इसका विष कम हो जाता है। प्रतिदिन तक्र नया डालना चाहिये। १ दिन गोमूत्र में भिगोकर रखने से भी यह शुद्ध हो जाता है।

रासायनिक संगठन—इसमें दो रालें, कषाय द्रव्य, एक कडुआ विषैला क्षाराम सुपर्बाइन (Superbine) एवं अन्य क्षाराभ ग्लोरिओसाइन (Gloriosine) ये द्रव्य पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—यह कटु, उष्ण, दीपन, बल्य, वामक, रेचक, पित्तविरेचक, गर्भघातक एवं कृमिघ्न है। इससे आपेक्ष एवं पचननलिका तथा गर्भाशय का दाह होता है। १-२ रत्ती की मात्रा में इससे भूख एवं शक्ति बढ़ती है।

इसका प्रयोग सोजाक, त्वग्रोग, बिच्छू एवं सर्पविष, कुष्ठ, अर्श एवं कृमि में किया जाता है। यह गर्भ के लिये हानिप्रद माना जाता है।

(१) इसके कंद को कूट कर जल में बहुत देर तक धोते हैं जिससे नीचे पिष्टवत् पदार्थ जमता है। उसका प्रयोग सोजाक में करते हैं।

(२) इसके कंद को पीसकर शुष्क त्वग्रोगों में एवं बिच्छू आदि के काटने पर करते हैं जिससे वेदना कम होती है।

मात्रा—१-२ रत्ती।

अथ श्वेतरक्तकरवीरौ। तयोर्नामानि गुणाँश्चाह

करवीरः श्वेतपुष्पः शतकुम्भोऽश्वमारकः। द्वितीयो रक्तपुष्पश्च चण्डातो लगुडस्तथा॥ ८२॥
करवीरद्वयं तिक्तं कषायं कटुकञ्च तत्। व्रणलाघवकृन्नेत्रकोपकुष्ठव्रणापहम्॥ ८३॥
वीर्योष्णं कृमिकण्डूघ्नं भक्षितं विषवन्मतम्॥ ८४॥

सफेद और लाल करवीर (कनेर) के नाम तथा गुण—करवीर, श्वेतपुष्प, शतकुम्भ और अश्वमारक ये सब 'सफेद कनेर' के संस्कृत नाम हैं। 'लाल कनेर' के संस्कृतनाम-रक्तपुष्प, चण्डात और लगुड ये सब हैं। दोनों कनेर-तिक्त, कषाय और कटुरसयुक्त, उष्णवीर्य और व्रण में लघुता कारक होते हैं एवम् ये दोनों नेत्रकोप (नेत्रसम्बन्धी रोगविशेष), कुष्ठ, व्रण, कृमि और खुजली को नष्ट करते हैं। यह खा लेने पर विष की भाँति हानिकारक होते हैं॥ ८२-८४॥

नोट—भावप्रकाशकार ने इसके श्वेत एवं रक्त ये दो भेद लिखे हैं। धन्वन्तरीनिघंटु में भी इसके दो भेद मिलते हैं किन्तु राजनिघंटु ने श्वेत, रक्त, पीत एवं कृष्ण ये ४ भेद लिखे हैं। यह अत्यन्त विषैला होने के कारण इसका आंतरिक प्रयोग बहुत कम मिलता है। भावप्रकाश में 'भक्षितं विषवन्मतम्' एवं ध० नि० में 'प्रक्षेपाद्विषमन्यथा' ऐसा लिखने से मालूम होता है कि इसका बाह्य प्रयोग ही अधिक किया जाता था। चरक एवं सुश्रुत में भी कुष्ठ एवं व्रण आदि के लिये इसके प्रयोग मिलते हैं। किन्तु चरक में कुष्ठ के लिये एवं सुश्रुत में अश्मरी और उदर के लिये इसके आन्तरिक प्रयोग भी मिलते हैं।[१] आन्तरिक प्रयोग के समय बहुत सावधानी की आवश्यकता है।

---

१. स्नाने पाने च मतः तथाष्टमश्चाश्वमारस्य (च. चि. अ ७-९९)। दूष्योदीरणं तु प्रत्याख्याय.........शुद्धकोष्ठन्तु मद्येन अश्वमारकगुंजाकाकादनो मूलकल्कं पाययेत् इक्षुकाण्डानि वा (सु. चि. अ. १४-८)। तिलापामार्गकदलीपलाशयववल्कजः। क्षारः पेयोऽविमूत्रेण शर्करानाशनः परः। पाटलाकरवीराणां क्षारमेवं समाचरेत् (सु. चि. अ. ७-२२-२३)।

आधुनिक विद्वानों ने श्वेत, रक्त एवं पीत इन ३ भेदों का ही उल्लेख किया है। कृष्ण करवीर का उल्लेख नहीं मिलता। श्वेत एवं रक्त करवीर का एक ही लेटिन नाम है। केवल पुष्प वर्ण में भिन्नता है। यहाँ पर श्वेत एवं रक्त का एक साथ तथा उसके पश्चात् पीत करवीर का वर्णन किया गया है। चिकित्सा में श्वेत एवं रक्त करवीर का ही अधिक व्यवहार किया जाता है।

३१ कनेर (श्वेत एवं रक्त)

हिं०-कनेर, कनइल, कनैल, करवीर। बं०-करावी, करवी। म०-कण्हेर। गु०-कणेर, करेण। ता०-अलरी। ते०-कस्तुरिपट्टे, गन्नेरु। क०-कणगिलु। मल०-कणावीरम्। संथा०-राजबाहा। पं०-कनिर। अ०-दिफ्ली, सम्मुलहिमार। फा०-खरजहरा। अं०-Sweet-scented oleander (स्वीट सेंटेड ओलिएण्डर), Rooseberry spurge (रूजबेरी स्पर्ज)। ले०-*Nerium odorum Soland* (नेरियम् ओडोरम् सोलॅड)। Fam. Apocynaceae (एपोसाइनेसी)।

यह प्रायः सब प्रान्तों में पाया जाता है। दक्षिण एवं उत्तरप्रदेश में यह जंगली होता है। बगीचों में फूलों के लिये यह लगाया हुआ मिलता है।

इसका क्षुप-मजबूत, सदा हरित, सीधी शाखाओं से युक्त एवं प्रायः १० फीट से अधिक ऊँचा नहीं होता। पत्ते-४-६ इञ्च लंबे, करीब १ इञ्च चौड़े, नुकीले एवं एक साथ ३-३ रहते हैं। फूल-सुगन्धयुक्त, श्वेत, रक्त एवं गुलाबी वर्ण के, करीब १½ इञ्च व्यास के एवं व्यस्त छत्राकार (Salver shaped) होते हैं। फली-करीब ५-६ इञ्च लंबी, चिपटी एवं गोलाकार होती है। बीज-भूरे वर्ण के रोमावृत अनेक बीज होते हैं। इसके काण्ड को काटने से दुग्ध बहता है।

इसके सभी भाग विषैले होते हैं। जानवर इसको नहीं खाते। आत्मघात, परहत्या एवं गर्भपात आदि के लिये इसके जड़ को खाते हैं। इसके पुष्प शिवजी को चढ़ाये जाते हैं। इसके मूलत्वक् एवं पत्र का चिकित्सा में उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसके मूल में नेरिओडोरिन (Neriodorin) नामक जल में अविलेय तथा नेरिओ डोरेन (Neriodorein) नामक जल में विलेय ये दो कडुवे पदार्थ पाये जाते हैं जो हृदय के लिये अत्यन्त विषैले होते हैं। इसके अतिरिक्त इसमें उड़नशील तैल, कषायाम्ल, मोम, डिजिटेलिन के सदृश नेरिन (Neriene) नामक रवेदार पदार्थ एवं रोसेजिनीन (Rosaginine) नामक ग्लूकोसाइड ये पदार्थ पाये जाते हैं। इसके पत्तों में ओलिएण्ड्रिन (Oleandrine) नामक क्षाराभ, सूडोक्युरारीन (Pseudocurarine) नामक ग्लूकोसाइड एवं नेरीन तथा नेरिएण्टाइन (Neriantine) ये द्रव्य पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—यह उष्ण, चक्षुष्य, ज्वरहर, शोथघ्न, हृदय के लिये घातक एवं कुष्ठ, कण्डु, नेत्रप्रकोप, त्वग्रोग तथा व्रण के लिये लाभदायक है। यह सब प्राणियों के लिये विषैला है। अल्प मात्रा में इसके मूल की क्रिया हृदय पर पीत कनेर की तरह होती है। मूल तीव्र मूत्रल एवं डिजिटेलिस् तथा स्ट्रोफॅन्थस् के सदृश हृदय के लिये बलदायक है। पीत कनेर की अपेक्षा यह अधिक तीव्र है। ओलिएण्ड्रिन के सूचिकाभरण से हृदय की गति १०-१२ तक प्रतिमिनट कम हो जाती है जो स्वस्थावस्था में ७२-८० तक रहती है। यदि इसको और देते रहें तो हृदय एवं श्वसन दोनों की क्रिया बन्द हो जाती है। इसका आन्तरिक प्रयोग बहुत सावधानी के साथ करना चाहिये।

(१) अल्प मात्रा में हृद्रोग एवं तज्जन्य जलोदर में इसका बहुत सावधानी के साथ प्रयोग करने से मूत्रोत्सर्ग होकर जलोदर कम होता है। इसे खाली पेट नहीं देना चाहिये। अधिक मात्रा से शीत आकर नाडी की गति बहुत कम हो जाती है, आक्षेप आते हैं एवं हृदय तथा श्वसन क्रिया बन्द पड़ती है।

(२) सर्पदंश में इसकी जड़ की छाल १–२ रत्ती की मात्रा में या १–२ पत्ते थोड़े-थोड़े अन्तर से देते हैं। इतनी अधिक मात्रा से वमन तथा एकाध दो पाखाना हो जाता है। ज्यादा से ज्यादा यह ६ माशे तक दिया जाता है।

(३) इसकी जड़ की छाल एवं पत्तों का बाह्य प्रयोग ही अधिक किया जाता है। त्वग्रोग, व्रणशोथ, कुष्ठ, कण्डू, शुष्क एवं पपड़ी युक्त त्वचा के विकारों में इसके मूल को तैल में पकाकर उस तैल की मालिश करते हैं। शोथ में पत्ते के क्वाथ से सेंकते हैं। व्रण, अर्श, कुष्ठ, दाद तथा चकत्ता आदि पर इसकी जड़ को गोमूत्र में घिसकर लगाने से शोथ एवं पीडा कम होती है। अधिक दीर्घ व्रण में इसका प्रयोग नहीं करना चाहिये अन्यथा इसमें के सत्त्व का शोषण होकर तीव्र विषैले सार्वदैहिक परिणाम हो सकते हैं। उपदंशजन्य व्रण पर इसके मूल को जल में घिसकर लगाने से वेदना कम होती है एवं इसी प्रकार इसके पत्तों के क्वाथ से प्रक्षालन करने से भी लाभ होता है। इसके पंचांग के स्वरस से सिद्ध तैल का व्यवहार पामा, कण्डू आदि त्वचा के रोगों में किया जाता है। नेत्रकोप में कोमल पत्तों को तोड़ने से प्राप्त रस को डालने से लाभ होता है। पलित में इसको दूध में पीसकर लगाने से लाभ होता है।

मात्रा—मूलत्वक् चूर्ण ½–१ रत्ती।

३२ कनेर (पीत)

हि०–पीला कनेर। **बं०**–कल्केफुल, कोल्का फूल। **म०**–पिंवली कण्हेर। **गु०**–पीली करेण। **ता०**–पच्चैअलरि। **ते०**–पंचागन्नेरु। **अं०**–Yellow oleander (यलो ओलिएण्डर); Exile Tree (एक्साइल् ट्री); Lucky nut (लकी नट)। **ले०**–*Thevetia neriifolia Juss.* (थिवेटिआ नेराइफोलिआ जस्.)। Fam. Apocynaceae (एपोसाइनेसी)।

यह प्रायः सभी प्रान्तों में पाया जाता है। उष्ण प्रदेशों में यह अधिक होता है। यह अमेरिका का आदिवासी है परन्तु अब भारत में सर्वत्र फैल गया है। इसके पुष्पों के लिये यह बगीचों में लगाया जाता है।

इसका **क्षुप**-सदाहरित, सुन्दर एवं करीब १२ फीट ऊँचा होता है। **पत्ते**-रेखाकार-भालाकार, चमकीले एवं नुकीले होते हैं। **फूल**-घंटाकृति, पीतवर्ण के, किञ्चित् गन्धयुक्त, पाँच दलवाले तथा शाखाओं के अग्र पर होते हैं। **फल**-गोल, कच्ची अवस्था में हलके हरे रंग का तथा पकने पर भूरे रंग का १½–२ इञ्च व्यास का होता है जिसके अन्दर एक विशिष्ट त्रिकोणाकृति गुठली होती है। **बीज**-गुठली के अन्दर हलके पीतवर्ण के २ बीज रहते हैं। इसके प्रत्येक भाग से दुग्ध निकलता है।

इसके बीज अत्यन्त विषैले होते हैं तथा आत्महत्या, परहत्या एवं गर्भपात आदि के लिये प्रयोग किये जाते हैं। जानवरों के लिये भी यह विषैले होते हैं। इसकी छाल का व्यवहार चिकित्सा में किया जाता है। कोमल टहनियों को छाल को खुली हवा में सुखाकर प्रयोग करना चाहिये। सुखाकर रखी हुई छाल कुछ महीनों में निःसत्त्व हो जाती है।

रासायनिक संगठन—इसके बीजों के गूदे में ५७% तैल पाया जाता है जिससे एक थिवेटीन (Thevetin) नामक रवेदार, श्वेतवर्ण का ग्लूकोसाइड प्राप्त किया गया है। इसके अतिरिक्त इसमें अन्य विषैले तत्त्व भी रहते हैं। इसकी छाल में भी यह पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—इसका क्षीर दाहजनक तथा तीव्र विषैला है। इसकी छाल कड़वी, भेदन, प्रभावशाली ज्वरघ्न तथा नियतकालिक-ज्वरप्रतिबन्धक है। छाल की मात्रा अधिक होने

से पानी की तरह पतले दस्त एवं वमन होता है। इसके फल से वमन होता है। छाल की क्रिया तीव्र होने के कारण इसको हमेशा कम मात्रा में ही प्रयोग करना चाहिये।

बिल्ली में इसके ग्लूकोसाइड के सूचिकाभरण से देखा गया है कि ·२ ग्राम प्रति कि. ग्राम की मात्रा में देने से वह दो घण्टे के अन्दर मर जाती है। इसका मुख्य विषैला परिणाम हृदय की मांसपेशियों पर होता है।

तीव्र विषैला होने के कारण इसका आन्तरिक प्रयोग बहुत कम किया जाता है।

(१) पार्यायिक ज्वर में इसकी छाल का टिंक्चर (५ मे १) १०, १५ बूँद की मात्रा में दिन में ३ बार दिया जाता है। १ रत्ती इसकी छाल का चूर्ण १५ रत्ती सिंकोना के बराबर गुणकारक होता है। ½ रत्ती घनक्वाथ देने से ज्वर की पारी नहीं आती। ज्वर आने पर फांट का प्रयोग करते हैं। इसको खाली पेट कभी भी प्रयोग न करें। इससे बहुत पसीना होकर शरीर ठंडा होता है। यदि थकावट हो तो उष्ण दुग्ध एवं थोड़ी अच्छी मदिरा देनी चाहिये।

(२) हृदयरोग तथा हृदयोदर में इसके प्रयोग से हृदय को बल मिलता है जिससे रुधिराभिसरणक्रिया ठीक होने लगती है। वृक्कों में रक्ताभिसरण अधिक होने से मूत्रोत्सर्ग अधिक होकर उदर कम होता है। इसका यह प्रभाव डिजिटेलिस् तथा इसी प्रकार कार्य करने वाली अन्य औषधियों जैसे कटु (हेलीबोर नाइग्रम्), श्वेत रक्त कनेर एवं जंगली प्याज आदि की तरह होता है। इस प्रकार की औषधियों का मिश्रण करके नहीं देना चाहिये। इनके साथ स्वेदजनन, मूत्रजनन तथा विरेचन द्रव्यों का प्रयोग किया जा सकता है।

मात्रा—टिंक्चर (५ में १) १०–१५ बूँद; घनक्वाथ ½ रत्ती।

अथ धत्तूरः। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

धत्तूरधूर्त्तधुत्तूरा उन्मत्तः कनकाह्वयः। देवता कितवस्तूरी महामोही शिवप्रियः ॥ ८५ ॥
मातुलो मदनश्चास्य फले मातुलपुत्रकः। धत्तूरो मदवर्णाग्निवातकृज्ज्वरकुष्ठनुत् ॥ ८६ ॥
कषायो मधुरस्तिक्तो यूकालिक्षाविनाशकः। उष्णो गुरुर्व्रणश्लेष्मकण्डूकृमिविषापहः ॥ ८७ ॥

धतूर के नाम तथा गुण—धत्तूर, धूर्त्त, धुत्तूर, उन्मत्त, कनकाह्वय (सुवर्ण वाचक सभी शब्द), देवता, कितव, तूरी, महामोही, शिवप्रिय, मातुल और मदन ये सब इसके संस्कृत नाम हैं। इसके फल को 'मातुलपुत्रक' कहते हैं। धतूरा-मद, वर्ण तथा वातकारक एवं जठराग्निवर्धक, ज्वर-कुष्ठ-नाशक, कषाय, मधुर तथा तिक्तरसयुक्त, जूयें और लीखों को दूर करने वाला, उष्णवीर्य, गुरु तथा व्रण, कफ, खुजली, कृमि एवं विष का नाशक होता है ॥ ८५–८७ ॥

३३ धतूरा

हि०–धतूर, धतूरा, धातूरा। **बं०**–धुतुरा, धुत्तूरा। **म०**–धोत्रा। **गु०**–धंतूरो, धत्तूरो। **पं०**–धत्तूर, धत्तूरा। **मल०**–उन्मं, उन्मत्तं। **क०**–मदकुणिके। **ते०**–उम्मेत्त, धुत्तुरम्। **ता०**–उम्मत्तई। **फा०**–तातूरह, तातूरा। **अ०**–बौजमासम, जौजुल्मासेल। **अं०**–Datura (दतूरा), Thornapple (थार्नेपल्)। Fam. Solanaceae (सोलेनॅसी)।

नोट—राजनिघण्टु ने इसके श्वेत, नील, कृष्ण, रक्त एवं पीत ये पाँच भेद लिखे हैं तथा उनमें से कृष्ण पुष्पवाला अधिक गुणकारी माना है[१]। धन्वन्तरिनिघंटु एवं इसमें इसके भेदों का उल्लेख

१. सितनीलकृष्णलोहितपीतप्रसवाश्च सन्ति धत्तूराः।
सामान्यगुणोपेतास्तेषु गुणाढ्यस्तु कृष्णकुसुमः स्यात् ॥

नहीं है। चरक में धुत्तूर का उल्लेख नहीं है किन्तु 'कनक' का उल्लेख आया है[1]। लेकिन टीकाकारों ने कनक के कई अर्थ किये हैं। सुश्रुत ने अलर्कविष में इसका उपयोग लिखा है[2]। यद्यपि तमक श्वास में इसका बहुत उपयोग होता आ रहा है तथापि प्राचीनों ने इसका उल्लेख नहीं किया है।

आधुनिक विद्वानों ने भी इसके कई भेदों का वर्णन किया है। इनके गुणों में विशेष अन्तर नहीं है। पाश्चात्य चिकित्सा में स्ट्रॅमोनिअम् (राजधतूरा) का उपयोग किया जाता है, जिसके बीज काले होते हैं।

यहाँ पर कुछ भेदों का वानस्पतिक वर्णन अलग-अलग किया गया है। किन्तु गुणों में साम्य होने के कारण उनको एक साथ ही लिखा गया है।

(क) ले०-Datura stramonium Linn. (दतूरा स्ट्रॅमोनिअम् लिन.), Datura tatula Linn. (दतूरा टॅटुला लिन.), हि०-राजधतूरा।

यह हिमालय के मन्द कटिबन्ध में काश्मीर से लेकर सिक्किम तक ९००० फीट की ऊँचाई तक, मध्य भारत के पहाड़ी प्रदेश, दक्षिणी एवं अन्य प्रान्तों में भी पाया जाता है।

इसका क्षुप-एकवर्षायु तथा करीब २-४ फीट ऊँचा होता है। काण्ड-हरा या जामुनी रंग का काला होता है। पत्ते-अण्डाकार, धार पर लहरदार या गहरे विच्छेदों से युक्त, करीब ७ इञ्च लंबे, ५ इञ्च चौड़े, हलके हरे रंग के, चिकने (कोमल पत्र-लोमयुक्त) तथा पर्णवृन्त से युक्त होते हैं। इनमें उग्रगन्ध रहती है तथा इनका स्वाद कडवा एवं अरुचिकारक होता है। पुष्प-श्वेत भूरे या कभी-कभी बैंगनी आभायुक्त, दलपत्र करीब ३-६ इञ्च लंबे तथा संख्या में ५ रहते हैं। फल-अण्डाकार, ऊर्ध्वमुख, चार खण्डों से युक्त तथा कठोर, लंबे एवं छोटे कंटकों से ढका हुआ, शीर्ष पर चार फांक में खुलनेवाला एवं इसके आधार पर बाहर और नीचे की ओर मुड़ा हुआ स्थायी प्रवृद्ध बाह्यदल रहता है। बीज-चिपटे, वृक्काकार, करीब ३ मि० मि० लंबे, २ मि० मि० चौड़े, १ मि० मि० मोटे, काले से भूरे रंग के, खुरदरे, स्वाद में कडवे, तैलीय एवं अत्यल्प गन्धवाले रहते हैं।

दतूरा टॅटुला के क्षुप ऊपर के समान ही होते हैं। इसके काण्ड, पर्णवृन्त एवं पत्तों की प्रधान शिराएँ कुछ लालिमा किये हुए होती हैं एवं दलपत्र ताजी अवस्था में बैंगनीपन लिये हुए नीले रंग के तथा सूखने पर बैंगनी आभायुक्त हरे रंग के होते हैं। इसके पत्ते पहले की अपेक्षा कुछ गहरे हरे रंग के होते हैं।

इनके बीज, पुष्पयुक्त अग्रभाग एवं पत्तों का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है। पाश्चात्य वैद्यक में इसके टिंक्चर एवं शुष्क तथा प्रवाही सत्व का उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसके पत्तों एवं पुष्पयुक्त अग्रभाग में क्षाराभ की मात्रा ०·४७–०·६५% होती है जिसमें मुख्यतया हायोसायमीन (Hyoscyamine) एवं अल्पमात्रा में ॲट्रोपीन (Atropine) तथा हायोसीन (Hyoscine) रहते हैं। इसके अतिरिक्त इसमें क्लोरोजेनिक् एसिड (Chlorogenic acid) एवं गहरे रंग का उड़नशील तैल (०·०४५%) पाया जाता है।

इसके बीजों में क्षाराभ की मात्रा ०·१–०·५% (औसतन ०·२%) रहती है जिसमें हायोसायमीन अधिक एवं ॲट्रोपीन तथा हायोसीन अल्प रहते हैं। इसमें १५–३०% स्थिर तैल भी होता है।

---

१. च. चि. अ. ७, अ. २३।

२. श्वेतो पुनर्नवाञ्चास्य दद्याद्धत्तूरकायुताम्। (सु. क. अ. ७)

(ख) ले०-Datura metel Linn. (दतूरा मेटल् लिन.)। हिं-काला धतूरा।

यह भारतवर्ष के प्रायः सभी भागों में परती भूमि में पाया जाता है।

इसका पौधा-वर्षायु, ३-५ फीट ऊँचा एवं चिकना होता है। पत्ते-अंडाकार-भालाकार, कुछ लहरदार, नोकीले, पर्णवृन्त की तरफ असम, कुछ दन्तुर या खण्डित, ऊपर के दोनों पृष्ठों पर चिकने, पतले, अकेले या युग्म जिसमें से एक बड़ा (७-८ इञ्च) एक छोटा एवं प्रायः ४ इञ्च लंबे तथा ३ इञ्च चौड़े होते हैं। पुष्प-सीधे एवं ६·५-७ इञ्च लम्बे होते हैं। आभ्यन्तर दल श्वेत, प्रायः बाहर से नीललोहित एवं अन्दर से पीताभ होते हैं। फल-गोलाकार, लटकते हुये, छोटे काँटों से युक्त, १। इञ्च व्यास के एवं इनका स्फुटन अनियमित होता है। बीज-कर्णाकृति, चिपटे, ४-५ मि० मि० लम्बे, ३-४ मि० मि० चौड़े एवं १ मि० मि० मोटे होते हैं। इनका किनारा लहरदार, मोटा तथा ३ धारियों से युक्त होता है। इनकी बाह्य सतह पीताभ, भूरी तथा गढेदार होती है। इनमें गन्ध नहीं होती तथा इनका स्वाद कड़वा होता है।

(ग) ले०-Datura innoxia Miller (दतूरा इन्नॉक्सिआ मिलर)।

यह यद्यपि मैक्सिको का आदिवासी है तथापि अपने यहाँ भी अब बहुत उत्पन्न होता है।

यह (घ) के समान ही होता है किन्तु यह मृदुरोमश होता है तथा इसके आभ्यन्तर कोश १० कोणों से युक्त होते हैं। इसके फल के काँटे कमजोर होते हैं तथा बीज भूरे रङ्ग के होते हैं।

रासायनिक सङ्गठन—(ख) एवं (ग) के पत्तों में क्षाराभ की मात्रा ०·२५–०·५५% रहती है जिसमें मुख्यतया हायोसायमीन एवं अल्पमात्रा में हायोसीन रहता है।

ख—के बीजों में हायोसीन ०·२% एवं अल्पमात्रा में हायोसायमीन रहता है। इसके अतिरिक्त राल एवं तैल भी इसमें पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—धतूरा के पत्ते एवं बीज वेदनाहर, उद्वेष्टननिरोधी, संज्ञानाशक, कासहर, श्वासहर, नियतकालिकज्वरप्रतिबन्धक एवं शोथहर हैं। धतूरे की क्रिया बेलाडोना (Belladona) की तरह होती है किन्तु श्वासनलिकाओं पर इसकी क्रिया अधिक तीव्र होने के कारण उनका अधिक विस्फार होता है। यह ॲसीटिल्कोलीन् (Acetylcholine) के कार्य को रोकता है जिससे श्वासनलिकाओं में रहने वाले प्राणदा (Vagus) नाड़ी के अग्रों का घात होने से श्वासनलिकाओं का विस्फार होता है। कभी-कभी इससे हृदय की गति में अनियमितता आती है। इससे विबन्ध नहीं होता। अधिक मात्रा में यह अत्यन्त तीव्र विष है। कुछ लोगों में यह उन्मादकारक होने के कारण उनके लिये यह वाजीकर है।

(१) तमक श्वास में उद्वेष्टन रोकने के लिये इसका बहुत प्रयोग किया जाता है। इसके चूर्ण का धूँआ या इसकी बनी सिगरेट का धूम्रपान इसमें लाभदायक होता है। इसका आन्तरिक प्रयोग भी किया जाता है। धूएँ के लिए धतूरा को पत्ती, कलमी सोरा, काले चाय की पत्ती, लोबेलिआ एवं अनीसी का तेल इनसे बना हुआ मिश्रण (पल्व लोबेलिआ कम्पाउण्ड) मिलता है जिसमें से चाय की चम्मच बराबर चूर्ण को कमरे में जलाते हैं।

(२) पारी से आने वाले शीतज्वर में इसके बीज दही के साथ ज्वर आने के पूर्व खिलाते हैं। इससे ज्वरजन्य कष्ट कम होता है।

(३) उदरशूल, पित्ताश्मरीशूल एवं वृक्कशूल आदि में वेदनाहर एवं उद्वेष्टननिरोधीरूप में इसका उपयोग करते हैं।

(४) शोथ पर इसके पत्तों का लेप करने से वेदना एवं शोथ कम होता है। अण्डशोथ, आमवात, सन्धिशोथ, आध्मान, फुफ्फुसावरणशोथ, नाडीशूल एवं गृध्रसी आदि में इसके पत्तों के क्वाथ

से सेंक, पत्तों का बन्धन या इससे सिद्ध तैल की मालिश की जाती है। इसके पत्तों के स्वरस का भी उपयोग किया जाता है। शोथयुक्त अर्श तथा गुदविदार में इसका मलहम उपयोगी है। अनेक चर्मरोगों में तथा वातिकविकारों में इससे सिद्ध तैल का उपयोग किया जाता है। स्तनशोथ पर हरिद्रा के साथ इसका पोल्टिस बाँधने से शोथ एवं दुग्ध कम होता है।

(५) उन्माद, धनुर्वात एवं जलसंत्रास आदि में इसका प्रयोग करते हैं।

शोधन—इसके बीजों को दुग्ध से साथ दोलायन्त्र में शोधन कर लेना आवश्यक है।

विषपरिणाम—इसके बीजों को ठग लोग दूसरों को बेहोश कर लूटने के लिये अन्नादि के साथ मिलाकर खिला दिया करते हैं या इसको सिगरेट आदि पिला देते हैं। इससे गले में शुष्कता, चक्कर, चेहरा लाल, आँखों की पुतलियों का विकास, उन्माद, प्रलाप, एवं संन्यास ये लक्षण होकर मृत्यु हो सकती है। उन्माद में रोगी काल्पनिक वस्तुओं को पकड़ने जैसी क्रियायें करने लगता है।

विषचिकित्सा—वमन, आमाशयप्रक्षालन, उत्तेजक औषधियों का प्रयोग, शीतल जल से छींटा देना एवं कृत्रिम श्वसन करना चाहिये। प्रलाप अधिक होने पर अफीम का उपयोग किया जा सकता है। शर्करा मिश्रित दुग्ध तथा घृत पिलाना भी हितकर है। बिनौले की गरी को दुग्ध के साथ पीसकर पिलाते हैं। कपास के पंचांग का क्वाथ, चौलाई की जड़, गिलोय, दही, नीबू का रस इनका उपयोग भी किया जाता है।

पाश्चात्य वैद्यक के फाइसोस्टिग्मीन् या पाइलोकार्पीन नाइट्रेट (१/४-१/२ ग्रेन) इनका प्रयोग बहुत सावधानीपूर्वक किया जा सकता है।

मात्रा—बीजचूर्ण १/४-१ रत्ती; पत्रचूर्ण १/२-१½ रत्ती; धूम्रपान के लिये पत्रचूर्ण ५-१५ रत्ती; बीज का टिंक्चर (४ में १) ५-१५ बूँद (५ बूँद से प्रारम्भ करें); टिंक्चर स्ट्रॅमोनिअम् ५-३० बूँद।

अथाटरूषः [अडूसा]। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

वासको वासिका वासा भिषङ्माता च सिंहिका। सिंहास्यो वाजिदन्ता स्यादाटरूषोऽटरूषकः॥
अटरूषो वृषस्ताम्रः सिंहपर्णश्च स स्मृतः। वासको वातकृत्स्वर्यः कफपित्तास्रनाशनः॥८९॥
तिक्तस्तुवरको हृद्यो लघुशीतस्तृडर्त्तिहृत्। श्वासकासज्वरच्छर्दिमेहकुष्ठक्षयापहः॥९०॥

अडूसा के नाम तथा गुण—वासक, वासिका, वासा, भिषङ्माता, सिंहिका, सिंहास्य, वाजिदन्ता, आटरूष, अटरूषक, अटरूष, वृष, ताम्र और सिंहपर्ण ये सब संस्कृत नाम अडूसा के हैं। अडूसा-वातकारक, स्वर उत्तम करनेवाला, तिक्त तथा कषाय-रसयुक्त, हृदय को हितकर, लघु और शीतवीर्य होता है। यह-कफ, पित्त, रक्तकोप (या रक्तपित्त), तृषा, श्वास, खांसी, ज्वर, वमन, प्रमेह, कुष्ठ एवं क्षय को दूर करता है॥ ८८-९०॥

नोट—प्राचीन ग्रन्थों में अडूसा एक ही प्रकार का लिखा है। श्री डा. देसाई ने अडूसा, अधाटोडा वासिका (Adhatoda vasica) के अतिरिक्त एक श्वेत (रक्तपुष्प) अडूसा, जस्टिसिआ पिक्टा (Justicia picta) एवं अन्य काला अडूसा (नील निर्गुण्डी), जस्टिसिआ जेण्डारुसा (Justicia gendarussa) इनका वर्णन किया है। केरल देश में अडूसा का अन्य छोटा भेद अधाटोडा बेड्डोमी सी. बी. क्ला. (Adhatoda beddomei C. B. Clarke) का अधिक व्यवहार किया जाता है क्योंकि वह अधिक गुणकारी होता है ऐसा कोट्टयम से प्रकाशित 'आयुर्वेदिक् फ्लोरा मेडिका' में लिखा हुआ है। उसके पुष्प बिलकुल श्वेत होते हैं।

३४ अडूसा

हि०—अडूसा, अडुस, अरुस, बाकस, बिसोंटा, रूसा, अरुशा। **बं०**—बासक, बाकस। **म०**—अडुलसा। **मा०**—अडुसो। **गु०**—अरडुसो (सी)। **क०**—आडुसोगे। **ते०**—आडा सारं, अडुसरमु। **मल०**—वलिय आटलोटकम्। **ता०** अटतोटै। **पं०**—भेकर। **फा०**—वाँसः, ख्वाजा। **अ०** हशीशतुस्सुआल। **अं०**—Malabar nut (मलाबारनट)। **ले०**—*Adhatoda vasica, Nees.* (अधाटोडा वासिका नीज) Fam. Acanthaceae (एकॅन्थेसी)।

यह भारतवर्ष के प्रायः सब प्रान्तों में एवं हिमालय के निचले भागों में ४००० फीट की ऊंचाई तक उत्पन्न होता है।

इसका **क्षुप**-सदाहरित, झाड़ीदार, दुर्गन्धयुक्त, ३-८ फीट ऊँचा एवं प्रायः समूहबद्ध होकर उगता है। काण्ड की गाँठें फूली हुई रहती हैं। **पत्ते**-५-८ इञ्च लम्बे, १॥-२॥ इञ्च चौड़े, भालाकार या अण्डाकार, दोनों सिरों पर नोकीले, अखण्ड, अत्यन्त सूक्ष्म मृदुरोमश, विशेषकर नये पत्ते एवं १/२-१ इञ्च लम्बे पर्णवृन्त से युक्त होते हैं। **पुष्प**-श्वेत, विनाल, द्वयोष्ठी एवं १'२ इञ्च लम्बे होते हैं तथा १-३ इञ्च लम्बी मञ्जरियों में पाये जाते हैं जो उपशाखाओं के अग्र पर प्रायः समूहबद्ध रहती हैं। पुष्पों पर २ टेढ़ी बैंगनी धारियाँ होती हैं। इसमें बड़े बड़े कोणपुष्पक और वृन्तपत्र भी रहते हैं। **फली**-पौन इञ्च लम्बी, तिहाई इञ्च चौड़ी, मुद्गराकार, लम्बाई में धारीदार मृदुरोमश एवं ४ छोटे बीजों से युक्त होती है। इसके पत्तों से एक प्रकार का पीला रंग निकलता है। इसके पत्र, पुष्प एवं मूलत्वक् का व्यवहार चिकित्सा में किया जाता है। मूलत्वक् पुराने क्षुप की लेनी चाहिये।

रासायनिक संगठन—इसके पत्तों में एक कडुवा रवेदार क्षाराभ वॅसिसिन (Vasicine, $C_{11} H_{12} N_2 O$) करीब ·२५%, अधाटोडिक एसिड, उड़नशील तैल, वसा, राल, शर्करा, गोंद एवं पीत रंजक द्रव्य ये पाये जाते हैं। मूलत्वक् में भी क्षाराभ की करीब इतनी ही मात्रा होती है। यह क्षाराभ मद्यसार में घुलनशील, शीत जल में अल्प एवं उष्ण जल में अधिक घुलनशील होता है। यह क्षाराभ हरमल (Peganum harmala) में पाये जाने वाले पेगॅनीन (Peganine) के सदृश होता है।

गुण और प्रयोग—अडूसा उत्तेजक, कफनिःसारक, शीतवीर्य, उद्वेष्टननिरोधी, स्वर्य, कृमिघ्न, कुष्ठहर, रक्तपित्तघ्न, श्वासहर, कासहर एवं क्षयघ्न है। इसके पुष्प तिक्त, कटु, ज्वरघ्न, मूत्रजनन, उद्वेष्टननिरोधी एवं शीतल हैं। इसकी मूलत्वक् ज्वरघ्न, मूत्रजनन, कफनिःसारक, नियतकालिकज्वरहर, कृमिघ्न एवं कोथप्रशमन है। उद्वेष्टननिरोधी गुण मूल एवं पत्र की अपेक्षा पुष्पों में एवं कफनिःसारक गुण पत्तों की अपेक्षा मूल में अधिक रहता है। पत्र स्वेदजनन हैं। इसका प्रधान गुण कफ को पतला करना एवं आसानी से बाहर निकालना है। अधिक मात्रा में इससे वमन एवं विरेचन होता है।

इसमें के क्षाराभ वासिसिन को जानवरों में शिरान्तर्गत सूचिकाभरण से देखा गया कि रक्तसंवहन एवं महास्रोत पर इसका कोई प्रभाव नहीं होता। इससे श्वासनलिकाओं में अल्प किन्तु स्थायी विस्फार होता है जो ॲट्रोपीन साथ में देने से अधिक हो जाता है। इसमें का कफनिःसारक गुण सम्भवतः मुख्यतया इसमें के उड़नशील तैल के कारण है।

इसके पत्ते निम्न श्रेणी के जलाश्रयी जीव, कुरा, पराश्रयी जीवाणु, मच्छर, मक्खी एवं गोबर आदि के लिये विषैले माने जाते हैं।

(१) कफविकारों में इसका बहुत प्रयोग करते हैं। नवीन श्वसनीशोथ में इससे आराम मिलता है विशेषकर जब कफ गाढा तथा चिपचिपा होता है। जीर्ण श्वसनीशोथ में इससे खाँसी में आराम मिलता है तथा कफ ढीला होकर आसानी से बाहर निकल जाता है। कफयुक्त प्रलेपक ज्वर में इसका बहुत उपयोग करते हैं। इनमें इसके पुटपाक करके निकाले स्वरस को ½–१½ तो० की मात्रा में आर्द्रकस्वरस या छोटी पीपल, कुछ सैंधव एवं मधु के साथ देते हैं। श्वास, कास एवं रक्तपित्त में अडूसा, द्राक्षा एवं हर्रा इनका क्वाथ मधु एवं शर्करा के साथ उपयोगी है। नये श्वसनीशोथ में कण्टकारी, जवासा, नागरमोथा, सोंठ एवं अडूसा इनका क्वाथ उपयोगी है। बच्चों के कफविकारों में इसके स्वरस के साथ टंकण देते हैं। वासावलेह का भी अच्छा उपयोग होता है।

(२) राजयक्ष्मा में हाथ-पैर आदि में जलन, ज्वर एवं ऊर्ध्वग रक्तपित्त होने पर वासाघृत (च. चि. अ. ८) का उपयोग किया जाता है। इसमें पत्रस्वरस, वंशलोचन, तालीसपत्र, कोहडे का रस एवं मधु भी दिया जाता है। नवीन प्रयोगों से देखा गया है कि राजयक्ष्मा में इसका कोई प्रभाव नहीं है। केवल इससे वातनाडियों पर शामक प्रभाव के कारण एवं कफ के पतला होने से खाँसी में आराम मिलता है।

(३) तमकश्वास में इसके पत्तों का धूम्रपान लाभदायक है। इसके साथ धतूरे के पत्र का उपयोग करने से जल्दी गुण होता है। इसका आंतरिक प्रयोग भी किया जाता है। इससे सिद्ध घृत का प्रयोग करते हैं। यह तमकश्वास के आवेग को बन्द करने में समर्थ नहीं है।

(४) रक्तपित्त में इसका स्वरस मधु के साथ देते हैं। इसके फूलों के गुलकंद तथा पत्रचूर्ण का भी उपयोग किया जाता है। वासाघृत (च. चि. अ. ४) मधु के साथ सेवन करने से रक्तपित्त जल्दी रुकता है।

(५) मलेरिया में इसके पत्तों के चूर्ण या मूलत्वक्चूर्ण का उपयोग करते हैं।

(६) आध्मान, अतिसार एवं प्रवाहिका में इसका स्वरस दिया जाता है। इससे आंत्रस्थ जीवाणुओं का नाश होता है एवं अन्न का सड़न रुकता है।

(७) आमवातिक संधिशोथ, शोथ एवं नाडीशूल आदि में पत्तों का पोल्टिस लगाया जाता है।

(८) त्वचा के रोगों में इसका रस पिलाते हैं तथा इसके पत्तों का लेप एवं क्वाथ से स्नान आदि कराते हैं।

(९) जंतुघ्न होने के कारण इसके पत्तों को जल में रखने पर जल खराब नहीं होता। इसके पत्तों में फल बांध कर रखने से फल सड़ता नहीं। इसका मद्यसारीय अर्क मक्खी, पिस्सू एवं मच्छर आदि के लिये घातक होता है। खेत में इसके पत्तों का खाद देने से इनमें रोग नहीं होते। ऊनी कपड़ों में इसके पत्ते रखने से कीड़े नहीं लगते।

मात्रा—पत्रचूर्ण १–२ माशा, स्वरस ½–१½ तोला, मूलत्वक् ४ र०–१ माशा, पुष्प ५–१० र० क्वाथ १–२ तो०।

३५ रक्तपुष्प अडूसा

ले०–*Justicia picta Linn.* (जस्टिसिआ पिक्टा लिन)। Fam. Acanthaceae (एकेन्थेसी)।

यह बागों में लगाया हुआ मिलता है। इसके क्षुप बड़े होते हैं। इसके पत्ते दीर्घवृत्ताकार, ३–८ इञ्च बड़े, गहरे हरे रंग के एवं इन पर सफेद छींटे रहते हैं। इसके काण्ड की गांठें फूली हुई और रक्ताभ होती हैं। इसमें गहरे लाल वर्ण के पुष्प आते हैं।

गुण और प्रयोग—इसके गुण अडूसा के समान ही होते हैं किन्तु इसमें स्नेहन एवं शोथघ्न ये गुण अधिक हैं। बच्चों के गले में जब कफ से घुरघुराहट होती है तब इसके पत्तों का पुटपाक करके निकाला स्वरस एवं टंकणक्षार देते हैं। इसको मधु एवं छोटी पीपल के साथ भी दिया जाता है। दुग्ध के कारण स्तन में शोथ होने पर या अन्य स्थान में शोथ होने पर इसके पत्तों को नारियल के रस में पीसकर बांधने से सूजन कम होती है।

मात्रा—बच्चों में १०–२० बूँद स्वरस मधु एवं छोटी पीपल के साथ।

३६ काला अडूसा

सं०–नीलनिर्गुण्डी ? **हिं०**–काला अडूसा, नील निर्गुण्डी। **बं०**–जगतमदन, मामलक। **म०**–काला अडूलसा, कालीशंबालू। **बंब०**–वाकस। **ता०, मल०**–करुनोचचि। **ते०**–नल्लनोचिलि। **ले०**–*Justicia gendarussa Burm.* (जस्टिसिआ जेन्डारुसा बर्म)। Fam. Acanthaceae (एकेन्थेसी)।

इसके क्षुप बागों में रास्ते के किनारों पर लगाये जाते हैं।

इसके **क्षुप**–२–४ फीट ऊँचे होते हैं। **काण्ड**–कभी कभी धारीदार होते हैं। **पत्ते**–३–५ इञ्च लम्बे, प्रासवत् या रेखाकार प्रासवत्, चिकने एवं ½ इञ्च लम्बे पर्णवृन्त से युक्त होते हैं। **पुष्प**–बरसात में श्वेतवर्ण के पुष्प अवृन्त काण्डज क्रम में निकले रहते हैं। पुष्पों के अन्दर जामुनी रंग के चिह्न रहते हैं। बीजकोष ½ इञ्च, सूक्ष्म, लोमयुक्त तथा ४ बीजों से युक्त होता है। इसके पत्तों में मनोहर गन्ध आती है। इसके पत्तों का स्वरस चिकित्सा में उपयोग में लाया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह उष्ण, ज्वरघ्न, कफनिःसारक, वामक एवं रेचन है। यह वनस्पति अत्यन्त तीव्र होती है इसलिये बाल एवं वृद्ध में इसका उपयोग नहीं करना चाहिये। इससे वमन एवं विरेचन होने लगता है। इसके प्रयोग के समय चावल की मांड घृत डालकर देनी चाहिये।

(१) फुफ्फुस के विकारों में इसका प्रयोग करते हैं। तीव्र कफविकारों में इसके २–४ पत्ते एवं अपामार्ग की राख ½ तो०, एक तोला मधु के साथ देते हैं। न्युमोनिया (Pneumonia) में चार पत्तों का रस, सहेजन की छाल का रस एवं सामुद्र नमक मधु के साथ देते हैं।

(२) ज्वर एवं आमवात में इससे पसीना निकलता है। आमवात मे इसके पत्तों के क्वाथ से सेकने से आराम मिलता है।

(३) इसका रस सरसों के तेल के साथ पिलाने से वमन होता है।

(४) इसके रस को तेल में मिलाकर गांठों पर लगाया जाता है।

अथ पर्पटः [पित्तपापडा]। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

पर्पटो वरतिक्तश्च स्मृतः पर्पटकश्च सः। कथितः पांशुपर्यायस्तथा कवचनामकः॥ ९१॥
पर्पटो हन्ति पित्तास्रभ्रमतृष्णाकफज्वरान्। संग्राही शीतलस्तिक्तो दाहनुद्वातलो लघुः॥ ९२॥

पित्तपापड़ा के नाम तथा गुण—पर्पट, वरतिक्त, पर्पटक, पांशुपर्याय ('पांशु' वाचक सभी शब्द इसके पर्यायवाची हैं) एवं कवचनामक ('कवच'वाची सभी शब्द इसके पर्यायवाचक हैं) ये सब संस्कृत नाम 'पित्तपापड़ा' के हैं। **पित्तपापड़ा**–संग्राही, शीतवीर्य, तिक्तरसयुक्त, दाह को दूर करने वाला, वातकारक और लघु होता है एवं यह पित्त, रक्तदोष, भ्रमरोग, तृषा, कफ और ज्वर इन सबों को नष्ट करता है॥ ९१–९२॥

नोट—पित्तपापड़ा के नाम से विभिन्न प्रान्तों में भिन्न-भिन्न वर्गों की वनस्पतियों का एवं उनके उपभेदों का उपयोग किया जाता है इस कारण इसके लेटिन नामों में पर्याप्त विभिन्नता पाई जाती है। जिन द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है उनमें उपर्युक्त शास्त्रीय गुणों में से कुछ न कुछ पाये जाते हैं। अन्य निघण्टुओं में भी उपर्युक्त प्रकार के ही गुण लिखे हैं। चरक में तृष्णानिग्रहण गण में इसका पाठ है एवं रक्तपित्त, ज्वर, कुष्ठ, संग्रहणी, पांडु एवं अतिसार आदि में इसका उपयोग किया गया है।

विभिन्न ग्रन्थों में निम्नलिखित विभिन्न वनस्पतियों का पर्पट नाम से उल्लेख है :—

(१) Oldenlandia corymbosa, Linn. Fam. ; Rubiaceae (ओल्डेन्लेण्डिआ कोरिम्बोसा, लिन. रुबिएसी), बं०-खेतपापड़ा।

इसका बंगाल में अधिक व्यवहार किया जाता है। श्रीयुत यादवजी ने अपनी पुस्तक में जो नव्य मत दिया है उसे श्री डॉ० देसाई ने इसी वर्ग के हेडिओटिस् बाइफ्लोरा (Hedyotis biflora) के अन्तर्गत किया है। लेकिन डॉ० देसाई ने इसका बंगाली नाम खेतपापड़ा ही लिखा है। श्री डॉ० चोप्रा ने खेतपापड़ा का नाम ओ० बाइफ्लोरा, लिन. (O. biflora, Linn.) लिखा है। श्री बापालालजी की पुस्तक में हे० बर्मानिआना (H. burmanniana) का भी उल्लेख है। इन उपर्युक्त नामों से ऐसा मालूम होता है कि ये या तो एक दूसरे के पर्याय हों या एक ही वनस्पति के उपभेदों में से हों।

(२) Fumaria indica, Pugsley; Fam. Fumariaceae (फ्युमेरिया इण्डिका, पगस्ले, फ्युमेरिएसी), हिं-शाहतराभेद—यह शाहतरा, फ्यु० ऑफिसिनॅलिस् (Fumaria officinalis) का भेद है। इन दोनों का व्यवहार पंजाब, सिंध, राजपुताना, उत्तरप्रदेश और बिहार के वैद्य पर्पट नाम से करते हैं ऐसा श्री यादवजी ने लिखा है।

(३) Polycarpea corymbosa, Lam. ; Fam. Caryophyllaceae (पॉलिकार्पीआ कोरिम्बोसा, लॅम् , कॅरियोफाइलेसी)। श्री ठा० बलवन्तसिंहजी लिखते हैं कि उत्तरप्रदेश में अनेक स्थानों पर पर्पट के नाम से इसका व्यवहार किया जाता है।

(४) (क) Justicia procumbens, Linn. ; Fam. Acanthaceae (जस्टिसिआ प्रोकम्बेन्स, लिन, एकेन्थेसी)। बम्ब०-घाटी पित्तपापड़ा। इसे श्री डा. चोपरा ने नं० २ का प्रतिनिधि लिखा है। कुछ लोगों ने ज. डिफ्यूजा विल्ड (J. diffusa Wild) को घाटी पित्तपापड़ा माना है।

(ख) Rungia repens, Nees. ; Fam. Acanthaceae (रंजिआ रिपेन्स, नीज; एकन्थेसी)। श्री यादवजी ने लिखा है कि गुजरात के वैद्य 'खडसलियो' नाम से इसका व्यवहार करते हैं। श्री बापालालजी ने नं० ४ (क) को 'खडसलीयो पीतपापडो' लिखा है।

(ग) Rungia parviflora, Nees. (रंजिआ पार्विफ्लोरा, नीज.)—इसका भी 'खडसलीयो' नाम से व्यवहार किया जाता है।

(घ) Peristrophe bicalyculata, Nees. ; Fam. Acanthaceae (पेरिस्ट्रोफ बाइकॅलिकुलेटा, नीज. एकेन्थेसी)। श्री डा० सखाराम अर्जुन ने 'बाम्बेड्रग्स' पुस्तक में इसका 'घाटीपित्तपापड़ा, नाम से उल्लेख किया है। इसका विशेष वर्णन आगे काकजंघा के अन्तर्गत किया गया है।

(५) Glossocardia linearifolia, Cass. ; Fam. Compositae (ग्लॉसोकार्डिआ लिनिएरिफोलिआ, कॅस; कॉम्पोझिटी)। श्री डा० देसाई ने इसका 'पूना' का नाम पित्तपापड़ा दिया है तथा अन्य प्रान्तों में भी कहीं-कहीं इसका पित्तपापड़ा के स्थान पर व्यवहार किया जाता है।

(६) Mollugo stricta, Linn. ; Fam. Ficoidaceae (मोल्युगो स्ट्रिक्टा , लिन.; फिकोइडीसी)। श्री डॉ० देसाई ने इसका संस्कृत नाम 'पर्पटका' लिखा है।

३७ पर्पट (१)

सं०—क्षेत्रपर्पट, पर्पट। **हिं०**—दमनपापड़ा। **बं०**—खेतपापड़ा। **म०**—परिपाठ, पाप्टी। **गु०**—परपट। **ता०**—पर्पदागम। **ते०**—वेरिनेळावेमु। **गोआ**—पोपटो, कझुरी। **ले०**—*Oldenanldia corymbosa Linn.* (ओल्डेन्लेण्डिआ कोरिम्बोसा लिन.); Fam. Rubiaceae (रुबिएसी)।

यह भारतवर्ष के प्रायः सभी भागों में ६००० फीट की ऊँचाई तक होता है। इसके क्षुप गीले स्थानों एवं सूखे धान के खेतों में पाये जाते हैं।

इसका क्षुप-वर्षायु, ३-१५ इञ्च ऊँचा, अनेक शाखाओंवाला, प्रसरणशील, प्रायः चिकना या कभी-कभी मृदुरोमश होता है। पत्ते-रेखाकार, रेखाकार-भालाकार या पतले लम्बे परन्तु अण्डाकार प्रासवत् एवं ·५-२ इञ्च लम्बे होते हैं। पुष्प-सूक्ष्म, प्रायः दो-दो एक साथ और सफेद होते हैं। फली-गोलाकार एवं चिकनी होती है। बीज-हलके भूरे रंग के एवं कोणयुक्त होते हैं। इसके तथा इसके अन्य उपभेदों के ताजे अथवा सुखाये हुये पौधे का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है। बंगाल के वैद्य पर्पट के नाम से इसका प्रयोग करते हैं।

रासायनिक संगठन—इसके पंचांग में दो समान प्रकार के क्षाराभ बाइफ्लोरीन एवं बाइफ्लोरोन (Biflorine and Biflorone) तथा एक रंजित द्रव्य ये पदार्थ पाये जाते हैं। क्षाराभ की मात्रा शुष्क पौधे के वजन के अनुपात में ०·१२% तक रहती है। इसकी राख में सोडियम्, पोटॅशियम् एवं कॅल्शियम् के क्षार विशेषकर क्लोराइड पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—खेतपापड़ा, शीतल, ज्वरघ्न, दाहशामक, कफघ्न, तिक्तपौष्टिक एवं अल्प स्तम्भन है। इसका उपयोग ज्वर, यकृतविकार, कामला एवं कृमि में किया जाता है।

(१) पित्त तथा वातप्रधान ज्वर में इसका बहुत उपयोग किया जाता है। अर्धविसर्गी ज्वर एवं जीर्ण मलेरिया में इसका क्वाथ दिया जाता है। इससे शरीर का दाह, तृष्णा, आमाशयिक प्रक्षोभ, भ्रम एवं सुस्ती आदि दूर होती है तथा पसीना एवं पेशाब अधिक होती है। पित्तज्वर में इसके साथ 'शाहतराभेद' का उपयोग करते हैं। सन्ततज्वर में वमन, विरेचन, भ्रम एवं शरीर में शिथिलता आदि लक्षण होने पर इसके साथ हंसराज, ब्राह्मी, चन्दन, खस, नागरमोथा, गुडुच एवं हरी चाय का क्वाथ बनाकर पिलाते हैं। खेतपापड़ा, गुडुच, नागरमोथा, चिरायता एवं घोड़वच इनका पंचभद्र नामक क्वाथ सब प्रकार के ज्वरों में दिया जाता है। दाहशान्ति के लिये चन्दन एवं इसका लेप किया जाता है। इसके स्वरस को हाथ-पैर की जलन में लगाते हैं।

(२) क्षेत्रपर्पट, रोमान्तिका (Measles) के लिए बिल्कुल निश्चित औषध मानी जाती है।

(३) गले एवं श्वासनलिका की सूजन में इसके धूम्रपान से कफ ढीला होकर शीघ्र गिरने लगता है। तमकश्वास में छोटी पीपल, मुलेठी एवं क्षेत्रपर्पट मधु के साथ देते हैं तथा इससे थोड़ा धूम्रपान भी कराते हैं।

मात्रा—२ से ८ माशा।

३८ पर्पट (२)

हिं०—शाहतराभेद, पित्तपापड़ा, धमगजरा। **ब०**—बनशुल्फा। **म०**—पित्तपापड़ा, शातरा। **गु०**—पित्तपापड़ा। **ता०**—तुरा। **ते०**—चाटराशि। **अ०**—शाहतरज। **फा०**—शाहतर। **ले०**—*Fumaria indica* Pugsley (फ्युमेरिआ इण्डिका, पगस्ले); Fam. Fumariaceae (फ्युमॅरिएसी)।

यह पंजाब दिल्ली, चित्तौड़ एवं खानदेश तथा अन्य सभी प्रान्तों में गेहूँ के खेतों में जाड़े के दिनों में पाया जाता है।

इसका क्षुप-(क्षुद्र वनस्पति) अनेक शाखाओं वाला स्वावलम्बी या प्रसरणशील एवं १/२-१ फूट ऊँचा होता है। पत्ते-गाजर के पत्ते के समान बहु विभक्त होते हैं। पुष्प-श्वेताभ या गुलाबीलाल, सिरे पर जामुनी रंग के और ·२-·३ इञ्च लम्बे होते हैं। पुष्प के बाह्यदल दो, आभ्यन्तर दल २-२, और इनमें बाहरवाले नीचे की ओर चोंचदार, भीतर के दोनों ऊपर की ओर संयुक्त, पुंकेशर ६, तीन-तीन एक साथ मिले हुए रहते हैं। फल-गोलाकार और बीज छोटे होते हैं। इसके पंचांग का उपयोग किया जाता है। शाहतरा-नामक फारस से आने वाला द्रव्य इसी की दूसरी जाति फ्यु॰ ऑफिसिनॅलिस् लिन (F. officinalis Linn.) से प्राप्त होता है। यह स्वाद में कडुआ, कुछ तीता एवं कषाय रहता है। भारतीय की अपेक्षा फारसी शाहतरा अधिक गुणकारी होता है तथा उसी का अधिक प्रयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—शाहतरा में फ्युमॅरिक् ॲसिड (Fumaric acid) एवं फ्युमेरिन (Fumarine) नामक एक क्षाराभ रहता है। क्षाराभ की मात्रा ६% तक रहती है जिस पर इसके गुण निर्भर हैं।

गुण और प्रयोग—शाहतरा स्वेदजनन, मूत्रल, स्रंसन एवं तिक्तपौष्टिक है। इसकी क्रिया 'घाटीपित्तपापडा' के समान होती है किन्तु उससे यह अधिक लाभदायक है।

इसके पंचांग के क्वाथ का उपयोग ज्वर, प्रतिश्याय, रक्तविकार, गंडमाला, राजयक्ष्मा दण्डाणुजन्य त्वचा के विकार, यकृतपीडा, कुष्ठ, उपदंश एवं अन्य त्वचा के विकारों में किया जाता है। कफज्वर में गोल मिरिच के साथ इसका क्वाथ देते हैं। पित्तज्वर में इसका क्वाथ बहुत ही लाभदायक है। प्रतिश्याय आदि में इसका बहुत व्यवहार करते हैं। इससे पसीना होता है, पेशाब अधिक होता है शरीरपीडा कम होती है एवं पाखाना साफ होता है। इसके लिये २१/२ तोला शाहतरा, बनफशाह १/२ तोला, मिरिच एवं सोंठ १/२ तोला, मुनक्का १ तोला एवं जल १ सेर इनका चतुर्थांश क्वाथ बनाकर ५ तोला दिन में ३-४ बार देते हैं। आम्रशैथिल्य से उत्पन्न कुपचन में शाहतरा लाभदायक है।

मात्रा—क्वाथ २१/२ से ५ तोला; चूर्ण २ से ७ माशा।

३९ पर्पट (३)

हि॰-पित्तपापडा प्रतिनिधि। **गु॰**-झीणा पाननो ओखराड़। **ता॰**-निलैसेदचि। **ले॰**-*Polycarpea corymbosa Lam.* (पॉलिकार्पिआ कोरिम्बोसा लॅम्)। Fam. Caryophyllaceae (कॅरियोफाइलेसी)।

यह प्रायः सब प्रान्तों में पाया जाता है। उत्तरप्रदेश में पूर्वी जिलों में क्वार-कार्तिक महीने में प्रायः बाजरे के खेतों में इसके पौधे उगे हुए मिलते हैं और ग्रामीण पित्तप्रकोप की शान्ति के लिये इसका पित्तपापडा के नाम से व्यवहार करते हैं। उत्तरप्रदेश में अनेक स्थानों पर पर्पट के नाम से इसका व्यवहार किया जाता है। छोटा नागपूर तथा सोन के आसपास पथरीली एवं बलुई जमीन में यह पाया जाता है।

इसका क्षुप-अनेक शाखाओं से युक्त ३-६ इञ्च ऊँचा एवं कभी १२ इञ्च ऊँचा होता है। **शाखाएँ**-अत्यन्त कृश, तूलरोमश और सीधी होती हैं। **पत्ते**-रेखाकार और अभिमुख होते हैं। **पुष्प**-रजतवर्ण, बहुत छोटे तथा शीर्षस्थ सघन द्विविभक्त मंजरियों में आते हैं। बाह्यदल भूरे और फल बन जाने पर चमकीले या रजतवर्ण और आभ्यन्तरदल सूक्ष्म एवं रक्तवर्ण के होते हैं।

रासायनिक संगठन—इसमें साबुनसत्त्व पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—इसका उपयोग सर्पादि के दंश में विषनिवारण के लिये बाह्याभ्यन्तर करते हैं। इसके पत्तों को पीसकर, व्रण, व्रणशोथ एवं फोड़े आदि पर बाँधते हैं। इसके पत्तों का स्वरस राब के साथ कामला में पिलाया जाता है।

मात्रा—१-३ माशा।

४० पर्पट (४)

म॰-घाटी पित्तपापड़ा। **ता॰**-नेरिपुट्टी। **ले॰**-*Justicia procumbens Linn.* (जस्टिसिआ प्रोकम्बेन्स लिन.)। Fam. Acanthaceae (एकॅन्थेसी)।

यह दक्षिण में बरसात के दिनों में अधिक होता है।

इसका क्षुप-करीब ९-१० इञ्च ऊँचा होता है। इसके पत्ते-३/४-११/२ इञ्च लम्बे, १/४-३/४ इञ्च चौडे तथा सूक्ष्मरोमावृत होते हैं। फूल-छोटे तथा हलके जामुनी रंग के होते हैं। पुष्पित होने पर इनको उखाड़ कर सुखाकर रखना चाहिये। इसकी गंध हृल्लासकारक होती है। इसी वर्ग के अन्य क्षुपों का भी पर्पट नाम से कहीं-कहीं व्यवहार किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसमें एक कडुआ क्षाराभ पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह मूत्रल, मृदुविरेचक एवं स्वेदकारक है। कटुक पदार्थों के साथ इसका क्वाथ पित्तज्वर में देने से पसीना होता है, दाह कम होता है, पेशाब अधिक होता है एवं एक दो पाखाना होकर यकृतशोथ एवं यकृतपीडा कम होती है। नेत्राभिष्यन्द में इसके पत्रस्वरस को डालने से लाभ होता है। इसका शाहतरा के स्थान पर प्रयोग किया जाता है।

मात्रा—१-३ माशा।

J. diffusa Willd. (ज. डिफ्यूजा विल्ड.) के मूल का उपयोग मुंडा जाति के लोग पागलपन में करते हैं। यह रांची, सरकार तथा डेक्कन में होता है।

४१ पर्पट (५)

हिं॰-सेरी, दांतरीसा। **बम्ब॰**-फत्तरसुवा। **पूना**-पित्तपापड़ा। **ते॰**-परपलकम्। **ले॰**-*Glossocardia linearifolia Cass.* (ग्लॉसोकार्डिआ लिनिअरिफोलिआ कॅस्.)। Fam. Compositae (कॉम्पोझिटी)।

यह मध्यभारत, दक्षिण तथा अन्य प्रान्तों में प्रायः चट्टानों के ऊपर पाया जाता है।

इसका क्षुप-छोटा, सुन्दर, गंधयुक्त, १-६ इञ्च या कभी-कभी १० इञ्च तक ऊँचा, चिकना तथा अनेक शाखाओं वाला होता है। पत्ते-१-२ बार पक्षवत्-खण्डित, एकान्तर और खण्ड रेखाकार होते हैं। पुष्प-छोटे तथा पीले रंग के मुण्डकों (Capitulum) में आते हैं। प्रान्तीय जिह्वाकार पुष्प, स्त्रीपुष्प और प्रायः अकेला रहता है। केन्द्रीय पुष्प उभयलिंग, संख्या में कम और नालाकार होते हैं। अधःपत्रावलि (Involucre) के पत्र बाहर की ओर प्रायः संख्या में तीन और छोटे तथा भीतर के आयताकार, बड़े और धार पर झिल्ली सदृश होते हैं। इसका स्वाद कडुआ एवं गन्ध साधारण सोवा जैसी होती है। इसके पंचांग का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसके मूल में उड़नशील तैल तथा पत्र, पुष्प एवं काण्ड में एक क्षाराभ पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह स्वेदजनन, ज्वरघ्न एवं गर्भाशयसंकोचक है। इसके गुण पित्तपापड़ा जैसे ही होते हैं किन्तु इसकी क्रिया यकृत की अपेक्षा गर्भाशय पर अधिक होती है। इसका क्वाथ अन्य सुगंधि पदार्थों के साथ अनार्तव एवं पीडितार्तव में दिया जाता है। दाँतों से रक्तस्राव होने पर या दन्तकृमि में इसका उपयोग किया जाता है।

मात्रा—१–२ माशा।

४२ पर्पट (६)

सं०–पर्पटका। हिं०–तपझाड। बं०–जोलपप्र। बम्ब०–खरस। ले०–*Mollugo stricta Linn.* (मोल्युगो स्ट्रिक्टा लिन.)। Fam. Ficoidaceae (फिकोइडिसी)।

यह प्रायः सब जगह ऊसर या जोताऊ भूमि में होता है।

इसका क्षुप–(क्षुद्र वनस्पति) ३–१० इञ्च ऊँचा होता है। शाखायें–अनेक, पतली, नालीदार या कोणयुक्त होती हैं। पत्ते–अभिमुख या चक्राभास क्रम में निकले हुये, .५–१.७ इञ्च लम्बे तथा प्रायः मांसल होते हैं। पुष्प–सूक्ष्म, हरित या श्वेत होते हैं। फल–आयताकार और तीन पक्षवाला होता है। इसका स्वाद कड़वा होता है। इसका साग बनाकर खाते हैं।

गुण और प्रयोग—यह दीपन, आनुलोमिक, विषमज्वरहर एवं आर्तवजनन है। प्रसूता को इसकी साग खिलाई जाती है। इससे भूख बढ़ती है, पाखाना साफ होता है तथा आर्तवशुद्धि होती है। विषमज्वर में भी इसे खिलाते हैं।

अथ निम्बः। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

निम्बः स्यात्पिचुमर्दश्च पिचुमन्दश्च तिक्तकः। अरिष्टः पारिभद्रश्च हिङ्गुनिर्यास इत्यपि॥९३॥
निम्बः शीतो लघुर्ग्राही कटुपाकोऽग्निवातनुत्[1]।
अहृद्यः श्रमतृट्कासज्वरारुचिकृमिप्रणुत्। व्रणपित्तकफच्छर्दिकुष्ठहृल्लासमेहनुत्॥ ९४॥

नीम के नाम तथा गुण—निम्ब, पिचुमर्द, पिचुमन्द, तिक्तक, अरिष्ट, पारिभद्र और हिङ्गुनिर्यास ये सब संस्कृत नाम 'नीम' के हैं। नीम–शीतवीर्य, लघु, ग्राही, पाक में कटुरसयुक्त, जठराग्नि को मन्द करनेवाला, हृदय को अहितकर तथा वात, श्रम, तृषा, खाँसी, ज्वर, अरुचि, कृमि, व्रण, पित्त, कफ, वमन, कुष्ठ, हृल्लास तथा प्रमेह इन सबों का नाशक होता है॥

अथ निम्बस्य पत्रफलयोर्गुणानाह

निम्बपत्रं स्मृतं नेत्र्यं कृमिपित्तविषप्रणुत्। वातलं कटुपाकञ्च सर्वारोचककुष्ठनुत्॥ ९५॥
निम्बफलं रसे तिक्तं पाके तु कटुभेदनम्। स्निग्धं लघूष्णं कुष्ठघ्नं गुल्मार्शःकृमिमेहनुत्॥९६॥

'नीम' के पत्ते तथा फलों के गुण: नीम के पत्ते—नेत्र को हितकर, कृमि-पित्त-विष के नाशक, वातकारक, पाक में कटुरसयुक्त तथा सभी प्रकार की अरुचि और कुष्ठ को दूर करने वाले होते हैं। नीम का फल–रस में तिक्त तथा पाक में कटु, मल का भेदन करने वाला, स्निग्ध, लघु, उष्णवीर्य, कुष्ठ, गुल्म, बवासीर, कृमि तथा प्रमेह का नाशक होता है॥ ९५–९६॥

---

१. कृत इति पाठा०।

४३ नीम

हिं०–नीम। बं०–निम, निमगाछ। म०–निंब, लिंब, कडूनिंब, बाळंतनिंब। गु०–लींबडो, लीमडो। पं०–निंब, निम। उरि०–नीमो। ता०–वेप्पु, वेम्बु। ते०–वेप। मल०–आर्यवेप्पु, वेप्पू। क०–बेविनमर। अ०–आजाद दरख्तुल हिंद। फा०–नीब। अं०–Neem Tree (नीम ट्री), Margosa (मार्गोसा), Indian Lilac (इन्डियन् लिलॅक्)। ले०–*Azadirachta indica, A. Juss* (एझाडिरेक्टा इन्डिका, ए. जस); *Melia azadirachta, Linn.* (मेलिआएझाडिरेक्टा, लिन.)। Fam. Meliaceae (मेलिएसी)।

नीम के लगाये वृक्ष इस देश के सभी प्रान्तों में पाये जाते हैं और सभी लोग इसको भली-भाँति जानते हैं। दक्षिण एवं बर्मा के शुष्क जंगलों में यह जंगली स्वरूप में पाया जाता है। यह ४०–५० फीट ऊँचा, अनेक शाखा-प्रशाखाओं से युक्त, सघन और छायादार होता है। छोटी-छोटी टहनियों के अन्त में ८–१५ इञ्च लम्बे असमपक्षवत् पत्ते रहते हैं। पत्रक-संख्या में १४–१९, विपरीत या एकान्तर, टेढ़े, भालाकार, ४–५ अंगुल लम्बे, १–१½ अंगुल चौड़े, नुकीले और दन्तुर होते हैं। वसन्त ऋतु में पुराने पत्ते गिर जाते हैं और नवीन पत्ते निकलने के साथ छोटे छोटे सपेद रंग के सुगंधयुक्त फूलों के गुच्छे लगते हैं। फल–करीब ½ इञ्च खिरनी के समान लम्बाई लिये गोल होते हैं जिसमें एक एक बीज होते हैं। बीजों को निम्बोली कहते हैं। इसकी छाल से एक स्वच्छ, चमकीला अम्बर के वर्ण का गोंद निकलता है।

इसकी छाल करीब १० मि. मि. मोटी, बाहर से भूरे-धूसर वर्ण की, खुरदरी शल्कसम एवं फटी हुई तथा अन्दर से पीताभ, परतदार एवं मोटे रेशों से युक्त होती है।

इसकी छाल, मूलत्वक्, पत्र, गोंद, फल, बीज, पुष्प, ताडी एवं तैल का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसके काण्डत्वक् में एक कडुवा पदार्थ मार्गोसीन (Margosine), निम्बिडिन (Nimbidin, 0·5%), निम्बिन (Nimbin, $C_{28}H_{40}O_8$, 0·03%), निम्बिनिन् (Nimbinin $C_{27}H_{30}O_9$), निम्बोस्टेरोल् एवं पुष्पों में पाये जाने वाले उड़नशील तैल की तरह एक उड़नशील तैल ये पदार्थ पाये जाते हैं। इसमें करीब ६% टॅनिन भी रहता है। इसके बाह्यत्वक् में टॅनिन अधिक रहता है तथा अन्तस्त्वक में कडुवे पदार्थ पाये जाते हैं। इसके अन्तस्त्वक् का क्वाथ बनाना चाहिये। इसके पत्तों में भी कडुवा पदार्थ रहता है जो छाल की अपेक्षा कम मात्रा में होते हुए भी जल में अधिक मात्रा में एवं जल्दी घुलता है।

इसके बीजों में ३१% तक एक तेल रहता है जो गहरे पीले रंग का, कडुवा, तीता एवं दुर्गन्धयुक्त होता है। इसमें करीब २% कडुवे पदार्थ रहते हैं जिनमें निम्बिन, निम्बिनिन, निम्बिडिन एवं तैल में घुलनशील एक द्रव निम्बिडोल (Nimbidol, 0·6%) ये पाये जाते हैं। इनके अतिरिक्त इस तैल में ओलिक् ॲसिड (Oleic acid, 49–61·9%), लिनोलिक् ॲसिड (Linoleic acid, 2·12–15%), पामिटिक् ॲसिड् (Palmitic acid, 12·62–15%), स्टियरिक् ॲसिड् (Stearic acid, 14·4–21·3%), ॲरॅचिडिक् ॲसिड् (Arachidic acid, 1·3–1·8%), एवं लिग्नोसेरिक ॲसिड् (Lignoceric acid, 0·74%) ये रहते हैं। इस तैल के साबुन बनाने लायक भाग से बचे हुए हिस्से में निम्बोस्टेरॉल रहता है।

इस तैल में 0·427% गंधक पाया जाता है। इसके तैल से अत्यन्त कडुआ एवं जल में घुलने वाला सोडियम् मार्गोसेट (Sodium margosate, B. C. P. W.) नामक एक लवण बनाया गया है।

गुण और प्रयोग—इसकी अन्दर की छाल शीतल, कडुवी, पौष्टिक, नियतकालिकज्वर-प्रतिबन्धक, ग्राही, त्वग्दोषहर, कृमिघ्न एवं रसायन है। सम्पूर्ण छाल अधिक ग्राही होती है। त्वचा पर निम्बत्वक् की क्रिया सोमल की तरह होती है। इसका ज्वरघ्न गुण सिंकोना की तरह है। इसकी मूलत्वक् कृमिघ्न (आन्त्रिक) मानी जाती है।

इसके पत्ते शोथघ्न, त्वचा के लिये उत्तेजक, त्वग्दोषहर, व्रणशोधक, व्रणरोपक, कृमिघ्न, प्रतिदूषक, यकृतोत्तेजक, कुष्ठहर एवं अधिक मात्रा में वामक होते हैं।

इसका तेल उष्ण, वातहर, प्रतिदूषक, व्रणशोधक, व्रणरोपक, उत्तेजक, केश्य, कृमिघ्न, कुष्ठघ्न एवं रसायन है। निम्ब के सभी अङ्गों की अपेक्षा इसका तैल अधिक प्रभावशाली है।

(१) नीम की छाल का चूर्ण **मलेरिया** के लिये बहुत लाभदायक है। शोथयुक्त ज्वर एवं विषमज्वर तथा ज्वर के पश्चात् दौर्बल्य दूर करने के लिये इसके चूर्ण या क्वाथ का उपयोग किया जाता है। किनीन आदि से जब लाभ नहीं होता तब इसका उपयोग करते हैं। ज्वर में इसके साथ धनियाँ, सोंठ, लौंग, दालचीनी या मिरिच, चिरायता तथा ग्राहीपन कम करने के लिये कुटकी का उपयोग किया जाता है। श्वेतप्रदर में बबूल की छाल एवं नीम की छाल का क्वाथ लाभदायक होता है।

(२) इसके पत्तों का उपयोग त्वचा के विकार, व्रण, क्षत तथा कुष्ठ में किया जाता है। चर्मविकारों में इससे स्नान कराया जाता है। व्रण, पामा, कण्डू, छाजन, अरुंषिका, दूषितव्रण, पुराने व्रण एवं अन्य चर्मविकारों में इससे स्नान कराते हैं, इसके पत्तों को पीस कर बाँधते है या इससे सिद्ध घृत का मलहम आदि लगाते हैं। अर्श, बद, गाँठ एवं व्रणशोथ में इसका पोल्टिस बाँधा जाता है। विचर्चिका (Weeping eczema) में यदि इसके पत्तों को पीस कर बाँध दें और जब तक अपने से निकले नहीं तब तक रहने दें तो बहुत जल्दी लाभ होता है। कुष्ठ में इसके पञ्चाङ्ग के चूर्ण या क्वाथ का स्नान, पान एवं लेपादि में उपयोग होता है। इसके पत्तों को पीस कर आँवला या हरीतकी के साथ खाने से कुष्ठ में लाभ होता है। यद्यपि इसके पत्तों का स्वरस आन्त्र के कृमियों (केंचुआ) में लाभदायक माना जाता है तथापि औकेस और म्हसकर का मत है कि ४ ड्राम की मात्रा में इसके प्रयोग से कोई लाभ नहीं हुआ। इसके देने के पहले और पश्चात् विरेचन नहीं दिया गया था। फिरंग में इसका रस १ पाव की मात्रा में सुबह शाम पिलाते हैं। सोजाक में शिश्न में शोथ होकर मूत्र रुकता है तब इसके क्वाथ में रोगी को बैठाते हैं जिससे पेशाब होने लगती है। कामला में अधिक मात्रा में इसका स्वरस मधु के साथ सुबह पिलाया जाता है। इसके साथ सोंठ भी देते हैं। कभी-कभी अधिक मात्रा से वमन हो जाता है। प्रसूता को प्रथम दिन से ही इसका स्वरस देने से हर प्रकार से लाभ होता है। इससे गर्भाशय का संकोच होकर स्राव की शुद्धि होती है एवं शोथ कम होता है। भूख लगना, पाखाना साफ होना, ज्वर न आना या कम आना एवं बच्चे का स्वास्थ्य अच्छा रहना ये सब लाभ इसके देने से होते हैं। मसूरिका (Small pox) में इसके पत्तों से हवा की जाती है एवं रोगी के बिस्तर पर इसको बिछाते हैं। इसके कोमल पत्तों की दो रत्ती की गोली बना कर मुलेठी के साथ देने से लाभ होता है। पत्तों को पुस्तक तथा कपड़े आदि में रखने से कीड़े नहीं लगते। ज्वर में घृत एवं मधु के साथ इसके पत्तों का धूप दिया जाता है।

(३) इसके तैल का कुष्ठ फिरंग, श्लीपद, व्रण, दूषितव्रण, गण्डमाला, आमवात एवं विषमज्वर में उपयोग किया जाता है। कुष्ठ, फिरंग, त्वचा के रोग एवं विषमज्वर आदि में इसको ५–१० बूँद की मात्रा में दिन में २ बार देते हैं। इसका बाह्य प्रयोग भी करते हैं। अपची, नाडीव्रण, पामा, कण्डू, छाजन, दद्रु, विसर्प, आमवात, उदर्द, शीतपित्त एवं दूषित व्रण में तैल को लगाते हैं। कुष्ठव्रण में इसके साथ चौलमोगरा का तैल मिलाकर लगाते हैं। तैल से दाह होने पर इसमें ½ तिलतैल मिलाकर उपयोग करना चाहिये। आमवात में इसकी मालिश के साथ-साथ इसका आन्तरिक प्रयोग भी किया जाता है। शिरःशूल में सर पर इसको मलते हैं। खालित्य एवं पालित्य में इसके नस्य का विधान है। आन्त्रिक कृमि में पत्रस्वरस की तरह इसके तैल को १–४ ड्राम की मात्रा में देने से लाभ नहीं देखा गया, यद्यपि पूर्ण मात्रा से किसी किसी में अतिसार, ह्रास तथा बेचैनी होती है।

इसके तैल से बने हुए लवण सोडियम या पोटेशियम् मार्गोसेट (Margosate) का उपयोग त्वचा, मांसपेशी तथा सिरा के द्वारा किया जाता है। इसका शरीर में जीवाणुविरोधी कार्य होता है। पामा (Scabies), छाजन (Eczema) एवं स्फोट (Pemphigus) में इससे अच्छा लाभ होता है। फिरंग की प्रथम एवं द्वितीयावस्था में चिकित्सा जिनमें नहीं की गई उनकी अपेक्षा इसके द्वारा अधिक लाभ होता है। इसमें इसे ०.०१–०.३२ ग्राम सूचिकाभरण द्वारा दिया जाता है। फिरंग की तृतीयावस्था या द्वितीयावस्था के अन्त के ग्रन्थि (गमा) तथा त्वचा के विकार इससे जल्दी अच्छे होते हैं, यद्यपि इसका परिणाम पाश्चात्य चिकित्सा की अन्य पारद, आयोडाइड आदि औषधियों के इतना संतोषजनक नहीं होता। कुष्ठ एवं फिरंगादि में तैल की अपेक्षा इसके सूचिकाभरण एवं मार्गोसिक् ॲसिड के स्थानिक प्रयोग से अधिक लाभ होता है।

(४) इसके फल विरेचक एवं स्नेहन हैं तथा कृमि, अर्श एवं मूत्रविकार में इनका उपयोग करते हैं। अर्श में इसके बीज को गुड़ के साथ खिलाते हैं।

(५) इसके पुष्प का फांट ज्वर के पश्चात् बल्यरूप में एवं पाचन की खराबी में देते हैं।

(६) इसकी ताड़ी में शर्करा, ॲल्ब्युमिन, गोंद एवं लौह, खटिक तथा अल्युमिनियम् के लवण होते हैं। यह दीपन, पोषक, बलप्रद, कृमिघ्न, रसायन एवं चर्मविकारों में लाभदायक मानी जाती है।

मात्रा—अन्तस्त्वक् चूर्ण २–४ माशा; स्वरस ½–१ छटाँक; तैल ५–१० बूँद।

अथ महानिम्बः । तस्य नामानि गुणाँश्चाह

महानिम्बः स्मृतो द्रेका रम्यको विषमुष्टिकः । केशमुष्टिर्निम्बकश्च कार्मुको जीव इत्यपि ॥ ९७ ॥
महानिम्बो हिमो रूक्षस्तिक्तो ग्राही कषायकः ॥ ९८ ॥
कफपित्तभ्रमच्छर्दिकुष्ठहृल्लासरक्तजित् । प्रमेहश्वासगुल्मार्शोमूषिकाविषनाशनः ॥ ९९ ॥

महानिम्ब के नाम तथा गुण—महानिम्ब, द्रेका, रम्यक, विषमुष्टिक, केशमुष्टि, निम्बक, कार्मुक और जीव ये सब संस्कृत नाम 'बकायन' के हैं। बकायन—शीतवीर्य, रूक्ष, तिक्त तथा कषाय रसयुक्त और ग्राही (मलावरोधक) होता है। यह कफ, पित्त, भ्रम, वमन, कुष्ठ, हृल्लास, रक्तदोष, प्रमेह, श्वास, गुल्म, बवासीर और चूहे का विष इन सबों का नाशक होता है॥

नोट—महानिंब के विषय में कुछ भ्रम है। भावप्रकाश, धन्वन्तरि एवं मदनपाल निघंटुओं में निंब तथा महानिंब ये दो भेद मिलते हैं। राजनिघंटु में एक तृतीय भेद कैडर्य का उल्लेख किया है। कैडर्य नाम कायफल के लिये आता है। किन्तु टीकाकारों ने उसका अर्थ पर्वतनिंब भी किया है। चरक एवं सुश्रुत में 'पर्वतनिंब' शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है। कुछ लोगों ने कैडर्य को

मीठा नीम, ले०–मुरया कोनिजीआई स्प्रेंग (Murraya koenigii Spreng) माना है किन्तु रा० नि० ने कैडर्य का स्वाद कटु तिक्त कषाय लिखा है। एइलेन्थस् एक्सेल्सा राक्स (Ailanthus excelsa Roxb) को कुछ लोगों ने महानिंब माना है जिसको पंजाबी में 'अरुअ' कहने के कारण कुछ लोग अरलू के स्थान पर प्रयोग करते हैं या अरलू (श्योनाक) का भेद मानते हैं। अधिकांश लोगों ने बकायन को, जिसका ले०–नाम मेलिआ एज़ेडेरॅक् (Melia azedarach) है उसे महानिंब माना है। निघंटुओं में महानिंब का पर्याय 'द्रेका' दिया हुआ है तथा बकायन को पंजाब में ड्रेक कहते भी हैं। अर्श में महानिम्ब का प्रयोग वाग्भट ने किया है (चि० अ० ८) एवं वैद्य तथा हकीमों में बकायन के फलों का प्रयोग प्रचलित है। महानिंब का 'अक्षीर' यह पर्याय अन्य निघंटुओं ने दिया है तथा निंब का पर्याय 'हिंगुनिर्यास' दिया हुआ है जो क्रमशः बकायन एवं नीम की ओर संकेत करते हैं। सुश्रुत में पिप्पल्यादिगण (सू० अ० ३८) में महानिंब के फल का एवं अधोभागहरवर्ग (सू० अ० ३९) में 'रम्यक' नाम से इसकी त्वचा का उल्लेख है।

आकाश नीम—नीम चमेली नामक वृक्ष होता है। इसका लेटिन नाम मिलिंगटोनिया हॉर्टेन्सिस् लिन, (Millingtonia hortensis Linn. fi; Fam. Bignoniaceae) है। इसके सुन्दर ऊँचे वृक्ष होते हैं जो बगीचों में इसके सुन्दर पत्र एवं श्वेत सुगंधित पुष्पों के लिये लगाये जाते हैं। इसमें एक तिक्त द्रव्य तथा टॅनिन् होता है तथा ज्वरघ्न गुण के लिये इसका प्रयोग करते हैं।

यहाँ पर दोनों प्रकार के महानिम्बों का वर्णन अलग-अलग किया गया है।

४४ (क) महानिंब (बकायन)

हि०–बकायन, बकाइन, महानीम। **बं०**–घोड़ानिम, महानिम। **म०**–बकाणनिंब। **गु०**–बकानलिंबडो। **क०**–बेट्टबेवु। **ते०**–तुरक वेपक, कोंड वेप। **ता०**–मलैवेम्बु। **पं०**–द्रेक, धरेक, बकइन। **कोल०**–गरनिम। **आसाम०**–थमगा। **ने०**–बकेनु। **सिन्धु०**–बकयुन, ड्रेक। **फा०**–आजाद दरख्त। **अ०**–बान्, हबीत। **अं०**–Persian Lilac (पर्शियन् लिलॅक्); The Bead Tree (बीड ट्री)। **ले०**–*Melia azedarach Linn.* (मेलिआ एज़ेडेरॅक् लिन)। *Fam.* Meliaceae (मेलिएसी)।

प्रायः सब प्रान्तों में इसका वृक्ष पाया जाता है। बकायन का वृक्ष सुन्दर, मध्यमाकार का, नीम वृक्ष से छोटा और अचिरस्थायी होता है। नीम के पत्तों के समान इसके भी पत्ते होते हैं। **पत्ते**–प्रायः त्रिपक्षवत्, २ फीट लम्बे और शाखाओं पर दलबद्ध होकर रहते हैं। **पत्रक**–प्रासवत्, आरावत् दन्तुर, लम्बाग्र, नीम जैसे किन्तु उससे कुछ कम लम्बे तथा कम मुड़े हुए होते हैं। **पुष्प**–लिलॅक (Lilac) एवं सुगन्धित रहते हैं जिसके आभ्यंतर दल फैले हुए, श्वेत या बैंगनी रंग के होते हैं तथा बीच में पुंकेसरों की गहरे बैंगनी रंग की नलिका रहती है। **फल**–नीम की तरह अष्ठिल फल प्रायः १ इञ्च से कम लम्बे होते हैं। **बीज**–प्रत्येक फल में ५ बीज होते हैं जिनके बीच में मणि के समान छिद्र होता है जिसके कारण इनकी माला बनाई जाती है।

इसके मूल की ताजी अन्तस्त्वक्, पुष्प, फलमज्जा एवं पत्र का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसकी अन्तस्त्वक् में हल्के पीतवर्ण का, कडुवा तथा राल की तरह का पदार्थ रहता है जो उबलते जल में घुलता है। बाह्यत्वक् में टॅनिन् रहता है। इसमें शर्करा भी पाई जाती है।

गुण और प्रयोग—बकायन के गुण साधारणतः नीम के समान हैं। यह कृमिघ्न, त्वग्दोषहर, गर्भाशयसंकोचक, वेदनाहर, अर्शोघ्न एवं शोधन है। अधिक मात्रा में यह वामक, विरेचक एवं संज्ञानाशन है। इससे केंचुए मरते हैं।

प्रसूता में शिरःशूल एवं गर्भाशयपीडा कम करने के लिये इसके पुष्पों को पीसकर सर पर एवं पेडू पर बाँधते हैं। रक्तविकार के कारण उत्पन्न कुष्ठ, गंडमाला एवं खालित्य आदि त्वचा के विकारों में इसके बीज, छाल या पत्रस्वरस को देते हैं। अर्श में इसके फल की मज्जा का उपयोग किया जाता है। इसके पुष्प एवं पत्तों को पीसकर स्नायविक शिरःशूल में लेप करते हैं। इसके पत्तों का क्वाथ हिस्टीरिया में पिलाते हैं।

मात्रा—छाल ३ से ६ माशा; फलमज्जा २ से ८ रत्ती।

४५ (ख) महानिंब

हिं०–महानिंब, घोडाकरंज। **बं०**–महानिम। **म०**–महारूख। **गु०**–मोटो अडुंसो, अरलबो। **पं०**–अरूअ। **ता०**–पेरुमरुत्तु। **ते०**–पेद्दमानु। **क०**–दोड्डमणि। **मल०**–पेरुमरम्। **उरि०**–महानिम, महाल। **ले०**–*Ailanthus excelsa Roxb.* (एइलेन्थस् एक्सेल्सा राक्स)। Fam. Simarubaceae (सिमारुबेसी)।

यह भारत के कई प्रान्त—उत्तरप्रदेश, बिहार, पश्चिमी पेनिनसुला, कर्नाटक एवं गुजरात आदि में पाया जाता है।

इसका वृक्ष ६० से ८० फीट ऊँचा होता है। छाल–धूसर वर्ण की होती है। पत्ते–२–३ फीट लंबे, पक्षवत्, संयुक्त पत्र होते हैं। पत्रक–२½"–६" लंबे, २–३" चौड़े, अधस्तल पर रोमश, नोकदार, दन्तुर धारवाले, तिरछे आधारवाले, संख्या में १०–१२ जोड़े, १–२" लंबे वृन्त से युक्त एवं आधार के पास दो रोमश ग्रंथियों से युक्त होते हैं। पत्तों में उग्र गंध आती है। पुष्प–पीताभ, बड़ी-बड़ी मंजरियों में आते हैं। फल–छीमी की तरह बीच से फूला हुआ एवं अन्त में अकुड़ेदार होता है जिसमें एक बीज रहता है। इसकी लकड़ी हल्की तथा मुलायम होती है।

इसकी छाल का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है। इसमें गन्ध नहीं होती किन्तु इसका स्वाद बहुत कड़वा होता है। यह मोटी, खुरदरी तथा रवेदार होती है। इसका बाह्यभाग तथा अन्दर का भाग पीताभ श्वेत रहता है तथा अन्दर रेशे मालूम होते हैं। भिगाने से यह फूलती है, चिपचिपी होती है तथा उसमें अप्रिय गन्ध आती है।

इसे कुछ लोगों ने महानिंब तथा कुछ लोगों ने श्योनाक-भेद माना है।

रासायनिक संगठन—इसकी छाल में एइलेन्टिक् ॲसिड (Ailantic acid) नामक एक अत्यन्त कडुआ, रक्ताभ भूरे रंग का पदार्थ पाया जाता है जो जल में आसानी से घुल जाता है किन्तु मद्यसार में आसानी से नहीं घुलता।

गुण और प्रयोग—यह कडुआ, पौष्टिक, दीपन, ग्राही एवं ज्वरहर है। इसका प्रभाव कुरैया के समान होता है।

प्रसूता को इसके पत्रस्वरस या ताजी छाल के रस को नारियल के दूध, गुड़, मधु एवं सुगंधित पदार्थों के साथ खीर बनाकर देने से प्रसवपश्चात् पीडा कम होती है। इसकी छाल एवं पत्तों का क्वाथ प्रसवपश्चात् दौर्बल्य के लिये बल्यरूप में देते हैं। जीर्णज्वर या दौर्बल्य में इसके प्रयोग से बल बढ़ता है। अग्निमांद्य में इसके छाल का रस १½ औं० की मात्रा में दिन में दो बार

देते हैं। एइलेन्टिक् एसिड को बल्य एवं रसायनरूप में $\frac{१}{२}$–$१\frac{१}{२}$ र० की मात्रा में दिया जाता है किन्तु अधिक मात्रा में इससे हृल्लास, वमन एवं विरेचन होता है।

मात्रा—$\frac{१}{४}$–$\frac{१}{२}$ तो०।

अथ पारिभद्रः (फरहद्)। तस्य नामानि तत्पत्रस्य च गुणाँश्चाह

पारिभद्रो निम्बतरुर्मन्दारः पारिजातकः।
पारिभद्रोऽनिलश्लेष्मशोथमेदःक्रिमिप्रणुत्। तत्पत्रं पित्तरोगघ्नं कर्णव्याधिविनाशनम्[1] ॥१००॥

फरहद के नाम तथा गुण—पारिभद्र, निंबतरु, मन्दार और पारिजातक ये सब संस्कृत नाम फरहद के हैं। **फरहद**—वायु, कफ, शोथ, मेदरोग और कृमि का नाशक होता है। **इसके पत्ते**—पित्तरोग तथा कान के रोगों को दूर करने वाले होते हैं ॥ १०० ॥

नोट—पारिभद्र के जो पर्याय निंबतरु, मंदार एवं पारिजातक दिये हुये हैं उनसे कुछ भ्रम उत्पन्न होता है। इसी प्रकार देवदार एवं पर्वतनिंब के लिये भी पारिभद्र नाम का उपयोग किया गया है। पारिभद्र से अधिकांश विद्वान् फरहद का ग्रहण करते हैं। संदर्भ के आधार पर या टीकाकारों के मतानुसार पारिभद्र का अर्थ निंब, देवदार या पारिजातक किया जा सकता है। पारिजाता यह नाम हरसिंगार के लिये अधिक प्रचलित होने के कारण एवं पारिभद्र का पारिजातक यह पर्याय होने के कारण हरसिंगार को ही कुछ लोग पारिभद्र मानते हैं। कुछ विद्वानों के मत से हरसिंगार 'शेफालिका' हो सकती है किन्तु भावप्रकाशकार तथा अन्य निघंटुकारों ने शेफाली(लिका) को निर्गुण्डीभेद लिखा है।

पारिभद्रक नाम से सुश्रुत ने पूतनाप्रतिषेध (उ. अ. ३२-३) के लिये एवं कृमि (उ. अ. ५४-२६) के लिये उपयोग लिखा है। पारिजातक नाम से प्लीहोदर (चि. १४-१२) में एवं पारिजात नाम से उदकमेह (चि. ११-८) में उल्लेख है। यहाँ पर फरहद एवं हरसिंगार दोनों का अलग-अलग वर्णन किया गया है।

४६ फरहद

हि०–फरहद, पांगारा। **बं०**–पाल् ते मादार। **म०**–पाङ्गारा। **गु०**–पांडेरवो, पनरवो। **क०**–होंगर, हलिवाणदमर। **ते०**–मोदुगो, बरिदे चेट्टु, बारिजमु। **ता०**–कल्याण मुरुक्क। **अं०**–Coral Tree (कोरल ट्री)। **ले०**–*Erythrina indica Lam.* (एरिथ्रिना इण्डिका लॅम्.)। Fam. Leguminosae (लेगुमिनोसी)।

यह प्रायः सब प्रान्तों में कहीं न कहीं पाया जाता है, विशेषकर कोंकण और उत्तर कनारा में अधिक मिलता है।

इसका वृक्ष मध्यमाकार का, शीघ्रता से बढ़ने वाला तथा समय पाकर नष्ट हो जाने वाला होता है। कोमल डालियों पर सीधे, काले रङ्ग के तीक्ष्ण काँटे रहते हैं। छाल–चिकनी तथा हरी, भूरी, हलकी पीली या श्वेत खड़ी रेखाओं से युक्त एवं पतली पपड़ियाँ छूटने पर हरी होती है। पत्ते–पलाशपत्र के समान त्रिदल होते हैं। पत्रक ४–६ इञ्च के घेरे में गोलाकार और किञ्चित नुकीले होते हैं। अग्र का पत्रक सबसे बड़ा होता है। पुष्पदंड ४ इञ्च लम्बा और मंजरी प्रायः ६ इञ्च लम्बी होती है। फूल–अत्यन्त रक्त वर्ण के सुहावने दिखाई पड़ते हैं। पुष्प का बाह्यकोश एक ओर मूल तक फट जाता है और अग्र पर पाँच दाँत बन जाते हैं। आभ्यंतर दल पाँच होते हैं

१. पुष्पं पित्तरुजं हन्ति कर्णव्याधिं विनाशयेत् ॥ (नि. र.)

जिनमें एक सबसे बड़ा होता है। इनके बीच से लाल पुंकेसरों का गुच्छा निकला रहता है। इनमें गन्ध नहीं होती। फलियाँ–६-१० इञ्च लम्बी, चिपटी, चोंचदार, किंचित टेढ़ी, ताजी अवस्था में हरी किन्तु बाद में काली हो जाती हैं। बीज–संख्या में ६-१२, चिकने, भूरे या लाल, अंडाकार तथा करीब १ इञ्च बड़े होते हैं।

इसी का एक उपभेद होता है जिसके पुष्प मटमैले श्वेताभ रंग के होते हैं।

इसकी दूसरी जाति ए. सुबरोजा राक्स. (E. suberosa Roxb.), धवलढाक–उत्तर-भारत में अधिक होती है। इसके वृक्ष छोटे होते हैं। इसकी छाल मोटी कार्क वाली, पत्रक चौड़े लट्वाकार या तिर्यगायताकार एवं पुष्प का बाह्यकोश द्व्योष्ठक होता है।

फरहद की छाल एवं पत्र का चिकित्सा में उपयोग किया जाता है। छाल हृल्लासकारक तो होती है किन्तु कड़वी नहीं होती।

रासायनिक संगठन—इसकी छाल में दो प्रकार की राल एवं एक कड़वा एरिथेराइन (Erytherine) नामक विषैला क्षाराभ पाया जाता है जो कुचले के क्षाराभ स्ट्रिकनीन (Strychnine) के विषैले प्रभाव का निवारक (Antidote) माना जाता है। यह क्षाराभ पत्तों में भी पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—फरहद की छाल ज्वरहर, ग्राही, बल्य, कृमिघ्न, स्वप्नजनन एवं शोथहर होती है। इसके पत्ते मूत्रल, मृदुविरेचक, आर्तवजनन, दुग्धवर्धक, शोथहर, व्रणशोधक एवं कृमिघ्न होते हैं। केन्द्रीयवातनाडीसंस्थान के ऊपर इसकी छाल का शामक प्रभाव पड़ने के कारण उसकी क्रिया कम होती है या बन्द होती है। हृदय पर भी इसका शामक प्रभाव पड़ता है। कुचले के प्रभाव के विरुद्ध इसका प्रभाव पड़ता है।

इसकी छाल को रक्तयुक्त आँव, ज्वर तथा निद्रा लाने के लिये प्रयोग करते हैं। नेत्राभिष्यंद में छाल को पीसकर पलकों पर लगाते हैं। इसकी छाल के अन्दर के भाग पर घी लगाकर तथा उस पर घी के दिये का काजल जमाकर इसका नेत्र के विकारों में अञ्जन कराया जाता है। वाजीकरण के लिये सफेद फूल के फरहद की कोमल जड़ को पीस कर शीतल दूध के साथ पिलाते हैं।

इसके पत्तों का स्वरस फिरंग, उपदंश, ज्वर, अनार्तव, कष्टार्तव, मूत्रकृच्छ्र एवं कृमि में पिलाया जाता है। व्रणप्रक्षालन के लिये एवं कर्णशूल, दंतशूल आदि के लिये भी इसका उपयोग करते है। पत्तों का लेप शोथ, बद, संधिपीडा तथा व्रण पर किया जाता है। इससे वेदना कम होती है। आर्तवशुद्धि तथा दुग्धवृद्धि के लिये नारियल के दूध के साथ इसके पत्तों को उबालकर बनाया हुआ क्वाथ प्रसूता को पिलाया जाता है।

मात्रा—त्वक्चूर्ण $\frac{१}{२}$–१ तो०; पत्रस्वरस $\frac{१}{२}$–१ तो०।

४७ पारिजाता, हरसिंगार

सं०–शेफालिका। **हि०**–हरसिंगार, पारिजाता, कूरी, सिहारु। **बं०**–शेफालिका, शिउली। **म०**–पारिजातक। **गु०**–हारशणगार। **पं०**–कूरी, पकर। **ता०**–पवलमल्लिकै। **ते०**–पगडमल्ले। **मल०**–पविझमल्लि। **क०**–पारिजात। **अं०**–Night Jasmine (नाइट जस्मीन); Weeping Nyctanthes (वीपिंग् निक्टेन्थिस्); Tree of Sorrow (ट्री ऑफ् सारो)। **ले०**–*Nyctanthes arbor-tristis, Linn.* (निक्टॅन्थिस् आर्बोर्-ट्रिस्टिस्, लिन.)। Fam. Oleaceae (ओलिएसी)।

यह मध्यभारत तथा हिमालय के निचले प्रदेशों में बहुत होता है। यह प्रायः सब प्रांतों के बागों में लगाया हुआ मिलता है।

इसका **वृक्ष**–छोटा, झाड़ीदार तथा कभी-कभी २५-३० फीट ऊँचा होता है। **छाल**–हलके भूरे रंग की तथा खुरदरी होती है। **काष्ठ**–श्वेत तथा हरित हलके लाल या पीताभ भूरे रंग का होता है। **पत्ते**–जपापत्र की तरह, करीब ४ इञ्च लम्बे, २½ इञ्च चौड़े, विपरीत, स्पर्श में अत्यन्त रूक्ष (खर), नुकीले, अंडाकार, आधार को तरफ गोल, नीचे का पृष्ठ मृदुरोमश, पत्रतट अखंड या दूर-दूर पर कुछ दन्तुर एवं मजबूत पर्णवृन्त से युक्त होते हैं। **पुष्प**–अत्यन्त सुगन्धित होते हैं। इनकी पंखड़ियाँ श्वेत एवं पुष्पवृन्त केसरिया वर्ण के होते हैं। ये रात को खिलते हैं तथा सुबह झड़ जाते हैं। **फल**–चिपटे, गोल, हरे रंग के, करीब ¾ इञ्च व्यास के एवं किनारे पर दबे हुए रहते हैं। बाद में ये भिदुर एवं भूरे रंग के हो जाते हैं। **बीज**–छोटे, दो, चिपटे तथा अंडाकार होते हैं।

रासायनिक संगठन—इसके पुष्पों में एक सुगंधित उड़नशील तैल रहता है। पुष्पवृन्त से एक प्रकार का रंग निकाला जाता है जिससे रेशमी वस्त्र रंगा जाता है। इसके पत्तों में एक निक्टेन्थाइन (Nyctanthine) नामक क्षाराभ पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—पारिजातक ज्वरघ्न, कफघ्न, यकृत् उत्तेजक, मृदुविरेचक एवं शामक है। इसके पत्र सॅन्टोनिन् (Santonin) जैसे कृमिघ्न, ज्वरघ्न, तिक्तपौष्टिक, पित्तद्रावक एवं मृदुविरेचक होते हैं। बच्चों के लिये इसके पत्तों का स्वरस अच्छा मृदुविरेचक होता है।

(१) इसके पत्तों का (शेफालिकादलैः) मंद आँच पर बनाया हुआ क्वाथ गृध्रसी (Sciatica) के लिये बहुत लाभदायक माना जाता है (चक्रदत्त)। शेफालिका यह नाम नीलनिर्गुण्डी के पर्याय में आया हुआ है तथा व्यवहार में निर्गुण्डी का उपयोग गृध्रसी में किया जाता है। इस दृष्टि से हरसिंगार के पत्तों की अपेक्षा निर्गुण्डी का प्रयोग उचित मालूम पड़ता है।

(२) जीर्ण ज्वर के लिये इसके ७-८ कोमल पत्तों का स्वरस, आर्द्रकस्वरस एवं मधु मिलाकर देते हैं। मलेरिया में यह बहुत लाभदायक है। जीर्ण मलेरिया में इसके साथ त्रिकटु का प्रयोग उचित है। इससे यकृत् एवं प्लीहावृद्धि कम होती है। पाण्डु होने पर इसके साथ लौह का प्रयोग किया जाता है। इसके सेवन के समय पथ्य में दुग्ध, घृत एवं शर्करा का अधिक उपयोग किया जाता है।

(३) बच्चों के कृमि (केचुए) के लिये पत्तों के स्वरस को चीनी मिलाकर देते हैं।

(४) खांसी तथा दमा में इसकी छाल के चूर्ण को १-२ र० की मात्रा में पान में रखकर दिन में ३-४ बार देने से कफ का चिपचिपापन कम होता है।

(५) इसके बीजों को जल में पीसकर सर के गंज पर लगाते हैं जिससे नये बाल उगते हैं।

मात्रा—पत्र २-४; छालचूर्ण १-२ र०।

अथ काञ्चनारो रक्तकाञ्चनारश्च, तयोर्नामानि तत्पुष्पस्य गुणाँश्चाह

काञ्चनारः काञ्चनको गण्डारिः शोणपुष्पकः ॥ १०१ ॥
कोविदारश्च मरिकः कुद्दालो युगपत्रकः।
कुण्डली ताम्रपुष्पश्चाश्मन्तकः स्वल्पकेशरी ॥ १०२ ॥
काञ्चनारो हिमो ग्राही तुवरः श्लेष्मपित्तनुत्। कृमिकुष्ठगुदभ्रंशगण्डमालाव्रणापहः ॥१०३॥

कोविदारोऽपि तद्वत्स्यात्तयोः पुष्पं लघु स्मृतम्।
रूक्षं संग्राहि पित्तास्रप्रदरक्षयकासनुत् ॥ १०४ ॥

कचनार तथा लाल कचनार के नाम और गुण—काञ्चनार, काञ्चनक, गण्डारि और शोणपुष्पक ये सब संस्कृत नाम कचनार के हैं। कचनारभेद कोविदार के संस्कृत नाम—कोविदार, मरिक, कुद्दाल, युगपत्रक, कुण्डली, ताम्रपुष्प, अश्मन्तक और स्वल्पकेशरी ये सब हैं। **कचनार**–शीतवीर्य, मलावरोधक, कषायरसयुक्त, कफ, पित्त, कृमि, कुष्ठ, गुदभ्रंश, गण्डमाला और व्रण को दूर करनेवाला होता है। इसी प्रकार से कचनारभेद कोविदार के भी गुण हैं। दोनों कचनारों के फूल–लघु, रूक्ष, मलावरोधक एवं पित्त, रक्तप्रदर, क्षय तथा कास (खांसी) को दूर करने वाले होते हैं ॥ १०१-१०४ ॥

नोट—भावप्रकाशकार ने काञ्चनार एवं कोविदार ये दो भेद लिखे हैं किन्तु दोनों के गुण समान ही लिखे हैं। रा० नि० एवं ध० नि० ने कोविदार एवं काञ्चनार ये पर्यायरूप में लिये हैं किन्तु रा० नि० ने इसके 'पीत पुष्प', 'गिरिज', 'महापुष्प' आदि अन्य पर्यायों का भी उल्लेख किया है। नि० र० ने पीत, रक्त एवं श्वेत ये ३ भेद दिये हैं तथा उनके गुणों का स्वतंत्र उल्लेख किया है।

आधुनिक उद्भिद्वेत्ताओं ने भी इसकी कई जातियों का उल्लेख किया है। बौहिनिआ वेरिगेटा (Bauhinia variegata) को अधिकांश लोगों ने काञ्चनार माना है। इसके पुष्प चमकीले बैंगनी, गुलाबी, किरमिजी, श्वेत आदि रंगों के होते हैं। इसी प्रकार बौहिनिआ पर्प्यूरिआ (B. purpurea) को कोविदार मानते हैं क्योंकि इसको कहीं-कहीं स्थानिक भाषा में कोइलार कहते हैं जो संभवतः कोविदार का अपभ्रंश है। इसके पुष्प गहरे गुलाबी, नीलारुण या चमकीले बैंगनी आदि रंगों के होते हैं। इससे ऐसा मालूम होता है कि केवल पुष्पवर्ण के आधार पर कोविदार या काञ्चनार का भेद नहीं किया जा सकता। वास्तव में इनके गुणों में अन्तर न होने के कारण इसकी आवश्यकता भी नहीं है। वैसे तो ध० नि० एवं रा० नि० ने इन्हें पर्याय ही माना है। कुछ लोगों ने श्वेत पुष्प को काञ्चनार एवं रक्तपुष्प को कोविदार माना है :

बौ० टोमेन्टोसा (B. tomentosa) के पुष्प पीतवर्ण के होते हैं।

भावप्रकाशकार ने कोविदार के पर्याय में अश्मंतक का उल्लेख किया है। रा० नि० एवं ध० नि० दोनों ने अश्मंतक का कोविदार से अलग स्वतंत्र वर्णन किया है। श्री ठा० बलवन्तसिंह जी 'बिहार की वनस्पतियां, नामक पुस्तक में लिखते हैं, 'उपर्युक्त दोनों जातियों को [इसी वर्ग के बौ० रेसिमोसा लॅम. (B. racemosa Lam.) एवं बौ० मलबारिका राक्स. (B. malabarica Roxb.)] कुछ ग्रन्थकारों ने प्राचीनों का अश्मंतक माना है, परन्तु इसमें सन्देह है।'

४८ कचनार

(क) हिं०–कचनार, कञ्चनार, कचनाल, गोरिआव। बं०–काञ्चन, रक्त काञ्चन। कोल०–जुरजु, बुज, बुरंग। म०–कोरल, काञ्चन। सन्ता०–झिंजर। गु०–चम्पाकाटी। ने०–टकी। मल०–चुवन्नमंदारम्। क०–केंयुमन्दार। ते०–देवकाञ्चनमु। ता०–सेगपुमन्थरी। अं–Mountain Ebony (माउन्टेन् एबोनी)। ले०–*Bauhinia variegata Linn.* (बौहिनिया वेरिगेटा लिन.)। Fam. Leguminosae (लेगुमिनोसी)।

यह हिमालय के निचले प्रदेशों में, सिक्कम की ओर तथा सब प्रान्तों में उत्पन्न होता है। इसका वृक्ष मध्यमाकार का अचिरस्थायी होता है। छाल–भूरे रङ्ग की और लकड़ी–किञ्चित्

भूरापन युक्त बादामी रङ्ग की होती है। पत्ते-एकान्तर, ३-६ इञ्च लंबे तथा उतने ही चौड़े, द्विखण्डित, खण्ड लगभग चौथाई या तिहाई दूरी तक गहरे (युग्मपत्र), पत्राग्र गोल, पंखे की तरह फैली हुई संख्या में १३-१५ शिराओं वाले एवं करीब एक इञ्च लंबे वृन्त से युक्त होते हैं। पुष्प-शीत ऋतु में पत्ते गिर जाने के पश्चात् ही सुगंधित पुष्प गिरे हुए पत्तों के कोणों से निकले रहते हैं। पुष्पदंड छोटे तथा आपञ्च या नीलारुण रंग के होते हैं। कलिकाएँ घेरे में गोलाई लिये होती है। पुष्प-बड़े, श्वेत, गुलाबी, चमकीले बैंगनी तथा किरमिजी रङ्ग के होते हैं। श्वेत पुष्पों का एक या अधिक दलपत्र चित्रित पीतवर्ण का होता है। दलपत्रों में मजबूत मध्यशिरा होती है और आधार से लाल बैंगनी रंग की शिराएँ निकली रहती हैं। फली-लंबी, चिपटी कुछ मुड़ी हुई, करीब १ फुट तक लंबी एवं १०-१५ बीजों से युक्त होती है।

(ख) सं०-कोविदार। हिं०-कोविदार, खैरवाल, सोना, कोइना (ला) र। बं०-देव-काञ्चन, रक्तकाञ्चन। संथा०-सिंहरा। ता०-मंदारि, पेद्दाआरि। ते०-कांचनम्। ले०-*Bauhinia purpurea Linn.* (बौहिनिआ पर्प्युरिआ लिन.)।

इसके भी (क) की तरह के ही मध्यम ऊँचाई के वृक्ष होते हैं। ये छोटे रहने पर ही फूलने-फलने लगते हैं। पत्ते-बहुत गहराई तक कटे हुए, आयताकार, ५-७ इञ्च लम्बे, खंड के अग्र प्रायः कोणीय एवं पत्रसिराएँ ९-११ रहती हैं। पुष्प-पुष्पकलिका गहरे हरे या भूरे रंग की एवं पाँच कोणों से युक्त होती है। पुष्प (क) की अपेक्षा छोटे, पाँच दलपत्रों से युक्त, चमकीले बैंगनी, नीलारुण या गहरे गुलाबी रंग के होते हैं। काञ्चनार तथा कोविदार दोनों में बाह्यनाल लंबा और पूर्ण पुंकेशर ३-५ होते हैं। फली-लम्बी हरिताभ बैंगनी रंग की होती है। इसकी जड़ विषैली होती है।

(ग) सं०-पीत कोविदार। ता०-तिरूवत्ती। ते०-कांचीनो। म०-सोन। सिलो०-कहपेतन। ले०-*Bauhinia tomentosa Linn.* (बौहिनिया टोमेन्टोसा लिन.)।

यह लंका में अधिक होता है। इसके पुष्प पीतवर्ण के किन्तु आधार की तरफ कुछ हलके भूरे या किरमिजी रंग के धब्बों से युक्त होते हैं।

सभी की छाल, पत्र एवं पुष्पों का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है। कोमल कलिकाओं का शाक बनाया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसकी छाल में टैनिन होता है। इससे एक प्रकार का गोंद भी निकलता है।

गुण और प्रयोग—कांचनार की छाल, ग्राही, रसायन, बल्य, व्रणशोधक एवं व्रणरोपक है। इसके पुष्प रक्तपित्तहर हैं। छाल की क्रिया त्वचा तथा रसग्रंथियों पर होती है जिससे वहाँ की विनिमयक्रिया सुधरती है। इसकी अधिक मात्रा से वमन तथा विरेचन होता है।

(१) गंडमाला तथा अपची में इसकी छाल का बहुत प्रयोग किया जाता है। इसका क्वाथ गुग्गुल के साथ पिलाते हैं तथा इससे व्रणप्रक्षालन करते हैं। गंडमाला में सोंठ एवं इसका चूर्ण चावल के धोवन के साथ देते हैं। इसकी छाल को पीसकर लेप भी करते हैं। नये रोग में इससे अधिक लाभ होता है। इसकी छाल का क्वाथ कुष्ठ, चर्मरोग, अतिसार एवं व्रण में दिया जाता है। मसूरिका में इसके क्वाथ में सुवर्णमाक्षिक भस्म डालकर पिलाते हैं। खदिरफल, दाडिमपुष्प एवं इसकी छाल के क्वाथ से कुल्ला करने से अधिक लालास्राव तथा गले के विकारों में लाभ होता है।

रक्तपित्त में इसके पुष्प का चूर्ण मधु के साथ चटाते हैं तथा इसकी शाक खिलाते हैं। पुष्पों का क्वाथ रक्तप्रदर, रक्तार्श, रक्तमेह तथा कास एवं रक्तातिसार आदि में दिया जाता है। मृदुविरेचक रूप में इसके पुष्पों को चीनी के साथ खिलाते हैं।

इसके मूल का चूर्ण मट्ठे के साथ अर्श में दिया जाता है। मूल का क्वाथ अपचन तथा आध्मान में दिया जाता है।

मात्रा—त्वक्चूर्ण २-४ माशा। पुष्पकलिकाचूर्ण १-२ माशा।

अथ शोभाञ्जनः (सहिजना), (श्यामः श्वेतो रक्तश्च)
तन्नामानि तद्गुणाँश्चाह

शोभाञ्जनः शिग्रुतीक्ष्णगन्धकाक्षीवमोचकाः।
तद्बीजं श्वेतमरिचं मधुशिग्रुः सलोहितः। शिग्रुः कटुः कटुः पाके तीक्ष्णोष्णो मधुरो लघुः॥१०५॥
दीपनो रोचनो रूक्षः क्षारस्तिक्तो विदाहकृत्। संग्राही शुक्रलो हृद्यः पित्तरक्तप्रकोपणः॥१०६॥
चक्षुष्यः कफवातघ्नो विद्रधिश्वयथुक्रिमीन्। मेदोऽपचीविषप्लीहगुल्मगण्डव्रणान्हरेत्॥१०७॥
श्वेतः प्रोक्तगुणो ज्ञेयो विशेषाद्दाहकृद्भवेत्।
प्लीहानं विद्रधिं हन्ति व्रणघ्नः पित्तरक्तहृत्। मधुशिग्रुः प्रोक्तगुणो विशेषाद्दीपनः सरः॥१०८॥

सहिजन के भेद, नाम तथा गुण—सहिजन के १. श्याम सहिजन, २. श्वेत सहिजन तथा ३. लाल सहिजन इस प्रकार से ३ भेद होते हैं। शोभाञ्जन, शिग्रु, तीक्ष्णगन्धक, अक्षीव और मोचक ये सब संस्कृतनाम सहजन के हैं। सहजन के बीज को 'श्वेतमरिच' कहते हैं। जो 'लाल सहजन' होता है उसे 'मधुशिग्रु' कहते हैं। शिग्रु अर्थात् श्याम सहजन—स्वाद तथा पाक में कटुरसयुक्त, तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, मधुर, लघु, अग्निदीपक, रोचक, रूक्ष, क्षार, तिक्तरसयुक्त, विदाहकारक, मलाव-रोधक, शुक्रजनक, हृदय को हितकर, पित्त-रक्त को कुपित करने वाला, नेत्रों को हितकर, कफ-वात-नाशक एवं विद्रधि, शोथ, कृमि, मेदरोग, अपची, विष, प्लीहा, गुल्म, गलगण्ड और व्रण का नाशक होता है। इसी प्रकार से 'सफेद सहजन' के भी गुण हैं किन्तु वह विशेष करके दाहकारक तथा प्लीहा, विद्रधि, व्रण और पित्त-रक्त का नाशक होता है। मधुशिग्रु अर्थात् 'लाल सहजन' के भी पूर्वोक्त सभी गुण हैं किन्तु विशेष करके वह अग्निदीपक तथा सारक (दस्तावर) होता है॥

अथ शिग्रुवल्कलपत्रस्वरसगुणानाह

शिग्रुवल्कलपत्राणां स्वरसः परमार्त्तिहृत्॥ १०९॥

सहजन की छाल तथा पत्तों के स्वरस के गुण—सहजन की छाल तथा पत्तों का स्वरस असह्य पीड़ा को दूर करता है॥ १०९॥

अथ शिग्रुबीजगुणानाह

चक्षुष्यं शिग्रुजं बीजं तीक्ष्णोष्णं विषनाशनम्। अवृष्यं कफवातघ्नं तन्नस्येन शिरोऽर्त्तिनुत्॥११०॥

सहजन के बीज—नेत्रों को हितकर, तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, विषनाशक, अवृष्य और कफ-वात-नाशक होते हैं। सहजन के बीजों का चूर्ण करके नस्य लेने (सूंघने) से शिर की पीड़ा दूर होती है। इसके पुष्प तथा पुष्प-मधु के गुण आगे शाकवर्ग में दिये हुवे हैं॥ ११०॥

५९ सहिजना

हि०–सहिजना, सहिजन, सहजन, सहजना, सैजन, मुनगा। **बं०**–सजिना। **म०**–शेवगा, शेगटा। **मा०**–सहिजनो, सहिंजणो। **क०**–नुग्गे। **ते०**–मुनग। **गु०**–सेकटो, सरगवो। **ता०**–मोरुङ्गै, मुरिणकै। **पं०**–सोंइजना। **मला०**–मुरिण्णा। **ब्राह्मी०**–डोडलों बिन। **यू०**–सिनोह। **फा०**–सर्व-कोही। **अं०**–Horse Radish Tree (हॉर्स रैडिश ट्री); Drum Stick Tree (ड्रम स्टिक् ट्री)। **ले०**–*Moringa pterygosperma Gaertn.* (मोरिङ्गा टेरीगोस्पर्मा गेर्ट.)। Fam. Moringaceae (मोरिंगेसी)।

यह हिमालय के निचले प्रदेशों में चेनाब से लेकर अवध तक जंगलीरूप में तथा भारत के प्रायः सभी प्रांतों में एवं बर्मा में लगाया हुआ मिलता है।

इसका वृक्ष साधारण वृक्षों के समान छोटा, २०-२५ फुट ऊँचा होता है। छाल-चिकनी, मोटी, कार्कयुक्त, भूरे रङ्ग की एवं लम्बाई में फटी हुई और लकड़ी कमजोर होती है। **पत्ते**–संयुक्त, प्रायः त्रिपक्षवत् तथा १-३ फीट क्वचिद् ५ फीट तक लंबे होते हैं। **पत्रक**–अंडाकार, लट्वाकार, विपरीत एवं करीब ½-¾ इञ्च लंबे होते हैं। कार्तिक महीने से वसन्त ऋतु के आरम्भ तक फूलों के गुच्छे टहनियों के अन्त में दिखाई पड़ते हैं। **पुष्प**–श्वेतवर्ण के तथा मधु की तरह गन्धवाले होते हैं। **फलियाँ**–गोल, त्रिकोणाकार, अंगुलिप्रमाण मोटी, ९-२० इञ्च लम्बी, बीजों के बीच बीच में पतली एवं बड़ी-बड़ी खड़ी ९ रेखाओं से युक्त होती हैं। उनमें सफेद, सपक्ष, त्रिकोणाकार तथा लगभग १ इञ्च लंबे बीज होते हैं। बीजों को सफेद मरिच भी कहते हैं। इससे गोंद भी निकलता है जो पहले दुधिया रहता है किन्तु बाद में वायु का सम्पर्क होने पर ऊपर से गुलाबी या लाल हो जाता है। इसकी कची सेमों का साग और अचार बनाते हैं। इसकी छाल के रेशों से कागज, चटाई, डोरी आदि बनाते हैं। जानवर—विशेषकर ऊँट—इसकी टहनियों को खाते हैं।

इसके मूल, मूल की ताजी छाल, फली, पत्र, बीज एवं गोंद आदि का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है। इसकी जड़ बाहर से खुरदरी, जालीदार, हलके भूरे रंग की एवं अन्दर से श्वेत रंग की होती है। हार्सरॅडिश की तरह इसका स्वाद कुछ तीता एवं गन्ध भी तीक्ष्ण होती है।

मोरिंगा कोन्कैनेन्सिस् निम्मो (Moringa concanensis Nimmo) नामक एक जाति दक्षिण राजपूताना तथा सिन्ध में होती है। इसकी फलियाँ कडवी होती हैं। इसके पुष्प अधिकांश लाल होते हैं।

लाल, काले एवं श्वेतपुष्प भेद से सहजन ३ प्रकार का माना जाता है। अधिकांश श्वेतपुष्प का ही सहजन देखा जाता है। सम्भव है स्थानभेद से कहीं कहीं रक्त तथा श्यामवर्ण के भी सहजन प्राप्त होते हों। भावप्रकाशकार रक्तपुष्प वाले को मधुशिग्रु कहते हैं। संभव है इस (श्वेत जो अधिकांश मिलता है) वृक्ष के पुष्पों में मधु की तरह गंध होने से इसका नाम मधुशिग्रु दिया हो।

रासायनिक संगठन—इसके बीजों में करीब ३६% एक निर्गन्ध स्वच्छ तैल रहता है जो सूक्ष्म यन्त्रों में स्निग्धीकरण के काम आता है। यह रखने से खराब भी नहीं होता। बेन ऑइल (Ben-oil) नामक तैल जो घड़ीसाज व्यवहार में लाते हैं वह अधिकतर अफ्रीका में होने वाले इसी की जाति के वृक्ष (M. aptera, मो. आप्टेरा) के बीजों से निकाला जाता है। सुगंध-व्यवसाय में भी इसका उपयोग करते हैं। अस्थिर गन्ध भी इसमें स्थायी हो जाती है।

इसके मूल में स्पाइरोचिन् (Spirochin) नामक कार्यशील क्षारीय द्रव्य (Basic) एवं टेरिगोस्पर्मिन् (Pterygospermin) नामक एक प्रतिजैविकीय पदार्थ (Antibiotic) रहता है। इसमें एक उग्र दुर्गन्धयुक्त तैल भी पाया जाता है।

स्पाइरोचिन नामक क्रियाशील द्रव्य ग्रामग्राही (Gram positive) उपसर्गों, विशेषकर स्तबक गोलाणु एवं मालागोलाणुजन्य (Staphylococcal and streptococcal) उपसर्गों में लाभदायक है। यह अधिच्छदीय (Epithelial) कोषाओं की कार्यवृद्धि करता है तथा इसमें कुछ वेदनाहरण का भी गुण है। वातनाड़ियों पर इसका सामान्यतया अवसादक प्रभाव (General paralysing effect) पड़ता है। इससे गर्भाशय के अनियमित संकोचों का शमन होकर उसे बल मिलता है।

प्टेरिगोस्पर्मिन अनेक प्रकार के छत्राणुओं (Fungi) की वृद्धि को रोकता है। इसके साथ अल्प मात्रा में न्यूक्लिक् ॲसिड (Nucleic acid) होने पर इसकी कार्यशीलता बहुत बढ़ जाती है। यह ७५००० में १ एवं ४०००० में १ इस अल्प प्रमाण में क्रमशः ग्रामग्राही एवं ग्रामत्यागी (Gram negative) जीवाणुविरोधी कार्य करता है। ॲलिसिन् (Allicin) की तरह यह रक्त एवं आमाशयिक रस की उपस्थिति में कार्यशील रहता है किन्तु अग्न्याशयिक रस (Pancreatic Juice) की उपस्थिति में इसकी कार्यशीलता नष्ट हो जाती है।

गुण और प्रयोग—सहिजन के मूल की ताजी छाल उष्ण, कटु, दीपन, पाचन, उत्तेजक, वातानुलोमक, वातहर, कफहर, कृमिघ्न, शिरोविरेचन, स्वेदजनन, मूत्रजनन, चक्षुष्य, शोथहर एवं व्रणदोषनाशक है। वृक्कशोथ में इसका प्रयोग नहीं करना चाहिये। इसका बाह्यलेप त्वग्रागकारक है।

इसका उपयोग अपची, गुल्म, विद्रधि, शोथ, प्लीहावृद्धि, कृमि, रजःकृच्छ्र, हिक्का, श्वास, कफज्वर, पाचन के विकार एवं व्रण में किया जाता है।

इसके नये वृक्ष की मूल को ज्वर, अपस्मार, अपतंत्रक, अंगघात, जीर्ण आमवात, जलोदर, यकृद्-वृद्धि, प्लीहावृद्धि तथा अपचन में देते हैं। सैंधव एवं हींग के साथ मूलत्वक् का क्वाथ विद्रधि, शोथ, फोड़े, अश्मरी, अपस्मार एवं अपतंत्रक में दिया जाता है। संत्रे का छिलका, जायफल एवं इसकी मूलत्वक् का मद्यसारीय अर्क मूर्च्छा, चक्कर, स्नायविक दौर्बल्य, अपतंत्रक, आध्मान एवं उद्वेष्टन-युक्त आंत्रिक विकारों में लाभदायक है। मुखजाड्य, अर्दित, पक्षाघात आदि वातनाडीसंस्थान के रोगों में इसका स्वरस दिया जाता है।

व्रणशोथ पर छाल को पीसकर लेप करते हैं तथा खिलाते हैं। गले की शिथिलता, मुखविकार, कृमिदंत में इसके क्वाथ से कुल्ला कराते हैं। इसकी ताजी जड़ को सरसों एवं आदी के साथ पीस कर प्रतिक्षोभक एवं विस्फोटकारक प्रलेप के रूप में उपयोग करते हैं। संधिशोथ तथा शरीर की पीड़ा में छाल का उष्ण लेप थोड़ी देर के लिये करते हैं।

इसके बीजों के तेल की संधिवात, आमवात तथा वातरक्त में मालिश करते हैं। मूर्च्छा में बीजों का चूर्ण नाक में डालते हैं।

इसका गोंद ग्राही होता है तथा आमवात में प्रयोग किया जाता है। इसके पुष्प को दूध में उबालकर वाजीकरण के लिये पिलाते हैं। इसकी फली का साग आंत्रकृमिप्रतिबंधक मानते हैं। इसके कोमल पत्तों का साग खाने से शौच साफ होता है।

मात्रा—मूलत्वक् ४ से ८ माशा।

अथ श्वेतपुष्पा नीलपुष्पा चापराजिता (कोयल) तयोर्नामानि गुणाँश्चाह

आस्फोता गिरिकर्णीस्याद्विष्णुक्रान्ताऽपराजिता । अपराजिते कटू मेध्ये शीते कण्ठ्ये सुदृष्टिदे ॥
कुष्ठमूत्रत्रिदोषामशोथव्रणविषापहे । कषाये कटुके पाके तिक्ते च स्मृतिबुद्धिदे ॥ ११२ ॥

सफेद तथा नीले फूल की कोयल के नाम तथा गुण—आस्फोता, गिरिकर्णी, विष्णुक्रान्ता और अपराजिता ये दोनों प्रकार की 'कोयल' के संस्कृत नाम हैं। दोनों कोयल—कटु, तिक्त तथा कषायरसयुक्त, मेधा के लिये हितकर, शीतवीर्य, कण्ठस्वर को उत्तम बनाने वाली, देखने की शक्ति को बढ़ाने वाली तथा कुष्ठ, मूत्ररोग, त्रिदोष, आम, शोथ, व्रण एवं विष को नष्ट करनेवाली, विपाक में कटुरसयुक्त, स्मृति तथा बुद्धि को देने वाली होती है ॥ १११-११२ ॥

नोट—भावप्रकाशकार आस्फोता, गिरिकर्णी, विष्णुक्रान्ता तथा अपराजिता ये चार पर्याय लिखते हैं। ध. नि. एवं रा. नि. में इसके 'अश्वखुर', 'श्वेतस्पन्दा' आदि अन्य पर्याय दिये हुए हैं किन्तु विष्णुक्रान्ता का वहाँ उल्लेख नहीं है। आगे शंखपुष्पीभेद में विष्णुक्रान्ता[1] का उन्होंने स्वतन्त्र उल्लेख किया है जिसके ध. नि. ने नील, शुक्ल एवं रक्तपुष्पभेद से ३ भेद किये हैं। वहाँ पर रा. नि. ने (शंखपुष्पी के अतिरिक्त) नीलपुष्पा, अपराजिता ये पर्याय विष्णुक्रान्ता के दिये हैं। भावप्रकाशकार शंखपुष्पी के पर्यायों में विष्णुक्रान्ता का उल्लेख नहीं करते।

अधिकांश विद्वानों ने अपराजिता को क्लिटोरिआ टर्नेटिआ लिन. (Clitoria ternatea Linn.) माना है तथा इसके नील एवं श्वेतपुष्प भेद पाये भी जाते हैं। किन्तु केरल में इसका (क्लि. टर्नेटिआ को) शंखपुष्पी नाम से व्यवहार करते हैं ऐसा उल्लेख 'आयुर्वेदिक फ्लोरा मेडिका' में है। इसी प्रकार एव्होल्व्हयूलस् ॲल्सिनॉइडीस् लिन. (Evolvulus alsinoides Linn.) जिसे अधिकांश विद्वान् शंखपुष्पी मानते हैं उसका केरल में विष्णुक्रान्ता नाम से व्यवहार किया जाता है।

श्री ठा० बलवन्तसिंह जी का मत है कि एव्होल्व्हयूलस् ॲल्सिनाइडीस् (पुष्प नीले) को ही विष्णुक्रान्ता मानना चाहिये तथा नीलापराजिता को विष्णुक्रान्ता नहीं मानना चाहिये। इसी प्रकार शंखपुष्पी के पुष्पों का श्वेत होना आवश्यक होने के कारण ए. अल्सिनॉइडीस् से मिलती जुलती उसी वर्ग की अन्य जाति कन्व्हॉल्व्हयुलस् प्लुरिकॉलिस् चाइसी (Convolvulus pluricaulis Choisy) को शंखपुष्पी मानना चाहिये जिसके पुष्प हलके गुलाबी या श्वेत रंग के पाये जाते हैं तथा जिनके गुणों में विशेष अन्तर नहीं है। कुछ लोगों ने कन्स्कोरा डिकसेटा शुल्ट (Canscora decussata Schult) को शंखपुष्पी माना है।

शंखपुष्पी का आगे स्वतन्त्र वर्णन किया गया है। यहाँ अपराजिता (क्लिटोरिआ टर्नेटिआ) का वर्णन किया गया है।

५० अपराजिता

हि०—अपराजिता, कोयल, कालीज़र। **बं०**—अपराजिता। **म०**—गोकर्णी, काजली, गोकर्ण। **पं०**—धनन्तर। **गु०**—गरणी। **क०**—शंखपुष्प, गिरिकर्णिके। **ता०**—काक्कणनकोटी। **ते०**—दिटेन। **मल०**—शंखपुष्पम्। **इरा०**—मझेरियुन्-इ-हिंदी। **अं०**—Winged-leaved clitoria (विंगड् लिव्ह क्लिटोरिआ)। **ले०**—*Clitoria ternatea Linn.* (क्लिटोरिआ टर्नेटिआ लिन.)। Fam. Leguminosae (लेगुमिनोसी.)।

१. विष्णुक्रान्ता कटुस्तिक्ता कफवातामयापहा। (ध. नि.)

यह सब प्रान्तों में पाई जाती है। अधिकतर यह बगीचों में लगाई हुई मिलती है। बस्तियों के आस-पास वन्य अवस्था में भी कभी-कभी दिखाई देती है। पुष्पभेद से यह नील एवं श्वेत दो प्रकार की होती है।

इसकी **लता**—बहुवर्षायु, सुन्दर तथा पतले काण्ड की होती है। यह वृक्षों या झाड़ियों पर लिपटती हुई (चक्रारोही) बढ़ती है। **पत्ते**—संयुक्त, असम-पक्षवत् (Imparipinnate) रहते हैं। **पत्रक**—प्रायः ५ कभी-कभी ७, अण्डाकार एवं १-२ इञ्च लम्बे होते हैं। **पुष्प**—जलसीप के आकार वाले नलीयुक्त, गोल, चमकीले नीले अथवा कभी कभी श्वेत पुष्प, १½-२ इञ्च बड़े एवं पत्रकोणीय पुष्पदण्ड में एकाकी रहते हैं। ध्वजदल चम्मच के आकार का और पक्षदलों के नीचे फैला रहता है। कोणपुष्पक बड़े, स्थायी तथा पर्णसदृश होते हैं। **फली**—२-४ इञ्च लम्बी, चिपटी, नुकीली तथा सीधी या बहुत थोड़ी मुड़ी हुई होती है। **बीज**-६-१० अण्डाकार, चिपटे, चिकने तथा गहरे भूरे रंग के होते हैं।

इसके मूल का अधिक उपयोग किया जाता है। इसके पुष्प, पत्र एवं बीज आदि का भी उपयोग करते हैं।

रासायनिक संगठन—इसकी जड की छाल में स्टार्च, टैनिन, राल तथा ११% राख होती है। बीज में तैल, कडुवी भूरे रङ्ग की राल तथा ६% राख होती है।

गुण और प्रयोग—इसकी जड़ भेदन, मूत्रल एवं वेदनास्थापन है। इससे वमन भी होता है। वमन के साथ-साथ पेट में दर्द होकर विरेचन भी होता है। कभी-कभी वमन नहीं भी होता। इसके बीज जलप की तरह किन्तु सौम्य भेदन तथा अल्प मूत्रजनन हैं। विरेचन के लिये बीजों के साथ सोंठ एवं सैंधव का उपयोग किया जाता है।

इसका उपयोग उदर, कफविकार, ज्वर, मूत्रविकार, गलगण्ड, गण्डमाला, अपची, शोथ, नेत्ररोग, उन्माद, आमवात, कुष्ठ एवं विष में किया जाता है।

(१) सभी प्रकार के जलोदर में विरेचन के लिये इसका उपयोग करते हैं। इससे विष का निर्हरण होता है।

(२) शुक्रमेह, बस्तिशोथ एवं मूत्रकृच्छ्र में इसकी जड़ का फांट पिलाया जाता है।

(३) बच्चों के कास-श्वास में बीजों को सेंक पीसकर थोड़ा गुड़ एवं सैंधव मिलाकर पिलाने से दस्त के साथ कफ निकल कर आराम मिलता है। कफ विकारों में मूल को दूध के साथ पिलाते हैं।

(४) अर्धावभेदक में श्वेत अपराजिता की जड़ के स्वरस का नस्य कराया जाता है।

(५) इसके पत्तों का रस, आर्द्रकरस के साथ पसीना रोकने के लिये देते हैं। त्वग्रोगों में पत्तों का फांट पिलाते हैं। कान के चारों तरफ सूजन होकर ग्रन्थियों की वृद्धि होने पर पत्तों को सैंधव के साथ पीसकर लगाते हैं।

(६) सर्पविष में इसकी जड़ की छाल तथा निर्गुण्डी मूलत्वक् को जल में पीस कर पिलाने से लाभ होता है। (च० चि० अ० २५)

मात्रा—मूलत्वक् चूर्ण १॥-३ माशा; बीजचूर्ण १०-२० र०।

अथ सिन्दुवारः (मेडड़ी-सेन्दुवार) निर्गुण्डी (नीलसम्हालू) इति च तयोर्नामानि गुणाँश्चाह

सिन्दुवारः श्वेतपुष्पः सिन्दुकः सिन्दुवारकः ।
नीलपुष्पी तु निर्गुण्डी शेफाली सुवहा च सा ॥ ११३ ॥
सिन्दुकः स्मृतिदस्तिक्तः कषायः कटुको लघुः ।
केश्यो नेत्रहितो हन्ति शूलशोथाममारुतान् । कृमिकुष्ठारुचिश्लेष्मज्वरान्नीलापि तद्विधा ॥

सम्हालू जिसे लोक म मेडडी तथा सेन्दुवार कहते हैं, उसके भेद, नाम तथा गुण—सम्हालू दो प्रकार का होता है एक सफेद फूल वाला, दूसरा नीले फूल वाला। सफेद फूल वाले सम्हालू के संस्कृत नाम—सिन्दुवार, सिन्दुक और सिन्दुवारक ये सब हैं। नीले फूल वाले सम्हालू के संस्कृत नाम—निर्गुण्डी, शेफाली और सुवहा ये सब हैं। **सम्हालू**-(सफेद फूल वाला) स्मरण-शक्तिवर्धक, तिक्त, कषाय और कटुरसयुक्त, लघु, केश तथा नेत्र के लिये हितकारी होता है एवं यह शूल, शोथ, आमवात, कृमि, कुष्ठ, अरुचि और कफ-ज्वर को नष्ट करता है। इसी भांति नीले फूल वाले सम्हालू के भी गुण हैं ॥ ११३-११४ ॥

अथ सिन्दुवारपत्रगुणानाह

सिन्दुवारदलं जन्तुवातश्लेष्महरं लघु ॥ ११५ ॥

सम्हालू के पत्तों के गुण—**सम्हालू के पत्ते**—कृमि, वात और कफ को दूर करने वाले तथा लघु होते हैं ॥ ११५ ॥

नोट—सम्हालू के दो भेदों का भावप्रकाशकार ने वर्णन किया है। 'निर्गुण्डी' यह नीले सम्हालू के लिये कहा गया है। निर्गुण्डी का ही पर्याय शेफाली दिया गया है। ध० नि० ने 'सिन्दुवार' के श्वेत एवं नील भेद दिये हैं तथा 'शेफालिका' के भी निर्गुण्डी (नीलपुष्प) एवं शुक्ला ये भेद दिये हैं। इसी प्रकार रा० नि० एवं म० नि० ने भी शेफाली से नील (निर्गुण्डी) का ग्रहण किया है। श्री ठा० बलवन्त सिंहजी शेफालिका यह नाम हरसिंगार (Nyctanthes arbortristis) के लिए उचित समझते हैं। हरसिंगार का वर्णन पहले पृष्ठ ३३५ पर किया गया है।

कुछ लोगों ने 'नीलनिर्गुण्डी' नाम जस्टिसिआ जेन्डारुसा (Justicia gendarussa) को दिया है जिसका पृष्ठ २२३ पर वर्णन किया गया है।

आधुनिक उद्भिज्जवेत्ताओं ने भी इसके कई भेदों का वर्णन किया है। वाइटेक्स नेगुण्डो (Vitex negundo) में श्वेत या हलके नीले दोनों प्रकार के पुष्प पाये जाते हैं तथा पत्रक भी अखंड या दन्तुर दोनों प्रकार के होते हैं। इसके अतिरिक्त इसका एक भेद वाइटेक्स ट्राइफोलिआ (Vitex trifolia) भी पाया जाता है। रेणुकबीज, जिनका पृष्ठ २५१ पर वर्णन किया गया है वे भी ईरान में होनेवाली निर्गुण्डी जाति के वृक्षों के फल हैं।

५१ सम्हालू निर्गुण्डी

हि०–सम्मालू, सम्हालू, सन्दुआर, सिनुआर, मेउड़ी। **बं०**–निशिन्दा। **म०**–लिंगड, निगड, निर्गुण्डी। **पं०**–बन्न, मरवन, मौरा। **गु०**–नगोड़, नगड़। **ता०**–नोचिच। **म०**–करिनोचि। **ते०**–वाविली, तेल्लावाविलि। **क०**–बिलिनेक्कि। **फा०**–पंजंबगुस्त। **अ०**–असलक। **अं०**—Five Leaved Chaste Tree (फाइव लीव्ह चेस्ट ट्री), Indian Privet (इण्डियन

प्रिवेट)। **ले०**–*Vitex negundo Linn.* (वाइटेक्स नेगुण्डो लिन.)। Fam. Verbenaceae (वर्बिनेसी)।

इसके वृक्ष प्रायः सब प्रान्त के वन, उपवन, नदियों के किनारे, गावों के आसपास की परती जमीन में और बागों में भी पाये जाते हैं।

इसके बड़े बड़े **गुल्म** प्रायः ६–२८ फीट ऊँचे अथवा कभी कभी बड़े वृक्ष के समान होते हैं। इस पर श्वेताभ रोमावरण होता है। **छाल**–पतली, चिकनी तथा धूसरवर्ण की होती है। **पत्ते**–सदल तथा ३-५ पत्रकों से युक्त होते हैं। **पत्रक**–भालाकार, लम्बाग्र, अखण्ड या गोल दन्तुर, २–५ इञ्च लम्बे, ½–१½ इञ्च चौड़े तथा छोटे बड़े आकार के होते हैं। अग्र का पत्रक लम्बा एवं उसका वृन्त भी लम्बा होता है। नीचे के पत्रक या बगल वाले पत्रक छोटे तथा छोटे या बिना वृन्त के होते हैं। ये ऊपर से हरे तथा नीचे श्वेताभवर्ण के होते हैं। **पुष्प**–आयताकार और २–८ इञ्च लम्बी मञ्जरियों में निकले रहते हैं। ये श्वेत या हलके नीले (बैगनी) रङ्ग के होते हैं। **फल**–छोटे, गोल, $\frac{1}{4}$ इञ्च व्यास के तथा पकने पर काले रङ्ग के होत हैं।

इसकी जड़ पर एक पराश्रयी वनस्पति पाई जाती है जो एलेक्ट्रा परासिटिका वेर. चित्रकूटेन्सिस् (Alectra parasitica, A. Rich, Var. Chitrakutensis) है। यह वर्षाकाल में होती है तथा अक्तूबर नवंबर तक परिपक्व होने पर इसके कंद को संग्रह कर सुखा कर इसका चूर्ण बना प्रयोग करते हैं। बिहार के वैद्य इसको गलितकुष्ठ के लिये उपयोगी बतलाते हैं। प्रारंभिक परीक्षण से देखा गया है कि ४ ग्राम दैनिक विभक्त मात्रा से लाभ होता है। अधिक मात्रा से अतिसारादि उपद्रव होते हैं। (प्रसाद, बी. एन्; लेप्रसी रिव्यू, जुलाई ६२ खण्ड XXXIII, अंक ३.)

इसकी एक दूसरी जाति होती है जिसे (ले०) वाइटेक्स ट्राइफोलिया लिन. (Vitex trifolia Linn.) कहते हैं। इसके **पत्ते**–१-३ पत्रक होते हैं। **पत्रक**–१-३ इञ्च लम्बे, सभी अवृन्त, अभिलट्वाकार या अभिलट्वाकार-आयताकार, अखण्ड तथा किञ्चित् कुण्ठिताग्र होते हैं। **पुष्प**–हलके नीले वर्ण के होते हैं। **फल**–काले रङ्ग के तथा $\frac{1}{6}$ इञ्च व्यास में होते हैं।

इनके पंचांग तथा पत्तों का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है। कुछ विद्वानों के मत से दन्तुर पत्र अधिक लाभदायक माने जाते हैं।

रासायनिक संगठन—इसके पत्तों में एक रंगहीन गन्धयुक्त उड़नशील तैल तथा एक राल होती है। इसके बीजों में अम्ल राल, कषाय आर्गेनिक अम्ल, मॅलिक् एसिड, अत्यल्प क्षाराभ तथा रंजक द्रव्य होते हैं।

गुण और प्रयोग—यह कटु, तिक्त, कषाय, उष्ण, लघु, दीपन, वेदनास्थापन, वातहर, कफहर, ज्वरघ्न, मूत्रजनन, आर्तवजन, कृमिघ्न, मस्तिष्कबलदायक, शोथघ्न, विषहर, बल्य एवं रसायन है। शोथघ्न, वेदनास्थापन एवं वातहर गुण बहुत प्रभावशाली हैं। इसके पुष्प शीतल तथा पित्तनाशक हैं। (सु. सू. अ. ४६)

इसका प्रयोग आमवात, वातव्याधि, कास, ज्वर, प्रदर, शूल, अपचन, आध्मान, अपची, क्षय, कुष्ठ, शोथ, व्रण, प्लीहावृद्धि एवं कृमि में किया जाता है। सभी प्रकार के रोगों में शिलाजतु के साथ इसका प्रयोग लाभदायक होता है।

(१) शोथयुक्त सभी व्याधियों में यह बहुत ही लाभदायक है। फुफ्फुसशोथ, फुफ्फुसावरणशोथ, उदरावरणशोथ, किसी प्रकार का संधिशोथ, तीव्र आमवातिक संधिशोथ एवं सोजाक में कभी-कभी होनेवाले अंडशोथ में इसका अन्तर्बाह्य प्रयोग करते हैं। इसके पत्तों को पीसकर हाँडी में

गरम कर शोथ पर दिन में ३, ४ बार बाँधना चाहिये। इसके साथ करञ्ज, नीम तथा धतूरे के पत्तों का भी उपयोग करने से अधिक लाभ होता है। निर्गुण्डी में आनुलोमिक गुण न होने के कारण शोथ में प्रारंभ में नागदन्ती या रसकपूर जैसे विरेचक औषध का उपयोग करना चाहिये।

(२) कफज्वर, फुफ्फुसपाक तथा फुफ्फुसावरणशोथ आदि में इसके पत्तों का स्वरस या क्वाथ छोटी पीपल के साथ पिलाते हैं तथा पत्तों से सेकते हैं। प्रतिश्याय तथा गले के शोथ में इसके सूखे पत्तों का धूम्रपान कराया जाता है तथा पत्तों का क्वाथ छोटी पीपल एवं घोडबच के साथ पिलाते हैं। कास में पत्रस्वरससिद्धघृत का उपयोग लाभदायक है। राजयक्ष्मा में इसके पंचांग के स्वरस से सिद्ध घृत या स्वरस में घृत मिलाकर प्रयोग करते हैं।

(३) आमवात में निर्गुण्डी, तुलसी एवं भँगरैया का स्वरस अजवायन के चूर्ण के साथ देते हैं तथा पत्तों से सेंकते हैं। गृध्रसी में नीले पुष्पवाली निर्गुण्डी के पत्तों का क्वाथ पिलाते हैं तथा पत्तों से सेंकते हैं।

(४) शीतज्वर, विषमज्वर एवं सूतिकाज्वर आदि में इसके पत्तों का चूर्ण, पंचांगस्वरस, फांट या क्वाथ को देते हैं तथा इसके क्वाथ से शरीर पोंछते हैं। इससे शरीर का दाह एवं दुर्गन्धि कम होती है। विषमज्वर में प्लीहावृद्धि होने पर इसके पत्र एवं हरीतकी को गोमूत्र के साथ देते हैं या पत्तों को कुटकी एवं रसौत के साथ देते हैं। सूतिकाज्वर में इससे आर्तवशुद्धि होती है तथा गर्भाशय एवं उसके आसपास के अङ्गों का शोथ भी कम होता है। इसमें आन्तरिक प्रयोग के साथ इसके पत्तों को गरम करके बाँधते हैं। ज्वर में वमन तथा तृषाशान्ति के लिये इसके पुष्प मधु के साथ खिलाते हैं।

(५) नहरुवा कृमि में इसको खिलाते हैं तथा इससे सेंकते हैं।

(६) इसके मूल एवं पत्रस्वरस से सिद्ध तैल का शोथ, व्रण, नाडीव्रण, कुष्ठ, अपची, गंडमाला तथा सन्धिपीड़ा में व्यवहार किया जाता है। कर्णपूय में मधु के साथ इस तैल को कान में डालते हैं।

(७) सोजाक में पेशाब रुकने पर इसके उष्ण क्वाथ में रोगी को बैठाते हैं।

(८) पाँव की जलन में पत्तों को बाँधते हैं। शिरःशूल में पत्तों को पीसकर सर पर बाँधते हैं तथा फलों के चूर्ण का नस्य देते हैं। सोते समय सर के नीचे पत्तों की तकिया भी रखते हैं।

(९) कीड़े आदि से रक्षा करने के लिये चावल, कपड़े तथा पुस्तकों में इसके पत्ते रखते हैं।

मात्रा—पत्रस्वरस १-२ तो०; पत्रचूर्ण ¼-½ तो०; मूलत्वक् १-३ मा०।

अथ कुटजः (कुडा-कोरैया) तस्य नामगुणानाह

कुटजः कूटजः कौटो वत्सको गिरिमल्लिका ॥ ११६ ॥
कालिङ्गः शक्रशाखी च मल्लिकापुष्प इत्यपि। इन्द्रो यवफलः प्रोक्तो वृक्षकः पाण्डुरद्रुमः ॥
कुटजः कटुको रूक्षो दीपनस्तुवरो हिमः। अर्शोऽतिसारपित्तास्रकफतृष्णाऽऽमकुष्ठनुत् ॥

कुडा के नाम तथा गुण—कुटज, कूटज, कौट, वत्सक, गिरिमल्लिका, कालिङ्ग, शक्रशाखी, मल्लिकापुष्प, इन्द्र (इन्द्र पर्यायवाचक सभी शब्द), यवफल, वृक्षक और पाण्डुरद्रुम ये सब कुडा के संस्कृत नाम हैं।

कुडा—कटु तथा कषायरसयुक्त, रूक्ष, अग्निदीपक और शीतवीर्य होता है। एवम यह बवासीर, **अतिसार,** पित्त, रक्त, कफ, तृषा आम तथा कुष्ठ को दूर करता है ॥ ११६-११८ ॥

५२ कूड़ा

हि०—कूड़ा, कोरया, कुड़ा, कौरैयाँ, कुरैय्याँ। **बं०**—कुरचि। **म०**—पांढरा कुड़ा। **गु०**—कडो। **क०**—कोरासिमिन। **ते०**—काककोडिसे, पला कोडसा। **उ०**—कुड़िया। **ता०**—वेप्पाले, कोडगपल। **मल०**—वेनपाला। **फा०**—जबाने गुजस्के तल्ख। **अ०**—लसनुल्लास फिरुलमुर्र, तिबाज। **अं०**—Kurchi, Conessi or Tellicherry Bark (कुर्चि, कोनेसि या तेल्लिचेरि बार्क)। **ले०**—*Holarrhena antidysenterica Wall.* (होलेर्हेना एन्टिडिसेन्टेरिका वाल्)। Fam. Apocynaceae (एपोसाइनेसी)।

यह भारतवर्ष के प्रायः सभी भागों में आर्द्र भूमि को छोड़कर तथा हिमालय की ४००० फीट ऊँची चोटियों पर उत्पन्न होता है। इसके छोटे छोटे वृक्ष दून और सहारनपुर के जङ्गलों में बहुत होते हैं। कहीं कहीं इसको रोपित भी किया जाता है।

कूड़े का वृक्ष बहुत ऊँचा नहीं होता, प्रायः ८-१० हाथ ऊँचा वृक्ष देखने में आता है। **छाल**—चौथाई इञ्च तक मोटी, खुरदरी, भूरे रंग की होती है। लकड़ी हलकी पीली और कोमल होती है। पत्ते - ५-१० इञ्च लम्बे तथा २-४ इञ्च चौड़े, नोकीले, लट्वाकार-अण्डाकार या कुछ आयताकार चिकने या मृदुरोमश एवं प्रधान शिराएँ१०-१४ युग्म होती हैं। **फूल**-सफेद आते हैं और उनमें कुछ सुगन्धि जान पड़ती है। **फलियाँ**—दो दो एक साथ परन्तु असंयुक्त, ८ से १६ इञ्च तक लम्बी, पतली, तिहाई इञ्च मोटी और कुछ टेढ़ी होती हैं। **बीज**—जई के समान आध इञ्च तक लम्बे, रेखाकार, आयताकार और अन्त के सिरे पर प्रायः हलके भूरे रङ्ग के रोमगुच्छ से युक्त होते हैं। इन्हें इन्द्रजव कहते हैं, और वे स्वाद में कड़वे होते हैं। **इन्द्रजव** तथा इसकी आर्द्र छाल का विशेष व्यवहार किया जाता है। इसी वृक्ष को श्वेत कुटज या पुंकुटज कहा जाता है तथा गुण में यह 'प्रतिनिधि तथा व्यामिश्रण' में लिखित राइटिया टिन्क्टोरिया, सं०—कृष्ण कुटज या स्त्रीकुटज जिसके बीजों को मीठा इन्द्रजव कहते हैं उससे उत्कृष्ट है।

रासायनिक संगठन—इसकी छाल एवं बीजों में अनेक प्रकार के क्षाराभ (Alkaloids) पाये जाते हैं जिनमें कोनेसाइन (Conessine, $C_{24} H_{40} N_2$), कुर्चिन (Kurchine, $C_{23} H_{38} N_2$), कुर्चिसीन (Kurchicine, $C_{20} H_{36} ON_2$) तथा होलेर्हेनाइन (Holarrhenine, $C_{24} H_{38} ON_2$) आदि मुख्य हैं। इसकी छाल में सम्पूर्ण क्षाराभों की अधिकतम मात्रा ४·५% से अधिक नहीं होती तथा बीजों में यह छाल की अपेक्षा कम होते हैं। प्रायः छाल में २·५% और बीज में ·०२५% यह रहते हैं।

इसके विभिन्न क्षाराभों का प्रयोग जानवरों पर तथा मनुष्यों में किया गया है तथा उसके परिणामों का अध्ययन किया गया है जिसमें सम्पूर्ण क्षाराभ अधिक उपयोगी सिद्ध हुआ है।

(१) संपूर्ण क्षाराभ (Total alkaloids)—नवीन आमातिसार (Acute Amoebic Dysentery) में इसकी ½ र० (१ ग्रेन) की मात्रा में प्रतिदिन पेश्यन्तर्य सूचिकाभरण करने से एमेटीन (Emetine) की अपेक्षा अधिक लाभ हुआ। एमेटीन के समान इससे कोई विषैला प्रभाव जैसे अवसाद (Depression), वमन, प्रक्षोभ (Irritation) एवं संचायि (Cumulative) प्रभाव नहीं हुआ। इसको प्र. दि. १ र० (२ ग्रेन) की मात्रा में भी सूचिकाभरण करने से एमेटिन के समान शारीरिक या मानसिक किसी भी प्रकार का अवसाद (Depression) नहीं होता। सिवाय अत्यधिक मात्रा के इसका गर्भाशय पर कोई विषैला प्रभाव नहीं पड़ता। इसके सूचिकाभरण के स्थान पर केवल कुछ पीड़ा एवं सूजन हो जाती है जो २४ से ४८ घन्टे में दूर हो जाती है। इससे कोई स्थानिक कोथ (Necrosis) या रक्तस्राव नहीं होता जैसा एमेटीन में होता है। पुराने रोगियों में इसके सूचिकाभरण से विशेष लाभ नहीं होता।

(२) **कुरची बिस्मथ आयोडाइड** Kurchi bismuth iodide)—यह नारंगी लाल रंग का चूर्ण होता है। इसमें २७% सम्पूर्ण क्षाराम तथा २२·८५% बिस्मथ तथा आयोडीन (Iodine) ५०·१५% रहता है। पुराने आमातिसार (Chronic Amoebic Dysentery) में इसका मुख द्वारा प्रयोग लाभदायक है। इसको ५ र० (१० ग्रेन) दिन में दो बार १० से २० दिन तक दिया जाता है। इससे नाडी की गति, वेग, बल एवं रक्त के दबाव पर कोई दुष्परिणाम नहीं होता। हृद्-विकारों के रोगियों में भी इसके देने से कोई विषैला प्रभाव नहीं दिखलाई देता। एमेटीन के समान वमन, अतिसार आदि अन्य प्रक्षोभक उपद्रव भी इसके प्रयोग से नहीं होते न कोई संचायि (Cumulative) प्रभाव ही होता है। इसके सेवन से ½ घंटा पूर्व क्षारीय मिश्रण देना चाहिये क्योंकि प्रायः अतिसार में पाखाने की प्रतिक्रिया अम्ल होती है जिसमें कुरची कम प्रभावशाली होती है। उपर्युक्त सूचिकाभरण के साथ इसका प्रयोग किया जा सकता है अथवा इसके साथ एमेटीन की सूई भी दी जा सकती है। इन क्षारामों का प्रभाव अमीबाजन्य यकृत विकृति पर अभी निश्चित नहीं हुआ है।

(३) **कोनेसाइन** (Conessine)—इस क्षाराम को भी सूचिकाभरण द्वारा दिया जा सकता है लेकिन इसकी अपेक्षा संपूर्ण क्षाराम का प्रयोग करना अधिक अच्छा है। जानवरों में प्रयोग से मालूम हुआ है कि यह हृदय, श्वसन-संस्थान तथा मस्तिष्क के लिये हानिकर है। यह २८०, ००० में १ हिस्से के अनुपात में भी अमीबा के लिये क्षारीय घोल में ८ मिनट में तथा बिना क्षारीय घोल में १८ मिनट में घातक है जब कि एमेटीन २००, ००० में १ भाग में घातक होती है। इसके सूचिकाभरण से भी संपूर्ण क्षाराम के समान स्थानिक प्रतिक्रिया होती है लेकिन जानवरों के समान मनुष्यों में कोई विशेष विषैला प्रभाव नहीं पड़ता। एक विशेष महत्त्व की बात यह है कि यह क्षाराम परख नली (In vitro) में क्षय दण्डाणु (Tubercle bacillus) की वृद्धि रोकने में समर्थ है

गुण और प्रयोग—इसकी आर्द्र छाल कड़वी, अग्निदीपक, पाचक, ग्राही, अतिसारहर, ज्वरहर एवं रक्तसंग्राहक है।

इसका प्रयोग रक्तातिसार, संग्रहणी, प्रवाहिका, ज्वरातिसार, जीर्णज्वर, पचन संस्थान के अनेक विकार, श्वास एवं वृक्कशूल आदि रोगों में किया जाता है। इसको पुटपाक, अवलेह, क्वाथ, फांट, चूर्ण या अरिष्ट के रूप में व्यवहार में लाते हैं। सुगन्धि, संग्राही तथा अतिसार-नाशक अन्य औषधियों के साथ इसके क्वाथ या चूर्ण का प्रयोग लाभदायक है। इसकी छाल को खट्टे मट्ठे के साथ पीस कर लेने से अधिक गुण होता है। यह बच्चों एवं गर्भिणी में बिना किसी भय के दी जा सकती है।

(१) अतिसार की किसी भी अवस्था में यह औषधि बहुत लाभदायक सिद्ध हुई है। विशेष कर रक्तातिसार तथा पुराने आमातिसार (Chronic amoebic dysentery) में इसके प्रवाही सत्त्व (Liquid extract) का स्वतंत्र प्रयोग या उसके साथ इसबगोल, एरंड तैल या इन्द्रजव आदि को देने से बहुत लाभ होता है। इसके क्वाथ या फांट के साथ अतीस, खोडवच या मोचरस मिलाकर दे सकते हैं। एमेटीन के सूचिकाभरण के साथ इसको मुख द्वारा लेने से अधिक लाभ देखा गया है। इससे बनी हुई औषधियां जैसे कुर्चिसॉल (Kurchisol), कुर्चिकाइड (Kurchiloid), कुर्चिबार्क एक्स्ट्राक्ट (Kurchi bark extract) आदि डाक्टरी दुकानों में बिकती हैं जिनका प्रयोग सुगम है एवं उनके क्षारामों की मात्रा भी निश्चित रहती है। कुटज एपिकाकुआन्हा के समान कार्यकर औषधि है तथा उसमें इसके कुछ भी दोष नहीं हैं। आयुर्वेदिक योगों में

अवलेहादि के अतिरिक्त कुटजाष्टक क्वाथ (शार्ङ्ग.) एवं पाठाद्य चूर्ण (चक्र.), लघु एवं बृहद् गंगाधर चूर्ण आदि उपयोगी हैं।

(२) प्रसूति के पश्चात् योनिमार्ग की शिथिलता दूर करने के लिए इसका प्रयोग किया जाता है।

(३) जीर्ण ज्वर में इसका प्रयोग लाभदायक सिद्ध हुआ है। इससे सिनकोना की तरह वमन, हृल्लास, शिरःशूल आदि नहीं होता।

(४) इसकी कोमल फली तथा पत्रों की साग बच्चों में केचुवें की बीमारी में देते हैं।

(५) इसका लेप आमवात एवं संधिशोथ में लाभदायक है तथा जलशोथ में इसके चूर्ण को शरीर पर मला जाता है।

(६) दन्तशूल में इसके क्वाथ से कुल्ला करने से लाभ होता है।

मात्रा—त्वक् चूर्ण १–४ मा; त्वक् चूर्ण १–४ तो. क्वाथ बना कर; फांट (१० में १) १ से २ औंस; प्रवाहीसत्त्व ६०–१२० बूंद; कुर्चि बिस्मथ आयोडाइड ४ ग्रा. दि. प्र. दि. २ हफ्ते तक।

नोट—इन्द्रयव प्रकरण भी देखें।

प्रतिनिधि और व्यामिश्रण—(क) राइटिया (Wrightia) की विभिन्न उपजातियाँ जैसे—रा० टिन्क्टोरिया, रा० टोमेन्टोसा, (W. tinctoria R. Br.; W. tomentosa Roem. & Schult.) विशेषकर रा० टिन्क्टोरिया का गलती से अथवा मिलावट के रूप में कुटज के स्थान पर प्रयोग किया जाता रहा लेकिन इनमें कार्यकारी औषधि गुण बहुत ही अल्प मात्रा में रहते हैं। इसके वृक्ष छोटे तथा इसकी छाल लाल-भूरे रंग की करीब-करीब चिकनी होती है। इसके मूल गहरे भूरे रङ्ग के या काले तथा कुटज से कम कड़ुवे होते हैं। इसके पत्र कुटज से छोटे होते हैं। इसके पुष्प श्वेत चमेली की तरह तथा सुगन्धित होते हैं। फलियां दो-दो एक साथ अग्रपर परस्पर जुड़ी हुई (फटने के समय दोनों अलग), ६-१२ इञ्च लम्बी और पृष्ठ पर सफेद दागों से युक्त होती है। बीज ½ से ¾ इञ्च लम्बे, आधार के निचले सिरे पर श्वेत रेशमी तूल गुच्छ से युक्त एवं अन्त में नुकीले होते हैं। संस्कृत में इसको असित कुटज या स्त्रीकुटज कहते हैं तथा इसके बीजों को हिन्दी में मीठा इन्द्रजव कहा जाता है।

गुण और प्रयोग—अल्प मात्रा में इससे आमाशय तथा यकृत की क्रिया सुधरती है लेकिन अधिक मात्रा से वमन तथा विरेचन होता है।

(१) इसके पत्तों का स्वरस ½ चम्मच की मात्रा में कर्नाटक, तेलगुप्रांत और मद्रास की तरफ कामला के लिये बहुत व्यवहार में आता है।

(२) सड़े हुये दाँत के गढ़े के अन्दर इसके पत्तों को पीसकर रखने से दन्तशूल दूर होता है लेकिन यह मसूड़े तथा गाल में नहीं लगाना चाहिये, अन्यथा इससे दाह उत्पन्न होता है।

(३) इसके पत्तों तथा छाल का क्वाथ अन्य कड़ुवी औषधियों के साथ दीपक, पाचक, बल्य तथा ज्वरहर है। इसका उपयोग ज्वर के पश्चात् अथवा अन्य तीव्र रोगों की संनिवृत्तावस्था में एवं पचनसंस्थान के विकारों (Bowel complaints) में किया जाता है।

(४) मीठा इन्द्रजव बलवर्धक है तथा धातुपौष्टिक के रूप में इसका प्रयोग किया जाता है।

अथ कण्टककरञ्जघृतकरञ्जौ। (करञ्ज-करञ्जभेद)। तयोर्नामानि गुणाँश्चाह

करञ्जो नक्तमालश्च करजश्चिरबिल्वकः। घृतपूर्णकरञ्जोऽन्यः प्रकीर्यः पूतिकोऽपि च ॥ ११९ ॥
स चोक्तः पूतिकरञ्जः सोमवल्कश्च स स्मृतः।

करञ्जः कटुकस्तीक्ष्णो वीर्योष्णो योनिदोषहृत्।
कुष्ठोदावर्त्तगुल्मार्शोव्रणक्रिमिकफापहः ॥ १२० ॥

करञ्ज के भेद, नाम तथा गुण—करञ्ज के दो भेद होते हैं—१ कण्टककरञ्ज, २ घृतकरञ्ज। 'कण्टककरञ्ज' के संस्कृत नाम—करञ्ज, नक्तमाल, करज और चिरबिल्वक ये सब हैं। 'घृतकरञ्ज' के संस्कृत नाम—प्रकीर्य, पूतिक, पूतिकरञ्ज और सोमवल्क ये सब हैं। करञ्ज—कटुरसयुक्त, तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, योनिदोष को दूर करने वाला तथा कुष्ठ, उदावर्त्त, गुल्म, बवासीर, व्रण, कृमि तथा कफ का नाशक होता है ॥ ११९-१२० ॥

अथ करञ्जपत्रफलगुणानाह

तत्पत्रं कफवातार्शःकृमिशोथहरं परम्। भेदनं कटुकं पाके वीर्योष्णं पित्तलं लघु ॥ १२१ ॥
तत्फलं कफवातघ्नं मेहार्शःकृमिकुष्ठजित्। घृतपूर्णकरञ्जोऽपि करञ्जसदृशो गुणैः ॥ १२२ ॥

करञ्ज के पत्ते तथा फलों के गुण—**करञ्ज के पत्ते** कफ, वायु, बवासीर, कृमि तथा शोथ को अत्यन्त नष्ट करने वाले होते हैं। ये मल को भेदन करने वाले, पाक में कटु रस युक्त, उष्णवीर्य, पित्तजनक तथा लघु होते हैं। **इसके फल**—कफ, वात, प्रमेह, बवासीर कृमि और कुष्ठ नाशक होते हैं। **घृतकरञ्ज** के गुण भी करञ्ज के समान ही हैं ॥ १२१-१२२ ॥

नोट—भावप्रकाशकार करञ्ज के ३ भेद १. करञ्ज (नक्तमाल, चिरबिल्व), २. घृतकरञ्ज (प्रकीर्य, पूतिकरञ्ज, सोमवल्क) एवं ३ करञ्जी (उदकीर्य, षड्ग्रन्था, हस्तिवारुणी) लिखते हैं जिनमें से प्रथम दो के गुण समान लिखे हैं। अन्य निघंटुकारों ने भी इसके कई भेदों का उल्लेख किया है किन्तु इनके पर्यायवाची नामों के कारण भ्रम उत्पन्न होता है। उन्हीं नामों को किसी ने एक के साथ जोड़ा है तो किसी ने दूसरों के साथ जोड़ा है। इस तरह यह कहना कठिन है कि जिसे भावप्रकाशकार करञ्ज लिखते हैं उसी को अन्य निघंटुकारों ने करञ्ज माना है या जिसे ये घृतकरञ्ज एवं करञ्जी लिखते हैं उसे ही अन्य निघंटुकारों ने भी घृतकरञ्ज एवं करञ्जी माना है।

आधुनिक विद्वानों ने भी (वृक्ष) करञ्ज, कंटकरञ्ज एवं चिरबिल्व नाम से इसके ३ भेदों का वर्णन किया है। भावप्रकाशकार चिरबिल्व करञ्ज का पर्याय मानते हैं। कुछ विद्वान् उदकीर्य नाम करञ्ज को देते हैं जो यहाँ करञ्जी के लिये आता है। प्रकीर्य नाम कण्टकरञ्ज के लिये कहा जाता है। यहाँ पर वृक्ष करञ्ज एवं लताकरञ्ज का स्वतन्त्र वर्णन किया गया है तथा करञ्जी के अन्तर्गत चिरबिल्व का वर्णन किया गया है।

५३ करञ्ज (वृक्ष करञ्ज)

सं०—करञ्ज, नक्तमाल, उदकीर्य। **हिं०**—करञ्ज, करञ्जवा, किरमाल, पापर, दिठोरी। **बं०**—डहर करञ्जा। **म०**—करञ्ज। **गु०**—कणझी, करञ्ज। **पं०**—सूचचेइन। **ता०**—पुंगम्, पुंकु। **ते०**—पुंगु, कानुगुचेट्टु। **मला०**—पोन्नम्, उन्नेमरम्। **कं०**—होंगे। **अं०**—Smooth Leaved Pongamia (स्मूथ लीव्ड पोंगेमिया), Indian Beech (इण्डियन बीच)। **ले०**—*Pongamia glabra Vent.* (पोन्गेमिआ ग्लॅब्रा वेण्ट.)। Fam. Leguminosae (लेगुमिनोसी)।

यह प्रायः सब प्रान्तों में पाया जाता है। सड़कों के किनारे, बगीचों में एवं नदी तथा समुद्री किनारों पर यह बहुत पाया जाता है। इसका वृक्ष साधारण वृक्षों की ऊँचाई का होता है और सदा हरा-भरा रहता है। इसकी छाया ठण्डी और प्रिय होती है। शाखायें लटकी हुई

होती हैं। **पत्ते**—पक्षवत्, ८-१४ इञ्च लम्बे एवं पत्रदण्ड आधार पर फूला हुआ होता है। **पत्रक**—हरे रङ्ग के चमकीले, चिकने, संख्या में ५-७, आयताकार या लट्वाकार, नुकीले, २-५ इञ्च लम्बे एवं छोटे वृन्त से युक्त होते हैं। **फूल**—जरा गुलाबी और आसमानी छाया लिये हुये श्वेतवर्ण के गुच्छों में आते हैं। एक दलपत्र बड़ा होता है जो अन्य चार दलपत्रों को ढक कर रखता है। सूखने के पहिले ही असंख्य संख्या में पुष्प जमीन पर गिर कर भूमि को आच्छादित कर देते हैं। **फलियाँ**—चिकनी, चिपटी, कठोर, एक बीजयुक्त, गहरे धूसर रङ्ग की तथा १-२ इञ्च लम्बी सेम के आकार की होती हैं। **बीज**—चिपटे कृष्णाभ रक्त वर्ण के कुछ सिकुडनदार गोलाई लिये आयताकार एवं तैल युक्त होते हैं।

इसके पत्र, कांड एवं मूल की त्वचा, तैल एवं बीजों का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है। बीजों का तैल जलाने के काम भी आता है।

रासायनिक संगठन—इसके बीजों में २७-३६·४% एक कडुवा, भूरे रङ्ग का एवं विशिष्ट गन्ध का तैल पाया जाता है। इसे पोन्गेमॉल (Pongamal) या होंगे तैल (Hongay oil) कहते हैं। इस तैल से करंजीन (Karanjin, S_{18} H_{12} O_4) नामक एक रवेदार पदार्थ प्राप्त किया गया है। बीजों में अत्यल्प मात्रा में उड़नशील तैल रहता है। इसकी छाल में एक क्षाराभ एवं हरिताभ भूरे रंग की अम्लस्वभावी राल पाई जाती है।

गुण और प्रयोग—करंज कुष्ठघ्न, आमवातघ्न, कृमिघ्न, व्रणरोपण, कासहर, पाचन एवं त्वचा के रोगों में लाभदायक है।

(१) इसके बीजों का तैल बहुत अच्छा कृमिघ्न, पराश्रयी जीवाणुनाशक तथा व्रणरोपक है। खुजली (Scabies) के लिये यह बहुत उपयोगी है। यह दद्रु, पामा, विचर्चिका, विसर्प, तर की खुजली, परिसर्प (Herpes) आदि त्वचा के रोगों में एवं संधिवात में लाभदायक है। त्वचा के रोगों में इसके साथ समान मात्रा में नींबू का रस मिलाकर लगाते हैं।

(२) वातिक पीड़ा, आमवात तथा संधिवात में इसके पत्तों के क्वाथ से सेंकते हैं तथा इसके बीजों के तैल से मालिश करते हैं।

(३) दुर्गन्धयुक्त व्रण की शुद्धि के लिए तथा नाडीव्रण के पूरण के लिये इसके मूल का स्वरस लगाते हैं।

(४) सोजाक में इसकी जड़ का स्वरस, नारियल का दूध एवं चूने का जल मिलाकर देते हैं।

(५) इसके बीजों का चूर्ण ज्वरहर तथा बल्य मानते हैं। कुकास एवं अन्य प्रकार की खाँसी में इसके बीज को घिसकर देने से लाभ होता है।

(६) इसके पत्तों को अपचन, अतिसार, आध्मान तथा गुल्म में खिलाते हैं। इससे उदरशूल कम होता है एवं अन्न का पाचन भी ठीक होता है। शीतपित्त में पत्र-स्वरस, दही, नमक एवं काली मिर्च के साथ देते हैं।

(७) मधुमेह में इसके पुष्पों का फाण्ट पिलाते हैं। खालित्य में पुष्प पीस कर सर पर बाँधते हैं।

(८) व्रणशोथ पर इसके पत्तों को निर्गुण्डी के पत्तों के साथ पीस कर बाँधने से सूजन कम हो जाती है।

(९) रक्तार्श में इसके मूल को गोमूत्र में पीस कर पिलाते हैं तथा पथ्य में तक्र देते हैं।

मात्रा—बीज ½-२½ रत्ती बच्चों को, १ माशा बड़ों को;
मूलस्वरस ३ माशा; छाल १-३ माशा।

५४ करंज (कंट करंज)

सं०–पूतिकरंज, लताकरंज, कण्टकिकरंज, विटपकरंज, कुबेराक्ष, प्रकीर्य। **हिं०**–करंज, करंजवा, करंजुआ, कंटकरंज (जा), कंजा, करंजु, कट्कलेजा, सागरगोटा। **बं०**–काँटा करंजा, नाटा करंजा, नाटा। **म०**–सागर गोटा, गज्रा, गजरघोटा, गाजगा। **गु०**–कांचका, कांक। **क०**–गज्जिकेकायि। **ते०**–गच्चकाय। **ता०**–कझ शिके। **मला०**–कलंचिकुरु। **फा०**–खाये इब्लीस। **अ०**–अक्तमक्त, इज्रुलविलादत। **अं०**–Bonduc nut (बॉण्डक् नट्); Physic nut (फिझिक् नट्); Fever nut (फीवर् नट्)। **ले०**–*Caesalpinia bonducella Fleming* (सिसल्पिनिआ बॉण्ड्युसेल्ला फ्लेमिंग); C. crista Linn. (सि. क्रिस्टा लिन.)। Fam. Leguminosae (लेगुमिनोसी)।

यह भारतवर्ष, बर्मा एवं लंका के उष्ण प्रदेशों में विशेषकर समुद्री किनारों पर तथा पहाड़ियों पर २५०० फीट की ऊँचाई तक पाया जाता है। यह बंगाल तथा दक्षिण में बहुत होता है। इसे खेत और बागों की मेंड पर लगाते हैं।

इसके सघन एवं विस्तृत कांटेदार **गुल्म** या लता होती है। **शाखाएं**–फैली हुई तथा आरोहणशील होती हैं। इन पर सीधे, तीक्ष्ण तथा पीले रंग के कांटे होते हैं। छोटी शाखाएं घनरोमश होती हैं। **उपपत्र** (Stipules) ६–८ जोड़े, २–३ इञ्च लंबे तथा पत्र के आधार पर रहते हैं। **पत्ते**–संयुक्त द्विपक्षाकार तथा १–२ फीट लंबे होते हैं। पत्रदण्ड के कांटे टेढ़े होते हैं। **पत्रक**–६–९ जोड़े, ३/४–१ १/४ इञ्च लंबे, १/२–१ इञ्च चौड़े, मुलायम, पतले, लट्वाकार, आयताकार, रोमश कुण्ठिताग्र, ऊपर से चिकने किन्तु अधो पृष्ठ मृदुरोमश एवं अत्यन्त सूक्ष्म वृन्त से युक्त होते हैं। **पुष्प**–हल्के पीले तथा लंबी मंजरियों में होते हैं। **फलियां**–चौड़ी, आयताकार, २–३ इञ्च लंबी, करीब २ इञ्च चौड़ी, १–२ बीजों से युक्त और ऊपर से कांटों से ढकी रहती हैं। **बीज**–संख्या में १–२, गोल या अंडाकार, करीब १/२–३/४ इञ्च बड़े, सीसे के रंग के चिकने तथा कठोर आवरण वाले होते हैं। बीजों के अन्दर पीताभ श्वेत रंग का गूदा रहता है जो स्वाद में अत्यन्त कड़वा होता है।

बीजों को फूलने तक सेंक कर या केवल फोड़कर अन्दर का गूदा निकालकर काम में लाया जाता है। इसके अतिरिक्त पत्र एवं मूलत्वक् का भी चिकित्सा में उपयोग किया जाता है। इसके बीजों में मज्जा करीब ४२% एवं छिलका ५८% होता है।

रासायनिक संगठन—इसके बीजों में बोण्ड्युसिन (Bonducin, $C_{20}H_{28}O_8$) नामक एक कडुआ ग्लुकोसाइड चूर्णरूप में पाया जाता है। यह श्वेत रंग का होता है। यह जल में नहीं घुलता किन्तु मद्यसार तथा तैलों में घुल जाता है। इसके अतिरिक्त बीजों में २०–२४% हलके पीले रंग का गाढा दुर्गन्धयुक्त तैल, स्टार्च, शर्करा, सिटोस्टेरॉल् (Sitosterol), फाइटोस्टेराल् (Phytosterol) एवं हेप्टोकोसेन (Heptocosane) ये पदार्थ पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—इसके बीजों की मज्जा उष्ण, रूक्ष, बल्य, नियतकालिक ज्वर प्रतिबन्धक, ज्वरहर, शोथघ्न, अल्प स्तम्भन, रक्तस्तम्भक, वेदनाहर एवं कृमिघ्न है। इसका उपयोग विषमज्वर, सूतिकाज्वर, शूल, श्वास, वातविकार, चर्मरोग, शोथ एवं व्रण आदि में किया जाता है।

(१) इसके बीज अर्धविसर्गीज्वर, साधारणज्वर, संतत ज्वर, शीतज्वर तथा विशेषकर मलेरिया (Malaria) के लिये बहुत ही लाभदायक हैं। बीजों का चूर्ण काली मिरिच के साथ ५–१० र० की मात्रा में ज्वर आने के पूर्व दिया जाता है। इसे खाली पेट नहीं देना चाहिये। क्विनीन की तरह ही यह लाभदायक माना जाता है। ज्वर के पश्चात् बल्य रूप में भी इसका प्रयोग करते हैं।

(२) सूतिकाज्वर में या प्रसूतावस्था में बीजों के प्रयोग करने से सभी प्रकार से लाभ होता है। इससे ज्वर कम होता है। गर्भाशय का संकोच होता है, शूल कम होता है, आर्तव शुद्धि होती है एवं यदि कहीं व्रण हुआ हो तो वह भी अच्छा हो जाता है।

(३) उदरशूल में वेदना कम करने के लिये तथा वमन में करीब १ बीज की १/२ मज्जा, २, ३ लौंग के साथ देते हैं। शूल में इसका धूम्रपान भी लाभदायक होता है। अजीर्ण में हींग के साथ इसका उपयोग किया जाता है। कुपचन में मिरिच के साथ इसका चूर्ण मट्ठे के साथ देते हैं। रक्तातिसार में गाँजा के साथ इसका उपयोग किया जाता है।

(४) क्षयज कास तथा श्वास में बीजों का क्वाथ पिलाते हैं।

(५) इसके बीजों का चूर्ण एरंडपत्र पर डालकर अंडवृद्धि एवं अंडशोथ पर बाँधते हैं तथा इसको खिलाते हैं। इसके (पूतिकरंज) पत्तों का स्वरस श्लीपद में लाभदायक होता है (सु० चि० १९)। बीजों को पीसकर एरंड तैल के साथ अन्य प्रकार के शोथ पर भी बाँधते हैं।

(६) बीजों को दबाकर निकाला हुआ तैल मुँह पर के दाग, तारुण्यपिटिका एवं आमवात में लगाया जाता है। कर्णस्राव में इसे डालते हैं। दुष्टव्रण एवं क्षत आदि में इससे लाभ होता है। बीजों को तैल में पकाकर सिद्ध किया हुआ तैल भी इस प्रकार उपयोग में लाया जाता है।

(७) इसकी जड़ एवं पत्ते ज्वरघ्न हैं। इसके पत्तों का स्वरस जीर्णज्वर, शीतपित्त, उपदंश की द्वितीयावस्था में उत्पन्न चर्मविकार, कृमि एवं यकृत विकार में दिया जाता है।

मात्रा—बीजमज्जा ५–१० र०; मूल ५–१० र०; पत्रस्वरस १–२ तो०।

अथ करंजी (अरारी)। तस्या नामगुणानाह

उदकीर्यस्तृतीयोऽन्यः षड्ग्रन्था हस्तिवारुणी।
मर्कटी वायसी चापि करञ्जी करभञ्जिका ॥ १२३ ॥
करञ्जी स्तम्भनी तिक्ता तुवरा कटुपाकिनी।
वीर्योष्णा वमिपित्तार्शःकृमिकुष्ठप्रमेहजित् ॥ १२४ ॥

करञ्ज के उक्त भेदों से भिन्न एक तीसरा करञ्ज और होता है जिसे करञ्जी (अरारी) कहते हैं, इसके नाम तथा गुण—उदकीर्य, षड्ग्रन्था, हस्तिवारुणी, मर्कटी, वायसी, करञ्जी और करभञ्जिका ये सब करञ्जी के संस्कृत नाम हैं। करञ्जी–स्तम्भक, तिक्त तथा कषाय रस युक्त, पाक में कटु रस युक्त और उष्णवीर्य होती है। यह—वमन, पित्त, बवासीर, कृमि, कुष्ठ तथा प्रमेह को दूर करने वाली होती है ॥ १२३–१२४ ॥

नोट—यह भी करंज का एक भेद है। पहले वर्णन किये हुए वृक्ष करंज एवं लताकरंज के अतिरिक्त एक तीसरा भेद चिरबिल्व नाम से पाया जाता है जिसका यहां वर्णन किया गया है। भावप्रकाशकार चिरबिल्व नाम नक्तमाल के पर्याय में लेते हैं। कुछ लोग उदकीर्य नाम नक्तमाल के लिये उचित मानते हैं जो यहां करंजी के पर्याय में आया है।

५५ चिरबिल्व (करंजभेद)

सं०–चिरबिल्व, पूतिकरंज। **हिं०**–चिलबिल, चिरमिल, पापरी, करंजी, बनचिल्ला। **म०**–वावल। **गु०**–कणझो, चरेल। **उड़ि०**–दुरंजा, करंजी। **ता०**–अयम्। **ते०**–नविलि **क०**–रसबिज। **ले०**–*Holoptelia integrifolia Planch.* (हॉलोप्टेलिआ इन्टेग्रिफोलिआ प्लँच)। Fam. Ulmaceae (अल्मेसी)।

यह हिमालय के निचले प्रदेश, अजमेर, बुंदेलखंड, बिहार, आसाम एवं पश्चिम प्रायद्वीप में प्रायः घाटियों तथा नदियों के किनारे पाया जाता है।

इसके **वृक्ष**–छोटे या बड़े एवं करंज के समान ही दिखलाई देते हैं। **शाखाएँ**–लटकी हुई, गुच्छाकार तथा श्वेत रंग की होती हैं। **काण्ड**–मजबूत होता है। **पत्ते**–दो कतारों में निकले हुये, अण्डाकार या लट्वाकार, प्रायः (परिपक्व) अखण्ड, २-४·५ इञ्च लम्बे, १·५-७·७५ इञ्च चौड़े, नोकदार, दुर्गन्ध युक्त एवं बिन्दुकित होते हैं। हरे पत्तों में पारदर्शक बिन्दु होते हैं। शुष्क पत्तों में अधर तल पर छोटे छोटे उभरे हुये बिन्दु दिखाई देते हैं। **पुष्प**–बहुत छोटे, हरित, शाखाओं के अग्र पर गुच्छों में पतझड़ होने पर निकलते हैं। **फल**–सपक्ष, चिपटा, प्रायः १ इञ्च लम्बा, गोल या अण्डाकार एवं नताग्र होता है। फल भेद से इसके ३, ४ भेदों का उल्लेख है। इसके पत्तों एवं काष्ठ में दुर्गन्ध होती है।

रासायनिक संगठन—इसकी छाल में लुआबदार पदार्थ बहुत होता है।

गुण और प्रयोग—यह शोथहर, शोणितोत्क्लेशक एवं करंज के समान गुण वाला है। इसकी छाल को उबाल कर उसका लुआब अथवा मूल को पीस कर संधिशोथ पर लगाते हैं तथा उबली हुई छाल को ऊपर से बांध देते हैं। इसके पत्तों का कल्क तैल में उबाल कर वह तैल व्रण पर लगाते हैं। दाद पर बीज को जल में घिसकर लगाया जाता है।

अथ गुञ्जा-श्वेता रक्ता च। तयोर्नामगुणानाह

श्वेता गुञ्जोच्चटा प्रोक्ता कृष्णला चापि सा स्मृता।
रक्ता सा काकचिञ्ची स्यात्काकणन्ती च रक्तिका ॥ १२५ ॥
काकादनी काकपीलुः सा स्मृता काकवल्लरी।
गुञ्जाद्वयन्तु केश्यं स्याद्वातपित्तज्वरापहम् ॥ १२६ ॥
मुखशोषभ्रमश्वासतृष्णामदविनाशनम्। नेत्रामयहरं वृष्यं बल्यं कण्डूं व्रणं हरेत् ॥ १२७ ॥
कृमीन्द्रलुप्तकुष्ठानि रक्ता च धवलाऽपि ॥ १२८ ॥

सफेद तथा लाल गुञ्जा के नाम तथा गुण—श्वेतगुंजा, उच्चटा (श्वेतोच्चटा), और कृष्णला ये सब संस्कृत नाम सफेद घुँघुची के हैं। लाल घुँघुची के संस्कृत नाम—रक्तगुञ्जा, काकचिञ्ची, काकणन्ती, रक्तिका, काकादनी, काकपीलु और काकवल्लरी ये सब हैं। **दोनों प्रकार की घुँघुची** केश के लिये हितकर, वात, पित्त, ज्वर, मुख का सूखना, भ्रमरोग, श्वास, तृषा, मद तथा नेत्ररोग को नष्ट करने वाली होती है। यह वृष्य, बलकारक तथा खुजली, व्रण, कृमि, इन्द्रलुप्तरोग तथा कुष्ठ **इन सबों को भी दूर करनेवाली होती है** ॥ १२५-१२८ ॥

५६ गुञ्जा (श्वेत, रक्त)

हि०–गुंजा, घुंघची, घुँघुची, चिरमी, चिरमिटी, घुमची, करजनी, रत्ती, चौंटली। **बं०**–कुँच। **म०**–गुञ्ज। **गु०**–चणोठी। **क०**–गुलगुंति, गुरुगुञ्जी। **मल०**–कुन्नि। **ता०**–कुन्यमणि, कुँरि। **पं०**–चमेंटी। **ते०**–गुरुगिंज। **फा०**–चस्मे खरूस, सुर्ख। **अं०**–Jequirity (जेक्विरिटी)। **ले०**–*Abrus precatorius Linn.* (एब्रस् प्रिकेटोरिअस् लिन.)। Fam. Leguminosae (लेगुमिनोसी)।

गुंजा प्रायः सब प्रान्तों के जङ्गल-झाड़ियों में उत्पन्न होती है तथा हिमालय में ३००० फीट की ऊँचाई तक पायी जाती है। इसकी **लता**–सुन्दर तथा चक्रारोही होती है। **शाखायें**–पतली, लचीली तथा काष्ठमय होती हैं। यह बरसात के दिनों में खूब हरी भरी दिखाई देती है। **पत्ते**–इमली के जैसे, २–३½ इञ्च लम्बे, युग्म पक्षाकार होते हैं। **पत्रक**–१०–२० जोड़े, विपरीत, आधे से एक इञ्च लम्बे, ¾ इञ्च तक चौड़े, रेखाकार-आयताकार, अखण्ड तथा दोनों सिरों पर कुछ गोल एवं स्वाद में मीठे रहते हैं। **पुष्प**–वर्षाकाल में ३ इञ्च लम्बी और गुच्छे में निकली हुई मञ्जरियों में प्रायः सफेद या गुलाबी छाया लिये हुये या हलके बैंगनी रङ्ग के आते हैं। **फली**–१–१½ इञ्च लम्बी नुकीली तथा गुच्छों में आती है। यह शीतकाल के अन्त तक पक जाती है। **बीज**–छोटे, चिकने, चमकीले, कड़े, काले दाग के साथ और सिन्दूरवर्ण के या कभी कभी बिलकुल श्वेत रंग के या बिलकुल काले, संख्या में ३–६ तथा अण्डाकार होते हैं। इसकी **जड़**–काष्ठमय, अनेक शाखाओं से युक्त टेढ़ी मेढ़ी होती है।

नोट—मूलविषों के अन्तर्गत सुश्रुत में इसका उल्लेख है (सु० क० अ० २)। चरक में स्थावर विष वर्ग में इसका पाठ नहीं है। उच्चटा नाम से वाजीकरण के लिये इसका प्रयोग किया गया है। गुञ्जा बीज में जो विष होता है वह उबालने से नष्ट हो जाता है तथा इसका विषैला प्रभाव केवल अधस्त्वगीय प्रवेश से ही होता है। वंगसेन ने गृध्रसी में वेदना शान्ति के लिये शिराप्रच्छन्न करके गुञ्जाकल्क लेप का निर्देश किया है।[1] बाह्य प्रयोग में गुञ्जा की उपयोगिता होने पर शुद्ध गुञ्जाबीज का ही व्यवहार करना चाहिये।

इसकी जड़ गुणों में कुछ कुछ **मुलेठी के समान** होती है तथा उसमें भी मुलेठी में पाया जाने वाला ग्लिसिहाइझिन् (Glycyrrhizin) नामक तत्त्व होता है। इस कारण कभी कभी मुलेठी के प्रतिनिधि रूप में यह ले ली जाती है। किन्तु इसे मुलेठी मानना उचित नहीं है। गुञ्जा की जड़, शोधित (श्वेत) बीज एवं पत्र का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है।

रासायनिक संगठन—गुंजा के बीजों में ॲब्रिन् (Abrin) नामक एक विषैला तथा प्रक्षोभक प्रभूजिन जातीय द्रव्य है। इसके अतिरिक्त बीजों में विषैले प्रभूजिन जातीय अन्य द्रव्य, वसाविच्छेदक किण्व (Fat-splitting enzyme), ॲब्रूसिक् ॲसिड (Abrussic acid), हीमॅग्लूटिनिन् (Haemagglutinin) एवं यूरिएस् (Urease) पाये जाते हैं। बीजों के छिलकों में लाल रंजक द्रव्य होता है।

इसके मूल में मुलेठी में पाया जाने वाला द्रव्य ग्लिसिहाइझिन् (Glycyrrhizin) करीब १५% एवं अम्ल राल ८% पाई जाती है।

इसके पत्तों में भी करीब १०% ग्लिसिहाइझिन् (Glycyrrhizin) एवं ॲब्रिन् (Abrin) रहता है।

ॲब्रिन् (Abrin) यह अत्यन्त विषैला द्रव्य है। इसमें ग्लोब्युलिन् (Globulin) एवं ॲल्ब्युमोस (Albumose) ये दो प्रभूजिन (Protein) होते हैं जिनमें से प्रथम अधिक शक्तिशाली है। यह द्रव्य उबालने से नष्ट हो जाता है। इसको एरंड बीज में पाये जाने वाले रिसिन (Ricin) सदृश मानते हैं। शरीर भार के प्रति किलोग्राम के लिये १/५००० से १/२००० मिलिग्राम की मात्रा में इसका अधस्त्वगीय सूचिकाभरण घातक होता है। बीजों के क्वाथ को आँखों में डालने से भी मृत्यु हो सकती है क्योंकि वहाँ अत्यन्त तीव्र प्रक्षोभ उत्पन्न होता है तथा विष का प्रचूषण होता है। त्वचान्तर्गत प्रयोग से स्थानिक अत्यन्त तीव्र प्रक्षोभ उत्पन्न होकर शोथ एवं त्वचा में रक्तस्राव होता है। मुख द्वारा सेवन से इससे अल्प या बिलकुल ही प्रक्षोभ नहीं होता एवं आमाशय में पहुँचने पर यह विषरहित हो जाता है। जानवरों में अतिसूक्ष्मातिसूक्ष्म मात्रा में

१. द्वित्रिस्थानेषु गृध्रस्यां शिरा प्रच्छन्नवेधिता। गुञ्जाकल्केन लिप्ता च सद्यस्त्यजति वेदनाम् ॥ वंगसेनः॥

सूचिकाभरण से उनमें इस विष के प्रति सहनशीलता उत्पन्न हो जाती है। चर्मकार चर्म के लोभ में जानवरों को मारने के लिये बीजों की वर्ति बनाकर चमड़े में प्रवेश करते थे। गर्भपात कराने के लिये भी इस प्रकार की वर्तियों का उपयोग किया जाता था।

शोधन—श्वेतगुंजा के बीज गोदुग्ध में १ प्रहर उबाल कर, छिलके निकाल कर गरम जल से धोकर फिर प्रयोग करना चाहिये। कांजी में भी स्वेदन करने से इसकी शुद्धि हो जाती है।

विष प्रभाव—बिना शोधन के बीजों का प्रयोग तीव्र वामक एवं विरेचक होता है। अधिक मात्रा में प्रयोग से भी इस प्रकार के विसूचिका सदृश लक्षण उत्पन्न होते हैं। यदि इसके प्रयोग से बेचैनी आदि हो तो चौलाई का रस मिश्री मिला कर पिलाना चाहिये तथा ऊपर से दूध पिलाना चाहिये।

गुण और प्रयोग—गुंजा की जड़ की क्रिया मुलेठी की तरह होती है। पत्ते भी मधुर होते हैं। यह भी मुलेठी की ही तरह मधुर, स्नेहन, कफ शामक, मूत्रजनन एवं व्रणरोपण है। इसके बीज उष्ण, बल्य, वृष्य, केश्य, वातहर एवं स्थानिक प्रक्षोभक हैं।

(१) स्वरभंग में श्वेत गुंजा के पत्र कबाबचीनी के साथ या अकेले मिश्री मिलाकर चूसने को दिये जाते हैं। मुखपाक में भी पत्र चूसने से लाभ होता है। वेदनायुक्त शोथ पर पत्र स्वरस या पत्र कल्क को तैल में मिलाकर लगाया जाता है। व्रण पर भी इसका उपयोग करते हैं। उपदंश में लाल गुंजा के पत्र ½ माशा, जीरा २ माशा तथा मिश्री १ तोला मिलाकर दिन में दो बार ७ दिन तक प्रयोग किया जाता है।

(२) वीर्य विकार में २ माशे जड़ को दूध में पका कर भोजन के पूर्व रात में देते है। कास तथा मूत्र रोगों में भी जड़ का अन्य औषधों के साथ उपयोग करते हैं।

(३) इसकी जड़ तथा फल से सिद्ध तैल गण्डमाला, गलग्रन्थि आदि पर लगाया जाता है तथा उसका नस्य देते हैं।

(४) दाद तथा खुजली पर बीजों के कल्क तथा भृंगराजपत्र-स्वरस से सिद्ध तैल का उपयोग किया जाता है। श्वेत कुष्ठ में तैलपाक के पूर्व उसमें चित्रककल्क मिलाते हैं। पत्रस्वरस का भी चित्रकमूल के साथ श्वेत कुष्ठ में प्रयोग किया जाता है।

(५) ऊपरी या छिलका निकाले बीजों का फांट आँखों की फूली या रोहा में प्रक्षोभक औषध के रूप में उपयोग किया जाता था किन्तु कभी-कभी इससे अनियंत्रित शोथ आदि होकर आँख भी नष्ट हो जाने के कारण अब इसका उपयोग नहीं करते हैं।

(६) बीजों का कल्क खालित्य, गृध्रसी, अंगघात तथा अन्य वातिक विकारों पर लगाते हैं।

मात्रा—मूल २-४ माशा, बीज ½-१½ रत्ती।

अथ कपिकच्छूः (कौंच) । तस्या नामगुणानाह

कपिकच्छूरात्मगुप्ता वृष्या प्रोक्ता च मर्कटी। अजडा कण्डुरा व्यङ्गा दुःस्पर्शा प्रावृषायणी॥
लाङ्गली शूकशिम्बी च सैव प्रोक्ता महर्षिभिः।
कपिकच्छूर्भृशं वृष्या मधुरा बृंहणी गुरुः। तिक्ता वातहरी बल्या कफपित्तास्रनाशिनी॥

कौंच (केवांच) के नाम तथा गुण—कपिकच्छू, आत्मगुप्ता, वृष्या, मर्कटी, अजडा, कण्डुरा, व्यङ्गा, दुःस्पर्शा, प्रावृषायणी, लाङ्गली और शूकशिम्बी ये सब कौंच के पर्यायवाचक शब्द महर्षियों ने कहे हैं। कौंच—अत्यन्त वृष्य, मधुर तथा तिक्तरस युक्त, बृंहण, गुरु, वातनाशक, बलकारक तथा कफ, पित्त एवम् रक्तदोष नाशक है॥ १२९-१३०॥

अथ तद्बीजगुणानाह

तद्बीजं वातशमनं स्मृतं वाजीकरं परम्॥ १३१॥

इसके बीज के गुण—कौंच के बीज-वातशामक एवम् अत्यन्त वाजीकरण हैं॥ १३१॥

५७ कपिकच्छू (केवाँच)

हि०–केवाँच, कौंच, कौछ, केवाछ, खुजनी। **बं०**–आलकुशी। **म०**–खाज कुहिली, कुहिली, कवच। **गु०**–कवच, कौंचा। **क०**–नासुगुन्नी। **ते०**–पिल्लि अडुगु। **ता०**–पुनाइक काली, पुनैकलि। **पं०**–कवांच, कूंच। **अं०**–Cowhage (काउहेज); Cowitch (काउइच)। **ले०**–*Mucuna pruriens Bek.* (म्युक्युना प्रुरिएन्स बेक्)। Fam. Leguminosae (लेगुमिनोसी)।

यह भारतवर्ष के सभी मैदानी भागों में एवं लंका तथा बर्मा में पाया जाता है। यह सभी उष्ण प्रदेशों में होता है एवं इसकी खेती भी की जाती है।

इसकी लता-पतली, चक्रारोही, एकवर्षायु तथा चौमासे में अधिक होती है। पत्ते-त्रिपत्रक एवं २½-५½ इञ्च लंबे पर्णवृन्त से युक्त होते हैं। पत्रक-३-६ इञ्च लम्बे, पार्श्वपत्रक किञ्चित् हृदय और लट्वाकार एवं अग्रय पत्रक तिर्यगायताकार (Rhomboid), पतले तथा ऊपर चिकने किन्तु अधर तल पर तलशायी रोमों से युक्त होते हैं। पुष्प-नीलारुण (Purple), १½ इञ्च तक लम्बे, सघन, लटकी हुई और ६-१२ इञ्च लम्बी मंजरियों में आते हैं। फली-२-३ इञ्च लम्बी, ½ इञ्च चौड़ी, दोनों अग्रों पर विपरीत दिशाओं में टेढ़ी, कुछ फूली सी एवं लम्बाई में धारियों से युक्त होती है। यह भूरे रंग के करीब ०·१ इञ्च लम्बे सघन दृढ रोमों से ढकी रहती है। ये रोम शरीर में लगाने से अत्यन्त खुजली उत्पन्न हो कर दाह तथा सूजन उत्पन्न होती है। बीज-प्रत्येक फली में ५-६ काले चमकीले तथा अन्तर्भित्ति के पतले आवरण में ढके रहते हैं।

कौंच जंगली और बागी दो प्रकार का होता है, जंगली के फलियों के ऊपर तीक्ष्ण रोवें होते हैं। इसके शरीर में लगने से खुजलाहट, सूजन और पीड़ा उत्पन्न होती है। बागी किवाँच को बाग और खेतों में लगाते हैं। यह दो प्रकार का होता है। एक की फलियों के ऊपर रोवें कम होते हैं और उनमें अधिक तीक्ष्णता नहीं होती और दूसरे में रोवें नहीं होते हैं। दोनों की तरकारी बनती है। किन्तु इसकी तरकारी सर्वप्रिय नहीं होती। रोवें निकाल कर ही तरकारी बनाते हैं।

नोट—चरक में ऋषभी नाम से बल्यवर्ग में, कच्छुरा नाम से पुरीषविरजनीय गण में एवं मधुरस्कंध में ऋष्यप्रोक्ता नाम से तथा सुश्रुत में कच्छुरा नाम से विदारिगन्धादि गण तथा वातसंशमनवर्ग में इसका उल्लेख है। 'पंजाब में सफेद रंग के कौंच के बीज पन्सारी बेचते हैं। ये चरक में लिखी हुई काकाण्डोला[1] नाम की सेम की जाति के बीज हैं' (श्री यादवजी कृत द्रव्यगुणविज्ञानम्, उत्तरार्ध द्वितीय खण्ड, पृष्ठ १७३)।

इसके बीज, मूल एवं फली के ऊपर के रोमों का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है। चिकित्सा की दृष्टि से जंगली केंवाच के बीजों का ही व्यवहार करना चाहिये।

रासायनिक संगठन—इसमें राल, टॅनिन, वसा एवं मॅग्नीज़ रहता है। बीजों की मज्जा की अपेक्षा ऊपर के छिलके में मॅग्नीज़ (Manganese) अधिक रहता है

गुण और प्रयोग—केवांच के बीज पौष्टिक, उत्तेजक, वाजीकर एवं वातशामक होते हैं। फली के ऊपर के रोम उत्तम आंत्रकृमिघ्न होते हैं। इसकी जड़ वातनाडियों के लिये बल्य, उत्तेजक एवं मूत्रजनन है। रोम के स्थानिक प्रयोग से कण्डू, दाह, शोथ एवं स्फोट उत्पन्न होता है।

१. काकाण्डोलात्मगुप्तानां माषवत्फलमादिशेत् (चरक सू० अ० २७-३२)।

(१) इसके रोमों को घृत, मधु या गुड़ के साथ गोला बनाकर केंचुए की बीमारी में खिला देते हैं। इससे प्रक्षोभ उत्पन्न होकर कृमि बाहर निकलते हैं। इसके पश्चात् विरेचन देना आवश्यक है।

(२) इसके बीजों की मज्जा का चूर्ण या पाक (वानरीवटिका) आदि बनाकर वाजीकरण के लिये प्रयोग किया जाता है। प्रायः वाजीकरण के प्रत्येक योग में इसका उपयोग किया जाता है।

(३) इसकी जड़ का क्वाथ या स्वरस वातनाडी-दौर्बल्य, अंगघात, अर्दित एवं अवबाहुक आदि वातरोगों में तथा ज्वर में भ्रम उत्पन्न होने पर देते हैं। यह मूत्रजनन होने के कारण इसे वृक्करोग में पिलाते हैं तथा शरीर पर लेप भी करते हैं। हैजा में इसके फांट में मधु मिलाकर पिलाने से लाभ होता है। पक्वातिसार तथा रक्तातिसार में मूल का कल्क दिया जाता है तथा पथ्य में मूलसिद्ध दुग्ध का प्रयोग करते हैं (सु० उ० अ० ४०-७४)। श्लीपद में मूल का लेप किया जाता है। इसके मूलक्वाथ के धारण से योनिसंकोच होता है (भा० प्र०)।

(४) इसके रोमों से बनाया हुआ मलहम स्थानिक उत्तेजक तथा साधारण स्फोटोत्पादक माना जाता है।

मात्रा—बीजचूर्ण २-६ माशा; रोम ५-१० रत्ती।

अथ मांसरोहिणी। तस्या नामगुणानाह

मांसरोहिण्यतिरुहा वृत्ता चर्मकषा[1] वसा[2]। प्रहारवल्ली विकशा वीरवत्यपि कथ्यते॥ स्यान्मांसरोहिणी वृष्या सरा दोषत्रयापहा॥ १३२॥

मांसरोहिणी के नाम तथा गुण—मांसरोहिणी, अतिरुहा (अग्निरुहा), वृत्ता, चर्मकषा, वसा, प्रहारवल्ली, विकशा और वीरवती ये सब पर्यायवाचक शब्द हैं। **मांसरोहिणी-वीर्यवर्द्धक,** सारक (दस्तावर) और त्रिदोषनाशक है॥ १३२॥

५८ मांसरोहिणी

हि०-मांसरोहिणी, रोहण, रोहिनी, रोहन, रोहिना, रकत रोहन। **म०, बं०**-रोहण। **गु०**-रोण, रोहणी। **कोल०**-रोहिनी। **सन्ता०**-रोहन। **गोंड०**-सोहमि। **भील०**-रोयटा। **ता०**-शेम्मरम्। **क०**-स्वामीमर। **ते०**-सूमि, सोमिडमनु। **अं०**-Red wood tree (रेड वुड् ट्री)। **ले०**-*Soymida febrifuqa A. Juss.* (सॉयमिडा फेब्रीफ्युजा ए. जस्.)। Fam. Meliaceae (मेलिएसी)।

यह प्रायद्वीप से उत्तर की तरफ मेरवारा तक तथा मिर्जापुर एवं छोटा नागपुर आदि स्थानों में पाई जाती है।

इसका वृक्ष-बहुत ऊँचा और स्तम्भ मोटा होता है। इसकी छाल-तिहाई इञ्च मोटी नीलापन युक्त खाकी अथवा कालापनयुक्त भूरे रंग की एवं कड़वी होती है। लकड़ी-झाँईयुक्त भूरे रंग की और खूब टिकाऊ होती है। पत्ते-पक्षवत् तथा ९-१८ इञ्च लंबे होते हैं। पत्रक-२ से ४ इञ्च तक लम्बे, अण्डाकार या आयताकार, लगभग अवृन्त, चिकने, तिर्यक् आधार वाले तथा संख्या में ३ से ६ जोड़े होते हैं। नवीन पत्ते ग्रंथियों से युक्त और लाल होते हैं। पत्रक-दण्ड तथा

१. चर्मकरी इति पाठा०।

२. कशा इति पाठा०—गुण तथा आकृति की दृष्टि से इसका वसा पर्याय अधिक उचित है।

पत्रक-सिरा सर्वदा लाल बनी रहती है। फूल-नन्हें-नन्हें हरियाली लिये सफेद रंग के अग्रस्थ मंजरियों में आते हैं। फल-१ से २॥ इञ्च बड़े, बहुत कठोर, भूरे लाल रंग के किन्तु पकने पर काले एवं अग्र पर खुल जाते हैं। प्रत्येक फल में अगणित पक्षदार बीज होते हैं जो आषाढ़, श्रावण में पककर गिर जाते हैं।

इसकी छाल का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है।

नोट—चरक में बल्य एवं सुश्रुत में न्यग्रोधादिगण में इसका उल्लेख है। सुश्रुत के टीकाकार डल्हण ने रोहिणी का अर्थ कुटकी, कायफल, कड़ुवी तुम्बी तथा हरीतकी भेद आदि किये हैं। इसके रकतरोहक, रोहिनी आदि प्रचलित नाम मांसरोहिणी के समानार्थक मालूम होते हैं तथा इसकी छाल भी मांसवर्ण की होती है। इस दृष्टि से इसके मांसरोहिणी होने में सन्देह नहीं मालूम पड़ता। अन्य निघंटुकारों ने इसके गुणों में 'ग्राही' लिखा है जो अधिक उचित मालूम पड़ता है। उपर्युक्त डल्हण की टीका के अनुसार यदि किसी द्रव्य को रोहिणी माना जाय तो उस अवस्था में 'सरा' यह उचित हो सकता है।

रासायनिक संगठन—इसकी छाल में एक रंगहीन, जल में न घुलने वाला किन्तु मद्यसार में घुलनशील राल्युक्त कड़वा पदार्थ एवं अधिक मात्रा में टॅनिक् ॲसिड् तथा गॅलिक् ॲसिड् रहता है।

गुण और प्रयोग—इसकी छाल शीत, ग्राही, तिक्त, कषाय, वृष्य, पौष्टिक, अल्प नियतकालिक ज्वर-प्रतिबन्धक, सन्धानीय, व्रणरोपण एवं कण्ठशुद्धिकर है। अधिक मात्रा में इससे चक्कर एवं संज्ञानाश होता है। ओक वृक्ष की छाल की तरह इसका क्वाथ बाह्य प्रयोग में व्यवहार में लाते हैं। आन्तरिक प्रयोग के लिये चूर्ण का ही व्यवहार उचित है।

(१) विसर्गी या जीर्णज्वरों में शरीर व आंतों में जब शिथिलता आती है तब इसका चूर्ण देते हैं। मलेरिया में इसका क्वाथ १ औंस की मात्रा में दिन में ३ बार देने से लाभ होता है।

(२) पुरानी आँव तथा अतिसार में इससे अच्छा लाभ होता है।

(३) इसकी छाल के क्वाथ से व्रण धोते हैं, बस्ति देते हैं तथा कुल्ले कराते हैं।

मात्रा—त्वक् चूर्ण ३० रत्ती त्रिवार।

अथ चिह्लकः 'चिह्ल' इति लोके तस्य नामगुणानाह

चिह्लको वातनिर्हारः श्लेष्मघ्नो धातुपुष्टिकृत्। आग्नेयो विषवत्तस्य फलं मत्स्यनिषूदनम्॥१३३॥

चिह्लक के गुण—चिह्लक वातनाशक, कफ को दूर करने वाला, धातु की पुष्टि करने वाला और आग्नेय (अत्यन्त गरम) होता है और इसका फल-विषतुल्य मछलियों को मारने वाला होता है॥ १३३॥

५९ चिह्लक

हि०-चिह्ला, चिल्लर, चिह्लक। **म०**-मस्सी, करी लैंज। **संथा०**-चोरचो। **खर०**-बेरी। **कोल०**-रोरी। **उड़ि०**-गिरदि। **ले०**-*Casearia tomentosa Roxb.* (केसिएरिआ टोमेण्टोसा राक्स.)। Fam. Samydaceae (सॅमिडेसी)।

यह सब जगह पाया जाता है। शाल वनों के पास या झाड़ीदार जंगलों में यह बहुत होता है। **इसके वृक्ष-छोटे एवं शाखाएँ दिगन्तसम फैली हुई होती हैं। छाल-मोटी- अंगुर एवं चौकोर**

टुकड़ों में छूटती है। काष्ठ–पीताभ श्वेत, कठोर एवं खुरदरा होता है। पत्ते–आयताकार (छोटे लट्वाकार या अण्डाकार), अधरपृष्ठ की नसों पर मृदु रोमश, २–७ इञ्च लम्बे, २ इञ्च चौड़े एवं दन्तुर होते हैं। पत्रसिरायें रक्ताभ होती हैं। पुष्प–हरिताभ पीत वर्ण के पुष्प नवीन टहनियों पर आते हैं। फल–मांसल, अण्डाकृति, ¾ इञ्च बड़े, कडवे एवं ६ रेखाओं से युक्त होते हैं। फलों का चूर्ण पानी में डाल देने से मछलियां मर जाती हैं। इसके सभी भागों का चिकित्सा में उपयोग किया जाता है।

नोट—अन्य निघण्टुओं में इसका उल्लेख नहीं पाया जाता। इसकी एक दूसरी उपजाति केसियरिआ एस्क्युलेण्टा राक्स. (C esculenta Roxb.), के मूल एवं पत्र का उपयोग सप्तरंगा या स्वर्णमूला नाम से यकृत्-वृद्धि, अर्श तथा यकृतोद्भव मधुमेह में किया जाता है।

गुण और प्रयोग—जलशोथ में फल का गूदा खिलाते हैं, सर्वांग में छाल का लेप करते हैं तथा पत्रक्वाथ से स्नान कराते हैं। इससे पेशाब अधिक होती है।

अथ टङ्कारी। तस्या गुणानाह

टङ्कारी वातजित्तिक्ता श्लेष्मघ्नी दीपनी लघुः। शोथोदरव्यथाहन्त्री हिता पीठविसर्पिणाम् ॥१३४॥

टङ्कारी के गुण—टङ्कारी वातनाशक, तिक्तरसयुक्त कफघ्न, अग्निदीपक, पाक में लघु तथा शोथ एवं उदररोग को दूर करने वाली होती है। यह पीठ पर के विसर्प के लिये हितकर है॥१३४॥

नोट—टंकारी का उल्लेख अन्य निघण्टुओं में नहीं मिलता। लघु अग्निमन्थ (Clerodendrum phlomidis) को कहीं-कहीं 'टेकारी' कहते हैं जो 'तर्कारी' का अपभ्रंश मालूम पड़ता है। इसका वर्णन २८१ पृष्ठ पर किया गया है। टंकारी नाम से फाइसेलिस् मिनिमा (Physalis minima) का वर्णन आधुनिक उद्भिद्वेत्ताओं ने किया है जिसका यहाँ वर्णन किया जा रहा है। यह विदेश से आने वाले मकोय की जाति के फल 'काकनज' (Physalis alkekenji Linn.) के प्रतिनिधि माने जाते हैं। डॉ० देसाई ने सम्भवतः इसका उल्लेख फा. इण्डिका (P. indica) नाम से किया है।

६० टंकारी

सं०–टंकारी, लक्ष्मीप्रिया, चिरपोटा। हिं०–तुलसीपति। बं०–बनटेपारि। म०–थानमोडी, चिरबोटी, चिरबुटले। गु०–पोपटी, पपोटी। पं०–हुब्बककनज। क०–बोंडुल। ता०–सिसयकालि। ते०–कुपण्टे। ले०–*Physalis mimima Linn.* (फाइसेलिस् मिनिमा लिन.)। Fam. Solanaceae (सोलेनेसी)।

यह सब प्रान्तों में पाया जाता है। इसका क्षुप–६–१८ इञ्च ऊँचा, नरम लोमयुक्त एवं वर्षजीवी होता है। पत्ते–२ इञ्च लंबे, अण्डाकार तथा दन्तुर होते हैं। पुष्प–घण्टाकृति, पीतवर्ण तथा ½ इञ्च बड़े होते हैं। फल–१½ इञ्च लंबा, ½ इञ्च चौड़ा, लाल रंग का रुचिकर होता है जिसमें छोटे-छोटे अनेक बीज होते हैं।

गुण और प्रयोग—इसके फल बलकारक, मूत्रजनन एवं विरेचक होते हैं। 'काकनज' के स्थान पर इनका उपयोग किया जाता है। सोजाक में फलों को खिलाते हैं। स्तनशिथिलता दूर करने के लिये इसके पंचांग को चावल की धोवन में पीस कर लेप करते हैं। मलावष्टम्भ में इसके फलों का पाक बहुत लाभदायक है। तमकश्वास में इसकी जड़ तथा टंकण का लावा मधु के साथ देने से श्वासावरोध कम होकर कफ निकलता है।

मात्रा—३–६ माशा।

अथ वेतसः। तस्य नामगुणानाह

वेतसो नम्रकः प्रोक्तो वानीरो वञ्जुलस्तथा। अभ्रपुष्पश्च विदुलो रथः शीतश्च कीर्त्तितः॥
वेतसः शीतलो दाहशोथार्शोयोनिरुक्प्रणुत्। हन्ति वीसर्पकृच्छ्रास्रपित्ताश्मरिकफानिलान्॥

वेतस के नाम तथा गुण—वेतस, नम्रक, वानीर, वञ्जुल, अभ्रपुष्प, विदुल, रथ और शीत ये सब वेतस के नाम हैं। वेतस–शीतल है तथा दाह, शोथ, अर्श (बवासीर), योनिरोग, विसर्प, मूत्रकृच्छ्र, रक्तपित्त, अश्मरी (पथरी), कफ तथा वात को दूर करने वाला है॥ १३५–१३६॥

नोट—वेतस के विषय में विद्वानों में मतभेद है। भावप्रकाश, ध० नि०, रा० नि० आदि में वेतस तथा जलवेतस इन दो भेदों का उल्लेख है। रा० नि० ने वेत्र[1] नाम से एक स्वतन्त्र द्रव्य का भी उल्लेख किया है। अन्य निघंटुओं ने वेतस के पर्याय में या स्वतंत्ररूप से वेत्र का उल्लेख नहीं किया है। कुछ विद्वान् वेतस से बेंत का ग्रहण करते हैं जो कॅलॅमस् टेनुइस् (*Calamus tenuis*) है। कुछ लोगों के मत से वेतस से बेदमुश्क का ग्रहण उचित है जो सॅलिक्स कॅप्रिआ (*Salix caprea*) है। कुछ विद्वानों के मत से इसी जाति के सॅ० ॲल्बा (S. alba) को वेतस मानना चाहिये। इसी जाति के अन्य उपभेद (जलमाला) सॅ० टेट्रास्पर्मा (S. tetrasperma) एवं सॅ० ॲक्मोफाइला (S. acmophylla) को जलवेतस माना जाता है।

भावप्रकाशकार वंजुल और वानीर पर्याय में लिखते हैं किन्तु चरक[2] में दोनों का साथ-साथ उल्लेख होने से ऐसा मालूम होता है कि ये दो अलग वनस्पतियाँ हैं। च० चि० अ० ४–३६ में वेत्र तथा वेतस भी साथ-साथ आये हैं जिससे ये भी दो अलग द्रव्य हैं ऐसा मालूम होता है। वंजुल नाम से चरक में वेदनास्थापन महाकषाय में एवं आसवयोनिसार वृक्षों (सू० अ० २५) में तथा सुश्रुत में न्यग्रोधादिगण में उल्लेख है। 'विदुल' नाम चरक में वमनोपग महाकषाय (सू. अ. ४) में आया है जिसका अर्थ चक्रपाणि हिज्जल करते हैं। सुश्रुत (सू. अ. ३९) में ऊर्ध्वभागहरगण में विदुल आता है वहाँ डल्हण उसका अर्थ वेतस करते हैं। श्रीयुत यादव जी विदुल नाम हिज्जल के पर्याय में मानते हैं। हिज्जल (समुद्रफल) में वामक गुण देखा भी जाता है। चरक में वेतस नाम से उसकी मूलत्वक् का उपयोग रक्तपित्त (चि. अ. ४) में एवं सुश्रुत में जीर्णज्वर (उ. अ. ३९) में मूल का उपयोग किया हुआ है। चरक में वेत्र नाम से रक्तपित्त (चि. अ. ४), शोथ (चि. अ. १२) एवं ऊरुस्तम्भ (चि. अ. २७) में उपयोग किया गया है।

गुणों की दृष्टि से वेदमुश्क के गुण भावप्रकाशोक्त वेतस से मिलते हैं। यहाँ पर वेदमुश्क एवं बेंत का अलग अलग वर्णन किया गया है। जलवेतस के अन्तर्गत वेदमुश्क की अन्य उपजाति जलमाला का वर्णन किया गया है।

६१ वेतस १ (वेदमुश्क)

सं०–वेतस, वानीर, गन्धपुष्प। हिं०, पं०–वेदमुश्क। पश्तो०–खगवल। अ०–खिलाफुल् बलखी। फा०–वेदेमुश्क, गुर्बहबेद। अं०–Willow विलो; Sallow (सॅलो)। ले०–*Salix caprea Linn.* (सॅलिक्स कॅप्रिआ लिन.)। Fam. Salicaceae (सॅलिकॅसी)।

---

१. वेत्रो वेतो योगिदण्डः सुदण्डो मृदुपर्वकः।
वेत्रः पंचविधः शैत्यकषायो भूतपित्तहृत्॥ रा. नि.

२. क. अ. १, ९; सि. अ. १०, १९।

यह फारस, ईरान, उत्तरपश्चिम सीमाप्रान्त एवं भारतवर्ष में काश्मीर तथा पंजाब में होता है।

इसका **वृक्ष**—छोटा तथा १५-३० फीट ऊँचा होता है। छाल-पतली, लचीली, कषाय एवं बहुत कड़वी होती है। **पत्ते**-एकांतर, हरे, बड़े, अंडाकार, दन्तुर एवं नुकीले होते हैं। मध्यशिरा ऊपर के पृष्ठ पर कुछ श्वेत किन्तु अधोपृष्ठ पर रोमश होती है। पुष्प-पीतवर्ण के तथा सुगन्धित होते हैं।

इसके पंचांग का व्यवहार किया जाता है। इसके पुष्पों से बनाये अर्क का 'अर्क बेदमुश्क' नाम से यूनानी चिकित्सा में बहुत व्यवहार किया जाता है। इससे स्रवित हुई शर्करा, वेद अंगबीन का भी उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसकी छाल में ४-१०% टॅनिक ॲसिड, २-७% एक रवेदार ग्लुको-साइड, सॅलीसिन (Salicin), मोम, वसा एवं गोंद होता है। इसके पुष्पों में एक सुगन्धित उड़नशील तैल पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—इसकी छाल ग्राही, शीतल, ज्वरहर, दाहप्रशमन, वेदनास्थापक, मूत्रल, शिरःशूल नाशक, हृदय को बल देने वाली, उत्तेजक एवं वाजीकर है। इसके पुष्प रोचक एवं पत्ते ज्वरहर होते हैं।

(१) इसकी छाल का क्वाथ विषम ज्वर, पैत्तिक ज्वर, नूतन आमवात तथा कफक्षय में देते हैं। इससे दाह, शिरःशूल, संधिपीड़ा, संधिशोथ एवं रक्तष्ठीवन कम होता है। अर्श में छाल का लेप किया जाता है। रक्तष्ठीवन में इसके काण्ड की राख खिलाते हैं।

(२) इसके फूलों का अर्क उष्ण ज्वर तथा हृदय की धड़कन में पिलाते हैं। नेत्राभिष्यन्द तथा शिरःशूल में इसमें कपड़ा भिगो कर उसकी पट्टी रखते हैं।

मात्रा—छाल ½-१ तो०; अर्क १-२ तोला।

६२ वेतस २ (बेंत)

सं०-वेत्र, वेतस १। **हिं०**-बेंत। **बं०**-छांचि वेत। **म०**-वेत। **क०**-वेतसु। **गु०**-नेतर। **ते०**-जतथुर् कुअो। **पं०**-बैंत। **ता०**-बेत्तम्। **फा०**-बेंत, इर्जा खिरज़ा। **अ०**-खीरजा, खलाफ, इरजां। **अं०**-Cane (केन)। **ले०**-*Calamus tenuis Roxb.* (कॅलॅमस् टेनुइस् राक्स.)। Fam. Palmeae (पामेइ)।

यह जलप्राय भूमि में २ हजार फीट की ऊँचाई तक पाया जाता है।

इसकी **लता**—सघन, आरोही तथा कांटेदार होती है। यह काँटों की सहायता से फैलती है। **काण्ड**-चिकना, हरा, और कोषमय पत्राधारों से ढँका हुआ रहता है। **पत्ते**-२-४ फीट लंबे, पक्षाकार और पत्रदण्ड काँटों से युक्त होते हैं। **पत्रक**-६-१२ इञ्च लंबे, ½-¾ इञ्च चौड़े, रेखाकार, भालाकार, नुकीले एवं तीन शिराओं से युक्त होते हैं। पत्रक के किनारे तथा शिरा पर भी कांटे होते हैं। पत्रनाल और पत्रकोष पर भी प्रायः १ इञ्च तक लंबे और सीधे कांटे होते हैं। पत्रकोष से चाबुक के सदृश ८ फीट तक लंबी एक रचना फ्लॅजेलम् (Flagellum) निकली रहती है जिस पर भी टेढ़े काँटे होते हैं। पुष्प-पत्रकोषों के अन्दर एकलिंगी पुष्पों की विदण्डिक मंजरियाँ पाई जाती हैं। फल-प्रायः ½ इञ्च लंबा एवं काले किनारे के वल्कपत्रों से ढका हुआ रहता है। शीतऋतु में फल पक जाते हैं। बेंत की कई जातियाँ पाई जाती हैं।

गुण और प्रयोग—इसको कुछ विद्वान् वेतस मानते हैं तथा वेतस के स्थान पर इसका प्रयोग करते हैं। इसकी जड़ ज्वरहर, पित्तहर, पौष्टिक एवं विरेचक मानी जाती है। इसके फल का गूदा ग्राही होता है। इसके कोमल अंकुरों का शाक तिक्तपौष्टिक माना जाता है।

अथ जलवेतसः । तस्य नामगुणानाह

निकुञ्चकः परिव्याधो नादेयो जलवेतसः। जलजो वेतसः शीतः [१]कुष्ठहृद्वातकोपनः॥ १३७॥

जलवेतस के नाम तथा गुण—निकुञ्चक, परिव्याध, नादेय और जलवेतस ये सब पर्यायवाचक शब्द हैं। जलवेतस-शीतल, कुष्ठनाशक तथा वात को कुपित करनेवाला होता है॥ १३७॥

६३ जलवेतस (जलमाला)

सं०-जलवेतस, वंजुल १ **हिं०**-जलमाला, शुकुलवेत, बंद। **म०**-वालुज। **बं०**-पानिजामा। **ता०**-अत्रुपलै। **ते०**-एतिपाल। **फा०**-बेदसादा, बेदलैला। **अ०**-खिलाफ्, सफ्साफ। **ले०**-*Salix tetrasperma Roxb.* (सॅलिक्स टेट्रास्पर्मा राक्स)। Fam. Salicaceae (सॅलिकॅसी)।

इसका वृक्ष प्रायः नदी नालों के किनारे पाया जाता है। हिमालय में ६००० फीट की ऊँचाई तक यह होता है। काश्मीर तथा पश्चिमोत्तर प्रान्त में इसे लगाते हैं।

इसका **वृक्ष**-साधारण ऊँचा तथा सुन्दर होता है। छाल-कृष्णाभ, तन्तुमय, चिमड़, कड़वी, कषाय तथा कुछ सुगन्धित होती है। **पत्ते**-३-६ इञ्च लंबे, रेखाकार-भालाकार, चिकने, पत्रोदर हरा, पत्रपृष्ठ सफेद एवं पत्रवृन्त लाल रंग का होता है। पुष्प-सफेदी लिये पीले और कुछ सुगन्धित मंजरियों में आते हैं। फल-करीब ५ इञ्च लम्बा होता है तथा प्रत्येक फल में ४-६ बीज होते हैं। इसकी छाल एवं पत्र का चिकित्सा में उपयोग किया जाता है। इसके लचीले पतले काण्ड से टोकरियाँ बनायी जाती हैं। इसकी अन्य उपजातियों को बेत, लैला, मजनूँ तथा भैंसा आदि नामों से पुकारा जाता है।

गुण और प्रयोग—इसके गुण भी बेदमुश्क की तरह ही हैं। इसकी छाल पौष्टिक, ज्वरघ्न, तथा नियतकालिकज्वरप्रतिबंधक है। रक्तातिसार, यकृत एवं प्लीहा शोथ तथा कामला में इसके ताजे पत्तों का रस देते हैं।

मात्रा—छाल ½-१ तो०; रस २-५ तो०; अर्क ५-१० तो०।

अथेज्जलः (समुद्रफल इति लोके) तस्य नामगुणानाह

इज्जलो हिज्जलश्चापि निचुलश्चाम्बुजस्तथा। जलवेतसवद्वेद्यो हिज्जलोऽयं विषापहः॥ १३८॥

इज्जल (समुद्रफल) के नाम तथा गुण—इज्जल, हिज्जल, निचुल और अम्बुज, ये सब पर्याय-वाचक शब्द हैं। इज्जल-गुणों में 'जलवेतस' के ही समान है तथा विशेषतः यह विषनाशक है॥१३८॥

६४ इज्जल (समुद्रफल)

हिं०-इज्जल, ईजर, हिज्जल, समुद्रफल। **बं०**-हिज्जल। **म०**-सत्फल, समुद्रफल। **गु०**-समुद्र फल। **मा०**-समंदर फल। **आसा०**-हिंडोल। **सन्ता०**-हिंजल। **कोल०**-सपरंग। **उरि०**-

१. संग्राही इति पाठा०।

किजोलो । तै०-कणपु, कणिगि । ता०-समुद्रपुल्लानि । क०-केंपुकणगिन। मल०-चरियसंस्करवडि । ले०-*Barringtonia acutangula* (*Linn*). *Gaertn.* (बॅरिंगटोनिआ एक्युटेन्युला, (लिन) गार्ट) । Fam. Lecythidaceae (लेसिथिडॅसी) ।

यह प्रायः सब प्रान्तों में पाया जाता है किन्तु बंगाल तथा दक्षिण में अधिक देखने में आता है। इसका **वृक्ष**—मध्यमाकार का और बारहों मास हरा-भरा रहता है। **छाल**-आध इञ्च तक मोटी कालापन युक्त भूरे रङ्ग की और खुरदरी होती है। **पत्ते**-अभि-लट्वाकार या अभि-प्रासवत्, २×५ इञ्च या कभी-कभी ३×४ इञ्च बड़े, सूक्ष्म दन्तुर तथा ½ इञ्च लंबे वृन्त से युक्त होते हैं। **पुष्प**-लाल रंग के पुष्प करीब २ फीट लंबी, नीचे लटकती हुई सवृन्त काण्डज मंजरियों में आते हैं तथा जल्दी ही झड़ जाते हैं। पुंकेशर लालवर्ण के होते हैं। **फल**-१।-१॥ इञ्च लंबा, बादाम जैसा, चार उभारों से युक्त और अग्र पर स्थायी बाह्यपुट के साथ रहता है। यह ताजी अवस्था में लाल किन्तु पकने पर काला तथा कठोर हो जाता है। इसे जल में भिगोने पर यह मुलायम हो जाता है। इसका स्वाद प्रारंभ में मधुर तथा बाद में कडवा और मितली लाने वाला होता है। फल की छाल पतली रहती है तथा इसमें १ बीज रहता है। इसके फल का चिकित्सा में उपयोग किया जाता है। इसकी छाल मछलियों के लिये विषैली है।

नोट—मदनपालनिघण्टु में निचुल नाम जलवेतस के पर्याय में आया है किन्तु उसमें हिज्जल का भी स्वतंत्र वर्णन किया हुआ है। भ० नि० में भी निचुल नाम वेतस के पर्याय में आया है। वास्तव में निचुल नाम हिज्जल (समुद्रफल) के लिये ही उचित है जिसका ऊपर वर्णन किया गया है। चरक (सू० अ० २) में निचुल नाम से विरेचनद्रव्यों में इसका उल्लेख है। श्रीयुत यादवजी ने 'विदुल' नाम इसके (हिज्जल) पर्याय में माना है जो गुणों की दृष्टि से उचित मालूम पड़ता है किन्तु भावप्रकाशकार विदुल नाम वेतस के पर्याय में लिखते हैं। चक्रपाणि विदुल का अर्थ वमनोपग महाकषाय (सू० अ० ४) की टीका में हिज्जल करते हैं किन्तु दूसरे स्थान (च० सि० अ० १०-३८) में विदुल का अर्थ वेतस भी किया मिलता है।

रासायनिक संगठन—इसके फल में साबुन की तरह एक पदार्थ रहता है। फल के चूर्ण को जल में हिलाने से फेन निकलता है जो बहुत देर तक रहता है। फेन का स्वाद प्रारंभ में मधुर एवं बाद में कडवा तथा तीता मालूम होता है।

गुण और प्रयोग—समुद्रफल कफघ्न, वामक, आनुलोमिक एवं वेदनास्थापन है। इसकी क्रिया मदनफल की तरह होती है। वृद्धों में मदनफल तथा बच्चों में समुद्रफल देते हैं। इसकी जड़ कडवी तथा पार्यायिक ज्वर में लाभदायक होती है।

(१) बच्चों के प्रतिश्याय, कास, फुफ्फुसपाक आदि कफविकारों में इसे देते हैं। यदि इसके देने के पश्चात् वमन न हो तो नमक डालकर उष्ण जल पिलाना चाहिये। इससे वमन होकर कफ निकल जाता है तथा पाखाना भी होता है। यदि इसके प्रयोग से कुछ दुष्परिणाम मालूम पड़े तो चावल की मांड घी मिलाकर दें। समुद्रफल को पीसकर छाती तथा पेट पर भी लगाते हैं।

(२) तमकश्वास में ६ माशा समुद्रफल व सफेद कोयल की जड़ ६ माशे दूध में घिसकर देते हैं जिससे वमन-विरेचन होकर आराम मिलता है।

(३) शिरःशूल में इसके बीजों का नस्य लाभदायक होता है।

(४) इसके पत्तों का रस मधु मिलाकर आमातिसार में देने से लाभ होता है।

(५) आँखों से पानी जाता हो तो समुद्रफल को जल में घिसकर लगाने से लाभ होता है।

(६) उदरशूल, आनाह आदि में नमक, अजवायन के साथ इसका चूर्ण दिया जाता है।

(७) पार्यायिक ज्वरों में काली मिर्च एवं तुलसी पत्र के साथ इसे देते हैं।

मात्रा—१-२ रत्ती।

अथाङ्कोटः (अङ्कोल-ढेरा)। तस्य नामगुणानाह

अङ्कोटो दीर्घकीलः स्यादङ्कोलश्च निकोचकः। अङ्कोटकः कटुस्तीक्ष्णः स्निग्धोष्णस्तुवरो लघुः॥
रेचनः कृमिशूलामशोफग्रहविषापहः। विसर्पकफपित्तास्रमूषकाहिविषापहः ॥ १४० ॥

अंकोल के नाम तथा गुण—अंकोट, दीर्घकील, अङ्कोल और निकोचक ये सब 'अङ्कोल' के नाम हैं। अङ्कोल-कटु तथा कषाय (कसैला) रसयुक्त, तीक्ष्ण तथा उष्णवीर्य, स्निग्ध, लघु (हलका), रेचक (दस्तावर) होता है एवं कृमि, शूल, आम, शोथ (सूजन), ग्रहबाधा, विष, विसर्प, कफ, पित्त, रक्तविकार एवं मूसा तथा सर्प के विष को दूर करने वाला होता है ॥१३९-१४०॥

अथाङ्कोटफलस्य गुणानाह

तत्फलं शीतलं स्वादु श्लेष्मघ्नं बृंहणं गुरु। बल्यं विरेचनं वातपित्तदाहक्षयास्रजित् ॥१४१॥

अङ्कोल के फल का गुण—अङ्कोल का फल-शीतल, स्वादिष्ट, कफनाशक, बृंहण, पाक में गुरु, बलकारक, विरेचक एवं वायु, पित्त, दाह, क्षय तथा रक्तविकार को दूर करने वाला होता है॥ १४१ ॥

६५ अङ्कोट

हि०-अङ्कोल, ढेरा, टेरा, ढेला। **बं०**-आंकोड, बाघ, आंकडा, अकरकंटा। **म०**-अंकोल। **गु०**-आंकोल, अंकोल। **क०**-अंकोले-मर। **तै०**-कुडगु; अंकोलमु। **ता०**-अलंगी। **सन्ता०**-डेला, ढेला। **ले०**-*Alangium lamarckii thwaites* (एलॅन्जिअम् लेमार्काइ थ्वेट्स)। Fam. Alangiaceae (एलेन्जियेसी)।

यह मध्य और दक्षिण भारत, उत्तर-प्रदेश, बंगाल, बिहार, हिमालय की घाटी से गङ्गा तक और राजपुताना आदि कई प्रान्तों में पाया जाता है। यह प्रायः नदी-नालों की ढालों पर अधिक होता है।

इसका छोटा वृक्ष, काँटेदार देखने में सुन्दर और सघन होता है। **छाल**—धूसर रङ्ग की, मोटी एवं खुरदरी होती है। **जड़**-भारी, पीताभ, तेलिया तथा मजबूत होती है। जड़ की छाल, दालचीनी की अपेक्षा भूरे रङ्ग की रहती है। **पत्ते**-कनेर के पत्तों के समान तीन से पाँच इञ्च लम्बे, १ से २। इञ्च चौड़े, आयताकार, आयताकार-प्रासवत् या कोई अंडाकार होते हैं। पुष्पोद्गम के पूर्व पत्ते गिर जाते हैं। **फूल**-सुगन्धित सफेद रङ्ग के होते हैं। **फल**-कच्ची अवस्था में नीले और पकने पर जामुनी लाल, ·४-·६ इञ्च बड़े तथा मांसल होते हैं। **बीज**-गुठलीदार और बड़े होते हैं। Aesculus indica colebr. (एस्क्युलस् इन्डिका कोले.) को 'कंढार, बंखोर, अंकोल' आदि नामों से क्वचित् वर्णित किया जाता है किन्तु प्रस्तुत अङ्कोट के प्रतिनिधि के रूप में उक्त वनस्पति का व्यवहार नहीं करना चाहिये।

इसकी जड़ की छाल, पत्र, बीज एवं बीज तैल का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है। इसका स्वाद कड़वा एवं गन्ध अप्रिय होती है।

रासायनिक संगठन—इसकी जड़ की छाल में ॲलेन्जाइन (Alangine) नामक एक कड़वा क्षाराभ एवं पोटॅशियम् क्लोराइड (Potassium chloride) पाया जाता है। इस क्षाराभ के रवे नहीं बनते तथा यह जल में भी नहीं घुलता। यह मद्यसार में घुल जाता है।

बिल्ली में ॲलेन्जाइन सल्फेट (Alangine sulphate) नामक इसके लवण के शिरान्तर्गत सूचिकाभरण से रक्तनिपीड कम होता है जो १, २ मिनट में ही स्वाभाविक हो जाता है। इससे हृदय अवसादित होता है तथा आन्त्र की पुरःसरण क्रिया बढती है। इससे श्वास अनियमित हो जाता है।

गुण और प्रयोग—इसकी छाल उष्ण, कड़वी, वामक, स्वेदजनक, मूत्रल, रेचक, ज्वरहर, कृमिघ्न एवं विषहर है। अल्प मात्रा में (१–३ र०) यह हृल्लासकारक, स्वेदजनन एवं मूत्रल है। अधिक मात्रा (३ माशा) में यह वामक एवं विरेचक है। इसके गुण मदार तथा ईपिकाक, के समान हैं। वामक मात्रा में प्रयोग से आमाशय में दाह तथा हृदय एवं रक्तवाहिनियों पर अवसादक प्रभाव पड़ता है।

(१) कुष्ठ, उपदंश तथा सभी प्रकार के त्वचा के विकारों में इसकी मूलत्वक् ½–१ रत्ती की मात्रा में दिन में तीन बार देते हैं तथा बीज तैल या जड़ को पीसकर लगाते हैं।

(२) प्रतिश्याय, इन्फ्लुएन्जा एवं संधिपीडा युक्त ज्वर (डेंग्यु) में इसकी जड़ घोडवच या सौंठ के साथ चावल की मांड में उबालकर देते हैं तथा पत्तों को पीसकर जरा गरम कर पीड़ा युक्त स्थान पर बाँधते हैं।

(३) यकृतोदर, जलोदर एवं वृक्कजन्य शोफ में इसकी मूलत्वक् ३ रत्ती की मात्रा में देने से विरेचन होता है तथा यकृत् की क्रिया सुधरती है। इसके साथ यवक्षार का प्रयोग करने से मूत्र भी बढ़ता है।

(४) चूहे के विष में तथा सर्पविष में यह लाभदायक माना जाता है। सर्प विष में २० रत्ती की मात्रा में मूल का चूर्ण चावल की धोवन के साथ देते हैं।

मात्रा—मूलत्वक् १–३ रत्ती; वामक ३ माशा।

अथ बलाचतुष्टयम् तस्य नामगुणानाह

बलावाट्यालिका वाट्या सैव वाट्यालकाऽपि च। महाबला पीतपुष्पा सहदेवी च सा स्मृता
ततोऽन्याऽतिबला ऋष्यप्रोक्ता कङ्कतिका च सा। गाङ्गेरुकी नागबला झषा ह्रस्वगवेधुका ॥

बलाचतुष्टय (चारों प्रकार के बला) के नाम तथा गुण—(१) बला, वाट्यालिका, वाट्या तथा वाट्यालका ये सब नाम बला (खिरैंटी) के हैं। (२) महाबला, पीतपुष्पा और सहदेवी ये सब नाम महाबला के हैं। (३) अतिबला, ऋष्यप्रोक्ता और कङ्कतिका ये सब अतिबला (कंघी) के नाम हैं। (४) गांगेरुकी, नागबला, झषा तथा ह्रस्वगवेधुका ये सब नाम नागबला के हैं ॥ १४२–१४३ ॥

बलाचतुष्टयं शीतं मधुरं बलकान्तिकृत्। स्निग्धं ग्राहि समीरास्रपित्तास्रक्षतनाशनम् ॥

बलाचतुष्टय—शीतवीर्य, मधुररसयुक्त, बलकारक, कान्तिकारक, स्निग्ध एवं ग्राही होता है और वायु रक्तपित्त, रक्तविकार तथा व्रण को दूर करने वाला होता है ॥ १४४ ॥

***बरियारा, सहदेवी, ककहिया, गुलशकरी, इति बलाचतुष्टयम् ॥ १४४ ॥**

यहाँ पर 'बलाचतुष्टय' से १. बरियारा, २. सहदेई, ३. ककहिया, ४. गुलशकरी—इन चारों को ही समझना चाहिये ॥ १४४ ॥

बलामूलत्वचश्चूर्णं पीतं सक्षीरशर्करम्। मूत्रातिसारं हरति दृष्टमेतन्न संशयः ॥ १४५ ॥
हरेन्महाबला कृच्छ्रम् भवेद्वातानुलोमिनी। हन्यादतिबला मेहं पयसा सितया समम्॥१४६॥

'बरियारे' के जड़ की छाल का चूर्ण यदि दूध तथा शक्कर के साथ मिलाकर पीया जाय तो मूत्रातिसार को दूर करता है, यह परीक्षा करके देखा गया है, अत एव इसमें सन्देह नहीं करना चाहिये। 'महाबला' मूत्रकृच्छ्र को दूर करती है तथा इससे वायु का अनुलोमन भी होता है। 'ककहिआ' का चूर्ण दूध तथा चीनी के साथ खाने से प्रमेह नष्ट होता है ॥ १४५–१४६ ॥

नोट—भावप्रकाशकार बला के ४ भेद लिखते हैं। आधुनिक उद्भिज्जवेत्ताओं ने भी बला प्रजाति (Sida) की कई जातियों का वर्णन किया है। इनमें से अतिबला (कंघी) निस्संदेह ॲब्युटिलॉन् (Abutilon) प्रजाति की वनस्पति है। अधिकांश विद्वानों ने सिडा कॉर्डिफोलिआ (Sida cordifolia) को बला माना है, किन्तु श्री ठा० बलवन्तसिंह जी ने (पीत पुष्प) सिडा रॉम्बिफोलिया (Sida rhombifolia) को वास्तविक बला लिखा है जिसको अन्य विद्वानों ने महाबला माना है। कुछ विद्वान् रॉम्बिफोलिआ का अन्य उपभेद (श्वेत पुष्प) सिडा रॉम्बोइडिआ (Sida rhomboidea) को महाबला मानते हैं। भावप्रकाशकार महाबला के पर्याय में सहदेवी लिखते हैं लेकिन वास्तव में सहदेवी यह भिन्न वर्ग की व्हर्नोनिआ सिनेरिआ (Vernonia cinerea) है। चरक-सुश्रुत में महाबला नाम नहीं आया है किन्तु सहदेवा नाम है। सम्भव है कि चरक, सुश्रुतोक्त सहदेवा ही महाबला हो तथा गलती से सहदेवा के स्थान पर सहदेवी छप गया हो।

नागबला—के सम्बन्ध में अधिक मतभेद हैं। सिडा व्हेरोनिसीफोलिआ या सिडा ह्युमिलिस् (Sida veronicaefolia; Syn–Sida humilis) को अधिकांश विद्वान् नागबला मानते हैं। यह भूमि पर सर्प की तरह टेढ़ी-मेढ़ी फैलती है। कुछ विद्वान् गुलसकरी को नागबला मानते हैं क्योंकि नागबला के पर्याय में गांगेरुकी आया है। गुलसकरी के ले० नाम के विषय में भी मतभेद है। सिडा स्पाइनोसा (Sida spinosa) को कुछ लोगों ने गुलसकरी लिखा है किन्तु श्री ठा० बलवन्तसिंह जी ने उसे अशुद्ध बतलाया है तथा वे ग्रेविआ हिर्सुटा (Grewia hirsuta) को गुलसकरी मानते हैं। नागबला का चतुष्फला पर्याय इसके लिये उपयुक्त मालूम होता है। इसे तथा इसके अन्य भेद ग्रे० पोप्यूलिफोलिया (Grewia populifolia) को गांगेरुकी (गंगरेन) कहते हैं जिससे इन्हें नागबला माना जाता है। इनके अतिरिक्त सिडा ॲक्यूटा (Sida acuta) एवं अन्य भेद भी पाये जाते हैं। यहां पर संक्षेप में उपर्युक्त भेदों का स्वतन्त्र वर्णन किया गया है। वास्तव में गुणों की दृष्टि से इनमें विशेष अन्तर न होने के कारण एक के स्थान में दूसरे का व्यवहार किया जा सकता है।

६६ बला (बरियारा)

हिं०–बरियार, बरियारा, बरियाल, खरेठी, खरैटी, खिरैंटी। बीजबन्द (बीज)। बं०–बेडेला म०–चिकणा। गु०–बलदाणा (बीज), खरेटी, बल, बला। क०–किसंगी, हेट्टुटि-गिडा। ते०–चिरिबेण्डा, मुत्तवु। ता०–अखिल-मनैपुण्डु। मा०–खरेंटी। पं०–खरैहटी, सिमक। अं०–Country mallow (कंन्ट्री मॅलो); Sida (सिडा)। ले०–*Sida cordifolia Linn.* (सिडा कॉर्डिफोलिआ लिन.)। Fam. Malvaceae (माल्वेसी)।

यह सब प्रान्तों में प्रायः बारहों मास पाया जाता है। किन्तु वर्षा ऋतु में इसकी बहुलता खेतों और मेड़ों पर देखने में आती है। इसकी जड़ और डंडी बहुत मजबूत होती है जो आसानी से नहीं टूटती।

इसका **क्षुप**—छोटा, २-४ फीट ऊँचा, स्वावलम्बी, मृदुरोमश तथा अनेक शाखाओं से युक्त रहता है। **स्तम्भ**-काष्ठमय एवं रेशेदार होता है। छाल-हल्के पीताभ भूरे रङ्ग की होती है। **पत्ते**-१-२ इञ्च लम्बे, हृदयाकृति, लट्वाकार-आयताकार, तूलरोमश, गोलदन्तुर, ७-९ शिराओं से युक्त एवं ½-१½ इञ्च लम्बे पर्णवृन्त से युक्त होते हैं। **पुष्प**-बरसात के अन्त में छोटे पीले रङ्ग के फूल आते हैं जिनमें ७-१० स्त्रीकेसर होते हैं। **फल**-छोटे, मूग जितने बड़े होते हैं। **बीज**-गहरे भूरे या काले रङ्ग के छोटे बीज रहते हैं जिन्हें **बीजबन्द** कहा जाता है। ग्रन्थितृण (पृ० २५३) के बीजों को भी बीजबन्द कहा जाता है। जड़-प्रायः २-५ इञ्च लम्बी तथा ½ इञ्च मोटी होती है। इसकी जड़, पत्र, बीज एवं पञ्चांग का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसके पञ्चांग में एक क्षाराभ, तैल, फाइटोस्टेरॉल (Phytosterol), म्यूसिन, राल, रालीय अम्ल एवं पोटॉशियम् नाइट्रेट (Potassium nitrate) ये पदार्थ पाये जाते हैं। इसके पत्र, काण्ड एवं मूल में क्षाराभ की मात्रा ०·०८५% रहती है किन्तु बीजों में यह ०·३% होती है। इसके क्षाराभ में प्रधान अंश एफेड्रीन (Ephedrine) का रहता है।

गुण और प्रयोग—बला (बरियरा) शीतवीर्य, बल्य, रसायन, वृष्य, प्रजास्थापन, संग्राही वातपित्तहर एवं स्निग्ध है।

इसका उपयोग रक्तपित्त, प्रमेह, प्रदर, वातविकार एवं व्रण में किया जाता है।

(१) शुक्रमेह में इसके पञ्चांग का स्वरस देने से लाभ होता है।

(२) श्वेत प्रदर, बारबार पेशाब होना तथा सोजाक में इसके जड़ की छाल का चूर्ण शर्करा तथा दुग्ध के साथ प्रयोग करते हैं।

(३) अर्धाङ्ग, अर्दित, मन्यास्तम्भ, अवबाहुक, गृध्रसी तथा शिरःशूल आदि वातविकारों में इसकी केवल जड़ या हींग और सैंधव मिलाकर जड़ का प्रयोग करते हैं तथा दुग्ध के साथ सिद्ध तैल का बाह्य प्रयोग करते हैं।

(४) नेत्राभिष्यंद में इसके पत्र पीसकर बाँधते हैं।

(५) उपदंश, फिरंग तथा क्षत में इसकी जड़ को पीसकर बाँधने से व्रण जल्दी अच्छे होते हैं। पञ्चांग के क्वाथ से व्रण प्रक्षालन भी किया जाता है।

(६) (महा) बला की जड़ एवं सोंठ का क्वाथ कम्पयुक्त विषम ज्वरों में लाभदायक होता है।

(७) हृदय को बल देने के लिये मकरध्वज तथा कस्तूरी के साथ इसका प्रयोग करते हैं।

(८) राजयक्ष्मा में दूध के साथ इसकी जड़ से सिद्ध घृत का उपयोग मधु मिलाकर करते हैं।

(९) श्लीपद में (महा) बला की जड़ एवं हरिताल पीसकर लेप करते हैं।

(१०) रसायन के लिये इसकी जड़ (½-१ पल) को दूध के साथ पीसकर पिलाते हैं तथा आहार में घृत युक्त दूध भात खिलाते हैं। इससे आयु वृद्धि होती है।

मात्रा—मूल ६ माशा-१ तोला, पञ्चांग ६ मा०-१ तोला।

६७ महाबला, सहदेवी ?

सं०-सहदेवा, क्षेत्रबला। **हिं०**-सहदेई, सहदेया, पीतबला। **बं**-पीतबेड़ेला। **म०**-चिकणी, सहदेवी, तुपकड़ी। **गु०**-खेतराऊबल, खेतराऊबलदाणा। **पं**-सहदेवि। **ते०**-मयिलमाणिक्यम्।

ता०-मयिरमाणिक्कम्। **ले०**-*Sida rhombifolia Linn.* (सिडा रॉम्बिफोलिया लिन.)। Fam. Malvaceae (माल्वेसी)।

यह क्षुप जाति की वनौषधि प्रायः सब प्रान्तों में कहीं न कहीं पाई जाती है। यह ऊसर भूमि में अधिक होती है। इसका **क्षुप** १-४ फीट ऊँचा, झाड़दार और सीधा होता है। **पत्ते**-२-३ इंच लम्बे, अभिलट्वाकार या तिर्यगायताकार तथा दन्तुर होते हैं। **फूल**-पीले रङ्ग के बरियारे के फूलों के आकार वाले किन्तु उनसे कुछ बड़े होते हैं। **फल**-बरियारे के ही समान होते हैं।

यह एक परिवर्तनशील जाति बतलाई जाती है जिसके अन्तर्गत कई उपभेद बतलाये गये हैं। इसी के उपभेद सिडा रॉम्बॉइडिआ (Sida rhomboidea) के पुष्प श्वेतवर्ण के होते हैं।

यद्यपि भावप्रकाशकार इसे सहदेवी लिखते हैं तथापि यह वास्तविक सहदेवी नहीं है। सहदेवा यह नाम इसके लिये अधिक उपयुक्त है क्योंकि चरक सुश्रुत में बला के भेदों में सहदेवा का उल्लेख है। सहदेवी का आगे स्वतंत्र वर्णन किया गया है जो भिन्न वर्ग की वनस्पति है।

रासायनिक संगठन—इसके पत्तों में लुआब बहुत होता है।

गुण और प्रयोग—इसके गुण भी बला सदृश ही होते हैं। शीतज्वर तथा आमवात में सोंठ के साथ इसकी जड़ का क्वाथ पिलाते हैं। मूत्रकृच्छ्र में इसकी जड़ के क्वाथ से वेदना कम होती है। क्षत पर मूलस्वरस की पट्टी रखने से व्रण जल्दी अच्छा होता है। हरिताल के साथ इसकी जड़ के लेप से श्लीपद में लाभ होता है।

मात्रा—६ मा० से १ तोला।

६८ सहदेवी

सं०-सहदेवी। **हिं०**—सहदेई, सहदेया। **बं**-छोट कुकासिमा। **म०**-सहदेवी, सायिदेवि, सादोडी। **गु०**-सदोडी, शेदरडी। **ता०**-नैचिट्टे। **ते०**-घेरिट्टेकरनिना। **मल०**-पिरिना। **क०**-सहदेवी। **अं०**-Fleabane (फ्लीबेन)। **ले०**-*Vernonia cinerea Less.* (वर्नोनिआ सिनेरिआ लेस्)। Fam. Compositae (कॉम्पोज़िटी)।

यह बरसात के दिनों में परित्यक्त भूमि में सब जगह होती है।

इसका **क्षुप**-स्वावलंबी अथवा प्रसरणशील, रोमश तथा ८ इञ्च से ३ फीट तक ऊँचा होता है। **काण्ड**-पतला, रेखा युक्त एवं रोमश होता है। **शाखायें**-प्रायः श्वेताभ रोमश होती हैं। **पत्ते**-कई तरह के अर्थात् रेखाकार, अंडाकार, लट्वाकार या अभिलट्वाकार, अखंड या दन्तुर, रोमश, अवृन्त अथवा क्रमशः संकुचित होकर सूक्ष्म वृन्त से लगे होते हैं। **पुष्प**-हलके जामुनी रंग के पुष्प ·२५ इञ्च लंबे और आयताकार मुण्डक में आते हैं। अधःपत्रावलि-घंटिकाकार, ·२ इञ्च लंबी और उसके पत्र प्रायः रेखाकार, लंबाग्र और उनका अग्र कंटक सदृश तीक्ष्ण होता है।

यह सहदेवी बलाभेद नहीं है किन्तु जिस सहदेवी के बारे में यह मान्यता है कि जड़ शिखा में बाँधने से ज्वर कम होता है वह यही है।

गुण और प्रयोग—यह शीतवीर्य, स्वेदजनक, कृमिघ्न एवं शोथहर है। ज्वर में पसीना लाने के लिये इसका क्वाथ या स्वरस पिलाते हैं तथा शरीर पर लगाते हैं। अर्श में इसका स्वरस दिया जाता है। यह पेशाब की जलन तथा वस्ति के उद्वेष्टन में लाभदायक है। इसका लेप शोथ में उपयोगी है।

इसके बीज कृमिनाशक, विषहर तथा घोड़ों के लिये पौष्टिक माने जाते हैं। नेत्राभिष्यन्द में पुष्पों का व्यवहार किया जाता है।

मात्रा—स्वरस ६ मा०–१ तोला; बीज ४ र०–१ मा०।

६९ अतिबला (कंघी)

हिं०–कंघी, ककही, ककहिया, कंगही। **बं०**–पेटारी। **म०**–मुद्रा, मुद्रिका, करंडी, पेटारी। **पं०**–पीली बूटी, अतिखिरते। **गु०**–खपाट, कांसकी, डावली। **मा०**–डाबी। **क०**–श्रीमुद्रिगिडा। **ते०**–तुत्तुरुबेंड। **सिन्ध०**–सिम्बुल। **सन्ता०**–मिरुबहा। **ता०**–तुत्ति। **फा०**–दरख्ते शाहनाह। **अ०**–मस्तुलगूल। **अं०**–Indian Mallow (इण्डियन् मॅलो)। **ले०**–*Abutilon indicum* (*Linn.*) *Sw.* (एब्युटिलोन् इन्डिकम् (लिन.) स्व.)। Fam. Malvaceae (माल्वेसी)।

यह वनौषधि प्रायः गरम प्रान्तों में अधिक पाई जाती है। इसका **क्षुप**–झाड़दार, २–२॥ हाथ ऊँचा और पुराना होने पर ४–५ हाथ तक ऊँचा देखा जाता है। इस पर मृदु श्वेताभ मखमली रोमावरण होता है। **पत्ते**–एकान्तर, ¾–१ इञ्च लम्बे, गिलोय के पत्तों के आकार वाले, दन्तुर, मृदुरोमश तथा लम्बे वृन्त से युक्त होते हैं। **फूल**–पीले नारङ्गी रङ्ग के प्रायः सन्ध्याकाल में खिलते हैं। **फल**–चक्राकार गोल कंघी की तरह होते हैं। इनसे प्रायः बालक छापा किया करते हैं। **बीज**–बरियारे के बीजों से कुछ बड़े होते हैं। इन्हें भी बीजबंद कहा जाता है।

इसकी एक दूसरी जाति होती है जिसे हिं०–बड़ी कंघी, ले०–*Abutilon hirtum G. Don.* (एब्युटिलोन् हिर्टम् जी. डॉन्.) कहते हैं। इसमें मृदुरोमावरण के अतिरिक्त चिपचिपे रोम तथा शाखाओं और पुष्पदंडों पर लम्बे मुलायम रोयें भी होते हैं। इसका भी अतिबला के नाम से प्रयोग किया जा सकता है।

रासायनिक संगठन—इसके पत्तों में लुआब बहुत होता है जो उष्ण जल में आ जाता है। पत्तों की राख ११% होती है जिसमें क्षारीय सल्फेट, क्लोराइड, मॅग्नेशियम् फास्फेट तथा कॅल्शियम् कार्बोनेट आदि लवण होते हैं।

गुण और प्रयोग—इसकी जड़ वातहर, रसायन, मूत्रजनन; बीज स्नेहन, मृदुरेचन, वाजीकर, कासहर; छाल मूत्रजनन एवं पत्र स्नेहन, वेदनाहर हैं।

(१) सोजाक, मूत्रकृच्छ्र एवं वस्तिविकार आदि में इसके पत्तों का क्वाथ या बीजों का प्रयोग बहुत लाभदायक होता है। मूत्रकृच्छ्र तथा रक्तमूत्र में मूल का क्वाथ लाभदायक है। प्रमेह में पेशाब साफ होने के लिये दूध एवं शर्करा के साथ इसकी छाल देते हैं।

(२) मसूढ़े ढीले हों तथा दाँत में दर्द हो तो इसके पत्ते के क्वाथ से कुल्ला कराते हैं। वेदनायुक्त स्थान पर इससे सेंकते हैं। व्रण तथा फोड़े आदि पर इसके पुष्प तथा पत्तों का लेप किया जाता है।

(३) ज्वर में दाहशान्ति के लिये इसके पत्ते तथा मूल का क्वाथ दिया जाता है।

(४) रक्तप्रदर में इसकी जड़ का चूर्ण शर्करा एवं मधु के साथ दिया जाता है।

(५) इसके बीज नपुंसकता, अर्श, सोजाक तथा वस्तिविकारों में दिये जाते हैं।

(६) पित्तातिसार में पत्रस्वरस में घृत मिलाकर खिलाते हैं।

(७) गुदा पर इसके बीजों के धूप से सूत्र-कृमि नष्ट होते हैं।

मात्रा—मूल ६ माशा–१ तोला; बीज ४–८ माशा।

७० नागबला १

सं०–भूमिबला, नागबला, विश्वदेवा। **हिं०**–फरीदबूटी ? **म०**–भुईबल, भुईचिकणा। **गु०**–भोंयबल। **बं०**–जोंका। **ता०**–पलुपन्दु। **ते०**–गायपूआकु। **ले०**–*Sida veronicaefolia Lam.* (सिडा हॅरोनिसीफोलिआ लॅम्.) Syn-Sida humilis Cav. (सिडा ह्युमिलिस् कॅह.)। Fam. Malvaceae (माल्वेसी)।

यह प्रायः सब प्रान्तों में पाई जाती है। इसका **क्षुप** (प्रसर)–बहुवर्षायु, रोमश, लम्बी शाखाओं से युक्त तथा जमीन पर अथवा झाड़ियों पर फैला हुआ होता है। भूमि पर सर्प की तरह टेढ़े-मेढ़े यह फैला होने के कारण इसे नागबला कहते हैं। **पत्ते**–½–१ इञ्च लम्बे, प्रायः लट्वाकार, हृद्वत्, दन्तुर, रोमश तथा लंबाग्र होते हैं। **पुष्प**–पीले रङ्ग के छोटे अनेक पुष्प आते हैं।

गुण और प्रयोग—गर्भिणी अतिसार में इसके पत्तों का फाण्ट देते हैं। मूत्र-कृच्छ्र में पुष्प तथा कोमल फल चीनी के साथ देते हैं। क्षत तथा ठोकर लगने पर पत्तों को पीसकर बाँधते हैं।

नागबला की जड़—यह बहुत उत्तम रसायन, पुष्टिदायक आयुवर्धक तथा बलवर्धक मानी गयी है। राजयक्ष्मा तथा क्षतक्षय आदि में यह बहुत लाभदायक मानी जाती है। रसायन के लिये इसकी जड़ की छाल ½–१ तोले दूध में पीसकर अथवा घृत एवं मधु के साथ इसका चूर्ण-सेवन का विधान है। पथ्य में घृत-दुग्धयुक्त रक्तशालि अथवा साठी चावल का भात खावे (च. चि. अ. १)। इसी प्रकार प्रतिदिन ½ तोले से बढ़ाकर ४ तोले तक की मात्रा में इसका चूर्ण दूध के साथ खावे तथा आहार में दूध ही पीवे। क्षतक्षयी के लिये इस प्रकार एक महीने प्रयोग से पुष्टि, आयु, बल तथा आरोग्य की वृद्धि होती है (च० चि० अ० ११)। राजयक्ष्मा में दूध के साथ नागबला का चूर्ण सेवन करने से लाभ होता है (सु० उ० अ० ४१)। शोढल ने घृत एवं मधु के साथ क्षय के लिये इसका प्रयोग लिखा है। हृद्रोग, कास तथा श्वास में भी दूध के साथ इसका चूर्ण दिया जाता है (चक्र)।

उपर्युक्त गुण जिसमें मिलें वही शास्त्रीय नागबला हो सकती है। **मात्रा**—मूल ½ से १ तो०।

७१ नागबला २ (गुलसकरी ?)

सं०–कण्टकिनीबला। **हिं०**–गुलशकरी, जङ्गली मेथी। **बं०**–गोरक्षचाकुले, बोन मेथी। **म०**–नागबला। **मा०**–गङ्गेरण। **पं०**–गङ्गेरण, गङ्गेरन। **गु०**–कांटालोबल। **फा०**–शनबलिदेवरी। **अ०**–शमलोदेदस्ती। **ले०**–*Sida spinosa Linn.* (सिडा स्पाइनोसा लिन.)। Fam. Malvaceae (माल्वेसी)। यह इस देश के अधिक उष्ण भागों में पश्चिमोत्तर प्रदेश से दक्षिण तक पाई जाती है।

इसका **क्षुप**–अनेक शाखाओं से युक्त, स्वावलम्बी तथा श्वेताभ वर्ण का होता है। **शाखाएँ**–पतली, खुरदरी एवं किञ्चित् सूक्ष्म रोवेंदार होती हैं। **पत्ते**–१–१½ इञ्च लम्बे, अंडाकार, कुछ नुकीले, दन्तुर और मोटे होते हैं। पत्तों के नीचे सन्धि पर प्रायः तीक्ष्ण कांटे होते हैं। **फूल**–आध इञ्च के घेरे में गोलाकार, ५ पंखड़ियों से युक्त सफेद रङ्ग के आते हैं। **फल**–पाँच पंखड़ीवाले होते हैं तथा सूखने पर ५ भाग हो जाते हैं। **बीज**–५–१ बीज होते हैं। कुछ विद्वानों ने इसके दो भेद माने हैं जिसमें श्वेतपुष्प के क्षुप को सि० ॲल्बा (S. alba) तथा पीतपुष्प वाले को सि० ॲल्निफोलिआ (S. alnifolia) लिखा है। इसकी जड़ तथा पत्तों का उपयोग किया जाता है।

गुण और प्रयोग—इसके पत्र स्नेहन तथा मूत्रजनन हैं। इसकी जड़ बल्य तथा ज्वरघ्न है। विषम ज्वर में मूलत्वक तथा सोंठ का क्वाथ पिलाते हैं। मूत्रकृच्छ्र, सोजाक तथा मूत्रेन्द्रिय के अन्य विकारों में इसके पत्तों का उपयोग किया जाता है। **मात्रा**—६ माशा-१ तोला।

७२ नागबला ३ (गुलसकरी, गांगेरुकी)

सं०-गुडशर्करा। **हि०**-गुलसकरी, कुकुरांड, कुकुरबिचा। **संता०**-सेतकर, सेताण्डीर। **बिहा०**-सेतारेपडी, सेतापेट्टू, सेताजरका। **म०**-गोवाली। **ले०**-*Grewia hirsuta, Vanb.* (ग्रेविआ हिर्सुटा, वॅन्ब)। Fam. Tiliaceae (टिलिएसी)। यह उत्तरपश्चिम भारत, नेपाल तथा कोंकण में पाया जाता है।

इसके क्षुप-१½-३ फीट ऊँचे तथा रोमश होते हैं। इसकी जड़ के पास से अनेक शाखायें निकली रहती हैं। पत्ते-विचित्र प्रकार के, रेखाकार, लट्वाकार-भालाकार या गोलाई लिये हुये आयताकार, लम्बाग्र, अल्पवृन्त युक्त तथा तीक्ष्ण दन्तुर होते हैं। पुष्प-पीतवर्ण के होते हैं। फल-प्रायः चार खण्ड वाले तथा मृदुरोमों से ढँके रहते हैं।

नागबला का चतुष्फला यह पर्याय इसे उपयुक्त होने के कारण कुछ इसे नागबला मानते हैं। किन्तु श्री ठा० बलवन्त सिंह जी इसे गुलसकरी मानते हैं तथा इसे 'गुडशर्करा' का अपभ्रंश मानते हैं। अन्य विद्वानों ने गुलसकरी पूर्वोक्त नागबला २ को माना है।

इसे या इससे मिलती जुलती एक छोटी वृक्ष जाति ग्रेविआ पोप्युलीफोलिया वाह्. (Grewia populifolia Vahl.) को गांगेरुकी (गंगरेन) कहते हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि यह ग्रे० पोप्युलीफोलिआ ही गांगेरुकी है जिसे नागबला नहीं मानना चाहिये क्योंकि गांगेरुकी यह नागबला का पर्याय मानना उचित नहीं। गांगेरुक (फल) का चरक सू० अ० २७ तथा सू० अ० ४६ में उल्लेख है। गांगेरुक (फल) यह धन्वन के समान गुण वाला मधुर, कुछ कषाय, शीतल तथा पित्तकफनाशक है। तलवार आदि से घाव होने पर इसके (गाङ्गेरुकी) मूल का स्वरस उसमें भरकर बाँधने से वेदना नष्ट होती है (शा० ध० म० खं० अ० १-२०)।

गुण और प्रयोग—शुक्रदौर्बल्य में इसके मूल का उपयोग किया जाता है। फोड़े पर इसके मूल को पीसकर बांधने से फोड़ा पककर जल्दी अच्छा होता है। आमातिसार में इसके पत्तों के क्वाथ से बहुत लाभ होता है।

अथ लक्ष्मणा। तस्या लक्षणगुणानाह

पुत्रकाकाररक्ताल्पबिन्दुभिर्लाञ्छितच्छदा॥ १४७॥
लक्ष्मणा पुत्रजननी बस्तगन्धाकृतिर्भवेत्। कथिता पुत्रदाऽवश्या लक्ष्मणा मुनिपुङ्गवैः॥१४८॥

'लक्ष्मणा' के लक्षण तथा गुण—जिसके पत्तों पर लाल रङ्ग के छोटे-छोटे बिन्दुओं से पुरुष का आकार बना हो, तथा जो देखने में बस्तगन्धा (वन अजवायन) के समान मालूम पड़े उसे पुत्र को उत्पन्न करने वाली 'लक्ष्मणा' समझनी चाहिये। श्रेष्ठ मुनियों ने इसे अवश्य पुत्र देनेवाली बतलाया है॥ १४७-१४८॥

७३ लक्ष्मणा

लक्ष्मणा यह एक सन्दिग्ध वनस्पति है। भावप्रकाशकार इसके परिचय में लिखते हैं कि इसके पत्तों पर पुरुषाकृति रक्त-चिह्न होते हैं तथा इसका आकार बस्तगन्धा की तरह होता है। बस्तगन्धा

का अर्थ कुछ लोगों ने वन अजवायन किया है। कुछ ने इसका अर्थ बकरे की गन्ध सदृश गंध वाला किया है जो उचित नहीं मालूम पड़ता। तुलसी की तरह के क्षुप को भी बस्तगन्धा कहा गया है। मदनपाल निघण्टु में लक्ष्मणा के परिचय में 'गोक्षीरसदृशं पुष्पं रक्तबिन्दुसमन्वितम्। रक्तबिन्दुयुतं पत्रं लक्ष्मणाऽऽकार उच्यते' लिखा है। कोश में लक्ष्मणा का अर्थ हंस जाति का पक्षी दिया हुआ है। ध० नि० एवं रा० नि० में एक विशेष प्रकार की श्वेत कंटकारी का लक्ष्मणा नाम से उल्लेख किया हुआ है किन्तु रा० नि० ने आगे मूलकादि वर्ग में फिर से लक्ष्मणा नामक अन्य वनस्पति का उल्लेख किया है जिसके गुणों में 'स्त्रीवन्ध्यत्वविनाशिनी' दिया हुआ है। इससे ऐसा मालूम होता है कि उस समय भी श्वेत जाति की कंटकारीविशेष को लक्ष्मणा मानते थे जैसा आजकल कुछ विद्वान् मानते हैं। यद्यपि श्वेत कंटकारी में गर्भकारक गुण हैं तथापि लक्ष्मणा इससे भिन्न है क्योंकि एक ही स्थान पर दोनों का उल्लेख मिलता है (अ० हृ० शा० अ० १-४०)। अन्य निघंटुओं ने इसे शीत, मधुर, रसायन, बल्य, त्रिदोषघ्न एवं स्त्रीवन्ध्यत्वविनाशक लिखा है। पुत्रप्राप्ति के लिये सुश्रुत (शा० अ० २-३३) में लक्ष्मणा को दूध के साथ कूचकर उसका रस दाहिने नासा पुट में डालने के लिये लिखा है। नवजात शिशु के लिये उत्पन्न होने के दूसरे दिन लक्ष्मणासिद्ध घृत के पान कराने का विधान है (सु० शा० अ० १०)। वन्ध्यत्व नाशन के लिये इसकी जड़ को दूध के साथ सेवन करने का विधान है।

चीन में ॲरेलिआ क्विन्क्वीफोलिआ (Aralia quinquefolia; Fam. Araliaceae) नामक एक पौधा पाया जाता है जिसे वहाँ जिन्सेंग (Ginseng) कहते हैं। इसकी जड़ को वहाँ अत्यन्त प्रभावशाली औषध मानते हैं। संभवतः इसका कारण इसका मानवाकृति से सादृश्य हो सकता है। इसको वहाँ के चिकित्सक रोग निवारक एवं जराव्याधि विनाशक मानते हैं। लक्ष्मणा के वर्णन में 'पुत्रकाकार' का अर्थ यदि मानवाकृति कंद करे तो दोनों में पर्याप्त साम्यता मालूम होती है क्योंकि जितना महत्व अपने यहाँ लक्ष्मणा को दिया जाता है वैसा ही जिन्सेंग को चीन में दिया जाता है। इसका पौधा छोटा एवं पत्ते करतलाकार होते हैं। इसकी जड़ का स्वाद कुछ कड़ुआ तथा सुगन्धयुक्त होता है।

निम्नलिखित वनस्पतियों को लक्ष्मणा नाम दिया हुआ मिलता है किन्तु इनके लक्ष्मणा होने में सन्देह है।

(क) Ipomoea sepiaria Koen. (आइपोमिआ सेपिएरिआ कोएन्.)
Fam. Convolvulaceae (कन्वोल्व्युलेसी)। **गु०**-हनुमानवेल।

(ख) Atropa mandragora (एट्रोपा मेण्ड्रागोरा)। Fam. Atropaceae (एट्रोपेसी)। संभवतः इस वनस्पति का उचित नाम Mandragora autumnalis Spreng; Fam. Solanaceae (मॅण्ड्रागोरा ऑटम्नॅलिस् स्प्रे.; सोलेनेसी) है।

(ग) Smithia geminiflora Roth (स्मिथिआ जेमिनिफ्लोरा रॉथ)। Fam. Leguminosae (लेग्युमिनोसी)।

(घ) Biophytum sensitivum (Linn.) DC. (बायोफाइटम् सेन्सिटिव्हम् डीसी.)। Fam. Geraniaceae (जिरॅनिएसी)।

अथ स्वर्णवल्ली (सोनबेल)। तस्या नामगुणानाह

स्वर्णवल्ली रक्तफला काकायुः काकवल्लरी। स्वर्णवल्ली शिरःपीडां त्रिदोषान्हन्ति दुग्धदा॥१४९॥

'सोनबेल' के नाम तथा गुण—स्वर्णवल्ली, रक्तफला, काकायु और काकवल्लरी ये सब संस्कृत

नाम 'सोनबेल' के हैं। सोनबेल—शिर की पीड़ा तथा त्रिदोष को दूर करती है, एवं दूध को बढ़ाने वाली होती है ॥ १४९ ॥

७४ स्वर्णवल्ली

'स्वर्णवल्ली' की लता कैसी होती है, इस सम्बन्ध में कोई वर्णन अन्य ग्रन्थों में नहीं मिलता। रक्तफला विशेषण के उल्लेख के कारण आकाशवल्ली इसका पर्याय नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त आकाशवल्ली का स्वतन्त्र रूप में भी भावप्रकाशकार ने इसी वर्ग में वर्णन किया है। प्राचीन ग्रन्थों में भी स्वर्णवल्ली का स्वतन्त्र रूप में कोई विशिष्ट प्रयोग वर्णित नहीं है। इसीलिये व्यवहार में भी इसका शुद्ध या व्यामिश्रित रूप उपलब्ध नहीं है।

अथ कार्पासी (कपास)। तस्या नामगुणानाह

कार्पासी तुण्डकेशी च समुद्रान्ता च कथ्यते। कार्पासकी लघु कोष्णा मधुरा वातनाशिनी ॥

'कपास' के नाम तथा गुण—कार्पासी, तुण्डकेशी और समुद्रान्ता ये सब नाम 'कपास' के हैं। कपास—लघु, किञ्चित् उष्णवीर्य, मधुर तथा वातनाशक होता है ॥ १५० ॥

अथ तत्पत्रबीजयोर्गुणानाह

तत्पलाशं समीरघ्नं रक्तकृन्मूत्रवर्द्धनम्। तत्कर्णपिडकानादपूयास्रावविनाशनम् ॥ १५१ ॥
तद्बीजं स्तन्यदं वृष्यं स्निग्धं कफकरं गुरु ॥ १५२ ॥

इसके पत्ते तथा बीजों के गुण—कपास के पत्ते–वायुनाशक, रक्त तथा मूत्रवर्धक होते हैं एवम् कर्णपिडका (कान की फुन्सी), कर्णनाद (कान में शब्द होना) और कर्णपूयास्राव (कान से पीव का आना) इन सब को नाश करने वाले होते हैं। कपास के बीज–दुग्धवर्धक, वृष्य (वीर्यवर्धक), स्निग्ध, कफकारक तथा पाक में गुरु होते हैं ॥ १५१–१५२ ॥

७५ कपास

हि०–कपास, रूई। म०–कापसी, कापूस। गु०–बोण, कपास। बं०–कार्पास, तुला। ते०–पत्तिचेट्टु, कार्पासमु। क०–हत्ति। ता०–परुत्ति। फा०–पंबः। अ०–नवातुलकुत्न। अं०–Cotton Plant (कॉटन प्लॅण्ट), Indian Cotton (इण्डियन कॉटन)। ले०–*Gossypium herbaceum Linn.* (गॉसिपिअम् हर्बेसिअम् लिन.); Fam. Malvaceae (माल्वेसी)।

कपास के बीज के नाम—हि०–बिनौला। म०–सरकी। गु०–कपासिया। मा०–कांकड़ा। अ०–हब्बुलकुत्न। फा०–पंबः दाना।

कपास या रूई यह सुप्रसिद्ध द्रव्य है। भारतवर्ष के अनेक भागों में बहुलता से इसकी खेती की जाती है। मिस्र, अमेरिका तथा संसार के अन्य उष्ण प्रदेशों में भी इसकी खेती की जाती है।

यह गुल्म जाति की वनस्पति ४–५ फीट तक ऊँची होती है। इसके पत्ते–हाथ के पंजे के समान कई भागों में विभक्त रहते हैं। प्रायः ३ से ७ भाग तक देखने में आते हैं। फूल–घंटाकार पीले रङ्ग के होते हैं, उनके बीच का हिस्सा बैंगनी रङ्ग का होता है। फल–डोडी या फल गोलाकार होता है तथा उसके भीतर सफेद रूई से लिपटे हुये ५–७ बीज होते हैं। बीज–किंचित् काले रङ्ग के, चने के समान गोल होते हैं और उनके भीतर सफेद मज्जा होती है। जड़–बाहर से पीले रङ्ग की तथा अन्दर से सफेद होती है। जड़ की छाल गंधयुक्त, पतली, चिमड़, रेशेदार, धारीदार एवं

करीब १ फीट तक लम्बी होती है। छाल का स्वाद कुछ तीता एवं कषाय होता है। प्रतिवर्ष प्रायः चौमासे के आरम्भ में खेतों में बीजों को रोपण करते हैं, और फाल्गुन-चैत में रूई संग्रह कर पौधे को काट कर खेत साफ कर देते हैं।

जाति—इसकी निम्न अन्य जातियाँ भी पाई जाती हैं। देशभेद से भी यह अनेक प्रकार का होता है।

उद्यान कार्पास—सं०–उद्यानकार्पास। हि०–नर्मा। म०–देवकापसीण। गु०–हिरवणी। पं०–कपस। संता०–बुदिकरकोम। ले०–*Gossypium arboreum Linn.* (गॉसिपिअम् आर्बोरिअम् लिन.)।

यह एक प्रकार की कपास होती है, जिसका बागों में रोपण करते हैं। इसके पौधे–बहुवर्षायु, ८–१० फीट तक ऊँचे होते हैं। पत्ते और फल भी कुछ बड़े होते हैं, तथा फूल लाल रङ्ग के होते हैं।

अरण्य कार्पासी—सं०–भारद्वाजी (च० सू० अ० ४, रा० नि०)। हि०–जंगली कपास, वनकपासी। म०–रानकापूस। ले०–*Thespesia lampas Dalz & Gibs* (थेस्पेसिआ लॅम्पस् डा., गि.)।

यह जाति जंगलों में स्वयं उत्पन्न होती है। इसके क्षुप–झाड़ीदार, दृढ़ तथा ४–६ फीट ऊँचे होते हैं। पत्ते–करतलाकार, ३ खण्डयुक्त या अखण्ड एवं व्यास में ४–५ इञ्च होते हैं। फूल–पीले रङ्ग के तथा मध्य में प्रायः लाल रङ्ग के होते हैं। इसकी रुई कुछ पीताभ होती है।

रासायनिक संगठन—कपास की जड़ की छाल में एक रङ्गहीन या पीताभ अम्ल राल ८% तक पाई जाती है जो आक्सीजन के संयोग से चमकीले रक्ताभ भूरे रङ्ग की हो जाती है। इसके अतिरिक्त इसमें डिहाइड्रोक्सि बेन्जोइक एसिड (Dihydroxy benzoic acid), सॅलिसिलिक् एसिड (Salicylic acid), स्नेहाम्ल, बिटेन (Betaine), सेरिल ॲल्कोहोल् (Ceryl alcohol), फाइटोस्टेरॉल् (Phytosterol), शर्करा एवं फेनॉल के सदृश दो पदार्थ पाये जाते हैं। बीजों में १०–२९% हलके पीले रङ्ग का गन्धहीन तथा स्वादहीन तैल पाया जाता है जिसमें ग्लिसराइड्स, स्नेहाम्ल, फॉस्फोलिपिन् (Phospholipin), फाइटोस्टेरॉल् (Phytosterols) तथा रंजक द्रव्य पाये जाते हैं। तैल के फेनॉलयुक्त भाग से एक सुनहले वर्ण का गॉसिपॉल् (Gossypol) नामक विषैला रवेदार पदार्थ पाया जाता है जो जल में नहीं घुलता किन्तु मद्यसार आदि अन्य द्रवों में घुलता है। यह छाल में पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—कपास के बीज–स्तन्यजनन, स्नेहन, स्रंसन, श्लेष्म-निःसारक, बल्य एवं नाडीसंस्थान के लिये पौष्टिक हैं। इसकी रुई उपशोषण तथा रक्षण है। पुष्प–उत्तेजक तथा सौमनस्यजनन हैं। कोमल पत्ते–स्नेहन तथा मूत्रजनन हैं। तैल–स्नेहन, पौष्टिक तथा अधिक मात्रा में स्निग्ध विरेचक है।

इसकी जड़ की छाल गर्भाशयसंकोचक एवं आर्तवजनन है। गर्भाशय पर इसकी क्रिया अर्गट (Ergot) की तरह होती है। इससे गर्भाशय का अच्छी तरह संकोच होकर रक्तस्राव रुकता है। इसकी अधिक मात्रा से गर्भपात होता है।

(१) प्रसव के बाद इसकी छाल का क्वाथ पिलाने से गर्भाशय का संकोच होता है। यह आँवल (अपरा) गिरने के बाद पिलाना चाहिए। यदि आधे घण्टे में गर्भाशय संकुचित होकर गेंद की तरह न मालूम पड़े तथा नाडी की गति तेज हो तो फिर दुबारा इसे देना चाहिये।

पीडितार्तव तथा शीत से उत्पन्न अनार्तव में छाल के क्वाथ से लाभ होता है। श्वेत प्रदर में इसकी जड़ को चावल के धोवन के साथ देते हैं।

(२) प्रसूता को दुग्ध वृद्धि के लिये बीजों की पेया बनाकर देते हैं। बीजों की चाय प्रवाहिका में उपयोगी है। शीतज्वर में ज्वर के पूर्व इसका क्वाथ पिलाते हैं।

(३) इसके पुष्पों का शरबत उदासीनता-प्रधान मानसिक रोगों (Hypochondriasis) में पिलाते हैं।

(४) घाव में रुई जलाकर भरने से रक्तस्राव रुकता है तथा घाव जल्दी अच्छा होता है। रुई का उपयोग शीत से रक्षा, उष्णता पहुँचाने तथा व्रण संरक्षण के लिये करते हैं।

(५) इसके कोमल पत्तों का रस आमातिसार में देते हैं।

मात्रा—मूलत्वक् २-४ माशा; बीजचूर्ण ३-६ माशा।

बनकपासी[1]—इसका उपयोग कपास की तरह ही किया जाता है। इसकी जड़ तथा फल सोजाक में देते हैं।

नर्मा—इसमें कपास की अपेक्षा स्निग्धता अधिक रहने के कारण इसके पत्ते तथा जड़ का लेपों में अधिक उपयोग करते हैं। मूत्रकृच्छ्र में पत्तों को दूध में घोसकर पिलाते हैं।

अथ वंशः (बांस)। तस्य नामगुणानाह

वंशस्त्वक्सारकर्मारत्वचिसारतृणध्वजाः। शतपर्वा यवफलो वेणुमस्करतेजनाः॥ १५३॥
वंशः सरो हिमः स्वादुः कषायो बस्तिशोधनः। छेदनः कफपित्तघ्नः कुष्ठास्रव्रणशोथजित्॥

'बाँस' के नाम तथा गुण—वंश, त्वक्सार, कर्मार, त्वचिसार, तृणध्वज, शतपर्वा, यवफल, वेणु, मस्कर और तेजन ये सब नाम 'बाँस' के हैं। **बाँस**—सारक, शीतवीर्य, स्वादिष्ट, कषायरसयुक्त, बस्तिशोधक, छेदक, कफपित्तनाशक एवं कुष्ठ, रक्तविकार, व्रण तथा शोथ इन सब को दूर करने वाला होता है॥ १५३-१५४॥

अथ वंशस्य करीरयवयोर्गुणानाह

तत्करीरः कटुः पाके रसे रूक्षो गुरुः सरः। कषायः कफकृत्स्वादुर्विदाही वातपित्तलः॥१५५॥
तद्यवास्तु सरा रूक्षाः कषायाः कटुपाकिनः। वातपित्तकरा उष्णा बद्धमूत्राः कफापहाः॥

'बाँस' के अङ्कुर तथा यव (चावल) के गुण—**बाँस का अङ्कुर**—पाक में कटु रसयुक्त, रूक्ष, गुरु, सारक, कटु तथा कषायरसयुक्त, कफकारक, स्वादिष्ट, दाहजनक एवं वात-पित्त को उत्पन्न करने वाला होता है। **बांस के यव (चावल)**—सारक, रूक्ष, कषायरसयुक्त, पाक में कटुरसयुक्त, वातपित्तकारक, उष्णवीर्य, मूत्ररोधक तथा कफनाशक होते हैं॥ १५५-१५६॥

७६ बाँस

हि०—बाँस। **गु०**—बाँस। **म०**—बांबू। **बं०**—बाँश। **ते०**—वेदरू, बोंगा। **ता०**—मुंगिल **कोल०**—कटंगा। **मा०**—बाँव। **सन्ताल०**—माट। **अ०**—कसब। **अं०**—Bamboo (बांबू)। **ले०**—*Bambusa arundinacea Willd*. (बांबुसा अरुण्डिनेसिया विल्ड)। Fam. Gramineae (ग्रॅमिनी)।

१. भारद्वाजी हिमा रुच्या व्रणशस्त्रक्षतापहा। (रा. नि.)

बाँस इस देश के प्रायः सब प्रान्तों में उत्पन्न किया जाता है और छोटी-छोटी पहाड़ियों के आस-पास आप ही आप जंगली भी उत्पन्न होता है। छोटे, बड़े, मोटे, पतले, ठोस और पोले इन भेदों से बांस कई प्रकार का होता है। इसकी ऊँचाई ३०-४० फीट से १०० फीट तक होती है और मोटाई ३-४ से १२-१६ इंच तक होती है। इसके **पत्ते**-१-१॥ इञ्च चौड़े और ५-६ इञ्च तक लम्बे होते हैं। प्रायः बाँस का वृक्ष पुराना होने पर फूलता-फलता है और कोई-कोई बाँस अवधि के पूर्व ही फूलने-फलने लगता है। इसके फूल-छोटे-छोटे सफेद होते हैं और फल-जव के आकार के दिखाई पड़ते हैं। इसको वेणुबीज कहते हैं। इसकी कई अन्य जातियाँ होती हैं। बाँस के संबंध में शेष वर्णन वंशलोचन के साथ पृष्ठ ५८ पर किया गया है।

अथ नलः (नरसल) तस्य नामगुणानाह

नलः पोटगलः शून्यमध्यश्च धमनस्तथा। नलस्तु मधुरस्तिक्तः कषायः कफरक्तजित्।
उष्णो हृद्बस्तियोन्यर्त्तिदाहपित्तविसर्पहृत्॥ १५७॥

'नरसल' के नाम तथा गुण—नल, पोटगल, शून्यमध्य और धमन ये सब नाम 'नरसल' के हैं। **नरसल**—मधुर, तिक्त तथा कषायरसयुक्त और उष्णवीर्य होता है, एवम् कफ, रक्तविकार, हृदय, बस्ति तथा योनि सम्बन्धी पीड़ा, दाह, पित्त और विसर्प को दूर करने वाला होता है॥ १५७॥

नोट—नल के सम्बन्ध में जो वर्णन निघंटुओं में मिलता है उससे कुछ भ्रम उत्पन्न होता है। भावप्रकाशकार नल का एक ही भेद लिखते हैं तथा इन्होंने इसे उष्णवीर्य लिखा है किन्तु इसको पित्तविकार, कफविकार, रक्तदोष एवं विसर्प इत्यादि में लाभदायक माना है। रा० नि० तथा ध० नि० में नल एवं महानल (देवनाल) ये दो भेद मिलते हैं जिनमें से नल को शीतवीर्य एवं रक्तपित्तहर माना है तथा महानल को अधिक वीर्यशाली एवं रसक्रिया में उपयोगी लिखा है। नल के जो प्रयोग सुश्रुत-चरकादि में मिलते हैं उनसे ऐसा मालूम होता है कि यह शीतवीर्य है तथा पित्त विकार, विसर्प, मूत्रविकार आदि में उपयोगी है। उन प्रयोगों में इसके साथ कुश, दूर्वा आदि पित्तशामक एवं मूत्रजनक इसी प्रकार के द्रव्यों का उल्लेख है जिससे ऐसा अनुमान होता है कि नल भी इन्हीं के वर्ग का द्रव्य है। कुछ आधुनिक ग्रन्थकारों ने ग्रेमिनी (Gramineae) वर्ग के फ्रॅग्माइटीज कर्का (Phragmites kirka) को नल माना है। इसी वर्ग में कुश, दूर्वा आदि द्रव्य भी आते हैं।

कुछ अन्य आधुनिक विद्वानों ने नल को लोबेलिआ निकोटिआनिफोलिआ (Lobelia nicotianaefolia) माना है जो कम्पॅनुलेसी (Campanulaceae) वर्ग का है तथा जिसका पाश्चात्य चिकित्सा में कफनिःसारक रूप में तमकश्वास के लिये प्रयोग किया जाता है। यह विषैला द्रव्य है। नल के परिचय में कहीं पर 'वंशपत्रो मृदुच्छदः। छिद्रांत्रो नर्तको रन्ध्री मृत्युपुष्पो विभीषणः' यह भी श्लोक मिलता है जो उपर्युक्त लोबेलिआ के लिये अधिक उचित मालूम पड़ता है। भावप्रकाशकार भी नल को उष्ण एवं कफहर मानते हैं किन्तु इन्होंने भी इसका वर्णन कुश, कास, दूर्वा आदि के साथ किया है अतः नल के ग्रॅमिनी वर्ग के फ्रॅग्माइटीज कर्का होने की संभावना भी कम नहीं है। स्वरूप की दृष्टि से दोनों द्रव्यों में पर्याप्त साम्यता पाई जाती है। लोबेलिआ दक्षिण की तरफ़ ही प्राप्त होता है। यहाँ पर दोनों द्रव्यों का अलग-अलग वर्णन किया गया है।

७७ नरकट

हि०–नरकट। **म०**–नल। **गु०**–नाली, नाहरी। **कोल०**–जंकई। **ले०**–*Phragmites kirka Trin.* (फ्रॅग्माइटीज कर्का ट्रिन.)। Fam. Gramineae (ग्रॅमिनी)।

यह दलदलों या नदियों के किनारे होता है।

इसका **पौधा**–१०–२० फीट ऊँचा तथा बाँस की तरह दिखलाई देता है। इसके कांड के पर्व पीले तथा छोटे होते हैं। लंबे भूमिशायी कांडों द्वारा ये शीघ्र अपनी संख्या-वृद्धि करते हैं। **पत्ते**–कड़े, सीधे, खड़े, १–२ फीट लंबे एवं १ से १½ इञ्च चौड़े होते हैं। पुष्पव्यूह की छोटी दण्डिकायें धूसर या भूरे रंग की होती हैं।

इसका एक अन्य भेद अरुण्डो डोनॅक्स लिन. (Arundo donax Linn.) भी पाया जाता है जो ६–१२ फीट ऊँचा होता है।

इसके मूल का क्वाथ स्नेहन, मूत्रल, आर्तवजनन एवं दुग्ध कम करने वाला है। इसमें ग्रेमाइन (Gramine, $C_{11}H_{14}N_2$) तथा डोनेक्सेराइन (Donaxarine, $C_{15}H_{16}O_2N_2$) नामक दो क्षाराभ पाये जाते हैं जिनमें से प्रथम की अल्पमात्रा से कुत्ते में रक्त दबाव बढ़ता है किन्तु अधिक मात्रा से कम हो जाता है।

७८ नरसल, देवनल

हि०–नरसल, नल। **म०**–देवनल, बोकेनल, ढवनल, नल। **बं०**–बड़ानल। **क०**–काडहोगे सोप्पु। **ता०**–काट्टुपुगैयिलै। **कच्छ०**–भोंची। **गु०**–नाली। **ते०**–अडविपोगाकु। **अं०**–Wild tobacco (वाइल्ड टोबॅको); Lobelia (लोबेलिआ)। **ले०**–*Lobelia nicotianaefolia Heyne.* (लोबेलिआ निकोटिआनिफोलिआ हेन्.)। Fam. Lobeliaceae (लोबेलियेसी)।

यह पश्चिमी घाट में बम्बई से ट्रावनकोर तक २–७ हजार फीट की ऊँचाई तक, कोंकण, माथेरान, दक्षिण, महाराष्ट्र का दक्षिण प्रदेश, नीलगिरी, मलाबार तथा मैसूर में पाया जाता है।

इसका **क्षुप**–५–१२ फीट ऊँचा, द्विवर्षायु या बहुवर्षायु होता है। **काण्ड**–ऊपर की तरफ पोला तथा ऊपर की ओर इससे शाखाएँ निकली रहती हैं। **पत्ते**–तंबाकू की तरह, संख्या में बहुत, हलके हरे रंग के, छोटे पर्णवृन्त से युक्त, नीचे के १२×२ इञ्च बड़े तथा ऊपर के क्रमशः छोटे, मालाकार, महीन दाँतों से युक्त एवं मृदुरोमश होते हैं। **पुष्प**–जामुनी आभायुक्त, श्वेत वर्ण के, १ फीट तक लंबी मंजरिओं में आते हैं। **फल**–८ मि० मि० व्यास के गोल सामान्य स्फोटीफल होते हैं। **बीज**–बहुत छोटे, अंडाकार, दबे हुवे, पीताभ भूरे रंग के तथा स्वाद में अत्यन्त तीते होते हैं। इसके पुष्पदंड पर एक गाढा, पीले रंग का स्राव जमा हुआ पाया जाता है। इसमें एक प्रकार की अप्रिय गंध होती है। इसके वायवीय भाग को अक्तूबर तथा नवम्बर में तोड़कर छाया में सुखाकर उपयोग में लाया जाता है। सूखे हुए पौधे पर राल की तरह एक पदार्थ लगा रहता है तथा इसका स्वाद उष्ण एवं तीता होता है। इसकी धूल से नाक तथा गले में तंबाकू की तरह प्रक्षोभ होता है। इसकी नली से बन्सी बनाई जाती है जिसे कोंकण में पावा कहते हैं।

रासायनिक संगठन—इसमें मुख्यतया लोबेलीन (Lobeline, $C_{22}H_{27}O_2N$) नामक एक क्षाराभ पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—लोबेलीन की क्रिया बहुत कुछ तंबाकू में पाये जाने वाले निकोटीन (Nicotine) की तरह होती है। इससे हृल्लास उत्पन्न होकर कफ निकलता है। पाश्चात्य

चिकित्सा में उद्वेष्टनयुक्त श्वसनिकाशोथ (Bronchitis) के लिए इसका बहुत उपयोग किया जाता है। तमकश्वास (Asthma) में आवेग के समय तथा बाद में भी इसके टिंक्चर का १० बूँद दिन में ३ बार अन्य औषधियों के साथ उपयोग किया जाता है। उद्वेष्टनयुक्त कास में भी इससे लाभ होता है। इसके श्वसनकेन्द्र को उत्तेजित करने के कारण फुफ्फुसपाक तथा कार्बन मॉन् आक्साइड एवं मॉर्फीन की विषाक्तता में इसका उत्तेजक रूप में प्रयोग करते हैं।

इसकी फली या पत्तों को थोड़ी देर चबाने से चक्कर, शिरःशूल, कंप एवं अन्त में हृल्लास तथा वमन होता है। पूर्ण मात्रा से शीघ्र ही तीव्र वमन होता है तथा इसके साथ-साथ हृल्लास, प्रस्वेद तथा शिथिलता उत्पन्न होती है।

विष प्रभाव—अधिक मात्रा से उपर्युक्त लक्षण अत्यंत तीव्र होते हैं तथा साथ में गले में जलन, ऐच्छिक क्रियाओं का धीरे-धीरे ह्रास, तीव्र तथा कमजोर नाडी, शैत्य, निपात एवं मूर्च्छा या संन्यास होता है। कुछ में मृत्यु के पूर्व आक्षेप होते हैं। मृत्यु श्वसन के रुकने से होती है। ५–८ र० पत्रचूर्ण या बीज से तीव्र वमन होता है तथा ४ माशे (१ ड्राम) पत्रचूर्ण से मृत्यु हुई है। इसका विषैला परिणाम इसके प्रयोग के पश्चात् कभी-कभी वमन के द्वारा ओषधि न निकलने के कारण होता है। **मात्रा**–चूर्ण ½–१½ र०; टिंक्चर लोबेलिआ इथेरिआ ५–१५ बूँद।

प्रतिनिधि एवं व्यामिश्रण—(१) लोबेलिआ एक्सेल्सा (Lobelia excelsa Lesch.) का इसके प्रतिनिधि के रूप में व्यवहार किया जाता है। यह इसी की तरह होता है किन्तु इसमें मुलायम रोमयुक्त मोटे पत्र होते हैं तथा मंजरी बैंगनी आभायुक्त हलके पीताभ रंग के घने पुष्पों से युक्त होती है। इसके परागाशय (Anther) पृष्ठ भाग पर चिकने होते हैं।

(२) लोबेलिआ इन्फ्लेटा लिन. (Lobelia inflata Linn.) का पाश्चात्य चिकित्सा में प्रयोग किया जाता है जो अमेरिका में उत्पन्न होता है।

(३) वर्बस्कम् थॅप्सस लिन. (Verbascum thapsus Linn.); Fam. Scrophulariaceae (स्क्रोफ्युलेरिएसी) तथा कम्पोझिटी (Compositae) वर्ग के पौधों की कभी-कभी इसमें मिलावट रहती है।

अथ भद्रमुञ्जः (रामशर-सरपत इति वा) मुञ्जश्च (मूंज)। तयोर्नामगुणानाह

भद्रमुञ्जः शरो बाणस्तेजनश्चेक्षुवेष्टनः ॥ १५८ ॥
मुञ्जो मुञ्जातको बाणः स्थूलदर्भः सुमेखलः।
मुञ्जद्वयन्तु मधुरं तुवरं शिशिरं तथा ॥ १५९ ॥
दाहतृष्णाविसर्पास्रमूत्रकृच्छ्राक्षिरोगजित्। दोषत्रयहरं वृष्यं मेखलासूपयुज्यते ॥ १६० ॥

'सरपत' तथा 'मूँज' के नाम और गुण—भद्रमुञ्ज, शर, बाण, तेजन और इक्षुवेष्टन ये सब नाम 'सरपत' के हैं। मुञ्ज, मुञ्जातक, बाण, स्थूलदर्भ और सुमेखल ये सब नाम 'मूञ्ज' के हैं। उक्त दोनों प्रकार के मूञ्ज—मधुर, कषाय रसयुक्त, शीतवीर्य और वृष्य होते हैं एवं दाह, तृषा, विसर्प, रक्तविकार, मूत्रकृच्छ्र, नेत्ररोग तथा त्रिदोष को दूर करनेवाले होते हैं और 'मेखला' बनाने में इनका उपयोग होता है ॥ १५८–१६० ॥

७९ भद्रमुञ्ज

हि०–भद्रमुञ्ज, रामसर, सरपत, कंडा। **क०**–रामसपु, सरगोलु। **सन्ताल०**–सर। **ते०**–वेल्लुपोनिक। **सिन्ध०**–सर। **बं०**–शर। **म०**–शर। **पं०**–करकाना। **गु०**–तीरकांस। **ले०**–*Saccharum munja Roxb.* (सॅकेरम् मुंज राक्स.)। Fam. Gramineae (ग्रॅमिनी)।

भद्रमुञ्ज—यह उत्तर भारत, पंजाब तथा गंगा के ऊपरी मैदान में उत्पन्न होता है।

यह तृणजाति की बहुवर्षायु वनस्पति प्रायः नदियों के किनारे गुच्छों में उगती है। यह १२ से १८ फीट तक ऊँचा होता है। पत्ते—बहुत पतले-पतले, ५–७ फीट लम्बे, ॥।–१ इञ्च चौड़े तथा तीक्ष्णाग्र होते हैं। डंठल के अन्त में पीताभ सफेद से रक्ताभ बैंगनी बारीक फूलों का घनहरा लगता है। इसके कांड, पत्र तथा पत्रकोषों से निकाले रेशे काम में लिये जाते हैं। इसकी एक और जाति होती है जिसे मूंज कहा जाता है जो आकार प्रकार में छोटी होती है।

शर तथा मूंज की जड़ का चिकित्सा में उपयोग किया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह शीतल, तृष्णानिग्राहक, मूत्रल एवं वृष्य है। व्रण में तथा प्रसूता के कमरे में इसकी जड़ से धूपन किया जाता है।

मात्रा—मूल ३–६ माशा।

अथ कासः। तस्य नामगुणानाह

कासः कासेक्षुरुद्दिष्टः स स्यादिक्षुरसस्तथा।
इक्ष्वालिकेक्षुगन्धा च तथा पोटगलः स्मृतः ॥ १६१ ॥
कासः स्यान्मधुरस्तिक्तः स्वादुपाको हिमः सरः।
मूत्रकृच्छ्राश्मदाहास्रक्षयपित्तजरोगजित् ॥ १६२ ॥

'कास' के नाम तथा गुण—कास, कासेक्षु, इक्षुरस, इक्ष्वालिका, इक्षुगन्धा तथा पोटगल ये सब नाम कास के हैं। कास—मधुर तथा तिक्तरसयुक्त, विपाक में मधुर, शीतवीर्य और सारक होता है एवं मूत्रकृच्छ्र, अश्मरी (पथरी), दाह, रक्तविकार, क्षय तथा पित्त सम्बन्धी रोग को दूर करता है ॥ १६१–१६२ ॥

८० कास

हिं०–कास, कासी, कांस घास। **बं**–केशे। **म०**–कसई। **गु०**–कांसडो। **क०**–किरयिकागच्छ, कासलु। **ते०**–रेलु। **ता०**–नाणल्। **मा०**–कास। **अं०**–Thactch grass (थॅच ग्रास)। **अं०**–Saccharum spontaneum Linn. (सॅकेरम् स्पॉण्टेनियम् लिन.)। Fam. Gramineae (ग्रॅमिनी)।

यह सभी प्रान्तों में उत्पन्न होता है।

कास तृणजातीय वनस्पति प्रायः नदियों के किनारे तथा दलदलों के आस-पास अधिक देखने में आती है। इसके पौधे ५–७ फीट (कभी-कभी १८ फीट तक) ऊँचे होते हैं। काण्ड ठोस होते हैं। **पत्ते**–१–२॥ फीट लम्बे, बहुत कम चौड़े ($\frac{1}{6}$–$\frac{1}{4}$ इञ्च) तथा उनके किनारे मुड़े हुये होते हैं। **पुष्पदण्ड**–॥।–२ फीट लम्बा होता है जिस पर श्वेत वर्ण के पुष्प गुच्छों में आते हैं। शरदृतु में ये पुष्पित होते हैं तथा शीत-ऋतु में फलते हैं। इसका प्रायः छप्पर और टट्टी बनाने में उपयोग किया जाता है। **इसके मूल का चिकित्सा में उपयोग किया जाता है।**

गुण और प्रयोग—इसकी जड़ स्तन्यजनन एवं मूत्रल है। इसका उपयोग मूत्रकृच्छ्र, अश्मरी, रक्तार्श, रक्तप्रदर एवं कपोत, पारावत आदि के मांस के खाने से उत्पन्न अजीर्ण में किया जाता है।

मात्रा—मूल ३–६ माशा।

अथ गुन्द्रः (पटेर-गोंदपटेर इति च)। तस्य नामगुणानाह

गुन्द्रः पटेरको गुल्मः शृङ्गवेराभमूलकः। गुन्द्रः कषायो मधुरः शिशिरः पित्तरक्तजित्।
स्तन्यशुक्ररजोमूत्रशोधनो मूत्रकृच्छ्रहृत् ॥ १६३ ॥

गोंद पटेर के नाम तथा गुण—गुन्द्र, पटेरक, गुल्म और शृङ्गवेराभमूलक ये सब नाम 'गोंदपटेर' के हैं। गोंद पटेर–कषाय तथा मधुर रसयुक्त, शीतवीर्य, रक्तपित्त एवं मूत्रकृच्छ्र को दूर करनेवाला, एवं दूध, शुक्र, रज और मूत्र का शोधन करनेवाला होता है ॥ १६३ ॥

८१ गोंद पटेर (गुन्द्र)

हि०–पटेर, गोंदपटेर। **म०**-रामबाण। **ले०**–*Typha angustata Bory &Chaub.* (टाइफा अँगस्टॅटा बो., चौ.)। Fam. Typhaceae (टाइफेसी)।

नोट—आगे वर्णित एरका और गोंदपटेर एक ही जाति की वनस्पतियाँ हैं। इनका वर्णन आगे एक साथ ही किया गया है।

अथैरका (मोथीतृणविशेषः)। तस्या नामगुणानाह

एरका गुन्द्रमूला च शिविर्गुन्द्रा शरीति च। एरका शिशिरा वृष्या चक्षुष्या वातकोपिनी।
मूत्रकृच्छ्राश्मरीदाहपित्तशोणितनाशिनी ॥ १६४ ॥

'एरका' के नाम तथा गुण—एरका, गुन्द्रमूला, शिवि, गुन्द्रा और शरी ये सब पर्यायवाचक शब्द हैं। एरका–शीतवीर्य, वृष्य, नेत्रों के लिये हितकर, वात को कुपित करने वाली एवं मूत्रकृच्छ्र, अश्मरी, दाह, पित्त तथा रक्तविकार को दूर करने वाली होती है ॥ १६४ ॥

८२ एरका

हि०–एरका, पटेरा। **बं०**–होगला। **म०**–रामबाण। **गु०**–घाबाजरीयुं। **अं०**–Elephant grass (एलिफेण्ट ग्रास)। **ले०**–*Typha elephantina Roxb.* (टाइफा एलिफेण्टीना रा.)। Fam. Typhaceae (टाइफेसी)।

एरका—पश्चिमोत्तर हिन्दुस्तान आसाम एवं दक्षिण तक के दलदलों में एवं सिंधु के डेल्टा में अधिक पाई जाती है। यह दलदलों में उत्पन्न होने वाली तृणजातीय वनस्पति ६ से १२ फीट तक लम्बी होती है तथा यह समूहबद्ध होकर उगती है। पत्ते–मूलीय, ४–६ फीट लंबे, पौन से डेढ़ इञ्च तक चौड़े और नतोदर होते हैं। इनकी धार अग्र की ओर लहरदार होती है। पुष्प–नारीपुष्पों की विदण्डिक मंजरियाँ ८–२० इञ्च लंबी और भूरी नारंगी रंग की होती हैं। इन्हीं पुष्पदण्डों से ८-२२ इञ्च लंबी नरपुष्पों की मंजरियाँ भी निकली रहती हैं। इसकी एक दूसरी जाति T. angustata (टाइफा अँगस्टेटा) भी पाई जाती है। इनमें मुख्य भेद दोनों की पत्तियों में होता है। पहली जाति में कोषमय पत्राधार के ऊपर पत्ती का घेरा त्रिभुजाकार और दूसरी जाति में कचित् गोलाकार होता है। इनकी पत्तियों की चटाइयाँ बनती हैं।

गुण और प्रयोग—यह शीतल, मूत्रल, ग्राही, वीर्यवर्धक, चक्षुष्य तथा अश्मरी, दाह एवं रक्तपित्तनाशक है। इसके पुष्पों को कूचकर व्रण पर बांधने से व्रण जल्दी भर जाता है।

मात्रा—३-६ माशा।

अथ कुशः (कुशा) क्षुरपत्रश्च (डाभ) तयोर्नामानि गुणांश्चाह

कुशो दर्भस्तथा बर्हिः सूच्यग्रो यज्ञभूषणः।
ततोऽन्यो दीर्घपत्रः स्यात्क्षुरपत्रस्तथैव च ॥ १६५ ॥
दर्भद्वयं त्रिदोषघ्नं मधुरं तुवरं हिमम्।
मूत्रकृच्छ्राश्मरीतृष्णाबस्तिरुक्प्रदरास्रजित् ॥ १६६ ॥

कुश तथा डाभ के नाम और गुण—कुश, दर्भ, बर्हि, सूच्यग्र और यज्ञभूषण ये सब 'कुशा' के नाम हैं, और दीर्घपत्र एवं क्षुरपत्र ये दो नाम 'डाभ' के हैं। दर्भद्वय (उपर्युक्त कुशा तथा डाभ ये दोनों)—त्रिदोषनाशक, मधुर तथा कषायरसयुक्त, शीतल एवं मूत्रकृच्छ्र, अश्मरी (पथरी), तृषा, बस्तिसम्बन्धी रोग तथा रक्त प्रदर को दूर करने वाले होते हैं ॥ १६५-१६६ ॥

८३ कुश, दर्भ

हि०-कुशा, डाभ, कुस घास। म०-दर्भ। बं०-कुश। पं०-दभ, द्रभ। गु०-दामडो, दरभ। क०-बीलीय, कुद्रशी। ते०-कुश, दर्बालु। ता०-दर्भ। ले०-*Eragrostis cynosuroides Beauv.* (इरेग्रॉस्टिस् साइनोसुरोइडीस् बी.); Syn. Desmostachya bipinnata Stapf (डिस्मोस्टेचिया बाइपिन्नॉटा स्टा.)। Fam. Gramineae (ग्रॉमिनी)।

कुश—मूज की जाति की मूज से छोटी एक प्रकार की घास है। इसके पत्ते, काण्ड, धनहरा आदि मूज के ही आकार के परन्तु मूज से छोटे होते हैं। यह खुले हुए घास के मैदानों में सर्वत्र पाया जाता है।

इसके पौधे मोटे, बहुवर्षायु, दृढ़ तथा १-३ फीट ऊँचे होते हैं। मूलस्तम्भ-सीधा खड़ा परन्तु बहुत गहराई तक होता है। पत्ते-१८ इञ्च तक लम्बे, ⅟२ इञ्च चौड़े, अग्र पर काँटे की तरह तीक्ष्ण और पत्रतट सूक्ष्म रोमों के कारण तेज धार का होता है। पुष्पदण्ड-६-१८ इञ्च लम्बा तथा सीधा होता है। बीज-⅟ इञ्च लम्बे, अण्डाकार तथा चपटे होते हैं। वर्षाऋतु में पुष्प तथा शीतऋतु में फल लगते हैं।

इसकी छोटी जाति को कुश तथा बड़ी जाति को दर्भ कहते हैं। दर्भ के पत्ते लम्बे तथा खर होते हैं। चरक सुश्रुत में कुश, काश तथा दर्भ इनका एक साथ अनेक स्थानों में प्रयोग आया है। डल्हण ने इन तीनों का परिचय इस प्रकार दिया है—कुशः ह्रस्वदर्भः। ह्रस्वो मृदुः सूचीपत्रः॥ काशः चामरपुष्पः चामरपत्रः॥ दर्भः पृथुलः खरपत्रः दीर्घः॥ रा० नि० ने इसका एक श्वेत दर्भ भेद लिखा है जिसे अधिक गुणकारी माना है। इनके मूल का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है।

गुण और प्रयोग—कुश एवं दर्भ शीतल, मूत्रविरेचन, स्तन्यजनन एवं पिपासाहर है। प्रदर, आँव, दाह, रक्तार्श, अश्मरी एवं बस्तिविकारों में इसका उपयोग किया जाता है। प्रदर, रक्तप्रदर एवं रक्तार्श में इसकी जड़ एवं बला को चावल के धोवन के साथ पीसकर देने से लाभ होता है। मात्रा—३-६ माशा।

अथ कत्तृणम् (रोहिस इति च)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

कत्तृणं रौहिषं देवजग्धं सौगन्धिकं तथा। भूतिकं ध्यामपौरञ्च श्यामकं धूपगन्धिकम् ॥
रौहिषं तुवरं तिक्तं कटुपाकं व्यपोहति। हृत्कण्ठव्याधिपित्तास्रशूलकासकफज्वरान् ॥१६८॥

'रोहिस' नाम से प्रसिद्ध कत्तृण के नाम तथा गुण—कत्तृण, रौहिष, देवजग्ध, सौगन्धिक, भूतिक, ध्यामपौर, श्यामक तथा धूमगन्धिक ये सब 'रोहिस'वाचक शब्द हैं। रोहिस-स्वाद में कषाय तथा तिक्तरसयुक्त एवं विपाक में कटुरसयुक्त होता है और हृदय तथा कण्ठसम्बन्धी रोग, पित्तरक्त (रक्त पित्त), शूल, कास (खाँसी) तथा कफज्वर को नष्ट करता है ॥ १६७-१६८ ॥

८४ रोहिष घास

हि०-रोहिस, रूसा घास, रतहर, मिरचा गन्ध। बं०-अगम घास। म०-रोहिषगवत। क०-डुंल्लु। फा०-खवालमागून, खलालमामून, खवालमामून। गु०-रोंहसो। अं०-Rosha Grass (रोशा ग्रास)। ले०-*Cymbopogon schoenanthus Linn.* (साइम्बोपोगोन् स्कोनैन्थस् लिन.)। Fam. Gramineae (ग्रेमिनी)।

यह मध्य भारत, दक्षिण और पश्चिमोत्तर प्रान्त तथा पंजाब में अधिक पाई जाती है। यह बन उपवनों में आप ही आप उत्पन्न होती है और वाटिकाओं में भी रोपण की जाती है।

यह ५-६ फीट ऊँची एक सुगन्धित घास है। इसकी जड़ बारहों मास जीवित रहती है। काण्ड-चिकने, पत्रयुक्त तथा प्रायः रक्ताभ होते हैं। पत्ते-बहुत लम्बे, क्रमशः पतले, चिकने, कोमल, नुकीले, कांडासक्त तथा आधार पर गोल या तांबूलाकार होते हैं। पत्तों को मसलने से सुगन्ध आती है। पुष्प-लाल, बादामी रङ्ग के पत्रकोश से ढकी हुई विदण्डिक मञ्जरियाँ आती हैं। वर्षा एवं शीतकाल में फूल-फल आते हैं।

रासायनिक संगठन—इसकी पत्तियों से एक सुगन्धित तेल (Geranium oil-जिरेनियम् ऑयल) निकाला जाता है। कोमल घास से तेल अधिक एवं उत्तम प्रकार का निकलता है। इसका रङ्ग फीका ललाई लिये जामुनी रङ्ग का होता है। इसमें गन्ध गुलाब जैसी तथा स्वाद में यह अदरख की तरह चरपरा एवं रुचिकर होता है।

गुण और प्रयोग—इसमें का तेल उष्ण, स्वेदजनन, मूत्रजनन, ज्वरघ्न, उत्तेजक, चेतनाकारक एवं त्वग्दोषनाशक है। नूतन आमवात में तैल मलने से लाभ होता है। गंजापन (इन्द्रलुप्त) पर इस तैल को मलते हैं। प्रतिश्याय, ज्वर, अजीर्ण तथा कफविकारों में इसके क्वाथ से लाभ होता है।

मात्रा—३-६ माशा।

अथ भूतृणम् (शरवाण) तस्य नामगुणानाह

गुह्यबीजं तु भूतीकं सुगन्धं जम्बुकप्रियम्। भूतृणं तु भवेच्छत्रा मालातृणकमित्यपि ॥१६९॥
भूतृणं कटुकं तिक्तं तीक्ष्णोष्णं रेचनं लघु। विदाहि दीपनं रूक्षमनेत्र्यं मुखशोधनम् ॥१७०॥
अवृष्यं बहुविट्कञ्च पित्तरक्तप्रदूषणम् ॥ १७१ ॥

शरवाण के नाम तथा गुण—गुह्यबीज, भूतीक, सुगन्ध, जम्बुकप्रिय, भूतृण, छत्रा और मालातृणक ये सब शरवाण के नाम हैं। शरवाण-कटु तथा तिक्तरसयुक्त, तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, रेचक, लघुपाकी, दाहजनक, अग्निदीपक, रूक्ष, नेत्रों के लिये अहितकर, मुख को शुद्ध करनेवाला,

अवृष्य (वीर्यवृद्धि नहीं करने वाला), अत्यन्त मल उत्पन्न करने वाला और पित्तरक्त को दूषित करने वाला होता है ॥ १६९-१७१ ॥

नोट—भूतृण के लेटिन नाम के सम्बन्ध में मतभेद हैं। श्री यादवजी ने साइम्बोपोगोन् ज्वरांकुश (Cymbopogon jwarankusa) को भूतृण माना है जिसका वर्णन पहले पृष्ठ २६१ पर 'लामज्जक' के अन्तर्गत किया जा चुका है। कुछ विद्वानों ने हरी चाय, साइम्बोगोन् साइट्रेटस् (Cymbopogon citratus) को भूतृण माना है किन्तु इसे श्री यादवजी 'जम्बीरतृण' मानते हैं जिसका चरक सू० अ० २७ में हरित वर्ग में एवं सुश्रुत सू० अ० ४६ में शाक वर्ग में वर्णन आया है। यहाँ पर निम्न वर्णन हरीचाय का किया गया है।

८५ भूतृण ? (हरीचाय)

हि० शरवाण, भूतृण, गन्धतृण, अगियाघर, हरीचाय, गन्धबेना। बं०—गन्धतृण। गु०—लीलीचा। म०—हिरवा चहा, ओला चहा। क०—मज्जिगेहुल्लु। पं०—गन्धतृण, शरवाण, रामकपूर। ता०—कर्पूर पुल्ल। ते०—चिप्पगड्डि। अं०—Lemon Grass (लेमन् ग्रास)। ले०—*Cymbopogon citratus (DC.) Stapf.* (साइम्बोपोगॉन् साइट्रेटस् डीसी. स्टा०); *Andropogon citratus DC.* (एण्ड्रोपोगॉन साइट्रेटस डीसी.)। Fam. Gramineae (ग्रॅमिनी)।

यह भारतवर्ष के अनेक प्रान्तों में विशेषकर पंजाब और संयुक्त प्रान्त की पहाड़ी भूमि तथा वाटिकाओं में भी उत्पन्न होती है। यह ५–७ फीट ऊँची घास है। पत्ते–३–४ फीट लम्बे, पौन इंच चौड़े होते हैं। पुष्प–उभयलिङ्गी पुष्प की मञ्जरियाँ वर्षाकाल में आती हैं। इसकी पत्ती को मसलने से उसमें से नींबू की तरह सुगन्ध आती है। इस तृण का फांट बनाकर उसमें दूध और चीनी मिलाकर चाय की तरह पीते हैं।

रासायनिक संगठन—इसमें एक सुगन्धित उड़नशील तैल होता है जिसे Indian Melissa oil (इंडियन् मेलिसा ऑइल्), Indian oil of Verbena (इण्डियन् ऑइल् ऑफ् वर्बेना) कहते हैं। यह गहरे पीत या भूरे से लाल रङ्ग का नींबू की गन्ध जैसा होता है। इस तैल में प्रधान रूप से सिट्राल् (Citral, $C_{10}H_{16}O$) नामक पदार्थ होता है जिसे आयोनॉन् (Ionone) नामक एक अन्य पदार्थ में रासायनिक विधि से परिवर्तित किया जा सकता है। आयोनान् का सुगन्धि द्रव्यों एवं विटामिन् ए (Vitamin A) के बनाने में उपयोग होता है। आयोनॉन् में व्हायोलेट जैसी तीव्र सुगन्ध होती है।

गुण और प्रयोग—हरी चाय उष्ण, स्वेदजनन, मूत्रजनन, ज्वरघ्न, वातानुलोमन, उत्तेजक, चेतनाकारक, उद्वेष्टननिरोधि, मुखशुद्धिकर, कफवातहर, दीपन, पाचन एवं रुचिकर है। इसका तैल बाह्य प्रयोग में त्वग्रागकारक एवं वातहर है।

प्रतिश्याय, ज्वर, वमन, अतिसार, आध्मान, शूल, आक्षेप एवं विसूचिका में इसके फाण्ट से बहुत लाभ होता है। विसूचिका में इससे वमन रुकता है एवं उत्तेजना आती है। इसका तैल आध्मान, शूल तथा विसूचिका में ½–३ बूँद की मात्रा में देते हैं। मलेरिया ज्वर में हरी चाय का उपयोग किया जाता है। कटिशूल, आमवात तथा पीडा आदि में इसके तैल की मालिश की जाती है।

मात्रा—तैल ½–३ बूँद, तृण ३–६ माशा।

अथ नीलदूर्वा (हरीदूब) तस्या नामानि गुणाँश्चाह

नीलदूर्वा रुहाऽनन्ता भार्गवी शतपर्विका। शष्पं सहस्रवीर्या च शतवल्ली च कीर्तिता ॥१७२॥
नीलदूर्वा हिमा तिक्ता मधुरा तुवरा हरेत्। कफपित्तास्रवीसर्पतृष्णादाहत्वगामयान् ॥१७३॥

'हरी दूब' के नाम तथा गुण—नीलदूर्वा, रुहा, अनन्ता, भार्गवी, शतपर्विका, शष्प, सहस्रवीर्या और शतवल्ली ये सब 'हरी दूब' के नाम हैं। हरी दूब–शीतवीर्य, तिक्त, मधुर तथा कषायरसयुक्त एवं कफ, पित्तरक्त, विसर्प, तृषा, दाह और चर्मरोग को दूर करने वाली होती है ॥ १७२-१७३ ॥

हि०–हरी दूब, नीली दूब, रामघास। बं०–नीलदूर्वा, दूर्वा। म०–नीलदूर्वा, हरली, नीली-हरियाली। संथाल०–घोबीघास। गु०–खडओ, लीलीओ, धरो। क०–गरिके। पं०–दूबड़ा। ते०–दूलु, गरिकेग। ता०–अरुवमपिल्लु। अ०–उश्ब। फा०–मर्ग। अं०–Creeping Cynodon (क्रीपिंग साइनोडोन्)। ले०–*Cynodon dactylon (Linn.) Pers.* (साइनोडॉन् डॅक्टीलोन पर्स.)। Fam. Gramineae (ग्रॅमिनी)।

दूब–तृणजाति की वनस्पति सब प्रान्तों के वन, उपवन, खेत सब जगह उत्पन्न होती है। गर्मी के दिनों में प्रायः सूख सी जाती है, परन्तु बरसात का पानी पड़ने से फिर हरी-भरी हो जाती है। जलाशय और कुंवे के पास बारहों मास हरी भरी देखने में आती है। इसकी डंडियाँ पतली-पतली होती हैं, और भूमि पर फैली हुई रहती हैं। अन्तवाली शाखायें जिन पर कोमल बारीक फूल आते हैं, वे जमीन से उठी रहती हैं। पत्ते–पतले, ४–६ अंगुल लंबे, रेखाकार होते हैं। बीज–बहुत छोटे होते हैं।

गुण और प्रयोग—दूर्वा शीतल, वर्ण्य, प्रजास्थापन, रक्तस्कंदन, व्रणरोपण, मूत्रजनन तथा कफपित्तहर है।

(१) बस्तिशोथ, सोजाक तथा मूत्रमार्ग के दाह में इसकी जड़ का क्वाथ पिलाते हैं।

(२) त्वचा के रोगों में इसकी जड़ का क्वाथ पिलाते हैं। सद्योव्रण तथा त्वचा के रोगों में इसकी पत्तियों का लेप उपयोगी है। इससे रक्तस्राव रुकता है।

(३) अतिसार, पैत्तिक वमन, उदर, जलोदर, अत्यार्तव, गर्भपात, उन्माद, अपस्मार तथा रक्तमेह आदि में इसका स्वरस पिलाया जाता है।

(४) नेत्राभिष्यंद में पत्र-कल्क का लेप करते हैं।

(५) अर्श में जलन कम करने के लिये पत्तों का लेप किया जाता है।

मात्रा—स्वरस ६ माशा–१ तोला; मूल ३–६ माशा।

अथ श्वेतदूर्वा। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

दूर्वा शुक्ला तु गोलोमी शतवीर्या च कथ्यते।
श्वेता दूर्वा कषाया स्यात्स्वाद्वी व्रण्या च जीवनी। तिक्ता हिमा विसर्पास्रतृट्पित्तकफदाहहृत्॥

'सफेद दूब' के नाम तथा गुण—शुक्लदूर्वा, गोलोमी और शीतवीर्या ये नाम सफेद दूब के हैं। सफेद दूब–कषाय, तिक्त एवं स्वादु रसयुक्त, व्रण (घाव) के लिये हितकर, जीवनशक्ति को बढ़ाने वाली, शीतवीर्य एवं विसर्प, रक्तविकार, तृषा, पित्त, कफ तथा दाह को दूर करने वाली होती है ॥ १७४ ॥

८७ श्वेत दूर्वा

हि०—सफेद दूब।

यह भी दूब के समान ही घास है जिसके पत्ते सफेदीपन लिये होते हैं। यह कोई भिन्न जाति है या केवल स्थान-भेद से इसमें सफेद पत्ते होते हैं यह कहना कठिन है। अभी इसमें अनुसंधान 25 की आवश्यकता है। यह अधिक पित्तशामक मानी जाती है।

अथ गण्डदूर्वा (गांडरदूब) तस्या नामानि गुणाँश्चाह

गण्डदूर्वा तु गण्डाली मत्स्याक्षी शकुलादनी । गण्डदूर्वा हिमा लोहद्राविणी ग्राहिणी लघुः ॥
तिक्ता कषाया मधुरा वातकृत्कटुपाकिनी । दाहतृष्णाबलासास्रकुष्ठपित्तज्वरापहा ॥ १७६ ॥

गांडर दूब के नाम तथा गुण—गण्डदूर्वा, गण्डाली, मत्स्याक्षी और शकुलादनी, ये सब नाम गांडर दूब के हैं । **गांडर दूब**-शीतवीर्य, लोहे को पिघलाने वाली, मलसंग्राहक (मल को रोकने वाली), लघु, तिक्त, कषाय एवं मधुर रसयुक्त, विपाक में कटु रसयुक्त, वातकारक एवं दाह, तृषा कफ, रक्तविकार, कुष्ठ तथा पित्तज्वर को दूर करने वाली होती है ॥ १७५-१७६ ॥

८८ गण्डदूर्वा

हि०-गांडरदूब, गठीलादूब, गण्डदूर्वा ।

गांडरदूब-दूब की जाति की एक वनस्पति है, जो दूब से बड़ी होती है और यह प्रायः जलाशयों के किनारे अधिक उत्पन्न होती है । उसकी डंठी मोटी और बड़ी होती है । **पत्ते**-दूब के समान परन्तु दूब से बहुत बड़े होते हैं । गांठे मोटी होती हैं ।

वाराहीकन्दः (गेठी इति लोके) । तस्य लक्षणनामगुणानाह

वाराहीकन्दसंज्ञस्तु पश्चिमे गृष्टिसंज्ञकः । वाराहीकन्द एवान्यैश्चर्मकारालुको मतः ॥१७७॥
अनूपसम्भवे देशे वराह इव लोमवान् । वाराहवदना गृष्टिर्वरदेत्यपि कथ्यते ॥ १७८ ॥
वाराही तु रसे स्वाद्वी तिक्ता पाके पुनः कटुः ।
शुक्रायुःस्वरवर्णाग्निबलपित्तविवर्द्धिनी । कफकुष्ठमरुन्मेहकृमिहृच्च रसायनी ॥ १७९ ॥

वाराहीकन्द के लक्षण नाम और गुण -जिसका 'वाराहीकन्द' नाम है, उसी को पश्चिम देश में 'गृष्टि' कहते हैं और 'वाराहीकन्द' को ही कुछ लोग 'चर्मकारालुक' कहते हैं। अनूप (जलप्राय) देश में यह सूअर के बालों की तरह कठिन रोम से युक्त कन्द वाला होता है। इसके वाराहवदना, गृष्टि, वरदा ये सब नाम हैं ।

वाराहीकन्द-यह मधुर तथा तिक्तरसयुक्त, पाक में कटु और रसायन एवं शुक्र, आयु, स्वर, वर्ण, जठराग्नि, बल और पित्त को बढ़ाने वाला एवं कफ, कुष्ठ, वात, प्रमेह तथा कृमि को दूर करने वाला होता है ॥ १७७-१७९ ॥

नोट—वाराही कंद के स्थान पर डायोस्कोरिआ बल्बिफेरा (Dioscorea bulbifera) एवं टेक्का एस्पेरा (Tecca aspera) इन दो द्रव्यों का उपयोग किया जाता है। अधिकांश विद्वान् प्रथम के कंद को वाराही कन्द मानते हैं। उसकी अनेक उपजातियां भी पाई जाती हैं। यहां दोनों का अलग-अलग वर्णन किया गया है ।

८९ वाराही कन्द (१)

हिं०-वाराही कन्द, गेंठी। म०-डुकर कन्द, कडूकरांदा। गु०-डुक्करकंद, वणा बेल। बं०-रतालु । ले०-*Dioscorea bulbifera Linn.* (डायोस्कोरिआ बल्बिफेरा लिन) । Fam. Dioscoreaceae (डायोस्कोरिएसी) ।

यह दून और सहारनपुर के वनों में ५ हजार फीट की ऊँचाई तक तथा सभी स्थानों में पाया जाता है ।

इसकी **लता**—आरोही तथा वामावर्त होती है। कांड-चिकने तथा पत्रकोणों में लगभग १ इञ्च व्यास की कन्द सदृश रचनाएँ होती हैं । **पत्ते**-साधारण एकान्तर, २॥-६ इञ्च लंबे, १॥।-४ इञ्च चौड़े, पतले, पुच्छाकार लंबे नोकवाले तथा आधार पर तांबूलाकार होते हैं। इनके आधारीय खण्ड गोल और पत्राधार पर ९ शिराएँ होती हैं। **पुष्प**-नरपुष्पों की मंजरियाँ नीचे की ओर लटकी हुई, २-४ इञ्च लंबी और प्रायः पत्रकोणों में समूहबद्ध होकर निकली हुई रहती हैं। नारीपुष्पों की मञ्जरियाँ ४-१० इञ्च लंबी होती हैं। **फल**-३ पंख वाले और बीज भी आधार पर सपंख होते हैं। **कन्द**-छोटे आकार का भूरे रंग का होता है जिस पर सूअर की तरह रोम होते हैं। यह भीतर से पीताभ श्वेत होता है। इसकी अन्य जातियों का भी प्रयोग किया जाता है। कुछ में कन्द बहुत गहरे बैठते हैं तथा वे अधिक मुलायम होते हैं ।

रासायनिक संगठन—इसकी लता में एक विषैला ग्लूकोसाइड पाया जाता है। इसके कंद में स्टार्च होता है ।

गुण और प्रयोग—यह कुछ रक्तसंग्राहक तथा ग्राही है। रक्तातिसार, प्रवाहिका, उदरशूल, अर्श आदि रोगों में इसके फलों को जीरा तथा शर्करा के साथ देते हैं। त्वचा के रोगों में भी इसका व्यवहार किया जाता है ।

मात्रा—३-६ माशा ।

९० वाराहीकंद (२)

हि०-वाराहीकंद, भेवर के कंद, भेवर की बेल। ले०-*Tacca aspera Roxb.* (टॅक्का एस्पेरा राक्स.) । Fam. Taccaceae (टॅक्केसी) ।

यह बर्मा, चटगांव, तेनासरिम तथा मलय प्रायद्वीप में होता है ।

इसका **क्षुप**-बहुवर्षायु एवं मूलस्तंभ कंदवत् , आयताकार, एवं मुड़ा हुआ रहता है। **पत्ते**-दीर्घ-वृत्ताकार, अंडाकार, ८-१६×४-८ इञ्च; लंबाग्र, शिराएँ स्पष्ट एवं उनके बीच का भाग उभरा हुआ होता है। **पुष्प**-हरिताभ बैंगनी कुछ पीत होते हैं। **फल**-करीब १॥ इञ्च लंबा, आयताकार तथा मांसल होता है ।

गुण और प्रयोग—इसके कंद बल्य होते हैं तथा इनका उपयोग रक्तपित्त एवं चर्मरोगों में किया जाता है ।

मात्रा—३-६ माशा ।

अथ विदारीकन्दः । तस्य नामगुणानाह

विदारी स्वादुकन्दा च सा तु क्रोष्ट्री सिता स्मृता ।
इक्षुगन्धा क्षीरवल्ली क्षीरशुक्ला पयस्विनी ॥ १८० ॥
विदारी मधुरा स्निग्धा बृंहणी स्तन्यशुक्रदा ॥ १८१ ॥
शीता स्वर्या मूत्रला च जीवनी बलवर्णदा ।
गुरुः पित्तास्रपवनदाहान् हन्ति रसायनी ॥ १८२ ॥

विदारी कन्द के नाम तथा गुण—विदारी, स्वादुकन्दा, क्रोष्ट्री, सिता, इक्षुगन्धा, क्षीरवल्ली, क्षीरशुक्ला तथा पयस्विनी के सब नाम विदारीकन्द के हैं ।

विदारीकन्द—मधुर रसयुक्त, स्निग्ध, बृंहण, दुग्धवर्धक और शुक्र को बढ़ाने वाला, शीतवीर्य, स्वर को उत्तम बनाने वाला, मूत्रकारक, जीवनी शक्ति बढ़ाने वाला, बल तथा

वर्ण को देनेवाला, गुरु, रसायन एवं पित्त, रक्त, वायु और दाह को नष्ट करने वाला होता है ॥ १८१-१८२ ॥

विदारीकन्द के विदारी एवं क्षीरविदारी ये दो भेद चरक ने मधुरस्कंध (वि. अ. ८) में लिखे हैं। प्युरेरिआ टयुबरोजा (Pueraria tuberosa) को विदारी एवं आइपोमिआ डिजिटेटा (Ipomoea digitata) को क्षीरविदारी अधिकांश विद्वानों ने माना है। 'भुइकुम्हडा' नाम उपर्युक्त दोनों कन्दों को तथा ट्राईकोसॅन्थिस् कॉर्डेटा राक्स (Trichosanthes cordata Roxb.) के कन्द को भी देते हैं। सम्भव है डायोस्कोरिएसी (Dioscoreaceae) वर्ग जिस वर्ग का वाराहकन्द है उसी वर्ग के विदारी एवं क्षीरविदारी भी हों। उत्तरप्रदेश में अधिकतर प्यु. टयुबरोजा को एवं बंगाल में आ. डिजिटेटा को विदारीकन्द माना जाता है। एक क्षीर युक्त लता लेट्सोमिया सेटोसा राक्स (Lettsomia setosa, Roxb.) के कन्द का स्तन्यवर्धक के रूप में प्रयोग प्रचलित है। संभव है यह क्षीरविदारी हो। यहाँ पर प्रथम दो का अलग-अलग वर्णन किया गया है।

९१ विदारीकन्द (१)

हि०-विदारीकन्द, विलाईकन्द, भुइकुम्भड़ा, सुराल, पाताल कोहड़ा। म०-वेंदर, घोड़वेल। गु०-खाखर वेल, फगियो, फगड़ानो वेली, विदारी। बं०-शिमीय। ते०-दारी, नेल्लगुम्मुडु। मा०—गोरवेल। ले०-*Pueraria tuberosa DC.* (प्युरेरिआ टयुबरोजा डीसी.) Fam. Leguminosae (लेग्युमिनोसी)।

यह कोंकण के पहाड़ों पर, दक्षिण, कनारा, पश्चिम-हिमालय, शिमला, कुमाऊ, नेपाल, विन्ध्याचल, उड़ीसा और छोटा नागपुर में उत्पन्न होता है और बिहार में भी कहीं-कहीं पाया जाता है। यह नदी-नालों के करारों में अधिक पाया जाता है।

यह अत्यन्त विस्तार में फैलने वाली लताजाति की वनस्पति अचिरस्थायी होती है। इसका कांड पोला-सा होता है। छाल-भूरे रङ्ग की आध इञ्च तक मोटी होती है। लकड़ी-छिद्रयुक्त कोमल होती है। पत्ते-पलाश के समान पक्षाकार त्रिपत्रक होते हैं। पत्रक-४-६ इञ्च लम्बे, ३-४ इञ्च चौड़े, अग्रस्थ पत्रक तिर्यगायताकार और पार्श्वपत्रक तिरछे लट्वाकार तथा अधरतल पर श्वेत तलशायी रेशमतुल्य सघन रोओं से युक्त होते हैं। पुष्प-६-१८ इञ्च लम्बी मंजरियों में आते हैं। पुष्प नीले या नीलरक्त रङ्ग के सुन्दर दिखलाई देते हैं। फलियाँ-२-३ इञ्च तक लम्बी, चिपटी, बीजों के बीच दबी हुई और खाकी रङ्ग के रोओं से भरी रहती हैं। प्रत्येक फली में २-६ तक बीज रहते हैं। प्रायः पत्तों के गिरने पर नवीन पत्तों के निकलने के प्रथम ही फूल आते हैं।

जमीन के नीचे इसमें प्रायः कई कन्द रहते हैं, जो कांड से दृढ़मूल शाखा के द्वारा जुड़े रहते हैं और नीचे भी मूल शाखा पुनः निकली रहती है। इन्हीं को विदारीकन्द कहते हैं। यह गोल कुम्हड़े के आकार के भूरे रङ्ग का एवं लम्बाई में २ फीट तक तथा घेरे में २॥ फीट तक बड़ा होता है। पुराना कन्द २० सेर से भी अधिक वजन का देखने में आता है, किन्तु छोटे कन्द की अपेक्षा बड़े कन्द हीनवीर्य समझे जाते हैं। छोटे कन्द उखाड़ने के बाद कुछ दिनों तक बिगड़ते नहीं हैं परन्तु बड़े कन्द बहुत जल्द सड़-गल जाते हैं। छोटे-छोटे कन्दों के पतले-पतले कतरे कर सुखाने से वे दूध के समान श्वेत दिखाई पड़ते हैं तथा विदारीकन्द नाम से बाजार में बिकते हैं। बड़े कन्द की अपेक्षा छोटे कन्द का स्वाद अच्छा और मीठा होता है। छोटे-छोटे मुलायम और नवीन कन्द हरिद्वार आदि की सब्जीमण्डियों में 'सराल' के नाम से बिकते हैं। कन्दों में कुछ-कुछ मुलेठी का स्वाद आता है इसलिये विदारी को 'स्वादुकन्दा', 'इक्षुविदारी' आदि नाम दिया गया है। ये लताएँ घोड़ों को बहुत प्रिय होती हैं जिससे इन्हें 'गजवाजिप्रिया' 'घोड़बेल' कहा गया है।

गुण और प्रयोग—यह स्तन्यजनन, मूत्रजनन तथा पौष्टिक है। शोथ पर पीस कर इसे बांधते हैं। बल एवं दुग्धवृद्धि के लिये इसका प्रयोग किया जाता है। अधिक मात्रा से इससे वमन होता है।

मात्रा—¼-½ तोला।

९२ विदारीकन्द (२) क्षीरविदारी

हि०-बिलाईकन्द, विदारीकन्द, भुइकुम्हड़ा। बं०-भुइ कुमड़ा। म०-भुईकोहला। गु०-विदारीकन्द। क०-नेलकुम्बल। ते०-मत्तपलतिगा, नेल्लगुम्मुडु। मल०-मोतलकंद। ता०-फलमोदिक। ले०-*Ipomoea digitata Linn.* (आइपोमिया डिजिटॅटा लिन.)। Fam. Convolvulaceae (कॉन्वॉल्व्युलेसी)।

यह भारतवर्ष के उष्ण कटिबंध में विशेषकर आर्द्र प्रदेशों जैसे बङ्गाल, आसाम आदि में पाया जाता है।

यह लता जाति की वनस्पति झाड़दार और विस्तार में फैलने वाली होती है। पत्ते-३-७ इञ्च के घेरे में हाथ के पञ्जे के समान ५-७ भागों में विभक्त रहते हैं। फूल-नलिकाकार, चौथाई इञ्च गोल ऊपर का भाग १॥ इञ्च से २॥ इञ्च के घेरे में होता है, और यह बैंगनी रङ्ग का दिखाई पड़ता है। फल-चार छिलके वाले गोलाकार छोटे-छोटे होते हैं और वे झूमकों में आते हैं। इनके भीतर एक प्रकार की पतंदार रूई से ढके हुये त्रिकोणाकार अर्द्धगोल बीज रहते हैं। बीजों के रोपण करने से लता उत्पन्न होती है। इसके नीचे जो कन्द बैठता है वह रताल् के आकार का होता है। इसका वजन एक सेर से अधिक नहीं होता। कन्द बाहर से भूरे रङ्ग का तथा खुरदरा होता है। काटने पर अन्दर से यह श्वेत रङ्ग का दिखाई देता है तथा उसमें से बहुत क्षीर निकलता है। इसकी सुखाई हुई कचरी बहुत हलकी रहती है तथा उसमें मण्डल दिखलाई देते हैं। इसका स्वाद पिष्टमय, कुछ कसैला एवं कड़ुवा सा होता है।

रासायनिक संगठन—इसके कन्द में पिष्टमय पदार्थ अधिक होता है। इसके अतिरिक्त १०% शर्करा, एवं अत्यन्त अल्प प्रमाण में जालप में पायी जाने वाली आनुलोमिक राल होती है।

गुण और प्रयोग—यह अनुलोमक, पित्तसारक, स्तन्यजनक, स्नेहक तथा उत्तम पौष्टिक है। इससे भूख लगती है, अन्न पचता है, शौच साफ होता है, शरीर का वर्ण सुधरता है एवं वजन बढ़ता है। काडलीवर तैल से अधिक अच्छा इससे कार्य होता है।

किसी भी कारण से शिथिलता आयी हो और वजन कम हुआ हो तो इसके चूर्ण को घृत में भूनकर दूध एवं शर्करा के साथ पेया बनाकर देने से बहुत जल्दी वजन बढ़ता है। यकृत एवं प्लीहावृद्धि में इसका चूर्ण देने से पित्तस्राव ठीक होकर शौच साफ होता है। दुग्धवृद्धि के लिये द्राक्षासव के साथ इसे देते हैं।

मात्रा—कन्द चूर्ण ¼-½ तोला।

अथ मुशलीकन्दः। तस्य लक्षणगुणानाह

तालमूली तु विद्वद्भिर्मुशली परिकीर्त्तिता।
मुशली मधुरा वृष्या वीर्योष्णा बृंहणी गुरुः।
तिक्ता रसायनी हन्ति गुदजान्यनिलं तथा ॥ १८३ ॥

काली मूसली के नाम तथा गुण—विद्वान् लोग 'तालमूली ही को 'मुशली' कहते हैं, अर्थात तालमूली, मुशली ये दोनों नाम 'काली मूसली' के हैं। काली मूसली–मधुर तथा तिक्त रस युक्त, वृष्य (वीर्यवर्धक), उष्णवीर्य, बृंहण (रक्तादिधातुवर्धक), गुरुपाकी, रसायन एवम् अर्श (बवासीर) तथा वात का नाशक होता है ॥ १८३ ॥

मुसली दो प्रकार की होती है। काली एवं सफेद। काली मुसली का लेटिन नाम कर्क्युलिगो ऑर्किओइडिस् (Curculigo orchioides) एवं सफेद मुसली का एस्पेरेगस् एडस्केन्डेन्स् (Asparagus adscendens) है। जो दो विभिन्न वर्गों की है। कुछ लोग क्लोरोफाइटम् एरून्डिनेसिअम् (Chlorophytum arundinaceum) को सफेद मुसली मानते हैं। यहाँ पर इनका अलग अलग वर्णन किया गया है।

९३ काली मूसली

हि०–स्याह मूसली, काली मूशली। म०,गु०–काली मूसली। बं०–तालमूली। क०–नेलताल। से०–नेल तडि गड्डा। ता०–निलपनैका। पं०–स्याह मूसली। मा०–काली मूसली। फा०–मुशली स्याह। अ०–मुसली अवियज। ले०–*Curculigo orchioides Gaertn.* (कर्क्युलिगो ऑर्किओइडिस् गार्टे)। Fam. Amaryllidaceae (अॅमेरिलिडेसी)।

यह बंगाल, बिहार, युक्तप्रान्त, दक्षिण देश के बाँस के वनों में तथा हिमालय में यमुना से खासिया पहाड़ तक प्रायः सर्वत्र उत्पन्न होती है।

काली मूसली—तृणजातीय वनौषधि, वर्षा ऋतु में घास अथवा दूसरे वृक्षों की छाया में देखने में आती है। ४–५ पत्ते वाले खजूर के वृक्ष की तरह इसका नवीन क्षुप होता है। मूलस्तम्भ सीधा और मोटा होता है। पुरानी चक्राकार पत्र सन्धियों के कारण यह ताड़ वृक्ष के स्कन्ध जैसा दिखलाई देता है। इसकी सन्धियों से सूत्राकार परन्तु मांसल उपमूल निकलते रहते हैं और शीर्ष से लगभग ३ या ४ पत्ते भूमि के ऊपर निकलते रहते हैं। इसके पत्ते-बिना डंठल के खजूर के पत्तों से कुछ पतले, सकरे और प्रासवत् होते हैं। इसकी लम्बाई ६ से १८ इञ्च तक और चौड़ाई १–१॥ इञ्च तक होती है। पुष्पदण्ड–छोटा, बीच से निकला हुआ, ऊपर की ओर क्रमशः मोटा (Clavate) और कुछ चिपटा होता है। इसके फूल–नलिकाकार पीले रङ्ग के दो कतारों में होते हैं। फल–½ इञ्च तक लम्बे, अण्डाकार होते हैं। बीज–काले और चमकीले होते हैं। इसके मूलस्तम्भ का चिकित्सा में व्यवहार होता है। यह बाहर से काले भूरे रङ्ग का तथा अन्दर से श्वेत होता है। दो वर्ष पुराने क्षुप का कन्द प्रयोग में लाना चाहिये। इसका स्वाद कुछ कड़ुवा तथा लबाबदार होता है।

रासायनिक संगठन—इसमें तैलीय द्रव्य १¼%, राल तथा कषाय द्रव्य ४%, गोंद २०%, पिष्टमय पदार्थ ४३½%, सीठी १४% एवं जल ४½% रहता है। सूखे कन्द से ८½% राख मिलती है जिसमें कॅल्शियम ऑक्जॅलेट (Calcium oxalate) रहता है।

गुण और प्रयोग—काली मुसली स्नेहन, मूत्रजनन, बल्य तथा कुछ वृष्य है। मूत्रमार्ग पर इसकी विशेष क्रिया होती है। अर्श, कामला, श्वास, अतिसार तथा शूल में इसका उपयोग किया जाता है। त्रावणकोर की तरफ दूध के साथ इसकी पेया बनाकर सोजाक, मूत्रकृच्छ्र तथा अत्यार्तव में बहुत प्रयोग करते हैं। रोगयुक्तावस्था में इसका सेवन किया जाता है। अनेक वृष्य पाकों में इसका उपयोग किया गया है। जङ्गली लोग चोट तथा अस्थिभङ्ग पर इसका बाह्य प्रयोग करते हैं।

मात्रा—कन्द ¼–½ तो०।

९४ सफेद मूसली (१)

सं०–श्वेत मुशली, मुसली। हि०–सफेद मुशली, खैरूव। म०–सफेद मुसली, पाटली मुसली। गु०–धोली मुसली। ता०–तन्निरविट्टगं। ते०–सल्लोगड्डा। मल०–शेडेवेली। अ, फा०–शकाकुले हिन्दी। ले०–*Asparagus adscendens Roxb.* (एस्पेरेगस् एड्स्केन्डेन्स् राक्स.)। Fam. Liliaceae (लिलिएसी)।

यह पश्चिम हिमालय, पंजाब, गुजरात, रतलाम, बम्बई, रुहेलखण्ड, अवध तथा मध्य भारत में पाया जाता है। उत्तम सफेद मुसली रतलाम से आती है।

इसका क्षुप–स्वावलम्बी तथा कांटेदार होता है। शाखाएँ–झुकी हुई, आरोहणशील, धूसर-वर्ण की नालीदार और कोणयुक्त होती हैं। प्रधान कांड–लम्बा, ऊँचा, मोटा, गोल और चिकना होता है। कांटे–आधे से पौन इंच लम्बे, सीधे और मोटे होते हैं। पत्राभास काण्ड–आधे से दो इञ्च लम्बे, केशाकार, गोल ६–२० की संख्या में एक साथ गुच्छबद्ध रहते हैं।

मूलस्तम्भ से श्वेत, कन्दसदृश तथा लम्बगोल मूलों का गुच्छा निकला रहता है। छाल निकालकर सुखाई हुई सफेद, झुर्रीदार, २–२½ इञ्च लम्बी, सूजा के इतनी मोटी, कुछ ऐंठी हुई, कड़ी तथा आसानी से टूटने वाली, जड़ें बाजार में मिलती हैं। अधिक से अधिक यह ½ इञ्च मोटी रहती है। इसका स्वाद लबाबदार किन्तु अच्छा रहता है। इसे पानी में डालने से यह फूलकर शतावरी जैसी दिखलाई देती है।

रासायनिक सङ्गठन—इसके जल में घुलनशील भाग ७७½%, जल ६% तथा सीठी १२½% रहती है। जलविलेय भाग में मांसल पदार्थ रहता है। इसमें पिष्ट बिल्कुल नहीं रहता। सूखी हुई जड़ में ३½% राख रहती है।

गुण और प्रयोग—यह शीत, लघु, स्नेहन एवं उत्तम बल्य है।

इसमें स्टार्च न होने के कारण इसको मधुमेह में दिया जा सकता है। सभी प्रकार के दौर्बल्य में १ तोला चूर्ण १ तोला चीनी मिलाकर दूध के साथ देते हैं। नपुंसकता, शुक्रमेह, प्रदर, अतिसार तथा प्रवाहिका में इसे देते हैं।

मात्रा—चूर्ण ½ से १ तोला।

९५ सफेद मूसली (२)

हि०–सफेद मूसली, गेरँग अड़ा। ले०–*Chlorophytum arundinaceum Baker* (क्लोरोफाइटम् एरुण्डिनेसिअम् बेकर)। Fam. Liliaceae (लिलिएसी)।

यह इस देश के कई प्रान्तों में प्रायः बरसात के दिनों में देखने में आती है, इसका क्षुप होता है। पत्ते– १५″ × २·५″ बड़े तथा प्रासवत् होते हैं। पुष्पध्वज पहले, ५–१५″ इञ्च लम्बा और पुष्प श्वेत होते हैं। पुष्पों की भाजी बनाकर खाई जाती है। इसकी जड़ के पास लम्बे सूत्राकार जड़ों के गुच्छे निकलते हैं। जिनके अग्र पर मोटे, बेलनाकार, १–१·५″ × ·५–·६ इञ्च बड़े कन्द होते हैं जो भीतर से भूरे सफेद रङ्ग के होते हैं। इसकी अन्य दो जातियाँ C. laxum Br. (क्लो. लॅक्सम्) एवं C. tuberosum Baker (क्लो. ट्युबरोजम्) भी पाई जाती है।

इन कन्दों को कुछ लोग सफेद मुसली मानते हैं तथा पहले जिस सफेद मुसली का वर्णन किया जा चुका है उसे शतावरी भेद मानते हैं। इसका भी उपयोग सफेद मुसली के समान किया जाता है।

अथ शतावरी महाशतावरी च । तयोर्नामानि तयोस्तदङ्कुरस्य च गुणांश्चाह

शतावरी बहुसुता भीरुरिन्दीवरी वरी । नारायणी शतपदी शतवीर्या च पीवरी ॥ १८४ ॥
महाशतावरी चान्या शतमूल्यूर्ध्वकण्टिका । सहस्रवीर्या हेतुश्च ऋष्यप्रोक्ता महोदरी ॥१८५॥
शतावरी गुरुः शीता तिक्ता स्वाद्वी रसायनी ।
मेधाऽग्निपुष्टिदा स्निग्धा नेत्र्या गुल्मातिसारजित् ॥ १८६ ॥
शुक्रस्तन्यकरी बल्या वातपित्तास्रशोथजित् ।
महाशतावरी मेध्या हृद्या वृष्या रसायनी ॥ १८७ ॥
शीतवीर्या निहन्त्यर्शोग्रहणीनयनामयान् । तदङ्कुरस्त्रिदोषघ्नो लघुरर्शःक्षयापहः ॥ १८८ ॥

'छोटी शतावर' तथा 'बड़ी शतावर' के नाम और गुण तथा उन दोनों के अङ्कुर के क्रम से गुण—शतावरी, बहुसुता, भीरुः, इन्दीवरी, वरी, नारायणी, शतपदी, शतवीर्या और पीवरी ये सब नाम 'छोटी शतावर' के हैं। 'बड़ी शतावर' के नाम–महाशतावरी, शतमूली, ऊर्ध्वकण्टिका, सहस्रवीर्या, हेतुः, ऋष्यप्रोक्ता और महोदरी ये सब हैं। छोटी शतावर–मधुर तथा तिक्त रसयुक्त, गुरु, शीतवीर्य, रसायन, मेधा (धारणा शक्ति) कारक, जठराग्निवर्धक, पुष्टिदायक, स्निग्ध, नेत्रों के लिये हितकर, शुक्रवर्धक, स्तनों में दूध बढ़ाने वाली, बलकारक एवम् गुल्म, अतिसार, वात, पित्तरक्त तथा शोथ को दूर करने वाली होती है। बड़ी शतावर–मेधा तथा हृदय के लिये, हितकर, वृष्य, रसायन, शीतवीर्य, एवम् अर्श, ग्रहणी तथा नेत्ररोग को दूर करने वाली होती है। इन दोनों के अङ्कुर–लघु एवम् त्रिदोष, अर्श तथा क्षय के नाशक होते हैं ॥ १८४–१८८ ॥

९६ शतावर

हि०–सतावर, सतावरि, सतमूली, शतावर, सरनोई। **बं०**–शतमूली। **म०**–शतावरी। **गु०**–शतावरी। **ता०**–पाणियनाकु। **ले०**–*Asparagus racemosus Willd.* (एसस्पेरेगस् रेसिमोसस् विल्ड.)। Fam. Liliaceae (लिलिएसी)।

शतावर—इस देश के प्रायः सब प्रान्तों में उत्पन्न होती है। उत्तरी भारत में यह अधिक होती है। इसका **क्षुप**-कांटेदार, बहुवर्षायु, आरोहणशील तथा लता की तरह अनेक शाखाओं से युक्त फैला हुआ रहता है। **शाखायें**–त्रिकोण युक्त, चिकनी किन्तु रेखान्वित होती हैं। इसमें वास्तविक पत्र के स्थान पर कांटे होते हैं। **कांटे**–कुछ कुछ टेढ़े तथा १/४–१/२ इञ्च लम्बे होते हैं। **पत्राभासकाण्ड**–पत्र की तरह दिखलाई देने वाले, कांटों के कोणों में सूत्राकार पतले १/२–१ इञ्च लम्बे तथा दृढ़ पत्राभास काण्ड के गुच्छे होते हैं। **फूल**–छोटे, सफेद रङ्ग के तथा सुगन्धित गुच्छों में आते हैं। **फल**–छोटे छोटे, गोल तथा पकने पर लाल रंग के हो जाते हैं, जिनमें १-२ बीज रहते हैं। मूलस्तम्भ से कन्दसदृश श्वेत लम्बगोल परन्तु दोनों सिरों पर पतले मूलों के गुच्छे निकले रहते हैं जिनका चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है।

जाति—इसकी एक बड़ी जाति होती है जिसे सं–महाशतावरी एवं ले०–*A. sarmentosus Linn.* (ए. सार्मेन्टोसस् लिन.) कहते हैं। यह दक्षिण में होती है। इसकी लता बड़ी होती है तथा इसके मूलस्तम्भ से बहुत से कन्द निकले रहते हैं जो स्वादहीन होते हैं। इसकी एक कण्टकहीन जाति 'शरजोई', कौण्टा, ले०–A. filicinus Buch. & Ham. (ए० फिलिसिनस् बु. हैम.) जौनसार में ९ हजार फीट की ऊँचाई तक पाई जाती है। यह स्वावलम्बी होती है।

इसमें कांटे नहीं होते एवं पत्राभासकाण्ड चिपटे होते हैं। सफेद मुसली (१), शतावरी जाति की है।

रासायनिक संगठन—दोनों शतावरी के ताजे कन्दों में जल में घुलने वाला पदार्थ ५२ २/३%, सीठी ३३ १/३% तथा जल ९% रहता है। जल में घुलनशील भाग में ७% शर्करा होती है। शुष्ककन्द की राख ४% निकलती है।

गुण और प्रयोग—शतावरी मधुर, शीत, गुरु, स्नेहन, स्तन्यजनन, मूत्रजनन, शुक्रजनन बल्य, वृष्य, वयःस्थापन, चक्षुष्य, अग्निवर्धक, अल्पसग्राहक एवं त्रिदोषघ्न है।

इसका उपयोग अन्य औषधों के साथ नपुंसकता, शुक्रमेह, शुक्रतारल्य, नेत्ररोग, अतिसार, ग्रहणी, मूत्रकृच्छ्र, रक्तपित्त तथा अपस्मार में किया जाता है। बलवृद्धि के लिये दुग्ध एवं शर्करा के साथ इसकी पेया बनाकर देते हैं। इसके अङ्कुरों की तरकारी कुपचन में देते हैं। इससे सिद्ध तैलों का बाह्य प्रयोग शिरोरोग, चर्मरोग, वातव्याधि तथा दौर्बल्य में करते हैं।

मात्रा—२ तोला दुग्ध के साथ।

अथाश्वगन्धा । तस्या नामगुणानाह

गन्धान्ता वाजिनामादिरश्वगन्धा हयाह्वया । वराहकर्णी वरदा बलदा कुष्ठगन्धिनी ॥१८९॥
अश्वगन्धाऽनिलश्लेष्मश्वित्रशोथक्षयापहा । बल्या रसायनी तिक्ता कषायोष्णाऽतिशुक्रला ॥

'असगन्ध' के नाम और गुण—अश्वगन्धा, हयाह्वया (हय के पर्यायवाचक समस्त शब्द इसके द्योतक हैं), वराहकर्णी, वरदा, बलदा, कुष्ठगन्धिनी और वाजी (घोड़ा) के जितने पर्यायवाचक शब्द हैं वे आदि में लगाकर अन्त में 'गन्ध' शब्द लगाने से जितने शब्द हों, उन सबों को इसका पर्यायवाची शब्द समझना चाहिये, जैसे – वाजिगन्धा, हयगन्धा इत्यादि।

असगन्ध—तिक्त तथा कषाय रसयुक्त, उष्णवीर्य, बलकारक अत्यन्त शुक्रवर्धक, रसायन एवं वात, कफ, श्वित्र (श्वेत कुष्ठ), शोथ और क्षय को दूर करने वाला होता है ॥ १८९–१९० ॥

९७ असगन्ध

हि०–असगन्ध, अश्वगन्धा, नागोरी असगन्ध। **बं०**–अश्वगन्धा, आसकन्द, ढोरगुंज। **गु०**–आसन्ध। **संथा०**–घोड़ा हन, घोड़ाआकुन। **क०**–अंगरवेरु। **ते०**–पैन्नेरुगड्डु, पिन्नी आड्डा, अश्वगन्धी। **ता०**–चुवदिगं। **फा०**–बेहमनवरी। **अं०**–Winter cherry (विंटरचेरी)। **ले०**–*Withania somnifera Dunal* (वियेनिआ सॉम्नीफेरा)। Fam. Solanaceae (सोलेनेसी)।

असगन्ध इस देश के अनेक भागों के कुछ गरम और साधारण प्रान्तों में विशेषकर पश्चिम के शुष्क प्रदेशों में अधिक होती है। भारत के अतिरिक्त यह लङ्का, अफगानिस्तान, बलूचिस्तान, सिंध, भूमध्यसागरीय प्रदेश, उत्तमाशाअन्तरीप, आदि देशों में पाई जाती है। मालवा में इसकी खेती की जाती है। इसका **क्षुप**–भंटा के क्षुप के समान सघन होता है। इसकी ऊँचाई—३–४ फीट की होती है। **शाखायें**—टेढ़ी-मेढ़ी तारकाकार रोमों से युक्त होती हैं। **पत्ते**–अखंड, लट्वाकार, लगभग कुण्ठिताग्र, सरलधार से युक्त, २–४ इञ्च लम्बे १–२ इञ्च चौड़े, सूक्ष्म तारकाकार रोमों से युक्त, फलकमूल क्रमशः संकुचित एवं १/४–१/२ इञ्च तक लम्बे पर्णवृन्त से युक्त होते हैं। **पुष्प**–प्रायः ५ एक साथ सचूडाकार गुच्छों में, छोटे, हरिताभ या पीताभ पत्रकोणों में निकलते हैं। **फल**–पत्रदण्ड के पास १/४ इञ्च बड़े फल लगते हैं और वे प्रवृद्ध बाह्य कोश के पतले छिलके के परदे में रहते हैं। उनका आकार मटर के समान होता है और पकने पर वे

लाल हो जाते हैं। फलों से दूध जम जाता है। बीज-वनमण्टा के बीज के समान छोटे छोटे चिपटे बीज होते हैं। इसका क्षुप ३-४ वर्ष के बाद नष्ट हो जाता है।

इसकी जड़ १-१½ फीट लम्बी, १-१½ इञ्च मोटी, मूली की तरह शंक्वाकार, मजबूत, चिकनी, बाहर से हलके भूरे रङ्ग की तथा अन्दर से श्वेत होती है। मूल का मन छोटा तथा स्टार्च युक्त होता है। ताजी जड में अश्व के मूत्र सदृश गन्ध आती है जिससे इसे अश्वगन्धा कहा जाता है। इसका स्वाद कड़वा तथा तीक्ष्ण होता है।

नोट—असगन्ध दो प्रकार की होती है। एक जिसका ऊपर वर्णन किया गया है तथा दूसरी नागौरी असगन्ध के नाम से बाजार में बिकने वाली। इन दोनों की जड़ें भिन्न दिखलाई देने के कारण ऐसा अनुमान था कि नागौरी असगन्ध यह उपर्युक्त असगंध का कोई कृषिजन्य परिवर्तित रूप हो। किन्तु नई खोज से यह सिद्ध किया गया है कि नागौरी असगंध की स्वतन्त्र जाति (Species) ही होती है जिसका नया नामकरण विथेनिया अश्वगंधा (Withania ashwagandha) किया गया है।

वाजीकर, बल्य तथा बृंहण गुण के लिये खाने के काम में बाजारी असगन्ध (नागौरी) लेना चाहिये तथा वातघ्न गुण के लिये अपस्मारादि व्याधियों में, लेपादि बाह्य प्रयोगों में तथा तैलादि में उपर्युक्त असगन्ध के मूल लेने चाहिये। इसका दुग्ध में स्वेदन करके शोधन कर लेना चाहिये। असगन्ध के पञ्चांग तथा विशेषकर जड़ का चिकित्सा में उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसकी जड़ में उड़नशील तैल, रवेदार विथेनियोल (Withaniol $C_{25} H_{35} O_5$) नामक पदार्थ, हेन्ट्रियाकॉन्टेन् (Hentriacontane), फाइटोस्टेरॉल तथा तैल ये पदार्थ होते हैं। इनके अतिरिक्त इसमें ३ विभिन्न क्षाराभ (Alkaloid) होते हैं जिनमें से सॉम्निफेरिन् (Somniferin $C_{12} H_{16} N_2$) रवेदार होता है।

गुण और प्रयोग—नागौरी (बाजारी) असगन्ध उष्ण, मधुर, बृंहणीय, बल्य, रसायन, वृष्य एवं शोथहर है। क्षय, बालशोष, सुखण्डी, वार्धक्य आदि में इसके ½-१ तो० चूर्ण को थोड़े घृत में गरम कर दूध एवं शर्करा मिलाकर देते हैं। यह उत्तम पौष्टिक है। बच्चों के लिये यह बहुत ही अच्छा है। इससे बच्चों का सूखना बन्द हो जाता है। स्त्रियों के कटिशूल एवं श्वेत प्रदर में इससे लाभ होता है।

जङ्गली असगन्ध—अवसादक, स्वापजनक एवं मूत्रजनक है। इसका अवसादक प्रभाव वातनाडियों पर होता है न कि हृदयपर। अल्प मात्रा में धतूरे जैसा मद इससे उत्पन्न होता है तथा कामोत्तेजना होती है।

बद, ग्रन्थि, शोथ तथा फोड़े आदि पर इसके लेप से लाभ होता है। तिलाओं में इसका उपयोग किया जाता है इससे सिद्ध तैल दौर्बल्य तथा वातव्याधि में मालिश के उपयोग में आता है।

इसके बीज स्वापजनन एवं मूत्रजनन हैं। अधिक मात्रा में विषैले होते हैं। आमवात में इसके ताजे पत्ते बाँधते हैं।

मात्रा—नागौरी असगन्ध चूर्ण ३-६ माशा।

अथ पाठा (पाढी)। तस्या नामानि गुणांश्चाह

पाठाऽम्बष्ठाऽम्बष्ठकी च प्राचीना पापचेलिका। एकाष्ठीला रसा प्रोक्ता पाठिका वरतिक्तिका॥
पाठोष्णा कटुका तीक्ष्णा वातश्लेष्महरी लघुः।
हन्ति शूलज्वरच्छर्दिकुष्ठातीसारहृद्रुजः। दाहकण्डूविषश्वासकृमिगुल्मगरव्रणान्॥ १९२॥

'पाढ' के नाम तथा गुण—पाठा, अम्बष्ठा, अम्बष्ठकी, प्राचीना, पापचेलिका, एकाष्ठीला, रसा, पाठिका और वरतिक्तिका ये सब नाम 'पाढ' के हैं। **पाढ**—उष्णवीर्य, कटुरसयुक्त, तीक्ष्ण, लघु, वात-कफनाशक एवं शूल, ज्वर, वमन, कुष्ठ, अतीसार, हृद्रोग, दाह, कण्डू (खुजली), विष, श्वास, क्रिमि, गुल्म, उदररोग और व्रण को दूर करने वाली होती है॥ १९१-१९२॥

प्राचीनों ने पाठा के दो भेद माने हैं। एक लघु पाठा तथा दूसरी राजपाठा (बड़ी पाठा) इनमें से लघु पाठा यह सिसॅम्पेलॉस् पॅरेरा (Cissampelos pareira) है। राजपाठा या पाठा ही के स्थान पर इसी वर्ग की अन्य वनस्पतियों का भी उपयोग विभिन्न स्थानों में किया जाता है। साइक्लिआ पेल्टेटा (Cyclea peltata) एवं साइक्लिआ बर्मेनी (Cyclea burmanni)- यह केवल आसाम एवं खासिया पर्वत से पूर्व की तरफ तथा दक्षिण में पश्चिमी, पूर्वी घाट एवं कोंकण में पाई जाती है तथा दक्षिण में इन्हीं का अधिक प्रयोग छोटी एवं बड़ी पाठा के नाम से किया जाता है यद्यपि सि० पॅरेरा भी वहाँ पाई जाती है। उत्तरी भारत में यह (साइक्लिआ) नहीं पाई जाती, किन्तु स्टिफॅनिआ हर्नेण्डिफोलिआ (Stephania hernandifolia) नामक बड़ी जाति पाई जाती है, जिसे राजपाठा कह सकते हैं। बंगाल की तरफ आकनादि नाम से इसका अधिक उपयोग किया जाता है। गुजरात तथा काठियावाड़ में इसी वर्ग की पातालगरुडी का उपयोग पाठा के स्थान पर करते हैं जो उचित नहीं है। एक ही वर्ग की तथा स्वरूप-गुणादि में साम्य होने के कारण पाठा नाम से इनका उपयोग भिन्न भिन्न स्थानों में किया जाता है।

९८ पाठा

सं०-लघुपाठा, पीलुफला, अविद्धकर्णी। हि०-पाठा, पाठ, पाढ, पाठी, पाढी, पुरइन पाढी। बं०-आकनादि, निमुक, एकलेजा। म०-पहाड़ वेल। गु०-वेणीवेल, करेढियुं। क०-पडवलि। ता०-अप्पाट्टा, पोंमुतुतै। गोवा०-पारवेल। ते०-पाटा, विरुबोड्डि। ले०-*Cissampelos pareira Linn.* (सिसॅम्पेलॉस् पॅरेरा लिन.)। अं०-Velvet leaf (वेल्वेट लीफ)। Fam. Menispermaceae (मेनिस्पर्मेसी)।

यह इस देश के सभी उष्ण एवं साधारण भागों में सिंध, पंजाब, शिमला, देहरादून तथा दक्षिण में कोंकण से लंका तक पाई जाती है। एशिया, पूर्व अफ्रिका तथा अमेरिका के उष्ण प्रदेशों में भी होती है।

यह लता-खुली हुई पथरीली जगहों में प्रायः छोटे वृक्षों और झाडियों पर फैली हुई पाई जाती है। शाखाएँ-पतली, सीधी एवं कचित् लोमयुक्त होती हैं। पत्र-लट्वाकार या कभी-कभी वृत्ताकार-वृक्काकार हृदयाकृति, एकांतर, १-४ इञ्च बड़े, नोकरहित एवं कचित् नुकीले रहते हैं। पर्णनाल प्रायः पृष्ठ भाग से जुड़ा हुवा तथा पृष्ठ के बराबर या अधिक लंबा होता है। पुष्प-एकलिंग, छोटे, श्वेताभ, किंचित् पीत वर्ण के वर्षा काल में आते हैं। नरमंजरी लंबी, अनेक पुष्पों से युक्त, मृदुरोमश तथा पत्रकोणों से निकली रहती है। फल-रक्त या नारंग वर्ण के, कुछ गोलाकार, ४ मि. मि. बड़े एवं रोमावृत रहते हैं। बीज-मुड़े हुवे होते हैं।

इसके मूल का उपयोग चिकित्सा में किया जाता है। इसकी सूखी हुई जड़ के लंबे गोल, अण्डाकार या दबे हुये टुकड़े, कभी-कभी लंबाई में टूटे हुये मिलते हैं। ये व्यास में ½ से ४ इञ्च तक मोटे एवं ४ इञ्च से लेकर ४ फीट तक लंबे होते हैं। बाहर से ये भूरे बादामी रंग के तथा लंबाई में झुर्रीदार होते हैं। इन झुर्रियों पर अनुप्रस्थ चक्राकार कुछ उभार रहते हैं। अन्दर से ये काष्ठमय, पीताभ भूरे रंग के एवं सुषिर होते हैं तथा इनमें स्पष्ट किन्तु प्रायः अपूर्ण चक्राकार

रेखाएँ तथा मज्जक किरणें (Medullary rays) दिखलाई देती हैं। इनका स्वाद प्रारम्भ में कुछ मधुर एवं सुगन्धित तथा बाद में अत्यन्त कडुवा होता है।

रासायनिक संगठन—इसकी जड में ०·७२% क्षाराभ पाये जाते हैं जिसमें बेबीराइन (Bebeerine) भी रहता है। अल्प मात्रा में एक रवेदार डेयामेट्टीन (Deyamettin) नामक पदार्थ एवं एक राल पाई जाती है।

गुण एवं प्रयोग—पाठामूल, उष्ण, तिक्त, ग्राही, स्तन्यशोधक, ज्वरहर, बल्य, बस्तिशोधक एवं मूत्रजनक है। अल्प मात्रा में इससे भूख बढ़ती है, अन्न का पाचन होता है तथा आंत्र की श्लेष्मलकला को बल मिलता है। अधिक मात्रा से पाखाना साफ होता है। संपूर्ण क्षाराभ का अनैच्छिक मांसपेशी पर अवसादक प्रभाव पड़ता है।

इसका उपयोग कुपचन, अतिसार, ज्वर, मूत्रविकार, शोफ, कास, आर्तव-विकार एवं अर्श में किया जाता है। पॅरेरारूट (Pareira root) जो कि कोण्ड्रोडेण्ड्रोन टोमेण्टोजम् (Chondrodendron tomentosum Ruiz & Pav.) की जड़ है उसके स्थान पर इसका उपयोग किया जाता है। मूत्रमार्ग की श्लेष्मल त्वचा पर इसका शामक संग्राही एवं बलदायक प्रभाव पड़ता है। यह बस्ति के लिये उत्तम प्रतिदूषक (Antiseptic) है।

(१) मूत्रसंस्थान के विकारों में इसकी जड़ का फांट दिया जाता है। वस्तिशोथ, अश्मरी, मूत्रकृच्छ्र, सान्द्रमेह, रक्तमूत्र तथा अन्य विकारों में इससे अच्छा लाभ होता है। इन विकारों में इसे अधिक मात्रा में देते हैं। इसके साथ मुलेठी तथा गुडूची का प्रयोग अधिक उपयोगी है।

(२) कुपचन, उदरशूल, अतिसार, रक्तातिसार एवं ज्वरातीसार आदि विकारों में इसको अन्य सुगन्धि द्रव्यों के साथ देते हैं।

मात्रा—चूर्ण १ से ३ माशा।

प्रतिनिधि—

(१) ले०-*Stephania hernandifolia* (*Willd.*) *Walp.* (स्टिफॅनिआ हर्नेण्डिफोलिआ, वाल्प)। सं०-राजपाठा। बं०-आकनादि, नेमुक।

यह भी देखने में पाठा के समान लता होती है किन्तु दोनों की पुष्पमंजरिओं में अन्तर होता है। पाठा में बाह्यकोश के दल ४ (पुं-पुष्प) और २ (स्त्री-पुष्प) एवं आभ्यंतर दल ४ संयुक्त (पुं-पुष्प) और १ (स्त्री-पुष्प) होते हैं। इसमें बाह्य कोश के दल ६-१० एवं आभ्यंतर दल ३-५ होते हैं। इसमें पाठा की अपेक्षा पत्ते बड़े (३-५"×२½-४") और शिराजाल कम सघन होता है। इसके फल बड़े एवं बीज मुड़कर करीब करीब गोल हो जाते हैं।

इसमें कुछ सॅपोनिन् (Saponin) होते हैं। इसकी जड़ का भी उपयोग पाठा की तरह अतिसार, कुपचन तथा मूत्रविकारों में किया जाता है। इसका सत्त्व मेढक के लिये अत्यन्त विषैला होता है।

(२) ले०-*Cyclea peltata H. f. & T.* (साइक्लिआ पेल्टेटा)। सं०-राजपाठा भेद। म०-पाडल, पाडावल। गु०-कालीपाट।

यह लता आसाम तथा खासिया से पूर्व की तरफ एवं दक्षिण में कोंकण, माथेरान, महाबलेश्वर तथा सिलोन तक पाई जाती है।

इसकी शाखाएँ-धारीदार एवं अल्प रोमश होती हैं। पत्ते-पतले, रोमश, ३-६"×२-४" बड़े एवं १-२½" लंबे पर्णवृन्त से युक्त रहते हैं। पर्णवृन्त पाठा की तरह ही फलक से पृष्ठ की ओर

जुड़ा रहता है। पुष्प-बहुत छोटे, हरे रंग के एवं फल वृक्काकार तथा रोमश रहते हैं। इसी का एक और भेद सा. बर्मेनी (C. burmanni Miers.) भी पाया जाता है।

लघु पाठा (सि. पॅरेरा) में बाह्य कोश के दल आपस में मिले नहीं रहते किन्तु इसमें ये मिले हुवे तथा संख्या में ४-८ होते हैं।

दक्षिण में पाठा नाम से इसका बहुत उपयोग किया जाता है। इसके पंचांग का उपयोग होता है।

गुण और प्रयोग—यह कड़वी, वातहर, स्वेदजनक एवं मूत्रजनक है। छोटे बच्चों के उदर शूल, आँव, अतिसार एवं अर्श में इसकी जड़ पीस कर देते हैं। इसके साथ अतीस एवं करंज देते हैं। पैत्तिक कुपचन में इसका स्वरस सोंठ के साथ देते हैं। प्रमेह में मट्ठे के साथ जड़ देते हैं।

मात्रा—मूल चूर्ण ½ से १ माशा।

अथ श्वेता त्रिवृत् (निसोत श्वेत)। तस्या नामगुणानाह

श्वेता त्रिवृत् त्रिभण्डी स्यात् त्रिवृता त्रिपुटाऽपि च। सर्वानुभूतिः सरला निशोत्रा रेचनीति च॥
श्वेता त्रिवृद्रेचनी स्यात्स्वादुरुष्णा समीरहृत्। रूक्षा पित्तज्वरश्लेष्मपित्तशोथोदरापहा॥१९४॥

सफेद निसोत के नाम तथा गुण—श्वेता त्रिवृत्, त्रिभण्डी, त्रिवृता, त्रिपुटा, सर्वानुभूति, सरला, निशोत्रा और रेचनी ये सब नाम सफेद निसोत के हैं।

सफेद निसोत—रेचक, स्वादु, उष्णवीर्य, रूक्ष, वातनाशक एवं पित्तज्वर, कफ, पित्त, शोथ और उदररोग को दूर करने वाली होती हैं॥ १९३-१९४॥

९९ निसोत

हिं०-निसोत, निशोथ, पितोहरी। बं०-तेउड़ी, तिउरी, दूधकलमी। म०-निशोत्तर, तेंड, फुटकरी, शेतवड। क०-तिगडे। ते०-तेछ, तेगड। ता०-शिवदे, चिवदे। गु०-नसोतर। अ०-तुर्बुद। अं०-Turpeth root (टरपेथ रूट); Indian Jalap (इण्डियन जालप)। ले०-*Operculina turpethum, Silva Manso* (ऑपेर्क्युलिना टर्पेथम्, सिल्वा मॅन्सो); Syn. *Ipomoea turpethum R. Br.* (आइपोमिआ टरपेथम्)। Fam. Convolvulaceae (कॉन्वॉल्व्युलेसी)।

निशोत इस देश के प्रायः सब प्रान्तों में ३००० फीट की ऊँचाई तक पाई जाती है। बगीचों में लगाई हुई भी मिलती है। लंका, मलाया द्वीप एवं ऑस्ट्रेलिया में भी यह अधिक होती है।

यह लता जाति की वनौषधि बारहो मास पाई जाती है परन्तु वर्षा ऋतु में विस्तार से फैली अधिक देखने में आती है। इसका काण्ड तीन धार वाला होता है इसलिये इसको त्रिवृता कहते हैं। यह बहुत लंबा, आरोही तथा ऐंठा हुआ रहता है। पुराना होने पर यह कुछ कड़ा, भूरे रङ्ग का तथा मृदु रोमश हो जाता है। स्राव कुछ कुछ दुग्धसदृश होता है। पत्ते—नीचे के पत्ते चौड़ाई किये हुए लट्वाकार, हृद्वत, प्रायः २-४ इञ्च लम्बे, ½ से ३ इञ्च तक चौड़े, लम्बाग्र तथा तीक्ष्णाग्र होते हैं। ऊपर के पत्ते प्रायः आयताकार, कुण्ठित रोमश अग्रयुक्त एवं सवृन्त (वृन्त ·७५-३ इञ्च लम्बे) होते हैं। पुष्प—घंटिकाकार सफेद तथा २-३ इञ्च लम्बे होते हैं। परागाशय (Anthers) जल्दी ही आपस में ऐंठ जाते हैं। फल—½-¾ इंच बड़े तथा गोल होते हैं। फलत्वक् का बाहरी भाग जब फट जाता है तो भीतरी पारदर्शं परदा रह जाता है जिसके अन्दर दो गह्वर और ४-१ काले एवं चिकने बीज होते हैं।

इसकी जड़ लम्बी, पतली, मांसल एवं बहुत शाखायुक्त होती है। बाहर से भूरे या अरुणाभ धूसर रङ्ग के ½-२ इञ्च तक मोटे तथा एक तरफ फटे हुए टुकड़े मिलते हैं। इस पर बाहर से गहरी धारियां होती हैं जिससे यह देखने में रस्सी की तरह दिखलाई देती है। इसका मध्य छाल में छोटा एवं काष्ठ में रेशेदार होता है। इसमें साधारण गन्ध एवं स्वाद में यह अरुचिकर होती है।

आयुर्वेद में दो प्रकार की त्रिवृत् का वर्णन किया गया है। एक अरुण (श्वेताभ) या दूसरी श्याम (काली) रङ्ग की। काली निशोथ अधिक तीव्र होने के कारण मूर्च्छा, दाह, भ्रम आदि उपद्रव करती है। अधिक दोष होने पर तथा क्रूरकोष्ठवालों के लिए इसका उपयोग किया जा सकता है। अच्छी भूमि में उत्पन्न, गम्भीर, श्लक्ष्ण तथा सरल मूल को लेकर उसके भीतर का काष्ठ भाग निकाल दें और बाहरी त्वचा को सुखाकर रख लें (च० उ० अ० ७)। बाजार में इसमें काण्डके टुकड़े भी मिले रहते हैं जिनमें विरेचक गुण कम रहता है। वास्तव में निसोत की एक ही लता पाई जाती है। बाजार में श्वेत और कृष्ण ये भेद बिकते हैं और यह चिन्हार नामक लता (जिसके मूर्वा होने की अधिक संभावना है) के काण्ड हैं। वास्तविक निसोत कहीं कहीं विधारा नाम से भी बेची जाती है।

रासायनिक संगठन—इसकी जड़ में ५-१०% एक राल पाई जाती है जिसका कुछ भाग ईथर में घुलनशील रहता है जो ॲल्फा-टर्पेथीन् (A-turpethin) एवं बीटा-टर्पेथिन (B-turpethin) का मिश्रण होता है। ईथर में अविलेय राल को टर्पेथिन् (Turpethin) कहते हैं। राल के अतिरिक्त कुछ उड़नशील तैल, वसायुक्त द्रव्य, अल्ब्यूमिन, स्टार्च, पीत रञ्जक पदार्थ, लिगनिन् एवं लौहऑक्साइड पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—निशोथ विरेचक, भेदनीय एवं अधोभागहर है। यह सुखविरेचनों में श्रेष्ठ मानी गई है। पाश्चात्य चिकित्सा में प्रयुक्त जालप (Jalap) की तरह ही इसके भी गुण हैं। इससे पतले एवं पीले रङ्ग के दस्त होते हैं। पेट में मरोड़ न हो इसलिये इसके साथ सोंठ जैसे सुगन्धि पदार्थ तथा सैंधव का उपयोग किया जाता है। जालप की अपेक्षा यह अल्प एवं विलम्ब से कार्य करती है इसलिये इसकी अपेक्षा अधिक मात्रा में देना पड़ता है किन्तु इससे किसी प्रकार का दुष्परिणाम नहीं होता। इसका स्वाद एवं गन्ध भी हृल्लासकारक नहीं होती।

ज्वर, रक्तपित्त, अर्श, विसर्प, वातशोफ, कामला एवं राजयक्ष्मा आदि में इसका प्रयोग किया जाता है। वातरोग, विशेषतः आवातयुक्त या खिन्नवृत्ति रहने पर यह उपयोगी है। अर्श, उदर एवं गुल्म में इसकी शाक का उपयोग करते हैं।

मात्रा—३-५ माशा।

अथ श्यामा त्रिवृत् (काली निसोत)। तस्या नामानि गुणांश्चाह

त्रिवृच्छ्यामाऽर्द्धचन्द्रा च पालिन्दी च सुषेणिका।
मसूरविदला काली कैषिका कालमेषिका॥
श्यामा त्रिवृत्ततो हीनगुणा तीव्रविरेचिनी।
मूर्च्छादाहमदभ्रान्तिकण्ठोत्कर्षणकारिणी॥ १९६॥

'काली निसोत' के नाम तथा गुण—श्यामा, त्रिवृत्, अर्धचन्द्रा, पालिन्दी, सुषेणिका, मसूरविदला, काली, कैषिका और कालमेषिका ये सब 'काली निसोत' के नाम हैं। काली निसोत

सफेद निसोत की अपेक्षा हीन गुणवाली तथा तीव्र रेचक होती है एवं मूर्च्छा, दाह, मद और भ्रान्ति को उत्पन्न करने वाली एवं कण्ठ का उत्कर्षण करने वाली होती है (पृष्ठ ३९८ भी देखें)॥ १९५-१९६॥

अथ लघुदन्ती बृहद्दन्ती च (एरण्डवत्पत्रविटपा) तयोर्नामानि गुणाँश्चाह

लघुदन्ती विशल्या च स्यादुदुम्बरपर्ण्यपि। तथैरण्डफला शीघ्रा श्येनघण्टा घुणप्रिया॥१९७॥
वाराहाङ्गी च कथिता निकुम्भश्च मकूलकः।
द्रवन्ती शम्बरी चित्रा प्रत्यक्पर्ण्याखुपर्ण्यपि॥ १९८॥
उपचित्रा श्रुतश्रोणी न्यग्रोधी च तथा वृषा।
दन्तीद्वयं सरं पाके रसे च कटु दीपनम्॥ १९९॥
गुदाङ्कुराश्मशूलास्रकण्डूकुष्ठविदाहनुत्। तीक्ष्णोष्णं हन्ति पित्तास्रकफशोथोदरक्रिमीन्॥

छोटी दन्ती तथा बड़ी दन्ती के नाम और गुण—लघुदन्ती, विशल्या, उदुम्बरपर्णी, एरण्डफला, शीघ्रा, श्येनघण्टा, घुणप्रिया, वाराहाङ्गी, निकुम्भ और मकूलक ये सब नाम छोटी दन्ती के हैं। द्रवन्ती, शम्बरी, चित्रा, प्रत्यक्पर्णी, आखुपर्णी, उपचित्रा, श्रुतश्रोणी, न्यग्रोधी और वृषा ये सब नाम बड़ी दन्ती के हैं। इसके पत्ते और शाखायें एरण्ड (रेंड़) की तरह होती हैं। दोनों प्रकार की दन्ती—स्वाद तथा विपाक में कटुरस युक्त, सारक, अग्निदीपक, तीक्ष्ण, उष्णवीर्य एवं अर्श के मस्से, पथरी, शूल, रक्तविकार, कण्डु (खुजली), कुष्ठ, दाह, पित्तरक्त, कफ, शोथ, उदररोग और क्रिमि को नष्ट करने वाली होती है॥ १९७-२००॥

नोट—भावप्रकाशकार दन्ती के दो भेद लघुदन्ती एवं द्रवन्ती (बृहद्दन्ती) लिखते हैं। इनमें लघुदन्ती यह प्रसिद्ध है जिसे लै० में बॅलिओस्पर्मम् मॉन्टेनम् कहते हैं। द्रवन्ती के सम्बन्ध में मतभेद है। कुछ लोगों ने व्याघ्रैरण्ड (जेट्रोफा कर्कस) को द्रवन्ती माना है। किन्तु इसकी जड़ में रेचक गुण न होने के कारण श्री यादवजी इसको स्वीकार नहीं करते। भावप्रकाशकार आगे 'क्षुद्रदन्तीफलं तु स्यान्मधुरं रसपाकयोः' एवं उसके आगे 'जयपालो दन्तिबीजं विख्यातं········' लिखते हैं। लघुदन्ती के बीज जयपाल नहीं हैं यह निश्चित है किन्तु इसका स्वतन्त्र वृक्ष होता है जिसे लै० में क्रोटन् टिग्लिअम् कहते हैं। इसलिये 'जयपालो दन्तीबीजं विख्यातम्' में दन्ती का अर्थ बृहद्दन्ती (द्रवन्ती) किया जाय तो उपर्युक्त श्लोक का अर्थ ठीक हो जाता है। यदि भावप्रकाशकार को यहाँ दन्ती से लघुदन्ती का तात्पर्य होता तो वह स्पष्ट लिखते क्योंकि पहले वह 'क्षुद्रदन्तीफलं तु स्यान्मधुरं·········' ऐसा क्षुद्रदन्तीफल के लिये स्पष्ट लिख चुके हैं। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि यदि द्रवन्ती (बृहद्दन्ती) यह जयपाल वृक्ष को मान लिया जाय तो सब सन्देह दूर हो जाता है। श्री यादवजी का भी मत जयपाल वृक्ष को द्रवन्ती मानने की तरफ है। कुछ लोगों ने क्रोटन पॉलिएण्ड्रम् (Croton polyandrum) को द्रवन्ती माना है किन्तु वास्तव में यह केवल दन्ती (बॅलिओस्पर्मम् मोन्टेनम्) का पर्याय है न कि कोई अलग भेद। चरक में दन्ती का एक तीसरा भेद नागदन्ती आया है। इसे श्री डॉ० वा० ग० देसाई एवं श्री ठा० बलवन्त सिंह जी ने क्रोटन् ऑब्लॉंगिफोलिअ माना है जो सर्वसम्मत है। यहाँ पर, द्रवन्ती (जयपाल वृक्ष) एवं नागदन्ती का अलग-अलग वर्णन किया गया है। जेट्रोफाकर्कस् (व्याघ्रैरण्ड) का वर्णन पहले पृष्ठ ३०२ पर किया जा चुका है।

१०० दन्ती

हि०–दन्ती, छोटीदन्ती, ताम्बा। **म०**–दान्ती, लघुदन्ती, दांतरा। **बं०**–दन्ती, हाकुन। **ते०**–कोंदाआमादम्। **ता०**–नागदन्ती। **गु०**–दन्ती। **फा०**–दन्द, वेदजीर खताई। **अ०**–हब्बुस्सला। **ले०**–*Baliospermum montanum Muell-Arg.* (बॅलिओस्पर्मम् मॉन्टेनम् मुएल आर.)। Fam. Euphorbiaceae (युफोर्बिएसी)।

छोटी दन्ती प्रायः सब प्रान्तों में पाई जाती है। विशेषकर काश्मीर से भूटान तक तथा आसाम और खासिया पहाड़ से चटगाँव तक एवं दक्षिण में कोंकण ट्रावनकोर तक जङ्गलों में उत्पन्न होती है। आर्द्र स्थानों में प्रायः अन्य वृक्षों आदि की छायादार जगहों में अधिक पाई जाती है।

यह गुल्म–जाति की वनस्पति ३ से ६ फीट तक ऊँची होती है। प्रायः जड़ से ही अधिक शाखाएँ निकलती हैं। **पत्ते**–प्रायः अञ्जीर और गूलर के आकार के होते हैं, इस लिये इसको उदुम्बरपर्णी कहते हैं। लम्बाई, चौड़ाई में इसका आकार भिन्न-भिन्न होता है। नीचे वाले पत्ते ६ से १२ इञ्च लम्बे, अञ्जीर के पत्तों के समान कटे किनारे वाले ३ से ५ भागों में विभक्त तथा किञ्चित् नुकीले होते हैं और ऊपर वाले पत्ते गूलर के पत्तों के आकार वाले २-३ इञ्च लम्बे और भालाकार होते हैं। **फूल**–एकलिंगी, गुच्छाकार हरिताभ रंग के होते हैं। **फल**–किंचित् रोमश, ३ खण्ड का एवं करीब ½ इञ्च लम्बा होता है। **बीज**–भूरे, मांसवृद्धि से युक्त तथा एरण्ड से छोटे होते हैं। इसकी जड़ एवं बीज औषधि के काम में आते हैं। **जड़**–अङ्गुली के बराबर मोटी, सीधी और कभी-कभी टूटी हुई होती है। जड़ की छाल भूरे रंग की खुरदरी एवं काष्ठ भाग श्वेत, पीताभ, मुलायम किन्तु चीमड़ रहता है। यद्यपि जमालगोटे को दन्तीबीज कहते हैं तथापि जमालगोटा उक्त दन्ती का बीज नहीं है।

संग्रहविधि–दन्ती तथा द्रवन्ती के हाथी दाँत के सदृश कठिन, स्थूल एवं श्याम ताम्र वर्ण के मूल को छोटी पीपल के चूर्ण एवं मधु का लेप करके कुशा के बीच में रख कर मिट्टी का लेप करके पुटपाक करे। फिर धूप में सुखा लें। इस प्रकार अग्नि एवं धूप से इसका विकाशी गुण नष्ट हो जाता है। (च० क० अ० १२)

रासायनिक संगठन—इसकी जड़ में राल एवं स्टार्च पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—दन्ती की जड़, कटु, उष्ण, शोथघ्न, ज्वरघ्न, रेचन एवं कफपित्तनाशक है। इसका उपयोग, उदर, जलोदर, शोथ, कामला, यकृद्विकार, आध्मान, गुल्म, अर्श एवं ज्वर में किया जाता है। इसके बीज अत्यन्त तीव्र रेचन होते हैं। इसके बीजों का तैल तिक्त, कटु, कषाय एवं अधोभाग दोषहर है तथा कृमि, कुष्ठ, कफ, वात और दूष्योदर को दूर करने वाला एवं दुष्टव्रणशोधक है।

(१) ज्वर में तक्र के साथ इसकी जड़ देने से यकृत् की क्रिया ठीक होकर शौच के द्वारा दूषित पित्त निकल जाता है।

(२) जलोदर, हृदयोदर, यकृदुदर, वृक्कविकृतिजन्य उदर आदि में इसकी जड़ का विरेचनार्थ प्रयोग करते हैं। कामला में भी विरेचन के लिये इसका उपयोग करते हैं।

(३) श्वास में इसके पत्तों का उपयोग किया जाता है।

(४) त्वचा के विकारों में इसका उपयोग किया जाता है।

(५) इसके बीज एवं तैल जमालगोटे की तरह तीव्र रेचक होते हैं।

प्रयोगविधि—इसको सौंफ आदि सुगन्धि पदार्थों के साथ क्वाथ के रूप में देना चाहिये। अधिक मात्रा में यह क्षोभक एवं मादक है जिसके निवारण के लिये मधुर-स्निग्ध पदार्थ, शर्बत तथा दूध आदि का उपयोग करना चाहिये।

मात्रा—१-३ माशा; बीज ½-१ र०।

अथ लघुदन्तीफलम्। तस्य गुणानाह

क्षुद्रदन्तीफलं तु स्यान्मधुरं रसपाकयोः। शीतलं सृष्टविण्मूत्रं गरशोथकफापहम् ॥ २०१ ॥

छोटी दन्ती के फल का गुण—छोटी दन्ती का फल—रस और पाक में मधुर रसयुक्त, शीतवीर्य, मल और मूत्र को निकालने वाला, विष, शोथ तथा कफ का नाशक होता है ॥ २०१ ॥

अथ जयपालः (जमालगोटा)। तस्य नामानि गुणांश्चाह

जयपालो दन्तिबीजं विख्यातं तिन्तिडीफलम्। जयपालो गुरुः स्निग्धो रेची पित्तकफापहः ॥

जमालगोटा के नाम तथा गुण—जयपाल, दन्तिबीज, तिन्तिडीफल ये सब जमालगोटा के विख्यात नाम हैं। **जमालगोटा**—गुरु, स्निग्ध, रेचक एवं पित्त-कफ का नाशक होता है ॥ २०२ ॥

नोट—यहाँ दन्तिबीज का अर्थ बड़ीदन्ती (द्रवन्ती) का बीज उचित मालूम पड़ता है क्योंकि क्षुद्रदन्ती का बीज जयपाल नहीं है।

१०१ जमालगोटा (द्रवन्तीबीज)

हि०–जमालगोटा। **बं०, म०**–जयपाल। **पं०**–जपोलोटा। **गु०**–नेपालो। **ता०**–नेवलिम्। **ते०**–नेपालवेमु। **क०**–नेपाल, जापालबीज। तुख्मे बेदअञ्जीर, तुख्मे बेदंजीरखताई। **अ०**–हब्बुस्सलातीन। **फा०**–तुख्मे बेदअञ्जीर खताई। **अं०**–Croton oil seed (क्रोटन् ऑइल सीड)। **ले०**–*Croton tiglium Linn.* (क्रोटन् टिग्लिअम् लिन.)। Fam. Euphorbiaceae (युफोर्बिएसी)।

यह आसाम, बंगाल, ब्रह्मा तथा समस्त भारत में पाया जाता है। इसका **वृक्ष**–छोटा होता है और वह बारहो मास हरा-भरा रहता है। इसकी शाखायें रोमयुक्त छोटी-छोटी होती हैं। **पत्ते**–२-४ इञ्च लम्बे, चौड़े अण्डाकार, चिकने, नोकीले, दन्तुर और ३-५ शिराओं से युक्त होते हैं। **फूल**–हरिताभ पीत रङ्ग के मंजरी के रूप में आते हैं। **फल**–प्रायः १ इञ्च लम्बे अण्डाकार और त्रिकोणयुक्त होते हैं। **बीज**–बादामी रङ्ग के होते हैं जिन्हें जयपाल (जमालगोटा) कहा जाता है। इसके बीज एवं बीज-तैल का चिकित्सा में उपयोग किया जाता है।

शोधन—आयुर्वेद में शोधन करके ही जमालगोटे का व्यवहार किया जाता है। जमालगोटे के छिलके एवं दो दलों के बीच के अंकुर (जीभ) को निकाल, गोदुग्ध में ३ घण्टे तक स्वेदन करे। फिर शीतल होने पर गरम जल से धो, नींबू के रस के पीस, मिट्टी के कोरे तवे पर बिछा कर सुखा ले। इस प्रकार करने से यह शुद्ध हो जाता है।

रासायनिक संगठन—इसके बीजों में एक स्थिर तैल, टिग्लिनिक् अम्ल (Tiglinic acid), क्रोटनिक् या कार्टेनिलिक अम्ल (Crotonic or quartenylic acid) एवं क्रोटन तैल (Croton oil) रहता है। क्रोटन तैल में मुख्य क्रियाशील तत्त्व क्रोटोनोलिक अम्ल (Crotonolic acid) होता है जिसके अतिरिक्त टिग्लिक् अम्ल या मैथिल् क्रोटनिक अम्ल (Tiglic acid

or Methyl crotonic acid), क्रोटोनाल् (Crotonol) जिसमें रेचनगुण नहीं होता किन्तु जो त्वचा के लिये प्रक्षोभक होता है, कुछ उड़नशील तैल जिनके कारण इसमें गन्ध होती है एवं कुछ स्नेहाम्ल पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—यह कटु, उष्ण, विरेचन, दीपन, कफ-वातहर, कृमि एवं जलोदर नाशक है। बाह्य प्रयोग में यह प्रक्षोभक एवं विस्फोटजनक है। यह अत्यन्त तीव्र रेचन है। अधिक मात्रा में यह विष है। इसके तैल के एक बूंद प्रयोग से पचीसो पतले दस्त होते हैं तथा पेट में बहुत मरोड़ होता है। इससे आन्त्र की श्लेष्मकला में कुछ शोथ भी हो जाता है। यद्यपि इससे कृमि भी गिरते हैं तथापि कृमि के लिये इसका प्रयोग नहीं करते, रक्तगत जलीय अंश को जब जल्दी कम करना रहता है तब इसका उपयोग करते हैं।

(१) मस्तिष्कगत रक्तस्रावजन्य अर्धांग आदि में इसका प्रयोग करते हैं। इससे जलीय अंश कम होकर रक्तस्राव कम होता है तथा मस्तिष्कगत दबाव कम होता है। रोगी बेहोश हो तो तैल का एक बूंद मक्खन में मिलाकर जीभ पर लगा दें।

(२) हृदयोदर में भी जलीय अंश को कम करने के लिये इसका प्रयोग करते हैं, किन्तु कभी-कभी इसके प्रयोग के बाद दस्त बन्द नहीं होते।

(३) आमवात, सन्धिशोथ, वातविकार तथा तिलाओं के रूप में इसके तैल का बाह्य प्रयोग किया जाता है।

विषप्रभाव—इसकी अधिक मात्रा से दाह, मरोड़, शूल, रक्तयुक्त दस्त, एवं दौर्बल्य आदि लक्षण होते हैं। इसके निवारण के लिये जल में कत्था घिसकर या नींबू का रस पिलावे।

मात्रा—बीज १/४-१/२ र०, तैल १/४-१ बूंद मक्खन के साथ।

१०२ नागदन्ती

नागदन्ती कटुस्तिक्ता रूक्षा वातकफापहा। मेधाकृद्विषदोषघ्नी पाचनो शोथनाशिनी॥
गुल्मशूलोदरव्याधिकुष्ठदोषनिकृन्तनी॥ (रा० नि०)

सं०—हस्तिदन्ती (च० सू० अ० १), नागदन्ती (च० वि० अ० ८)। **हि०**—हकुम, पुतेर, पुथरी, चुक। **म०**—घणसर। **बं०**—बरागाच्छ। **ने०**—अच। **ते०**—भुतन् कुसुम। **ले०**—*Croton oblongifolius, Roxb.* (क्रौटन् ऑब्लोंगिफोलिअस्, राक्स.)। Fam. Euphorbiaceae (युफोर्बिएसी)।

यह प्रायः समस्त भारत में विशेषकर दक्षिण कोंकण, लंका, बंगाल, विहार एवं बर्मा में होता है। इसका वृक्ष-छोटे आकार का तथा दूर से देखने पर आम की तरह दिखाई देता है। **मूलस्तम्भ**—सीधा एवं छाल चिकनी तथा राख के रङ्ग की होती है। **पत्ते**—६-१२ इञ्च लम्बे, सवृन्त, चिमड़े, एकान्तर तथा शाखाओं पर समूहबद्ध, दन्तुर, आयताकार या अण्डाकार तथा चिकने होते हैं। **पुष्प**-एकलिङ्ग, हलके हरे रङ्ग के, ५-१२ इञ्च लम्बी मंजरियों में आते हैं। **फल**—गोल, मांसल, ·४५ इन्च बड़े एवं ६ धारियों से युक्त होते हैं। **बीज**—चिकने और भूरे रंग के होते हैं। **मूल**—ऐंठी हुई एवं कुछ चिपटी होती है। इसकी छाल मोटी, खुरदरी, भूरे रङ्ग की एवं अन्दर से पीली एवं उस पर कुछ भूरे रङ्ग के धब्बे होते हैं। मूलत्वक् का स्वाद कपूर की तरह तीता एवं सुगन्धयुक्त होता है। इसकी मूलत्वक्, पत्र एवं बीजों का चिकित्सा में उपयोग किया जाता है।

गुण और प्रयोग—इसकी मूलत्वक् शोथघ्न, ज्वरघ्न, रेचक, शिरोविरेचक एवं विषनाशक है।

(१) तीव्र शोथयुक्त आभ्यन्तर विकार (Acute inflammatory conditions) जैसे—न्युमोनिया, फुफ्फुसावरण शोथ, अण्डशोथ, यकृत शोथ, फोड़ा तथा गलका आदि अवस्थाओं में

इनको निर्गुण्डी तथा करञ्ज के साथ देने से लाभ होता है। इनमें इसका बाह्य लेप भी करते हैं। इसकी अधिक मात्रा से सिवाय विरेचन के कोई अन्य तीव्र परिणाम नहीं होता एवं विरेचन से लाभ ही रहता है।

(२) ज्वर में नवसादर के साथ इसका उपयोग करते हैं। इससे यकृत् की क्रिया ठीक होकर पित्त की शुद्धि होती है एवं दूषित पित्त शौच द्वारा निकल जाता है तथा यकृतदाह कम होता है। यकृत के शोथ में यह बहुत ही उत्तम औषध है।

(३) सर्पविष में इसको १ से २ तोला की मात्रा में हर दो घण्टे पर देते हैं। कोंकण में इसका बहुत प्रचार है।

मात्रा—१/८-१/२ तोला सुगन्धि द्रव्यों के साथ।

अथेन्द्रवारुणी महेन्द्रवारुणी च। (इन्द्रायण—बड़ी इन्द्रायण)। तयोर्नामगुणानाह

ऐन्द्रीन्द्रवारुणी चित्रा गवाक्षी च गवादनी।
वारुणी च पराऽप्युक्ता सा विशाला महाफला॥ २०३॥
श्वेतपुष्पा मृगाक्षी च मृगैर्वारुर्मृगादनी। गवादनीद्वयं तिक्तं पाके कटु सरं लघु॥२०४॥
वीर्योष्णं कामलापित्तकफप्लीहोदरापहम्॥ २०५॥
श्वासकासापहं कुष्ठगुल्मग्रन्थिव्रणप्रणुत्। प्रमेहमूढगर्भामगण्डामयविषापहम्॥ २०६॥

'इन्द्रायण' तथा 'बड़ी इन्द्रायण' के नाम और गुण—ऐन्द्री, इन्द्रवारुणी, चित्रा, गवाक्षी, गवादनी और वारुणी ये सब नाम 'इन्द्रायण' के हैं। दूसरी जो 'बड़ी इन्द्रायण' है, उसके नाम—विशाला, महाफला, श्वेतपुष्पा, मृगाक्षी, मृगैर्वारु और मृगादनी ये सब हैं। **इन्द्रायण-बड़ी इन्द्रायण ये दोनों**—स्वाद में तिक्त रस और विपाक में कटु रसयुक्त, सारक, लघु, उष्ण-वीर्य एवम् कामला, पित्त, कफ, प्लीहा, उदररोग, श्वास, कास, कुष्ठ, गुल्म, ग्रन्थि, व्रण, प्रमेह, मूढगर्भ, आमदोष, गण्डरोग (गलगण्ड, गण्डमाला आदि) तथा विष को दूर करने वाली होती हैं॥

नोट—उपर्युक्त इन्द्रवारुणी एवं विशाला के अतिरिक्त इन्द्रवारुणी का एक अन्य भी भेद पाया जाता है। ध. नि. ने भी ३ भेद लिखे हैं।

१०३ इन्द्रायण

हि०—इनारुन, इन्द्रायण, इन्दायन, इन्द्रारुन। **बं०**—राखालशा। **म०**—इन्द्रावण, कडुवृंदावन, कडु इन्द्रायण। **मा०**—तूसणबेल, तूसतूंबा, तूस। **गु०**—इन्द्रवरणा, इन्द्रावणा। **क०**—हामेक्के, हाबुमेक्के कायि। **ते०**—एतिपुच्छा, एटिपुच्चा, पुस्तकाय, पापर, एटि पुच्चकायि। **ता०**—पेयक्कुमुट्टी, पेदिकारि। कौड, तुम्बी, थोरूम्बा, तुम्बा। **फा०**—खुरबुज एतल्ख, हिन्दबानहे तल्ख्। **अ०**—हञल, अलकम। **अं०**—Colocynth (कोलोसिंथ)। **ले०**—*Citrullus colocynthis Schrad* (सिट्रयुलस् कोलोसिन्थिस् श्रॅड)। Fam. Cucurbitacae (कुकुर्बिटेसी)।

यह बङ्गाल, विहार, मध्यप्रदेश, पश्चिमोत्तर प्रदेश, मध्य और दक्षिण भारत तथा राजपूताना आदि अनेक प्रान्तों में पाई जाती है। रेतीली भूमि में अधिक उत्पन्न होती है तथा गङ्गा, यमुना सोन, सरयू आदि नदियों के दियारे में बाहुल्य से देखने में आती है। जहाँ यह अधिक रहती है वहाँ दूसरे अन्न की उत्पत्ति अधिक परिमाण में नहीं होती। इस कारण किसान लोग इसको

समूल नष्ट करने के प्रयत्न में लगे रहते हैं। यह एशिया एवं अफ्रीका के उष्ण प्रदेशों में भी पाई जाती है।

यह लता जाति की वनस्पति वर्षजीवी या बहुवर्षजीवी भी होती है। वर्षा ऋतु के सिवा सब ऋतुओं में मिलती है। वर्षा ऋतु में नदियों की बाढ़ के कारण रेतीली भूमि के पानी में डूबने से इसकी लता नष्ट हो जाती है, किन्तु जड़ सजीव रहती है और वही वर्षान्त के बाद अंकुरित होकर लता रूप में बढ़ करके वसन्त ऋतु तथा गरमी के दिनों में फूल, फल देती है। जिस भूमि में वर्षा का पानी इकट्ठा नहीं होता अथवा जहाँ नदियों की बाढ़ नहीं आती, वहां ऊँची भूमि वाली लता नष्ट नहीं होती, बल्कि वर्षा ऋतु में भी फूल-फल देती रहती है। फलों का संग्रह करना गरमी में ही अच्छा होता है, क्योंकि इसके फल कड़ी धूप के कारण खूब सूख जाते हैं और बिगड़ने नहीं पाते तथा बरसात में संग्रह किये हुए फल प्रायः सड़-गल कर खराब हो जाते हैं। इसकी लता बहुधा भूमि पर फैली एवं स्पर्श में अत्यन्त कर्कश होती है। इसके सूत्र (Tendrils) निःशाख या द्विशाख होते हैं। **पत्ते**-विषमवर्त्ती, २-२॥ इञ्च के घेरे में लम्बे-चौड़े, ऊपर से हलके हरे एवं नीचे से धूसर रंग के, स्पर्श में कर्कश, अनियमित कटे किनारे वाले तथा तरबूज के पत्तों के आकार वाले त्रिकोणाकार होते हैं। खेतों में रोपण की हुई इन्द्रायण के पत्ते बड़े एवं तरबूज के पत्तों के बराबर दिखलाई पड़ते हैं। **फूल**-पाँच पंखड़ी वाले, हलके पीले रङ्ग के तथा व्यास में ·५-·७ इञ्च होते हैं। **फल**-२-२॥ इञ्च के घेरे में गोलाकार, कच्ची अवस्था में हरे रंग के और पकने पर सन्तरे के समान पीले रंग के सफेद छींटेदार एवं चिकने होते हैं। फलों के भीतर किंचित् पीलापनयुक्त सफेद रङ्ग की, सूखी हुई सुषिर एवं अत्यन्त कड़वी गूदी होती है और गूदी के बीच छोटे-छोटे ¼-½ इञ्च बड़े, चिपटे, तरबूज के बीज के आकार वाले, हलके भूरे रङ्ग के **बीज**-होते हैं। फल का **छिलका**-कोमल होता है। मूल एवं बीज विरहित फल का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है। पाश्चात्य चिकित्सा में केवल अपक्व फल की सुखाई हुई मज्जा का व्यवहार करते हैं। इसके सभी अङ्ग कड़वे होते हैं तथा इसकी सूखी गर्द नाक एवं आंखों में जाने से अत्यन्त प्रक्षोभ करती है।

रासायनिक संगठन—इसकी फलमज्जा में एक कड़ुवा विरेचक क्षाराभ, विरेचक रालें एवं अल्प मात्रा में ग्लाइकोसाइड् पाया जाता है। ये सभी अनियत रूप (Amorphous) होते हैं। इनके अतिरिक्त अॅल्फा एलॅटेरिन् (a-elaterin) आदि अन्य द्रव्य जो होते हैं उनका कोई विशिष्ट प्रभाव नहीं होता। छिलका निकाले फल में बीजों की मात्रा ७५% होती है। बीजों में १५% तैल, अत्यल्प मात्रा में एक क्षाराभ, एक किण्व (Enzyme) एवं फाइटोस्टेरॉल् (Phytosterol) द्रव्य होते हैं।

इसके मूल में अॅल्फा एलॅटेरिन् (a-elaterin), सॅपोनिन् (Saponin) तथा कुछ राल पाई जाती है।

गुण और प्रयोग—इसकी फलमज्जा अत्यन्त कड़वी एवं तीव्र विरेचक है। इसकी १-२ रत्ती की मात्रा से २, ३ घंटे में पानी जैसे पतले दस्त होते हैं। इससे यद्यपि मूत्र की मात्रा भी बढ़ती है तथापि इस कार्य के लिये इसका प्रयोग नहीं करते क्योंकि इससे बहुत मरोड़ होती है। इसका अल्पमात्रा में शोषण होकर मूत्र एवं दुग्ध द्वारा उत्सर्ग होता है। इसकी अधिक मात्रा से विषैला परिणाम होकर मृत्यु होती है। इसकी विषैली मात्रा ०·६-१ ग्राम (४-८ रत्ती) एवं घातक मात्रा ४ ग्राम (३० रत्ती) है। एक स्त्री ने गर्भपात के लिए ६० रत्ती की मात्रा खाई किन्तु ५० घंटे में उसकी मृत्यु हुई।

इसकी जड़ विरेचक एवं शोथहर है। बीजों में विरेचक गुण नहीं है।

(१) कफप्रधान रोगों में इसका प्रयोग करते हैं। इससे स्रोतोवरोध दूर होता है। आमवात, संधिशोथ, जलोदर, कामला, यकृद्दाल्युदर, प्लीहोदर तथा तीव्र विबन्ध में इसकी जड़ का चूर्ण सोंठ एवं गुड़ के साथ देते हैं। पाश्चात्य चिकित्सा में प्रयुक्त एक्स्ट्रॅक्टम कोलोसिन्थिडिस् कम्पोजिटम् (Extractum Colocynthidis Compositum) का भी व्यवहार किया जा सकता है। अनार्तव में मूल का उपयोग करते हैं।

(२) इसकी जड़ को नूतन शोथ पर लेप करते हैं। स्तनशोथ तथा बच्चों के उदर आदि पर इसको जल में घिस कर लगाते हैं।

(३) इसके बीजों के तैल का उपयोग बाल काले रहने के लिये करते हैं।

विष चिकित्सा—कषाय द्रव्य (Dil. Tannic acid solution) से आमाशय प्रक्षालन के पश्चात् दुग्ध पिलाना चाहिये।

मात्रा—फलचूर्ण १-२½ रत्ती; मूलचूर्ण १-३ माशा।

१०४ इन्द्रायण भेद

हि०-आकुरा। **म०**-विसलंबी। **बं०**-गोमुक। **गु०**-कोठिबन। **पं०**-कचरी। **ले०**-*Cucumis trigonus, Roxb.* (कुकुमिस् ट्राइगोनस्, रॉक्स.)। Fam. Cucurbitaceae (कुकुर्बिटेसी)।

यह भारतवर्ष के प्रायः सब प्रान्तों में खुली हुई शुष्क जगहों में कहीं न कहीं पायी जाती है।

यह लता जातिकी वनौषधि प्रसरणशील एवं स्पर्श में कर्कश होती है। इसमें तंतु (Tendrils) निःशाख होते हैं। यद्यपि इसके लता पत्र नष्ट हो जाते हैं परन्तु इसकी जड़ भूमि के भीतर जीवित रहती है। समय आने पर उसी जड़ में से अंकुर निकल कर लता रूप में परिणत होता है। **पत्ते**-स्पर्श में कर्कश, १-२ इञ्च लम्बे तथा चौड़े (कभी-कभी और बड़े), गोलाकार किन्तु पांच से सात भागों में विभक्त रहते हैं और प्रत्येक भाग किंचित् लम्बाई युक्त गोलाकार, अग्र पर गोल और कुछ दंतुर सा होता है। **पुष्प**-पीले रंग के और व्यास में ½ इञ्च बड़े होते हैं। पुरुष जाति के फूल गुच्छों में और स्त्री जाति के फूल एक-एक करके आते हैं। **फल**-चिकने तरबूज के आकारवाले गोलाकार, किंचित् त्रिकोणाकार, १॥ इञ्च लम्बे और १। इञ्च मोटे तथा १० हरी रेखाओं से युक्त होते हैं। पकने पर ये रेखाएं हलके पीले रंग की हो जाती हैं। इसकी मज्जा कड़ुवी होती है। **बीज**-श्वेत एवं दीर्घ वृत्ताभ होते हैं।

रासायनिक संगठन—इसके फल में कोलोसिन्थिन (Colocynthin) या तत्सम पदार्थ पाया जाता है। बीजों से निकाला तेल जलाने के काम आता है।

गुण और प्रयोग—इन्द्रायण के स्थान पर इसका उपयोग किया जाता है। इसकी मज्जा कड़ुवी तथा तीव्र विरेचक होती है। इसके मूल का क्वाथ सौम्य विरेचक होता है। इसके बीज शीतल, ग्राही तथा पित्त विकार में उपयोगी होते हैं।

१०५ विशाला (महाकाल, इन्द्रायण भेद)

सं०-विशाला, महाकाल। **हि०**-लाल इन्द्रायण, महुरार, महर। **म०**-कौंडल, काकतोंडि, कवंडल। **गु०**-राता इन्द्रायणां। **बं**-माकाल। **ता०**-कुरट्टै। **ते०**-अभ्वरगुदं। **क०**-कालेमंदलि। **अ०**-हंजले-अहमर। **फा०**-हंजले सुर्ख। **ले०**-*Trichosanthes palmata, Roxb.* (ट्राइकोसॅन्थिस् पामेटा, रॉक्स)। Fam. Cucurbitaceae (कुकुर्बिटेसी)।

इसकी विशाल आरोही लता झाडियों पर फैली हुई अथवा ऊँचे वृक्षों पर चढ़ी हुई पाई जाती है। शाखाएं लम्बी तथा नीचे की ओर लटकी हुई रहती हैं। सूत्र (Tendrils) २–५ शाखाओं वाले होते हैं। **पत्ते**–२½–५ इञ्च लम्बे तथा उतने ही चौड़े, दन्तुर, प्रायः पाणिवत् खण्डित, खण्ड ३–५ एवं प्रायः अधर तल पर फैली हुई गाढे रंग की गोल ग्रन्थियों से युक्त होते हैं। **पुष्प**–श्वेत एवं व्यास में २½–३ इञ्च होते हैं। **फल**–१½–२ इञ्च व्यास के गोल या दीर्घ वृत्ताभ, पकने पर लाल रंग के एवं १० नारंगी रंग की पतली धारियों से युक्त होता है। फल का छिलका मोटा होता है एवं मज्जा कृष्णाभ हरित होती है। **बीज**–दीर्घ वृत्ताभ एवं चिकने होते हैं।

इसकी जड़ एवं मूल का चिकित्सा में उपयोग किया जाता है।

रायायनिक संगठन—इसमें एक ट्राइकोसेन्थिन् (Trichosanthin) नामक कडवा द्रव्य पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—इसकी फलत्वक् वामक किन्तु अल्प मात्रा में कफनिःसारक है। मज्जा भेदन है। मूल श्वयथुहर एवं ज्वरहर है। यद्यपि जंगली जाति के फल तीव्र विरेचक होते हैं किन्तु रोपित विशाला के फल पकाकर खाने योग्य हो जाते हैं।

तमक श्वास, डिफ्थीरिया एवं गले के शोथयुक्त विकार तथा श्वासनलिका-शोथ में कफ चिपचिपा होकर श्वासावरोध होता है तब इसके फलत्वक् या मूल की छाल को थोड़ा सा चिलम में रख कर धूम्रपान कराते हैं जिससे वमन होकर कफ निकलने लगता है। कभी-कभी रक्त भी गिरता है। इससे श्वासावरोध कम होता है एवं गले की सूजन भी कम होती हैं। फुफ्फुस-शोथ में मूलत्वक् का क्वाथ देने से ज्वर एवं श्वासावरोध कम होता है।

व्रणशोथ पर इसकी जड़ घिस कर लगाते हैं। स्तनशोथ, गलका, कार्बंकल आदि फोड़े पर इन्द्रायण की जड़ के साथ इसकी जड़ को शीतल जल में घिस कर मोटा लेप करते हैं। इसके फल, से सिद्ध गरी का तेल कर्णस्राव में डालते हैं तथा शिरःशूल एवं प्रतिश्याय में प्रयोग करते हैं।

मात्रा—फलत्वक् ½–१ र० दिन में ३ बार।

अथ नीली [नील]। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

नीली तु नीलिनी तूणी काला दोला च नीलिका।
रञ्जनी श्रीफली तुच्छा ग्रामीणा मधुपर्णिका ॥ २०७ ॥
क्लीतका कालकेशी च नीलपुष्पा च सा स्मृता।
नीलिनी रेचनी तिक्ता केश्या मोहभ्रमापहा ॥ २०८ ॥
उष्णा हन्त्युदरप्लीहवातरक्तकफानिलान्। आमवातमुदावर्त्तं मदं च विषमुद्धतम् ॥ २०९ ॥

'नील' के नाम तथा गुण—नीली, नीलिनी, तूणी, काला, दोला, नीलिका, रञ्जनी, श्रीफली, तुच्छा, ग्रामीणा, मधुपर्णिका, क्लीतका, कालकेशी और नीलपुष्पा ये सब नाम 'नील' के हैं। नील–तिक्त रसयुक्त, रेचक, बालों के लिये हितकर, उष्णवीर्य, एवम् मोह, भ्रम, उदररोग, प्लीहा, वातरक्त, कफ, वायु, आमवात, उदावर्त्त, मदरोग और उग्र विष को दूर करने वाली होती है॥

१०६ नील

हिं०–नीली, नीली वृक्ष, लील। **म०**–गुली, नील। **बं०**–नील। **मा०**–लील। **गु०**–गली। **क०**–नीली। **ता०**–अवरि। **ते०**–निली चेट्टु, अविरि। **फा०**–नील, नीलज, हिमामजनुन। **अ०**–नीलज, वस्मा। **अं०**–Indigo (इण्डीगो)। **लै०**–*Indigofera tinctoria Linn.* (इण्डीगोफेरा टिङ्क्टोरिआ, लिन.)। Fam. Leguminosae (लेग्युमिनोसी)।

पहले इस देश के प्रायः सब प्रान्तों में नील रङ्ग के लिये नीलहे साहेब लोग इसकी खेती करते थे। किन्तु इस समय कृत्रिम नील रङ्ग के आने से इसकी खेती प्रायः नष्ट ही हो गयी है।

इसका क्षुप–४ से ६ फीट तक ऊँचा होता है। **शाखाएं**–पतली, दुर्बल, कोणदार, अल्परोमयुक्त एवं फैली हुई होती हैं। **पत्ते**–असम पक्षवत् संयुक्त पत्र होते हैं। **पत्रक**–३-६ जोड़े, शरपुंखा के समान, अंडाकार या अंडाकार लट्वाकार, ०·५–०·९ इञ्च लंबे, पतले तथा कालापन लिये हुए हरे रंग के होते हैं। तोड़ने से इसके पत्ते सीधे टूटते हैं। **पुष्प**–पतली पत्रकोणज मंजरियों में हलके नीलाभ गुलाबी रंग के आते हैं। **फलियाँ**–पतली एक इञ्च तक लंबी होती हैं, जिनमें ८ से १२ तक बीज होते हैं। इसकी कई अन्य जातियाँ होती हैं। इसकी जड़, पत्र, बीज तथा नील रंग का चिकित्सा में उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसके पौधों को सड़ा करके एक इण्डिकन् (Indican) नामक ग्लूकोसाईड् प्राप्त किया जाता है। इसके पौधे से ५०% तक नील प्राप्त किया जाता है।

गुण और प्रयोग—नील रंग का बाह्यलेप दाहशामक, व्रणरोपण, त्वग्दोषहर, केशवर्धक एवं केशरंजक है।

यह विषघ्न, यकृदुत्तेजक, शामक, विरेचन, अल्प मूत्रजनन, कासहर एवं कृमिघ्न है। अधिक मात्रा से पतले दस्त होते हैं। किन्तु अल्प मात्रा से इससे शौच साफ होता है। अन्य गुण गौण हैं। इसकी जड़ में भी यही गुण कम मात्रा में पाये जाते हैं। पत्तों में जड़ की अपेक्षा और कम गुण होता है।

(१) यकृत् एवं प्लीहा वृद्धि तथा जलोदर में मूल का घन देते हैं। अर्श में इसके साथ-साथ नील तथा पत्तों का लेप भी करते हैं। इसका उपयोग कुकास तथा न्युमोनिया में भी होता है।

(२) अपस्मार तथा लघु वातविकारों में नील देते हैं।

(३) पागल कुत्ता काटने पर इसका स्वरस २ औंस की मात्रा में पिलाते हैं तथा दंशस्थान पर पत्तों का लेप करते हैं। इतनी अधिक मात्रा से कुछ शिरःशूल तथा विरेचन होता है। यह संखिया के विष में भी उपयोगी है।

(४) त्वचा के विकार में नील का बहुत अधिक प्रयोग कराते हैं। दग्धव्रण एवं जीर्णव्रण आदि में इसका लेप करने से व्रण जल्दी अच्छे होते हैं। खिजाबों में पत्तों का उपयोग किया जाता है। विषैले जन्तुओं के काटने पर इसका लेप उपयोगी है।

मात्रा—नील ½–र०; मूल का घन १–२ र०; क्वाथ ५–१० तो०।

अथ शरपुङ्खः [सरफोंका]। तस्य नामलक्षणगुणानाह

शरपुङ्खः प्लीहशत्रुर्नीलीवृक्षाकृतिश्च सः। शरपुङ्खो यकृत्प्लीहगुल्मव्रणविषापहः।
तिक्तः कषायः कासास्रश्वासज्वरहरो लघुः ॥ २१० ॥

सरफोंका के नाम तथा गुण–शरपुंख, प्लीहशत्रु और नीलीवृक्षाकृति (नीलवृक्ष के समान आकारवाला) ये सब नाम 'सरफोंका' के हैं। **सरफोंका**–तिक्त तथा कषाय रसयुक्त, लघु एवम्–यकृत्, प्लीहा, गुल्म, व्रण, विष, कास, रक्तविकार, श्वास और ज्वर को दूर करता है॥ २१० ॥

१०७ सरफोंका।

हि०–सरफोंका, सरफोका। **बं०**–वननील। **म०**–उन्हाली। **गु०**–शरपंखो। **ते०**–तेल्ल वेंपलि, मुलु बेम्पली। **क०**–फंकी। **पं०**–झोजरु। **ता०**–काटकोरिनिल्। **ले०**–*Tephrosia purpurea, Linn.* (टेफ्रोसिया पर्पुरिया, लिन.)। Fam. Leguminosae (लेग्युमिनोसी)।

सरफोंका-क्षुपजाति की वनस्पति प्रायः सब प्रान्तों में आपही आप उत्पन्न होती है। यह हिमालय में ६००० फीट की ऊँचाई तक पाई जाती है। इसका **क्षुप**–लगभग २–२॥ फीट ऊँचा, झाड़दार, सीधा एवं बहुत शाखाओं से युक्त होता है। कांड चिकने या किंचित् रोमश होते हैं। **पत्ते**–३–६ इञ्च लंबे होते हैं। **पत्रक**-सख्या में १३–२१, ¾–१ इञ्च लंबे, नील या मेथी के पत्तों के समान आयताकार, नताग्र या रोमशाग्र एवं ऊपर से चिकने किन्तु नीचे से अस्पष्ट मृदु रोमश होते हैं। पत्रक को तोड़ने से वह बाण के पुंख के आकार के समान टूटता है इसलिये इसे शरपुंखा कहा जाता है। **फूल**–¾ इञ्च लंबे; सवृन्त, लाल या जामुनी एवं ५ इञ्च लंबी मंजरियों में निकले रहते हैं। **फली**–१½–२ इञ्च लंबी, अल्प मुड़ी हुई, ६–१० बीजों से युक्त एवं अन्ततः चिकनी होती है। यह बरसात में अधिक होता है।

इसकी जड़ एवं पंचांग का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है।

नोट—इसके एक अन्य भेद श्वेत शरपुंखा का भी उल्लेख है जो रसायन आदि में उपयोगी होती है। T. villosa Pers. (टे० विलोसा पर्स.) नामक एक भेद पाया जाता है जिसका क्षुप छोटा, जमीन पर फैला हुआ एवं श्वेतरोम से आवृत रहता है। संभवतः यही शास्त्रीय श्वेत शरपुंखा है।

रासायनिक संगठन—इसकी जड़ में टेफ्रोसिन् (Tephrosin), डेग्युलिन् (Deguelin), आइसो टेफ्रोसिन् (Isotephrosin), रोटेनॉन् (Rotenone) आदि द्रव्य पाये जाते हैं। पत्तों में करीब २% ओसिरिटिन् (Osyritin) नामक ग्लूकोसाइड् होता है। पंचांग में करीब ६% राख निकलती है जिसमें थोड़ी मात्रा में मैंगनीज् रहता है।

गुण और प्रयोग—यह उष्ण, कडुवा, आनुलोमिक, पित्तसारक, मूत्रजनक, कफघ्न, विषहर, बल्य, कृमिघ्न एवं रक्तशोधन है। इसकी जड़ का उपयोग आध्मान, कुपचन, जीर्ण अतिसार, कास, पैत्तिक ज्वर, यकृत-प्लीहवृद्धि एवं रक्तस्राव में किया जाता है।

(१) यकृत एवं प्लीहावृद्धि में इसकी जड़ को हरीतकी के साथ देने में अच्छा लाभ होता है। गुल्म में पंचांग का क्षार ४ माशे हरीतकी के साथ देते हैं। अर्श में तक्र के साथ जड़ को देते हैं। रक्तस्राव में तण्डुलांबु के साथ इसको देते हैं।

(२) कास में मूल का धूम्रपान कराया जाता है।

(३) उदरशुल में जड़ की ताजी छाल मिरिच के साथ पीसकर गोली बनाकर देते हैं।

(४) खुजली में बीजों का लेप या बीजतैल का लेप उपयोगी है। गंडमाला में मूल का लेप किया जाता है।

मात्रा—मूलचूर्ण ३–६ माशा; स्वरस १–२ तोला; क्षार १–२ माशा।

अथ वृद्धदारुकः (विधारा)। तस्य नामगुणानाह

[¹वृद्धदारुक आवेगी छागान्त्री वृष्यगन्धिका। वृद्धदारुः कषायोष्णः कटुस्तिक्तो रसायनः॥ वृष्यो वातामवातार्शःशोथमेहकफप्रणुत्। शुक्रायुर्बलमेधाऽग्निस्वरकान्तिकरः सरः॥ २॥]

१. अयं कोष्ठस्थः पाठः क्वचित्कस्तथाऽप्युपयोगित्वादत्रोल्लिखितः।

'विधारा' के नाम तथा गुण—वृद्धादारुक, आवेगी, छागान्त्री और वृष्यगन्धिका ये नाम 'विधारा' के हैं। **विधारा**–कषाय, कटु तथा तिक्त रसयुक्त, रसायन, वृष्य (वीर्यवर्धक), सारक, उष्णवीर्य तथा शुक्र आयु, बल, मेधाशक्ति, जठराग्नि, स्वर और कान्ति को उत्पन्न करने वाला, एवम् वायु, आमवात, अर्श, शोथ, प्रमेह तथा कफ का नाशक है॥ १–२॥

विधारा भी एक संदिग्ध द्रव्य है। कुछ विद्वान् घावपत्ता को विधारा' मानते हैं। ठा० बलवन्तसिंहजी के मत से आइपोमिया पेटलॉएडिआ (Ipomoea petaloidea, Chois.) या कम से कम इसी कुल की कोई लता विधारा हो सकती है। श्री डा० देसाई ने आइपोमिआ बाइलोबा (Ipomoea biloba, Forsk.) की जड़ को वृद्धदारक माना है। अष्टांगसंग्रह की टीका में इसका परिचय इस प्रकार है।

त्रिकोणकाण्डा सुबहुप्रताना फलेषु पीता कुसुमेषु रक्ता।
पत्रैः सदुग्धैः मृदुरोमवद्भिस्ताम्बूलतुल्यैर्घनमूलकन्दैः॥

उपर्युक्त वर्णन से यह निश्चित ही मालूम होता है कि विधारा अवश्य ही त्रिवृत कुल की ही लता है। यहाँ पर उपर्युक्त तीनों का संक्षेप में वर्णन किया गया है।

१०८ वृद्धदारक (घावपत्ता)

सं०–वृद्धदारु। **हि०**–समुद्रशोख, घावपत्ता, विधारा। **म०**–समुद्रशोक। **गु०**–समुद्रशोष, वरधारो। **बं०**–बिजताड़, बिद्धताडक। **ते०**–समुद्रपाल। **ता०**–समुद्रपच्चै। **अं०**–Elephant Creeper)। **ले०**–*Argyreia speciosa, Sweet.* (आर्जीरिआ स्पेसिओजा, स्वीट.)। Fam. Convolvulaceae (कन्वोल्व्युलेसी)।

यह पश्चिमी शुष्क प्रदेशों को छोड़कर भारतवर्ष के सब भागों में १००० फीट की ऊँचाई तक पाई जाती है।

इसकी **लता**–बड़ी एवं वृक्षों पर फैली हुई होती है। नवीन शाखाओं पर श्वेताभ या तूल रोमश सघन-आवरण रहता है। **पत्ते**–लट्वाकार, हृद्वत्, व्यास में ६–१२ इञ्च, कुण्ठित या तीक्ष्णाग्र, ऊपरी पृष्ठ पर चिकने, अधः पृष्ठ पर मखमली श्वेताभ रोमावरण से युक्त एवं ३–९ इञ्च लम्बे पर्ण वृन्त से युक्त होते हैं। **पुष्प**–घंटाकृति, २–३ इञ्च बड़े, बाहर से सफेद और तूल रोमश एवं भीतर से गहरे गुलाबी या जामुनी रंग के होते हैं। **फल**–लम्बगोल, ½ इञ्च बड़े, कच्ची अवस्था में हलके हरिताभ तथा पकने पर पीताभ भूरे रंग के होते हैं। **बीज**–भूरापन लिये सफेद रंग के तथा ३ धार वाले होते हैं।

इसके काण्ड के टुकड़े एवं जड़ का विधारा नाम से प्रयोग होता है। इसके पत्तों का एवं नई लता की जड़ का भी चिकित्सा में व्यवहार होता है।

गुण और प्रयोग—इसकी जड़ को ३–६ माशा देने से दस्त साफ होता है। बंगाल में पौष्टिक रूप में इसकी जड़ का प्रयोग करते हैं। आमवात तथा वात विकारों में इसकी जड़ से लाभ होता है। आमवात में इसके पत्तों को पीस कर गरम करके संधिशोथ पर बांधते हैं। व्रण-शोथ पर इसके पत्तों को बांधते हैं।

असगंध एवं विधारे का सम भाग चूर्ण ३ माशा दूध के साथ सेवन से श्वेत प्रदर में लाभ होता है।

मात्रा—मूल चूर्ण १॥–३ माशा।

१०९ वृद्धदारु (दोपातीलता)

सं०—वृद्धदारु, मर्यादवल्ली[1]। **हि०**—दोपातीलता, विधारा। **बं०**—छागलखुरी। **म०**—मर्यादवेल, मर्दावेल। **गु०**—मरजादवेल। **क०, ता०**—अडुंबु। **ले०**—*Ipomoea biloba, Forsk.* (आइपोमिआ बाइलोबा फॉर.)। Fam. Convolvulaceae (कन्वोल्व्युलेसी)।

यह भारतवर्ष के सभी भागों में, विशेषतया समुद्र के किनारे रेतीली भूमि में अधिक पाई जाती है।

इसकी **लता**—बहुवर्षायु तथा विस्तृत फैलने वाली होती है। काण्ड—रेतों पर फैले हुये, नये रहने पर मांसल एवं जामुनी रंग के तथा पुराने होने पर रस्सी की तरह हो जाते हैं। **पत्ते**—मोटे १·५–२·५ इञ्च लंबे तथा प्रायः उससे अधिक चौड़े एवं अग्र से द्विविभक्त होने के कारण कचनार की तरह दिखलाई देते हैं। पत्ते बकरे के खुर सदृश दिखलाई देने के कारण इसे छागलखुरी कहते हैं। आधार की तरफ पत्ते स्फानवत् होते हैं तथा वहाँ दो बड़ी रंगीन ग्रंथियाँ होती हैं। **पुष्प**—बड़े तथा रक्ताभ जामुनी रंग के होते हैं। **फल**—आधा इञ्च बड़े, अंडाकार तथा चिकने होते हैं। **बीज**—मृदुरोमश होते हैं। **मूल**—बड़ा लंबा, काष्ठमय, मजबूत, ऐंठा हुआ, करीब ½ इञ्च मोटा तथा अनेक उपमूलों से युक्त रहता है। इसकी जड़ एवं पत्तों का चिकित्सा में व्यवहार करते हैं।

रासायनिक संगठन—इसके पञ्चांग में राख ७·२७%, अल्प मात्रा में उड़नशील तैल, बहुत लुआबदार पदार्थ तथा समुद्र के अनेक क्षार एवं स्नेहन पदार्थ रहते हैं। जड़ में गाढ़ा पीले रंग का दूध, पिष्ट पदार्थ एवं क्षाराभ पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—इसके पत्ते शोथहर, वेदनास्थापक, कासहर, एवं मूत्रजनक हैं। मूल अनन्तमूल की तरह रसायन है तथा इसका सुखाया हुआ स्वरस रेचक होता है।

(१) आमवात तथा संधिशोथ में इसकी जड़ देते हैं तथा पत्तों को पीसकर लेप करते हैं।

(२) जलोदर, उदरशूल तथा कास में इसका पत्र-स्वरस पिलाते हैं।

(३) शोथ, बद, जलशोथ, शिरःशूल एवं मोच आदि में पत्तों को पीस कर बांधते हैं।

मात्रा—पत्रस्वरस ½–१ तो०, शुष्कमूल ¼–½ तो०, सुखाया हुआ मूल स्वरस ५–६ र०।

११० वृद्धदारु

ले०—*Ipomoea petaloidea, Chois.* (आइपोमिआ पेटलॉयडिआ कॉय.)। Fam. Convolvulaceae (कन्वोल्व्युलेसी)।

इसकी लता बहुत विस्तृत तथा झाड़दार होती है। **काण्ड**—चिकना तथा उस पर २–४ उभरी हुई रेखायें अथवा पंख सदृश धारायें होती हैं। **पत्ते**—नीचे के लट्वाकार, प्रायः ७ इञ्च × ५·५ इञ्च बड़े, २–३ इञ्च के वृन्त से युक्त और ऊपर में लट्वाकार–प्रासवत् से प्रासवत्–आयताकार, १·५–३ इञ्च एवं चिकने तथा रक्ताभ एवं दृढ़ मध्यपर्शुक वाले होते हैं। पत्राग्र—द्विविभक्त या कुण्ठित रोमश होता है। **पुष्प**—न्यूनाधिक पीत (कभी-कभी श्वेत भी) होते हैं। **फल**—आधा इञ्च अंडाकार होता है। **बीज**—छोटे तथा सूक्ष्म लहरदार होते हैं।

इसके काण्ड एवं मूल के टुकड़े विधारा के नाम से प्रयोग में लाये जाते हैं।

---

१. मर्यादवल्लिका शीता ग्राहिणी सारिका गुरुः। पाककाले चोष्णा स्याद्वातला गर्भकारिणी॥ विसूचिकां च शूलं च वान्तिं चामं च नाशयेत्॥ (नि० र०)

अथ यवासो दुरालभा च। [जवासा-धमासा] तयोर्नामानि गुणांश्चाह

यासो यवासो दुःस्पर्शो धन्वयासः कुनाशकः। दुरालभा दुरालम्भा समुद्रान्ता च रोदिनी॥
गान्धारी कच्छुराऽनन्ता कषाया हरिविग्रहा। यासः स्वादुः सरस्तिक्तस्तुवरः शीतलो लघुः॥
कफमेदोमदभ्रान्तिपित्तासृक्कुष्ठकासजित्। तृष्णाविसर्पवातास्रवमिज्वरहरः स्मृतः॥२१३॥
यवासस्य गुणैस्तुल्या बुधैरुक्ता दुरालभा॥ २१४॥

'जवासा' और 'धमासा' के नाम तथा गुण—यास, यवास, दुःस्पर्श, धन्वयास और कुनाशक ये नाम 'जवासा' के हैं। दुरालभा, दुरालम्भा, समुद्रान्ता, रोदिनी, गान्धारी, कच्छुरा, अनन्ता, कषाया और हरिविग्रहा इतने नाम 'धमासा' के हैं। **जवासा**—मधुर, तिक्त और कषाय रसयुक्त, सारक, शीतवीर्य, लघु एवं कफ, मेद, मदरोग, भ्रान्ति, रक्तपित्त, कुष्ठ, कास, तृष्णा, विसर्प, वातरक्त, वमन और ज्वर को दूर करता है। **धमासा**—इसे पण्डितों ने 'जवासा' के समान गुणवाला बताया है। यवासा (जवासा) तथा दुरालभा (धमासा) ये दो भिन्न द्रव्य हैं। गुणों में समानता होने के कारण कहीं-कहीं एक दूसरे के स्थान में इनका प्रयोग हुआ है। धन्वयास (मरुभूमि में होने वाला यवास) यह दुरालभा का पर्याय अधिक उचित है॥ २११–२१४॥

१११ जवासा

हि०, म०—जवासा, यवासा। **बं०**—जबसा। **गु०**—जवासो। **फा०**—खारेशुतुर, शुतुरखार। **अ०**—अल्हुल, हाज्। **अं०**—Arabian or Persian Manna Plant (अरेबियन या पर्शियन मन्नाप्लांट)। **ले०**—*Alhagi camelorum, Fisch.* (अल्हागी कॅमेलोरम् फिश्.)। Fam. Leguminosae (लेग्युमिनोसी)।

यह दक्षिण महाराष्ट्र, गुजरात, सिंध, बलूचिस्तान, पंजाब, उत्तरप्रदेश तथा राजपुताना में होता है। यह शुष्क ऊसर भूमि में या नदियों के किनारे पाया जाता है। ग्रीष्म में जब अन्य वनस्पतियाँ सूख जाती हैं तब यह हरा-भरा रहता है।

इसके **गुल्म**—छोटे-छोटे १–२॥ हाथ ऊँचे, अनेक शाखाओं से युक्त कण्टिदार होते हैं। **पत्ते**—छोटे-छोटे, चिकने, आयताकार, रोमश कुंठिताग्र तथा नीचे की ओर झुके हुए होते हैं। पत्रकोणों में सामान्य शाखाओं के अतिरिक्त प्रायः १½ इञ्च तक लम्बे कांटे होते हैं। **फूल**—वसन्त में लाल रंग के फूल १½ इञ्च लम्बी मंजरियों में आते हैं। **फली**—एक इञ्च लम्बी, सीधी या टेढ़ी तथा मालाकार होती है।

यास शर्करा[1]—यवासा के क्षुप से एक प्रकार का निर्यास निकल कर कुछ रक्ताभ या भूरापन लिये सफेद रंग के दानों के रूप में जम जाता है उसे यूनानी में तुरंजबीन नाम से बहुत व्यवहार में लाते हैं। ऐसा कहा जाता है कि यह फारस से संगृहीत होकर भारत में आती है। भारतीय पौधों से यह शर्करा प्राप्त होती है या नहीं इसकी जानकारी नहीं है। डल्हण ने 'यवासक्वाथघनीभावात्-शर्करा कृता यवासशर्करा' लिखा है अर्थात् इसके घनसत्त्व को वह यासशर्करा मानते हैं।

रासायनिक संगठन—इसकी शर्करा में कई प्रकार की शर्करा जैसे इक्षुशर्करा २६·४%, इतर शर्करा (Invert sugar, 11·6%) एवं मेलिजिटोज (Melizitose 47·1%) पायी जाती है।

---

१. कषायमधुरा शीता सतिक्ता यासशर्करा। (च. सू. अ. २७)
यवासशर्करा मधुरकषाया तिक्तानुरसा श्लेष्महरा सरा च। (सु. सू. अ. ४५)

गुण और प्रयोग—यवासा-शीतवीर्य, कफघ्न, स्वेदजनन, मूत्रजनन, आनुलोमिक एवं पित्तहर है। इसका उपयोग प्रतिश्याय, कास, श्वास, ज्वर, रक्तपित्त, भ्रम, तृषा एवं अर्श में किया जाता है। ऊँट को यह खाने को देते हैं।

(१) मुलेठी एवं जवासे का मिश्रित घन क्वाथ कफज विकारों की प्रारम्भिक अवस्थाओं में बहुत लाभदायक है। इनमें इसका क्वाथ पीने को देते हैं तथा इसके बाष्प से धूपन कराते हैं जिससे कफ ढीला हो कर निकलने लगता है। तमक श्वास में इसका धूम्रपान लाभदायक है।

(२) अर्श में इसके आंतरिक प्रयोग के साथ इसके क्वाथ से धोते हैं या पंचांग का लेप करते हैं। आमवात में इससे सिद्ध तैल का बाह्य प्रयोग किया जाता है।

तुरंजबीन—यह कफहर, वृष्य, पित्तविरेचक एवं मृदु सारक है। बच्चों या मृदुकोष्ठ वालों के लिये सारक रूप में या अन्य सारक ओषधियों की शक्ति बढ़ाने के लिये यह प्रयोग में लाया जाता है।

मात्रा—क्वाथ ४–८ तोला; घनसत्व ४–७ रत्ती, यासशर्करा १–३ माशा।

११२ धमासा

हि०-धमासा, हिंगुआ, धमहर। बं०-दुरालभा। मा०-गु०-धमासो। म०-धमासा। पं०-धमाह, धमाहा। फा०-बादा वर्द। अ०-शुकाई। ले०-*Fagonia arabica Linn.* (फॅगोनिया अरेबिका लिन.)। Fam. Zygophyllaceae (झाइगोफाइलेसी)।

यह पंजाब, प० राजपुताना, दक्षिण, प० खानदेश, कछ, सिंध, बलूचिस्तान, वजीरिस्तान तथा पश्चिम में अफगानिस्तान तक पाया जाता है।

इसका **क्षुप**–फीके हरे रंग का अनेक शाखाओं वाला, छोटा फैला हुआ, १–३ फीट ऊँचा तथा तीक्ष्ण कांटेदार होता है। **पत्र**–विपरीत; पत्रक–१–३ इञ्च लम्बे, अखंड, रेखाकार दीर्घवृत्ताकार होते हैं। दो पत्र चार कांटे तथा एक पुष्प यह चक्राकार क्रम में एक साथ रहते हैं। **पुष्प**–पत्रकोण में फीके गुलाबी रंग के फूल आते हैं। **फल**–पांच खंड वाला तथा शीर्ष पर एक कांटा रहता है। घास के रंग के इसके टुकड़े बाजार में बिकते हैं। इसका स्वाद लुआबदार तथा जल में डालने पर ये चिपचिपे हो जाते हैं। इसके पंचांग का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है।

गुण और प्रयोग—धमासा शीतवीर्य, ज्वरहर, कफहर, दाहप्रशमन, तृष्णानिग्रहण, मूत्रजनन, कोथप्रशमन, एवं व्रणरोपण है।

अर्श, दाह, वमन, भ्रम, प्रलाप, विषमज्वर एवं रक्तपित्त[1] में इसके हिम का प्रयोग करते हैं। मसूरिका के प्रतिबंधन के लिये भी इसे देते है।

(१) ज्वर में आधे से ४ तोला चूर्ण का हिम पिलाते हैं तथा इसी हिम से शरीर भी पोछते हैं जिससे प्यास कम होती है तथा शरीर का दाह एवं कंडू कम होती है। कफज ज्वर में तथा गले और श्वसनसंस्थान के विकारों में इससे अच्छा लाभ होता है। इससे गले की खुश्की कम हो कर कफ निकलने लगता है। श्वास में धूम्रपान लाभदायक है। इसको ईख के रस के साथ उबाल कर अवलेह बनाते हैं जिसका गले तथा फुफ्फुसों के विकारों में अनुपान के रूप में प्रयोग करते हैं। इसकी गोली मुह में रखकर चूसते हैं।

(२) इसके क्वाथ से व्रण-प्रक्षालन करने से बिना पूय हुये व्रण जल्दी अच्छा होता है। मुखपाक में इसके क्वाथ से गण्डूष करने से लाभ होता है।

मात्रा—½–१ तोला हिम बना कर।

---

१. अनन्ता संग्राहकरक्तपित्तप्रशमनानाम् (च० सू० अ० २५)

अथ मुण्डी महामुण्डी च। तयोर्नामगुणानाह

मुण्डी भिक्षुरपि प्रोक्ता श्रावणी च तपोधना।
श्रवणाह्वा मुण्डतिका तथा श्रवणशीर्षका ॥ २१५ ॥
महाश्रावणिकाऽन्या तु सा स्मृता भूकदम्बिका।
कदम्बपुष्पिका च स्यादव्यथाऽतितपस्विनी ॥ २१६ ॥
मुण्डतिका कटुः पाके वीर्योष्णा मधुरा लघुः।
मेध्या गण्डापचीकृच्छ्रकृमियोन्यर्त्तिपाण्डुनुत् ॥ २१७ ॥
श्लीपदारुच्यपस्मारप्लीहमेदोगुदार्तिहृत्।
महामुण्डी च तत्तुल्या गुणैरुक्ता महर्षिभिः ॥ २१८ ॥

मुण्डी तथा महामुण्डी के नाम व गुण—मुण्डी, भिक्षु, श्रावणी, तपोधना, श्रवणाह्वा, मुण्डतिका और श्रवणशीर्षका इतने नाम 'मुण्डी' के हैं। महामुण्डी के नाम-महाश्रावणिका, भूकदम्बिका, कदम्बपुष्पिका, अव्यथा और अतितपस्विनी ये सब हैं। मुण्डी–विपाक में कटु, स्वाद में मधुर रसयुक्त, उष्णवीर्य, लघु, मेधा के लिये हितकर एवं गलगण्ड, अपची, मूत्रकृच्छ्र, कृमिरोग, योनिरोग, पाण्डु, श्लीपद, अरुची, अपस्मार (मिर्गी), प्लीहा, मेदरोग तथा गुदा सम्बन्धी पीड़ा (अर्श) को दूर करने वाली होती है। महामुण्डी–इसे महर्षियों ने गुणों में 'मुण्डी' के समान ही बतलाया है ॥ २१५–२१८ ॥

११३ मुण्डी

हि०–मुण्डी, गोरखमुण्डी। बं०–मुरमुरिया, छागल नादी। म०–मुण्डी, बरस बोडी। गु०–गोरखमुण्डी, बोडीयोकल्हार। ते०–बोडे सोर, बोडा तरपु। ता०–कोट्टक, कोट्टक करण्डई। मला०–मिरनगनी, अट्टकामन्नी। अ०–कमदर्युस्। फा०–रानदरूम्मी-तरख। ले०–*Sphaeranthus indicus Linn.* (स्फिरॅन्थस् इण्डिकस् लिन.)। Fam. Compositae (कॉम्पोझिटी)।

यह प्रसरजाति की वनौषधि भारतवर्ष के प्रायः सब गरम प्रान्तों में, हिमालय में कुमाऊं से सिकम ५००० फीट की ऊँचाई तक तथा आसाम, सिलहट एवं दक्षिण की ओर सिलोन तक पाई जाती है। जलाशयों के समीप जहाँ वर्षा का पानी इकट्ठा होकर शरद ऋतु में सूख गया हो, धान, जव, गेहूँ, चने आदि के खेतों में, चैत्र, वैशाख के महीने में बहुलता से देखने में आती है।

यह प्रतिवर्ष वर्षा के बाद जाड़े के दिनों में उत्पन्न होती है और बरसात का पानी पड़ने पर सड़-गल कर नष्ट हो जाती है। इसका क्षुप-सुगन्धित, अनेक शाखाओं से युक्त एक फुट तक ऊँचा होता है किन्तु डण्डियों के कोमल होने से प्रायः भूमि की ओर नत होकर प्रसररूप में १–२ फीट के घेरे में फैल जाता है। शाखायें–कोमल, किञ्चित रोमयुक्त तथा सपक्ष होती हैं। **पत्ते**–अवृन्त, आगे लट्वाकार या आगे प्रासवत्, दन्तुर, आधार की तरफ संकुचित होकर काण्ड सम्पृक्त, मृदुरोमश तथा १–२ इञ्च लम्बे होते हैं। क्षुण्डक–पत्राभिमुख, किरमिजीरंग के, विषमलिंग, संयुक्त, ·५–·७५ इञ्च लम्बे, व्यूहाक्ष दीर्घित और अधःपत्रावलि के पत्र रेखाकार तथा तीक्ष्णाग्र होते हैं।

इसके पंचांग का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है।

भेद—बंगाल तथा सिलहट की तरफ दलदल वाले स्थानों में स्फिरॅन्थस् अफ्रिकॅनस लिन S. africanus Linn.) नामक एक भेद पाया जाता है जिसमें काण्ड के ऊपर के पक्षों पर

रोम नहीं होते, पत्र १–३ इञ्च लम्बे, मुण्डक ¼–¾ इञ्च तथा अधःपत्रावलि के पत्र बहुत छोटे तथा तीक्ष्ण नहीं होते।

दक्षिण में मैसूर, त्रावनकोर की तरफ धान के खेतों में एक भेद स्फिरॅन्थस् ॲमेरन्थॉइडिस् (S. amaranthoides) पाया जाता है जिसमें काण्ड कभी-कभी छोटी उंगली बराबर मोटा किन्तु छोटा, शाखायें–८–१२ इञ्च, पत्ते–२–४ इञ्च लम्बे तथा मुण्डक ½–१ इञ्च बड़े होते हैं। संभवतः यह दूसरा भेद, **महामुण्डी** हो सकता है।

रासायनिक संगठन—इसमें स्फेरेन्थाईन (Sphaeranthine) नामक एक कडुवा क्षाराभ तथा ताजे पुष्पित पौधे में ·०२२% एक उड़नशील तैल पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—मुंडी दीपन, मूत्रजनन, आनुलोमिक, रक्तशोधक, रसायन, बल्य एवं कृमिघ्न है। इसकी जड़ एवं बीज कृमिघ्न हैं। पुष्प–रसायन, शीतल तथा बल्य हैं। फल या पंचांग मछलियों के लिये विषैला है। इसमें का तैल त्वचा एवं मूत्र द्वारा उत्सर्गित होता है।

(१) मूत्रेन्द्रिय विकार में इससे लाभ होता है। सम्पूर्ण मूत्र मार्ग का शोधन होकर बार-बार पेशाब होना कम होता है। परमा तथा जीर्ण अष्ठीला शोथ (Chronic Prostatitis) में इससे लाभ होता है। इसमें इसका अर्क भी देते हैं।

(२) त्वचा के रोगों में इसका लेप करते हैं तथा इसके क्वाथ को पिलाते हैं। वातरक्त में इसका चूर्ण मधु एवं घृत के साथ देते हैं तथा अनुपान में गुडूची क्वाथ पिलाते हैं। गात्र दौर्गन्ध्य में मुण्डीचूर्ण कांजी के साथ देते हैं। बार-बार फोड़े फुन्सी होने में इससे लाभ होता है।

(३) ग्रंथि, गण्डमाला, अपची, दौर्बल्य, श्लीपद, अर्श आदि जीर्ण रोगों में इसको अधिक देने से लाभ होता है। इनमें इसका स्वरस पिलाते हैं।

मात्रा—पुष्प चूर्ण १–२ माशा; स्वरस १–२ तोला।

अथापामार्गः [चिरचिरा]। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

अपामार्गस्तु शिखरी ह्यधःशल्यो मयूरकः।
मर्कटी दुर्ग्रहा चापि किणिही खरमञ्जरी ॥ २१९ ॥
अपामार्गः सरस्तीक्ष्णो दीपनस्तिक्तकः कटुः। पाचनो रोचनश्छर्दिकफमेदोऽनिलापहः।
निहन्ति हृद्रुजाध्मानार्शःकण्डूशूलोदरापचीः ॥ २२० ॥

'चिरचिरा' के नाम तथा गुण—अपामार्ग, शिखरी, अधःशल्य, मयूरक, मर्कटी, दुर्ग्रहा, किणिही, खरमञ्जरी इतने नाम 'चिरचिरा' के हैं। **चिरचिरा**–तिक्त तथा कटु रसयुक्त, सारक, तीक्ष्ण, अग्निदीपक, पाचक, रोचक (भोजन में रुचि उत्पन्न करनेवाला) एवं वमन, कफ, मेद, वायु, हृद्रोग, आध्मान (अफरा), अर्श, कण्डू, शूल, उदररोग और अपची को दूर करता है॥

११४ चिरचिरा।

हि०–लटजीरा, चिचिरी, चिरचिरा, चिचड़ा। **म०**–आघाड़ा। **बं०**–आपांग। **गु०**–अघेड़ो। **क०**–उत्तरणी। **ते०**–अपामार्गमु। **मा०**–आंधी झाड़ो, ओंगा। **ता०**–नायु रुवि। **मला०**–वलियकटलाडि। **फा०**–खारवाझ्गूनह। **अ०**–अत्कुमह। **अं०**–The Prickly-Chaff Flower (दी प्रिक्ली-चॅफ फ्लावर)। **ले०**–*Achyranthes aspera, Linn.* (एकिरेन्थिस् एस्पेरा लिन.)। **Fam. Amaranthaceae** (एमेरेन्थेसी)।

यह शहर या गाँव के बाहर बागों या जंगलों में बिना बोए ही उत्पन्न होता है। यह प्रायः भारतवर्ष के सब प्रान्तों में ३००० फीट तक पाया जाता है। इसका **क्षुप–स्वावलंबी**, १–३ फीट ऊँचा तथा शाखायें कुछ आरोहणशील एवं पर्वों के ऊपर मोटी होती हैं। **पत्ते**–चौलाई के पत्तों की तरह कुछ गोल, अंडाकार, नोकीले एवं १–५ इञ्च लंबे होते हैं। इसके पत्तों और कांड पर बहुत सूक्ष्म सफेद-सफेद रोम होते हैं। पुष्पदंड लगभग डेढ़ फुट तक लम्बा होता है उस पर कुछ लाल गुलाबी पीलापन लिये हुए फूल निकलते हैं। उसी दंड पर कांटेदार छोटे-छोटे फल उल्टे लगते हैं। ये कांटेदार फल कपड़े पर चिपट जाते हैं इसलिए कहीं-कहीं इसे 'कुत्ता' नाम से भी पुकारते हैं। जब फल पक जाते हैं तो इनके अन्दर से चावल निकलते हैं। इसके मूल, बीज, पत्र एवं पंचांगक्षार का चिकित्सा में प्रयोग करते हैं।

रासायनिक संगठन—इसके पत्र में २४, शाखाओं में ८ तथा मूल में ८½% राख रहती है। इसमें यवक्षार बहुत पाया जाता है जो पत्तों में २१⅗, शाखाओं में ३८ तथा मूल में २८½% रहता है। इसके अतिरिक्त चूना, सोराखार, नमक, लोह तथा गन्धक आदि अन्य द्रव्य इसमें पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—अपामार्ग, उष्ण, तिक्त, कटु, तीक्ष्ण, दीपन, पाचन, पित्तविरेचक, वामक, मूत्रजनन, कफघ्न, विषघ्न, कृमिघ्न, अम्लतानाशक एवं शिरोविरेचन (बीज) है।

इसका प्रयोग कफ, मेद, वात, अर्श, आनाह, शूल, जलोदर, शोफ, अपची, व्रण, त्वचा के विकार, कुष्ठ एवं सर्पादि के विष में करते हैं।

(१) कुपचन, आमाशय की शिथिलता, पीड़ा एवं हृल्लास में अपामार्ग, अन्य कडुवे पदार्थों के साथ भोजन के पूर्व देते हैं जिससे पाचक रस की वृद्धि होती है तथा शूल कम होता है। भोजनोपरांत देने से अम्लता कम होती है तथा श्लेष्मा का विलयन होता है। इसमें भोजन के २–३ घण्टे बाद गरम-गरम क्वाथ देते हैं। इसका यकृत पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ता है। इससे पित्तवाहिनी नलिका का शोथ कम होकर पित्तस्राव उचित होता है। पित्ताश्मरी तथा अर्श में इससे अच्छा लाभ होता है। अर्श में इसकी जड़ को तण्डुलोदक के साथ पीसकर मधु मिलाकर देते हैं। रक्तार्श में बीज का लेप भी उपयोगी होता है।

(२) मूत्रेन्द्रिय विकारों में इसके साथ मुलेठी, गोखरू तथा पाठा का उपयोग करते हैं। वृक्कजन्य जलोदर में इससे लाभ होता है। इससे मूत्र की अम्लता कम होने से तथा इसका दाहशामक प्रभाव होने के कारण परमा, बस्तिशोथ, वृक्कशोथ तथा अश्मरी में इसको देते हैं। अश्मरी में इसका क्षार भेड़ के मूत्र के साथ दिया जाता है।

(३) जीर्ण कफ विकारों में इसका क्षार बहुत ही लाभदायक होता है। इससे गाढ़ा कफ पतला होकर निकलने लगता है। इसमें चतुःषष्टि पिप्पली, अतीस, कुपीलु, घृत एवं मधु के साथ अपामार्गक्षार दिया जाता है।

(४) सर्पविष, वृश्चिकदंश, मूषिक विष तथा पागल कुत्ते के काटने पर इसका उपयोग करते हैं। इनमें मूल, पंचांग या बीज का लेप तथा मूल पीसकर पिलाते है।

(५) आँख की फूली में इसकी जड़ को मधु के साथ पीसकर अंजन कराते हैं। दन्तशूल में पत्रस्वरस मसूड़ों पर मलते हैं तथा दाँतों के गढ़ों में क्षार भरते हैं। इससे दतुअन करने से लाभ होता है। बाधिर्य, कर्णशूल तथा कर्ण नाद में इससे सिद्ध तैल कान में डालते हैं। सन्धिशोथ में पत्र

को पीसपर गरमकर बाँधते हैं। इसके पंचांग के क्वाथ से स्नान कराने से कण्डू दूर होती है। सद्यः क्षत में खून रोकने के लिये इसका पत्रस्वरस लगाते हैं।

मात्रा—मूल तथा बीज ½–१ तोला; क्षार ४–८ रत्ती; मूल क्वाथ २½–५ तोला।

अथ रक्तापामार्गः [लाल चिरचिरा]। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

रक्तोऽन्यो वशिरो वृत्तफलो धामार्गवोऽपि च।
प्रत्यक्पर्णी केशपर्णी कथिता कपिपिप्पली ॥ २२१ ॥
अपामार्गोऽरुणो वातविष्टम्भी कफहृद्धिमः। रूक्षः पूर्वगुणैर्न्यूनः कथितो गुणवेदिभिः ॥

'लाल चिरचिरा' के नाम तथा गुण—दूसरा जो 'लाल चिरचिरा' है उसके नाम—वशिर, वृत्तफल, धामार्गव, प्रत्यक्पर्णी, केशपर्णी, कपिपिप्पली ये सब हैं। लाल चिरचिरा-वायु को स्तब्ध करने वाला, कफनाशक, शीतवीर्य तथा रूक्ष होता है। इसे द्रव्यगुण के जानने वालों ने उपर्युक्त चिरचिरा के गुणों से न्यून गुणवाला बताया है ॥ २२१–२२२ ॥

११५ लाल चिरचिरा

हि०–लाल ओंगा; लाल चिरचिरा। बं०–रक्तापांग। म०–तांबड़ा आघाड़ा, लाल आगाड़ा। गु०–रातो अघेड़ो।

लाल चिरचिरे का क्षुप उक्त (सफेद) चिरचिरे के समान ही होता है। पत्ते इत्यादि भी एक ही समान होते हैं। परन्तु पत्ते पर लाल धब्बे होते हैं और काण्ड पर भी कुछ ललाई होती है। इसके पत्ते सफेद की अपेक्षा कुछ मोटे और बड़े होते हैं और बीज कुछ पतले होते हैं। आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि से इसकी एक अन्य जाति (Species), ए. बाइडेन्टेटा ब्लूम (A. bidentata Blume) का उल्लेख मिलता है किन्तु वह रक्त भेद ही है ऐसा नहीं कहा जा सकता। कुछ विद्वानों ने एक भेद (Variety), ए. रुब्रो. फुस्का (A. rubro-fusca) का उल्लेख किया है।

अथापामार्गफलगुणानाह

अपामार्गफलं स्वादु रसे पाके च दुर्जरम्। विष्टम्भि वातलं रूक्षं रक्तपित्तप्रसादनम् ॥

'चिरचिरा' के फल का गुण—यह रस तथा विपाक में मधुर रस युक्त, दुर्जर (जल्दी हजम नहीं होने वाला), विष्टम्भताकारक, वातजनक, रूक्ष तथा रक्तपित्त को दूर करने वाला होता है ॥ २२३

अथ कोकिलाक्षः (तालमखाना)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

कोकिलाक्षस्तु काकेक्षुरिक्षुरः क्षुरकः क्षुरः। भिक्षुः काण्डेक्षुरप्युक्त इक्षुगन्धेक्षुबालिका ॥
क्षुरकः शीतलो वृष्यः स्वाद्वम्लः पिच्छिलस्तथा।
तिक्तो वातामशोथाश्मतृष्णादृष्ट्यनिलास्रजित् ॥ २२५ ॥

'तालमखाना' के नाम और गुण—कोकिलाक्ष, काकेक्षु, इक्षुर, क्षुरक, क्षुर, भिक्षु, काण्डेक्षु, इक्षुगन्धा और इक्षुबालिका ये सब नाम तालमखाना के हैं। तालमखाना–शीतवीर्य, वृष्य, मधुर,

अम्ल तथा तिक्त रसयुक्त, पिच्छिल एवं वात, आम, शोथ, अश्मरी (पथरी), तृषा, दृष्टि रोग और वातरक्त को दूर करने वाला होता है ॥ २२४–२२५ ॥

११६ तालमखाना

हि०–तालमखाना। बं०–कुलियाखारा, कुलेखाड़ा। गु०–एखरो। म०–तालीखाना, कोलसुन्दा। ते०–गोलिमिडि केट्ठ, निर्गुविवेर। क०–कुळुगोळिके, बलिकेल। ता०–निरमुल्ली। ले०–*Hygrophila spinosa, T. And.* (हाइग्रोफिला स्पाइनोसा)। Syn. Asteracantha longifolia Nees (एस्टेराकेन्था लॉगिफोलिआ नीज)। Fam. Acanthaceae (एकेन्थेसी)।

तालमखाना–क्षुपजाति की वनस्पति प्रायः समस्त भारत में ताल, तलैया में जल के निकट उत्पन्न होती है। इसके छोटे छोटे क्षुप-गूमा के समान पर गूमा से बड़े, गठीले और कहीं कहीं २–२½ हाथ तक ऊँचे देखे जाते हैं। गाँठों के चारों ओर प्रायः १ इञ्च लम्बे पीले रङ्ग के तीक्ष्ण काँटे होते हैं, जो प्रायः ६–६ की संख्या में चक्रिक क्रम से निकले रहते हैं। पत्ते–अवृन्त, गाँठों पर चक्रिक क्रम में ६ की संख्या में जिनमें से बाहरी दो पत्ते अधिक लम्बे (७″ × ०.७″), आयताकार–भालाकार या अभिभालाकार तथा भीतरी ४ पत्ते १½ इञ्च लंबे होते हैं। पुष्प–गाँठों पर समूहबद्ध होकर ४ जोड़े में नीले बैंगनी रङ्ग के करीब १½ इञ्च लम्बे तथा द्वयोष्ठ होते हैं। फल–पतला, चिपटा ८ मि० मि० लंबा, रेखाकार, आयताकार नुकीला तथा ४–८ बीजों से युक्त होता है। बीज–छोटे रक्ताभ और रोमश होते हैं। बीजों को जल में भिगाने से लुआब बनता है।

इसके बीज, मूल, पत्र एवं पंचांग के क्षार का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसके बीजों में २१% एक पीले रङ्ग का स्थिर तैल पाया जाता है। इसके अतिरिक्त डायास्टेस (Diastase), लाइपेस (Lipase) एवं प्रोटियस (Protease) ये द्रव्य भी इसमें होते हैं।

गुण और प्रयोग—यह शीतल, मूत्रजनन, मधुर, स्निग्ध, शुक्रशोधन, स्तन्यजनन, संतर्पण, बल्य एवं वृष्य है। इसकी जड़ तथा बीजों में विशेष रूप से मूत्रल गुण है। बीजों में रहने वाले पोटाशियम् के लवण एवं पिच्छिल द्रव्य के कारण इसका मूत्रल प्रभाव पड़ता है।

इसका उपयोग जलोदर, यकृतोदर, शोथ, मूत्रकृच्छ्र, परमा, बस्तिशोथ कामला, वातरक्त, एवं जननेन्द्रिय-विकारों में किया जाता है। यकृत में अवरोध उत्पन्न होने के कारण उत्पन्न शोथ में इससे लाभ होता है।

(१) परमा तथा बस्तिशोथ में इसके मूल का क्वाथ देते हैं जिससे मूत्र की वृद्धि होती है तथा वेदना कम होती है। इसमें बीजों को भी दूध के साथ दिया जाता है।

(२) यकृतोदर में मूल का क्वाथ या पञ्चांग की राख देते हैं।

(३) शोथ में भी इसकी राख गोमूत्र या जल के साथ देते हैं।

(४) वाजीकरण के लिये केवाँच एवं इसके बीजों का शर्करायुक्त चूर्ण धारोष्ण दुग्ध के साथ देते हैं।

(५) कास में पत्ते उपयोगी होते हैं तथा सन्धि-पीड़ा एवं परमा में इसका लेप किया जाता है।

मात्रा—मूलक्वाथ ४ तो०; बीजचूर्ण २–४ माशा; क्षार २–५ र०; भस्म १–२ माशा।

अथास्थिसंहारः (हड़संहारी)। तस्य नामानि गुणांश्चाह

ग्रन्थिमानस्थिसंहारीवज्राङ्गीवाऽस्थिशृङ्खला। अस्थिसंहारकः प्रोक्तोवातश्लेष्महरोऽस्थियुक् ॥
उष्णः सरः कृमिघ्नश्चदुर्नामघ्नोऽक्षिरोगजित्। रूक्षः स्वादुर्लघुर्वृष्यः पाचनः पित्तलः स्मृतः ॥

हड़संधारी के नाम व गुण—ग्रन्थिमान्, अस्थिसंहारी, वज्राङ्गी, अस्थिशृंखला, ये सब हड़संधारी के नाम हैं। हड़संधारी—वात-कफनाशक, टूटी हुई हड्डियों को जोड़नेवाली, उष्णवीर्य, सारक तथा कृमि, अर्श (बवासीर) और नेत्र रोग को दूर करने वाली, रूक्ष, स्वादिष्ट, लघु, वृष्य, पाचक और पित्तजनक होती है ॥ २२६–२२७ ॥

अथ तद्वटिकाया निर्माणविधिं गुणांश्चाह

काण्डं त्वग्विरहितमस्थिशृङ्खलाया-माषार्द्धद्विदलमकञ्चुकं तदर्द्धम्।
संपिष्टं सुतनु ततस्तिलस्य तैले-संपक्वं वटकमतीव वातहारि ॥ २२८ ॥

इसकी वटिका बनाने की विधि तथा गुण—हड़संधारी के टुकड़ों के छिलके को दूर कर उसमें छिल्का अलग की हुई उरद के दाल को आधा परिमाण मिलाकर पीसने के बाद टिकिया बनाकर तिल के तेल में पका डाले, यह टिकिया वात को हरण करने वाली होती है ॥ २२८ ॥

११७ हड़संधारी

हि०-हड़जोड़, हड़संधारी, हड़जोड़ी, हड़जोरवा। बं०-हाड़भांगा, हाड़जोड़ा। गु०-हाड़ सॉकल। म०-कांडवेल। क०-मंगरवल्ली। ते०-नाल्लेरु, नुल्लेरोतिगे। ता०-पेरंडै। ले०-*Vitis quadrangularis, Wall.* (वाइटिस् कॉड्रैन्ग्युलेरिस्, वाल.); Syn. Cissus quadrangularis, Linn. (सिसस् कॉड्रैन्ग्युलेरिस्, लिन.)। Fam. Vitaceae (वाइटेसी)।

हड़जोड़ी-लता जाति की वनौषधि प्रायः गरम प्रदेशों में अधिक होती है। यह वाटिकाओं आदि में लगाई हुई अधिक पायी जाती है।

जिस प्रकार लतायें वृक्षों की डालियों से लिपटती हुई फैलती हैं उस प्रकार यह नहीं बढ़ती पर वृक्षों का सहारा ले उस पर चढ़ती और लटकती रहती हैं। काण्ड-चौपहल, हरा, बीच-बीच में सन्धियों से युक्त एवं मांसल होता है। संधियों पर सूत्र होते हैं और नवीन काण्ड संधियों पर तन्तुओं के विपरीत दिशा में पत्र होते हैं। पत्र-एकान्तर, छोटे वृन्तवाले, हृदत चौड़े, १-२½ इञ्च बड़े, मोटे, दन्तुर, उपपत्रयुक्त एवं संख्या में अल्प रहते हैं। पुष्प-छोटे तथा हरित-श्वेतवर्ण के आते हैं। फल-गोल, करीब ६ मि० मि० बड़े, पकने पर लाल तथा एक बीजयुक्त होते हैं। बीज-हलके भूरे रंग के, ५ मि० मि० बड़े तथा चिकने होते हैं। दक्षिण की तरफ कोमल काण्ड एवं पत्तों का साग बना कर खाते हैं। काण्ड तोड़ने पर बहुत रस निकलता है। इसके काण्ड एवं पत्तों का उपयोग चिकित्सा में किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसमें कॅल्शियम् ऑक्जॅलेट् (Calcium oxalate) एवं १०० ग्राम ताजे पौधे में २६७ मि० ग्रा० कॅरोटीन (Carotene); १०० ग्रा० कोमल काण्ड में ३९८ मि० ग्रा०, नीचे के भाग में २३२ मि० ग्रा० तथा ताजे स्वरस में ४७९ मि० ग्राम विटामिन सी (Vitamin C) की मात्रा पाई जाती है।

गुण और प्रयोग—यह रूक्ष, वात-कफशामक, रक्तशोधक, दीपन, पाचन, अर्शोघ्न, वृष्य, सन्धानीय एवं रक्तसंग्राहक है।

इसका प्रयोग अस्थिभंग, पाचनविकार, स्कर्वी (Scurvy), आर्तवविकार, तमकश्वास एवं रक्तदोष में किया जाता है।

(१) कुपचन में कोमल काण्ड एवं पत्तों का शाक खिलाते हैं या इनको बन्द पात्र में जलाकर उसकी राख खिलाते हैं।

(२) आर्तव की अधिकता में इसका स्वरस, गोपीचन्दन, घृत एवं मधु खिलाते हैं।

(३) तमकश्वास में काण्ड को पीसकर देते हैं।

(४) अस्थिभंग में इसका बाह्याभ्यन्तर प्रयोग किया जाता है।

(५) कर्णस्राव एवं नासा से रक्तस्राव होने पर इसका स्वरस डालते हैं।

मात्रा—स्वरस १ से २ तोला।

अथ कुमारी (घीकुआँर)। तस्या नामगुणानाह

कुमारी गृहकन्या च कन्या घृतकुमारिका। कुमारी भेदनी शीता तिक्ता नेत्र्या रसायनी ॥
मधुरा बृंहणी बल्या वृष्या वातविषप्रणुत्। गुल्मप्लीहयकृद्वृद्धिकफज्वरहरी हरेत् ॥
ग्रन्थ्यग्निदग्धविस्फोटपित्तरक्तत्वगामयान् ॥ २३० ॥

'घीकुआर' के नाम तथा गुण—कुमारी, गृहकन्या, कन्या और घृतकुमारिका ये नाम 'घीकुआर' के हैं। घीकुआर—मल को भेदन करने वाली, शीतल, तिक्त तथा मधुर रसयुक्त, नेत्रों के लिये हितकर, रसायन, बृंहण, बलकारक, वृष्य एवं वात, विष, गुल्म, प्लीहा, यकृत की वृद्धि, कफज्वर, ग्रन्थि, अग्निदग्ध (आग से जलजाना), विस्फोटक, पित्त, रक्तविकार और चर्मरोग को नाश करने वाली होती है ॥ २२९–२३० ॥

११८ घीकुआँर

हि०-घीकुआँर, ग्वार पाठा, घीग्वार, कारपाठी। बं०-घृतकुमारी। म०-कोरफड, कोरकांड। गु०-कुंवार। क०-लोलिसर। ते०-कलबन्द। ता०-कत्ताले। फा०-दरखते सिब्र। अ०-तसब्बार अलसी। ले०-*Aloe barbadensis, Mill.* (एलो बार्बाडेन्सिस् मिल.)। Syn. A. vera Tourn. ex Linn. (एलो वेरा)। Fam. Liliaceae (लिलिएसी)।

कुमारीसार—ऐलेयक, कृष्ण बोल। हि०-एलुआ, एलुवा, मुसब्बर। म०-कालाबोल, एलिया। बं०-मोषब्बर। गु०-एलियो। फा०-शबयार। अ०-सिब्र। अं०-Common Indian Aloe (कॉमन् इण्डियन् एलो); Curacao Aloe (क्युराकाओ एलो); Barbados Aloe (बार्बाडोस् एलो)। Musabbar (मुसब्बर)।

यह भारतवर्ष में प्रायः सर्वत्र होती है। इसका क्षुप-छोटा, बहुवर्षायु, मांसल एवं १ से २ फीट ऊँचा होता है। पत्ते-मांसल, मोटे, हरे, मालाकार, सीधे फैले हुये, कुछ नतोदर, १ से २ फीट लम्बे ४ इञ्च तक चौड़े एवं दन्तुर होते हैं। इनके भीतर घी के समान पीताभ गूदा रहता है। पुष्प-पत्तों के बीच से लम्बा पुष्पदण्ड निकलता है जिसमें रक्ताभ पीत पुष्प आते हैं।

भारतवर्ष में इसके २-३ भेद (Varieties) पाये जाते हैं। दक्षिण एवं मध्यप्रदेश में होने वाले के पत्ते आधार की तरफ नीलारुण रंग के एवं उनके कांटे कम दृढ़ होते हैं। मद्रास से रामेश्वरम् तक समुद्री किनारे पर होने वाले क्षुप छोटे तथा उनके दांत सामान्य दन्तुर (Dentate) होते हैं। काठियावाड़ के किनारे होने वाले क्षुप से जाफराबादी मुसब्बर प्राप्त किया जाता है। इसे गलती से कुछ लोगों ने ए० अबीसीनिया कहा है।

इसके पत्तों को काटने से एक पीले रंग का पिच्छिल रस निकलता है जिसे संग्रह करके गाढ़ा कर लेते हैं। शीत होने पर यह जम जाता है जिसे एलुआ कहते हैं। विभिन्न स्थानों से प्राप्त घीकुवार तथा गाढ़ा बनाने की भिन्न विधि के परिणामस्वरूप यह कई प्रकार का मिलता है। यदि सूर्यताप से या हलकी आंच पर रस गरम करके बनाया जाता है तो यह कुछ चिकना तथा अपारदर्शक बनता है जिसे यकृताभ (Hepatic) एलुवा कहते हैं। किन्तु यदि रस को तीव्र अग्नि पर जल्दी से गाढ़ा करते हैं तो यह कुछ पारदर्शक बनता है जिसे ग्लासी या विट्रिअस (Glassy or vitreous) एलो कहते हैं। इसमें एक प्रकार की विशिष्ट गंध आती है तथा इसका स्वाद कडुआ एवं हृल्लासकारक होता है।

एलुआ के भेद—ब्रिटिशफार्माकोपिआ में चार प्रकार का एलुआ राजमान्य है।

(१) Curacao or Barbados aloes (क्यूराकाओ या बार्बाडोस् एलो)—यह चाकलेटी बादामी रङ्ग का होता है जो इसके भेद Var. officinalis (ऑफिसिनॅलिस्) से बनाते हैं।

(२) Socotrine aloes (सोकोट्राइन एलो)—यह A. perryi (ए० पेरी) से प्राप्त होता है तथा इसका रंग पीताभ या कृष्णाभ बादामी होता है।

(३) Zangibar aloes (जंजिबार एलो)—यह भी ए० पेरी से प्राप्त किया जाता है किन्तु इसका वर्ण यकृताभ बादामी होता है।

(४) Cape aloes (केप एलो)—यह A. ferox (ए० फेरॉक्स) से प्राप्त करते हैं तथा इसका वर्ण गहरा बादामी या हरिताभ बादामी रहता है। इन चार में से यही काल स्वरूप का होता है।

इनके अतिरिक्त केप एलो सदृश नेटाल एलो, अरबी कोका-एलो एवं जाफर बादी एलो आदि भेद भी पाये जाते हैं।

परीक्षा एवं प्रमाण—इसमें काला कत्था, पत्थर या लोहा आदि की मिलावट करते हैं। मद्यसारीय घोल की नील लोहितातीत प्रकाश में परीक्षा करने पर इसके घोल का वर्ण गहरा बादामी एवं कत्थे सा काला दिखाई देता है। एलुआ में आर्द्रता ११% से कम, राख ४% से कम, मद्यसार में अविलेय भाग १०% से कम एवं जल में विलेय भाग ५०% से अधिक होता है। शोरे के तेजाब में इसका चूर्ण डालने से बादामी या रक्ताभ बादामी घोल बनता है तथा फेन निकलता है।

रासायनिक संगठन—एलुआ में एलोइन (Aloin) नामक एक कार्यकारी तत्त्व रहता है जो कई ग्लूकोसाइड का मिश्रण है। एलोइन की मात्रा पहले में ३०%, दूसरे तथा तीसरे भेद में उससे कम एवं चौथे में १०% रहती है। एलोइन का मुख्य भाग Berbaloin (बार्बालोइन) नामक हलका पीला ग्लूकोसाइड है जो जल में विलेय होता है। इनके अतिरिक्त Isobarbaloin (आइसोबार्बालोइन) जो केवल क्युराकाओ एलो में रहता है एवं B barbaloin (बिटा बार्बालोइन), Aloe-emodin (एलो एमोडिन), राल तथा जल में घुलनशील कुछ पदार्थ पाये जाते हैं।

गुण एवं प्रयोग—घीकुआँर तिक्त, मधुर, शीतवीर्य, भेदन, दीपन, पाचन, बल्य, शोथहर, व्रणरोपण, नेत्र्य एवं शोणितास्थापन है।

एलुआ भेदन, उष्ण, तीक्ष्ण, आर्तवजनन एवं कृमिघ्न है। अल्पमात्रा में यह दीपन-पाचन, तिक्त एवं बल्य है। इससे यकृत् की क्रिया में सुधार होकर अन्न का सात्म्यीकरण ठीक होता है। अधिक मात्रा (१-२ रत्ती) से पेट में मरोड होकर १०-१२ घंटे में विरेचन होता है। इसका

प्रभाव बड़ी आंत पर होता है, जिससे कटिस्थ अंगों जैसे गर्भाशय, गुदा तथा अन्य अवयवों में रक्ताधिक्य होता है।

(१) विरेचक गुण के कारण विबन्ध में इसका प्रयोग अन्य वातानुलोमक एवं उद्वेष्टन निरोधी औषधियों के साथ करते हैं। गर्भिणी या स्तनपान कराने वाली स्त्रियों में इसका प्रयोग नहीं करते। बाजार में बिकने वाली अनेक विरेचक औषधियों में यह रहता है। घीकुआँर के रस का भी सैन्धव एवं हरिद्रा के साथ विबन्ध, गुल्म, पांडु, पाचनविकार तथा यकृत् प्लीहा रोगों में उपयोग करते हैं।

(२) स्त्रियों के विकार जैसे अनार्तव, पांडु, विबंध में इसको देने से लाभ होता है।

(३) इसके स्वरस का बाह्य लेप स्तनशोथ, नेत्राभिष्यन्द, चर्मविकार, अर्श एवं व्रण में हरिद्रा के साथ करने से शोथ एवं दाह कम होता है। सूत्रकृमि में एलुवा की बस्ति देते हैं।

मात्रा—स्वरस १-२ तोला; एलुवा १-२ रत्ती।

पुनर्नवा

पुनर्नवा के दो भेद-रक्त एवं श्वेत, निघण्टुओं में मिलते हैं। रा. नि. में एक नील भेद भी लिखा है, जो दिखलाई नहीं देता। दो भिन्न वर्गों की दो वनस्पतियाँ Boerhaavia diffusa (बोएर्हेविया डिफ्यूजा) एवं Trianthema portulacastrum (ट्राएन्थेमा पोर्टुलेकॅस्ट्रम्-पथरी) का उपयोग पुनर्नवा के नाम से हो रहा है। इनमें से प्रथम को अधिकांश विद्वानों ने रक्त-पुनर्नवा माना है जो उचित नहीं है। वास्तव में प्रथम में ही रक्तपुष्प एवं श्वेतपुष्प के भेद से दो भेद पाये जाते हैं तथा द्वितीय में भी श्वेतपुष्प एवं रक्तपुष्प भेद देखे जाते हैं। ऐसी स्थिति में केवल बोएर्हेविया को रक्त पुनर्नवा एवं ट्राएन्थिमा (पथरी) को श्वेतपुनर्नवा मानना उचित नहीं है। रा. नि. में पुनर्नवा के भेदों के अतिरिक्त वर्षाभू एवं वसुक[1] नामों से दो अलग वनस्पतियों का उल्लेख किया गया है। पुनर्नवा के पर्यायों में क्षुद्रवर्षाभू यह पर्याय आया हुआ है। श्री ठा० बलवन्त सिंह जी पुनर्नवा और वर्षाभू दो भिन्न वनस्पतियाँ मानते हैं न कि पर्याय। इस सम्बन्ध में 'बिहार की वनस्पतियाँ' नामक पुस्तक में वे लिखते हैं—

'मेरे मत से पुनर्नवा और वर्षाभू दो सर्वथा भिन्न वनस्पतियाँ हैं परन्तु दोनों के रूप और गुणों में बहुत कुछ साम्य होने से निघण्टुकारों ने दोनों में बहुत गड़बड़ कर दिया है। अनेक स्थान के वैद्य आज भी इसे ही (ट्राएन्थिमा) पुनर्नवा और कुछ इसे केवल श्वेतपुनर्नवा मानते हैं। स्मरण रखना चाहिये कि श्वेत और रक्त भेद पुनर्नवा और वर्षाभू दोनों में ही होते हैं। अतः रक्तपुनर्नवा और श्वेतपुनर्नवा Boerhaavia (बोएर्हेविया) जातियों को और रक्तवर्षाभू तथा श्वेतवर्षाभू Trianthema (ट्राएन्थेमा-पथरी) की जातियों को कहना चाहिये। वर्षाभू की ही किसी जाति को वसुक-मानना चाहिये।'

उपर्युक्त स्पष्टीकरण के आधार पर The Wealth of India (Raw Materials) Vol I नामक पुस्तक में उल्लिखित श्री चक्रवर्ती का यह मत कि B. diffusa को रक्तपुनर्नवा एवं T. portulacastrum को श्वेत पुनर्नवा मानना चाहिये उचित नहीं मालूम पड़ता। दोनों वनस्पतियों में गुणों में कुछ समता पाई जाती है जिस कारण संभव है निघण्टुकारों ने दोनों नामों को पर्याय में दिया हो। निघण्टुकारों ने वर्ण के आधार पर श्वेत एवं रक्त के गुण अलग लिखे हैं या इन दो उपर्युक्त भेदों के अलग-अलग गुण दिये हैं यह कहना कठिन है।

---

१. वर्षाभूवसुकौ वर्णकक्रमान्मानिकापहौ। शाके रूक्षतरौ गुरुमध्वीहशूलापहारकौ॥

वर्षाभू (पथरी) केवल बरसात में उगती है तथा शीतकाल तक सूख जाती है इसी कारण इसे वर्षाभू कहा गया है। पुनर्नवा यद्यपि वर्षाकाल में अधिक होती है तथापि अन्य ऋतुओं में भी मिलती हैं। यहाँ पर दोनों का अलग-अलग वर्णन किया गया है।

अथ श्वेतपुनर्नवा। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

पुनर्नवा श्वेतमूला शोथघ्नी दीर्घपत्रिका। कटुः कषायानुरसा पाण्डुघ्नी दीपनी परा। शोफानिलगरश्लेष्महरी ब्रध्नोदरप्रणुत् ॥ २३१ ॥

सफेद पुनर्नवा के नाम और गुण—पुनर्नवा, श्वेतमूला, शोथघ्नी और दीर्घपत्रिका इतने नाम सफेद पुनर्नवा के हैं। सफेद पुनर्नवा—कटु तथा कषाय रसयुक्त, पाण्डुरोगनाशक, अत्यन्त अग्निदीपक एवं शोथ, वायु, विष, कफ, ब्रध्न और उदररोग को दूर करने वाली होती है ॥ २३१ ॥

अथ रक्तपुष्पा पुनर्नवा। तस्या नामगुणानाह

पुनर्नवाऽपरा रक्ता रक्तपुष्पा शिलाटिका। शोथघ्नी क्षुद्रवर्षाभूर्वर्षकेतुः कठिल्लकः ॥ २३२ ॥ पुनर्नवाऽरुणा तिक्ता कटुपाका हिमा लघुः। वातला ग्राहिणी श्लेष्मपित्तरक्तविनाशिनी ॥

लाल पुनर्नवा के नाम व गुण—रक्तपुनर्नवा, रक्तपुष्पा, शिलाटिका, शोथघ्नी, क्षुद्रवर्षाभू, वर्षकेतु और कठिल्लक ये सब हैं। लाल पुनर्नवा—तिक्त रसयुक्त, विपाक में कटु रसयुक्त, शीतल, हलकी, वातकारक, मलसंग्राही एवं कफ, पित्त और रक्तविकार को दूर करने वाली होती है ॥ २३२-२३३ ॥

११९ वर्षाभू (पथरी)

हि०—सफेद पुनर्नवा, पथरी, विषखपरा, सुफेद गदपुरना। बं०—साबुनी। म०—वसु। गु०—साटोडी। क०—बिलेगणजलि, मुच्चुकोनि। ते०—गलिजेरू। ता०—शरूनै। पं०—विशकापरा। ले०—*Trianthema portulacastrum Linn.* (ट्राएन्थेमा पोर्टुलेकॅस्ट्रम, लिन.)। Fam. Ficoidaceae (फिकॉइडेसी)।

यह भारतवर्ष के सभी भागों में एवं बलूचिस्तान, लंका तथा अन्य उष्ण प्रदेशों में पाई जाती है। इसका क्षुप-प्रसरणशील, मांसल तथा अनेक द्विविभक्त शाखाओं वाला होता है। यह बरसात में उगता है और शीत काल तक सूख जाता है। कोमल अवस्था में पुनर्नवा जैसा दिखलाई देने के कारण कुछ लोग इसे श्वेत पुनर्नवा मानते हैं। पत्तियाँ—मांसल लगभग अभिमुख, किन्तु प्रत्येक जोड़े में एक छोटी तथा दूसरी बड़ी, ऊपर वाली बड़ी १८ से २७ मि. मि. लंबी, १८—३१ मि. मि. चौड़ी तथा नीचे की ९–१८ मि. मि. लंबी एवं ६–१८ मि. मि. चौड़ी, चिकनी, अभिलट्वाकार, आयताकार या अण्डाकार, प्रायः लाल एवं लहरदार धार वाली होती हैं। पर्णवृन्त ६–१८ मि. मि. लंबा, आधार की तरफ फैला हुआ एवं पतला रहता है। पुष्प—एकाकी, विनाल, श्वेत या गुलाबी रंग के फूल द्विविभक्त शाखाओं के बीच से निकलते हैं। नरकेसर संख्या में १०–२० होते हैं। बीजकोश छोटा एवं १–५ काले रंग के वृक्काकार छोटे बीजों से युक्त होता है। जड़—ताजी अवस्था में कुछ मधुराभ किन्तु सूखने पर कडुवी एवं ह्रास कारक होती है।

इसकी जड़ एवं पंचांग का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है।

रासायनिक संगठन—पुनर्नवा में पाया जाने वाला क्षाराभ पुनर्नवीन (Punarnavine) इसमें भी पाया जाता है जो शुष्क द्रव्य में ०·०१% तक होता है। इसके अतिरिक्त सेपोनिन् (Saponin) एवं एक अन्य क्षाराभ जिसका रासायनिक सूत्र $C_{32} H_{46} O_6 N_2$ है, पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—इसके पत्र मूत्रल होते हैं तथा इनका उपयोग पुनर्नवा जैसा होता है किन्तु जड़-तीव्ररेचन होती है। गर्भिणी को देने पर आंत्र-प्रक्षोभ के साथ साथ गर्भाशय पर भी प्रभाव होने से कभी कभी गर्भपात भी होता है। इसके पत्तों का शाक दीपन वातहर एवं कफघ्न है।

(१) जिनमें तीव्र विरेचन की आवश्यकता रहती है उन रोगों में इसके मूल का चूर्ण सोंठ के साथ मिला कर २, ३ बार में थोड़ा-थोड़ा करके देते हैं। यकृतोदर, जीर्ण मलावष्टम्भ एवं तज्जन्य कंडु आदि त्वचा के रोग तथा पांडु में इसे देते हैं। इससे रेचन होकर शोथ कम हो जाता है। इससे श्वास में भी लाभ होता है।

(२) गर्भाशय विकार के कारण उत्पन्न अनार्तव में भी इसका प्रयोग करते हैं।

मात्रा—१५ से० गुंजा।

१२० पुनर्नवा

हि०—लाल पुनर्नवा, सांठ, गदहपुर्ना। बं०—पुनर्नवा। म०—पुनर्नवा, घेंटुली। गु०—राती साटोडी, वसेडो। क०—सनाडिका। ते०—अटात मामिडि। पं०—खट्टन। ता०—मुकरै। अ०—इन्दकूकी। अं०—Hogweed; Horse purslene (हागवीड, हॉर्स पर्सलेन)। ले०—*Boerhaavia diffusa Linn.* (बोअर्हेविया डिफ्यूझा लिन.)। Fam. Nyctaginaceae (निक्टॅजिनेसी)।

यह भी भारतवर्ष, बलूचिस्तान, लंका तथा अन्य उष्ण प्रदेशों में पाया जाता है। यह रेतीली तथा परती जमीन में अधिक होता है। इसका क्षुप-फैलने वाला, बहुवर्षायु, मृदुरोमश या चिकना होता है। इसके काण्ड ०·६–०·९ मी. लम्बे, प्रायः ललाई लिये हुये कड़े, पतले, गोल एवं पर्वसन्धि पर मोटे होते हैं। क्वचित् केवल हरे काण्ड के क्षुप भी देखने में आते हैं। शाखाएँ कई गज तक फैल जाती हैं। पत्ते-सनाल, चौड़े, लट्वाकार, प्रत्येक पर्वसन्धि पर छोटे बड़े जोड़े में। बड़े २·५–३·७ से. मी. लम्बे एवं छोटे १२–१७ मि. मी. लम्बे तथा अधर तल पर श्वेताभ चिकने होते हैं। पुष्प-छोटे, गुलाबी या श्वेत लगभग अवृन्त, ४–१० की संख्या में एक लम्बे दण्ड पर आते हैं। पुंकेशर २–३ होते हैं। फल-६ मि. मी. लम्बा, ५ धारीदार, चिपचिपा तथा एक बीज से युक्त होता है। जड़-बड़ी तथा मूलकाकार होती है।

भेद-इसके दो भेद और पाये जाते हैं। एक में मूल कन्दसदृश तथा पत्रादि छोटे होते हैं। यह शुष्क भूमि में अधिक होती है। दूसरी लता जाति की होती है। इसे B. repanda, Willd (बो. रिपॅन्डा, वाइल्ड) कहते हैं। यह आरोहणशील या प्रसरणशील होती है। इसमें आमने सामने के दोनों पत्ते प्रायः कद में समान होते हैं। इसकी जड़ कन्द सदृश मोटी किन्तु भंगुर होती है।

चिकित्सा में इसके पत्र एवं मूल का उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसके पत्तों में पुनर्नवीन (Punarnavine) नामक कार्यकारी क्षाराभ की मात्रा शुष्क द्रव्य में ०·०१% तक होती है। मूल में संपूर्ण क्षाराभ की मात्रा ०·०४% होती है। इसके अतिरिक्त इसमें पोटेशियम् नाइट्रेट (Potassium nitrate), सल्फेट (Sulp-

hates), क्लोराइड (Chlorides) ६·५% एवं स्थिर तैल होता है। झिल्ली में क्षाराभ के शिरान्तर्गत सूचिकाभरण से रक्त का दबाव बढ़ता है तथा मूत्रत्याग अधिक होता है।

गुण और प्रयोग—पुनर्नवा मधुर, तिक्त, उष्ण, रूक्ष, स्वेदोपग, वयःस्थापन, विरेचन, दीपन, मूत्रविरेचन, कफघ्न, अधिक मात्रा में वामक एवं शोथहर है।

इसका प्रयोग शोथ, सर्वांगशोथ, उदर, कामला, मूत्राल्पता, पाण्डु, हृद्रोग, श्वास, उरःक्षत, सोजाक, विषविकार एवं नेत्रविकारों में किया जाता है।

(१) पुनर्नवा के मूत्रल गुण के कारण अनेक शोथयुक्त विकारों में इसका प्रयोग किया जाता है। नूतन यकृत-विकार तथा जीर्ण उदरावरणशोथ के कारण उत्पन्न जलोदर में अन्य मूत्रल औषधियों की अपेक्षा इसका विशेष प्रभाव पड़ता है। जब वृक्क का कार्य ठीक होता रहता है उस अवस्था में यह अच्छा कार्य करती है। इसमें उपस्थित पोटॅशियम् के लवण इसमें के कार्यकारी क्षाराभ के कार्य को बढ़ाते हैं। उन रोगियों में जिनके मूत्र में अल्ब्यूमिन अधिक रहता है उतना अच्छा मूत्रल प्रभाव नहीं पड़ता। यकृत, वृक्क, उदरावरण आदि अवयवों में जब बहुत अधिक अवयवीय विकार हो जाता है तब इससे केवल अस्थायी लाभ होता है। शोथ में इसको पीस कर गरम कर लेप भी करते हैं।

(२) हृद्रोग में कास, श्वास, जलोदर एवं पैर की सूजन कम करने के लिये कुटकी, चिरायता एवं सोंठ के साथ इसका प्रयोग करते हैं। हृदय पर इसकी क्रिया कुछ डिजिटेलिस सदृश होती है।

(३) कामला में पित्त के निर्हरण के लिये इसका प्रयोग करते हैं।

(४) कफयुक्त श्वास में तथा श्वसनिकाशोथ में सोंठ तथा वच के साथ इसको देने से कफ निकलता है। अधिक मात्रा से वमन होकर भी कफ निकल जाता है।

(५) इसके शाक का उपयोग शोथ में तथा कुपचन में करते हैं।

(६) अभिष्यन्द आदि नेत्र रोगों में इसकी ताजी जड़ मधु में पीस कर आँख में लगाते हैं तथा आंतरिक प्रयोग भी करते हैं।

(७) वृश्चिकदंश, सर्पदंश, मूषिकविष आदि में इसका बाह्य एवं आंतरिक प्रयोग लाभदायक माना जाता है।

(८) रसायन के लिये इसके मूल के उपयोग का विधान है।

मात्रा—मूल-स्वरस ६ मा०–१ तो०; पत्रस्वरस १–२ तो०। वामक–मूल चूर्ण ५–१० माशा।

अथ गन्धप्रसारणी (पसरन)। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

प्रसारणी राजबला भद्रपर्णी प्रतानिनी। सरणी सारणी भद्रा बला चापि कटम्भरा ॥२३४॥
प्रसारणी गुरुर्वृष्या बलसन्धानकृत्सरा। वीर्योष्णा वातहत्तिक्ता वातरक्तकफापहा ॥२३५॥

प्रसारणी के नाम तथा गुण—प्रसारणी, राजबला, भद्रपर्णी, प्रतानिनी, सरणी, सारणी, भद्रा, बला और कटम्भरा इतने नाम 'पसरन' के हैं। प्रसारणी–तिक्तरसयुक्त, गुरु, वृष्य, बलकारी, सन्धानकारक, सारक, उष्णवीर्य एवं वात, वातरक्त और कफ को दूर करने वाली होती है॥

नोट—गंधप्रसारणी नाम से उत्तर भारत में पेंडेरिया फिटीडा (Paederia foetida) का व्यवहार किया जा रहा है। दक्षिण में केरल में प्रसारणी नाम से मेरेमिया ट्राइडेन्टॅटा (Merremia tridentata Hall) का व्यवहार किया जाता है ऐसा 'आयुर्वेदिक फ्लोरामेडिका, कोट्टयम्' नामक पुस्तक में दिया हुआ है। कहीं कहीं कन्वॉल्व्यूलस् आर्वेन्सिस् (Convolvulus arvensis Linn.) का प्रसारणी नाम से व्यवहार किया जाता है। राजस्थान में (हि०) खींप, (ले०) लेप्टाडेनिया स्पारशियम् वा० (Leptadenia spartium Wt.—Asclepiadaceae) का व्यवहार किया जाता है। इस दृष्टि से शास्त्रीय प्रसारणी का निर्णय अभी नहीं हो सका है।

१२१ गन्धप्रसारिणी

हि०–प्रसारणी, प्रसरनी, पसरन, गन्धाली। बं०–गन्ध भादुलिया। म०–प्रसारण, हिरनवेल। गु०–प्रसारणि। ते०–सविरेला। आसाम०–वेडोली सुट्टा। ले०–*Paederia foetida Linn.* (पैडेरिया फिटीडा लिन.)। Fam. Rubiaceae (रूबिएसी)।

मध्य और पूर्व हिमालय में ५००० फीट तक तथा कलकत्ता की तरफ एवं मलाया में उत्पन्न होती है।

यह लताजाति की वनौषधि बहुत विस्तार में फैलने वाली होती है। इसकी **डंडियां**–पतली, चिकनी, लम्बी एवं मजबूत होती हैं। नवीन **शाखाएं**–कोमल होती हैं। पुरानी लताओं की जड़–१–२॥ इञ्च मोटी होती है। पत्ते–अभिमुख (आमने सामने), आकार में छोटे बड़े, २ से ६ इञ्च तक लम्बे, १–२॥ इञ्च चौड़े, अण्डाकार-लट्वाकार, आयताकार-लट्वाकार या लम्बे लट्वाकार, नोकीले एवं लम्बे पत्रदण्ड से युक्त होते हैं। दोनों पत्तों के बीच में प्रतिग्रन्थि पर दो-दो संयुक्त पुंखपत्र होते हैं। पुष्प–जामुनी गुलाबी रंग के, नलिकाकार पुष्प-मंजरियों में आते हैं। फल–चिपटा, चिकना, पांच रेखाओं से युक्त तथा १ बीजयुक्त होता है। बीज–चिकना, चिपटा एवं पतले आवरण से युक्त होता है।

इसकी लताओं में एक प्रकार की बुरी गन्ध होती है। जहाँ यह फैली हुई होती है वहां इसके निकट जाने पर इसकी बुरी गन्ध जान पड़ती है किन्तु जब इसको मसलते हैं तब बड़ी बुरी गन्ध पैदा होती है। पत्तों को उबाल कर क्वाथ बनाने पर दुर्गन्ध नष्ट हो जाती है।

इसकी जड़ एवं पत्रादि का उपयोग किया जाता है। इसको मूल के साथ शरद्काल में उखाड़ कर संग्रह करना चाहिये।

रासायनिक संगठन—इसमें उड़नशील तैल एवं एक क्षाराभ पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह उष्ण, तिक्त, सर, गुरु, वृष्य, बल्य एवं वातकफ-शामक है। मूल की अधिक मात्रा से वमन होता है।

(१) आमवात, वातरक्त तथा संधिविकार में इसका बाह्य एवं आभ्यन्तर प्रयोग बहुत लाभदायक माना जाता है। इसको खिलाते हैं तथा लेप करते हैं। इसके साथ चित्रकमूल एवं त्रिकटु का भी उपयोग लाभदायक है। साथ में पत्तों का शाक भी खिलाते हैं।

(२) वातविकारों में इसके तैल का अभ्यङ्ग एवं आन्तरिक प्रयोग बहुत लाभदायक है।

(३) उदरशूल, आनाह एवं विबन्ध में पत्तों का कल्क उष्ण करके खिलाते हैं।

मात्रा—स्वरस १–२ तोला; चूर्ण २–४ माशा।

अथ कृष्णशारिवा (करिआवांसा)। तस्या नामान्याह

कृष्णा तु शारिवा श्यामा गोपी गोपवधूश्च सा ॥ २३६ ॥

कृष्णशारिवा (काली अनन्तमूल) के नाम—शारिवा, श्यामा, गोपी और गोपवधू ये नाम कृष्णशारिवा के हैं॥ २३६ ॥

छइयं जम्बूवत्पत्रा सुगन्धा 'कलघण्टिके'ति प्रसिद्धा ।
गोपी—गोपस्य स्त्री, पुंयोगात् ङीप् ॥ २३६ ॥

इसके पत्ते जामुन के पत्तों के समान होते हैं, और इसमें सुगन्धि होती है। एवं यह 'कल घण्टिका' के नाम से प्रसिद्ध है।

यहाँ पर 'गोपी' इस पद में 'गोप की स्त्री' इस अर्थ में 'पुंयोगादाख्यायाम्' (४-१-४८) इस सूत्र से पुंयोग होने से 'गोप' शब्द से 'ङीष्' प्रत्यय हुआ है, ऐसा समझना चाहिये ॥ २३६ ॥

अथ श्वेतशारिवा । तस्या नामान्याह

धवला शारिवा गोपा गोपकन्या कृशोदरी ।
स्फोटा श्यामा गोपवल्ली लताऽऽस्फोता च चन्दना ॥ २३७ ॥

श्वेतशारिवा के नाम—धवलशारिवा, शारिवा, गोपा, गोपकन्या, कृशोदरी, स्फोटा, श्यामा, गोपवल्ली, लता, आस्फोता और चन्दना ये नाम श्वेत शारिवा के हैं ॥ २३७ ॥

छइयमपि जम्बूवत्पत्रा दुग्धगर्भा प्रततिर्भवति । गोपा—गां पातीति गोपा, गोपकन्या । श्यामापदेन कृष्णा श्वेताऽपि शारिवा कथ्यते, शाश्वतेन शारिवामात्रे शारिवापदस्य प्रयुक्तत्वात् । तद्यथा—

'शारिवायां निशि श्यामाश्यामौ च हरितासितौ' इति ॥ २३७ ॥

यह भी जामुन के समान पत्तोंवाली तथा दुग्धगर्भा (भीतर जिसके दूध हो ऐसी) लता होती है। यहाँ पर 'गोपा' का 'गायों को पालन करने वाली' अर्थ है। 'आतोऽनुपसर्गे कः' (३-२-३) इस सूत्र से कप्रत्यय हुआ बाद को टाप् प्रत्यय होने से 'गोपा' पद सिद्ध हुआ ऐसा समझना चाहिये। और 'श्यामा' पद से काली तथा श्वेत दोनों शारिवा को समझना चाहिये। क्योंकि 'शाश्वत' कोशकार ने 'शारिवा' पद को शारिवा मात्र में (दोनों शारिवा में) प्रयोग किया है 'शारिवायाम्०' इत्यादि से ॥ २३७ ॥

अथ सारिवाद्वयस्य गुणानाह

सारिवायुगलं स्वादु स्निग्धं शुक्रकरं गुरु । अग्निमान्द्यारुचिश्वासकासामविषनाशनम् ।
दोषत्रयास्रप्रदरज्वरातीसारनाशनम् ॥ २३८ ॥

दोनों शारिवा (अनन्तमूल) के गुण - दोनों शारिवा—स्वादिष्ट, स्निग्ध, शुक्र को उत्पन्न करने वाली, गुरु एवं अग्निमन्दता, अरुचि, श्वास (दमा), खाँसी, आम, विष, त्रिदोष, रक्तप्रदर, ज्वर और अतिसार को नष्ट करती है ॥ २३८ ॥

नोट—सारिवा के दो भेद श्वेत एवं कृष्ण ये हैं। इसमें से श्वेत सारिवा, अनन्तमूल (कपूरी) है। कृष्णसारिवा के स्थान पर करण्टा एवं दुधलत दो चीजों का व्यवहार किया जाता है। अनन्तमूल (श्वेत सारिवा) कम मिलने के कारण उत्तरप्रदेश के बाजारों में अधिकतर सारिवा के नाम से करण्टा के काण्ड बिकते हैं। जब केवल सारिवा लेने को लिखा हो तब अनन्तमूल लेना चाहिये एवं सारिवाद्वय लिखा हो तब अनन्तमूल एवं दुधलत या करण्टा का ग्रहण उचित है। करण्टा की पत्तियाँ कुछ-कुछ जामुन की पत्ती से मिलती जुलती होने के कारण इसे 'जम्बुपत्रा

सारिवा' भी कहते हैं। यहाँ सबका वानस्पतिक वर्णन अलग अलग किया गया है एवं गुण प्रयोगादि अनन्तमूल के दिये हैं।

१२२ कृष्णसारिवा, दुधलत

सं०-कृष्णसारिवा। हि०-कालीसर, काली अनन्तमूल, दुधलत। बं०-कृष्ण अनन्तमूल, श्यामालता। म०-श्यामलता। क०-करीउंबु। ते०-नलतिग। ले०-*Ichnocarpus fruitescens R. Br.* (इक्नोकार्पस् फ्रूटेसेन्स)। Fam. Apocynaceae (एपोसाइनेसी)।

यह हिमालय प्रान्त के नैपाल, गङ्गा नदी के आस-पास, बङ्गाल, आसाम, सिलहट, चटगाँव और दक्षिण आदि प्रायः सभी प्रान्तों में उत्पन्न होती है। यह लता जाति की वनौषधि छोटे वृक्षों या गुल्मों पर चढ़ जाती है और सदा हरी भरी रहती है। शाखाएँ-प्रायः भुरचई रङ्ग की होती हैं। पत्ते-अण्डाकार या चौड़ाई लिए हुए आयताकार, तीक्ष्णाग्र, या कुछ-कुछ लम्बाग्र, चिकने, २-३ इञ्च लम्बे तथा ३/४ से १३/४ इञ्च चौड़े एवं १/४ इञ्च लम्बे वृन्त से युक्त होते हैं। पुष्प-१-३ इञ्च लम्बी पुष्पमञ्जरियाँ पत्रकोण या शाखाग्र से निकलती रहती हैं जिनमें छोटे-छोटे श्वेत सुगन्धित पुष्प रहते हैं। आभ्यन्तर दलों के खण्ड रोमश एवं मरोड़े हुए रहते हैं। फलियाँ-लम्बी एवं दो-दो एक साथ रहती हैं। बीज-नालीदार एवं रोमगुच्छ से युक्त होते हैं।

इसकी जड़ अनन्तमूल जैसी ही दिखलाई देती है। इस पर की छाल कृष्णाभ भूरे रंग की एवं काष्ठ से चिपकी रहती है। काष्ठ भाग अनन्तमूल की अपेक्षा अधिक कड़ा रहता है। क्वचित् यह फटी हुई रहती है। इसमें अनन्तमूल जैसी गन्ध नहीं रहती।

गुण और प्रयोग—इसके गुणधर्म अनन्तमूल जैसे ही हैं। सारिवाद्वय कहने पर इसका (कृष्ण) एवं अनन्तमूल (श्वेत) का ग्रहण करते हैं। ज्वर में पत्रयुक्त काण्ड का क्वाथ देते हैं।

कृष्ण सारिवा नाम से या अनन्तमूल के स्थान पर कहीं-कहीं निम्नलिखित लता का व्यवहार किया जाता है।

१२३ कृष्णसारिवा, जम्बुपत्राकारिका, करण्टा

ले०-*Cryptolepis buchanani Roem. & Schult.* (क्रिप्टोलेपिस् बुचनेनी रो. शु.)। Fam. Asclepiadaceae (एस्क्लेपिएडेसी)।

इसकी लता भारतवर्ष के सभी भागों में होती है। यह बहुत फैलने वाली एवं काष्ठीय होती है। पत्ते-चिकने, आयताकार, अण्डाकार, जामुन के पत्र-सदृश क्षोद लिप्त रहते हैं। पत्रसिराएँ पत्रतट के पहले ही परस्पर मिली हुई रहती हैं। पुष्प-पाण्डुरपीत और फलियाँ-दो-दो एक साथ रहती हैं। काण्डत्वक्-रक्ताभ कृष्ण एवं पतले परतों में छूटने वाली होती है। इस लता से अत्यधिक दूध निकलता है। इसके मूल में कोई गन्ध नहीं होती।

१२४ श्वेतसारिवा, अनन्तमूल, कपूरी

हि०-अनन्तमूल, कपूरी, सालसा। बं०-अनन्तमूल। म०-उपलसर, उपलसरी। गु०-उपलसरी, कागडियों कुंढेर, कपूरी मधुरी। ते०-पालसुगन्धी। ता०-नन्नारी। क०-नमडबेरू। अं०-Indian Sarsaparilla (इण्डियन् सारसापरिला)। ले०-*Hemidesmus indicus R. Br.* (हेमीडेस्मस् इण्डिकस्)। Fam. Asclepiadaceae (एस्क्लेपिएडेसी)।

यह इस देश के सब प्रान्तों में विशेषतः बिहार, बंगाल, सुन्दरबन, पश्चिमी घाट, मध्य प्रदेश, दक्षिण एवं लंका में पाई जाती है। इसकी लता-बहुवर्षायु, पतली, फैलने वाली या लपेट कर चढ़ने वाली गुल्मजातीय होती है। मूलस्तम्भ-काष्ठमय होता है। काण्ड-पतला, गोल,

चिकना या सूक्ष्म रोमयुक्त, लम्बाई में सूक्ष्म धारियों से युक्त एवं पर्व पर मोटा होता है। पत्र-विपरीत परन्तु प्रायः दूर-दूर, विभिन्न आकार के दीर्घवृत्त आयताकार से लेकर रेखाकार भालाकार, २-४ इञ्च लम्बे तथा विभिन्न चौड़ाई के (·३-१·५ इञ्च), ऊपर से चिकने, गहरे हरे रंग के एवं सफेद चिह्नों से युक्त, नीचे से हलके रंग के या कभी कभी श्वेत मृदुरोमश, नोकीले किन्तु चौड़े, पत्र के अग्र कुण्ठित, जालिका विन्यास युक्त एवं ३-४ मि. मि. लम्बे पर्णवृन्त से युक्त होते हैं। पुष्प-छोटे, बाहर से हरिताभ किन्तु भीतर बैंगनी रंग के पत्र कोणीय गुच्छों में आते हैं। फली-४-६ इञ्च लंबी, पतली, गोल, दो दो एक साथ परन्तु अपसारी, अग्र की ओर क्रमशः संकुचित, सीधी या कुछ टेढ़ी-मेढ़ी, सूक्ष्म धारीदार तथा चिकनी होती है। बीज-६-८ मि. मि. लम्बे, अण्डाकार, आयताकार, चिपटे, काले रंग के एवं श्वेत रोमगुच्छ से युक्त होते हैं।

मूल-इसके मूल का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है। यह करीब १२ इञ्च लम्बा, ३-६ मि. मि. मोटा, गोल, कठोर, मुड़ा हुआ कुछ पतले उपमूलों से युक्त, बाहर से गहरे बादामी रंग का तथा कभी कभी कुछ भूरे रंग का होता है। मध्य भाग पीत एवं काष्ठमय रहता है जिसके चारों ओर का भाग श्वेत रहता है। इसकी छाल भूरे रंग की, कार्क युक्त, चौड़ाई में फटी हुई एवं लम्बाई में धारीदार एवं आसानी से मध्य भाग से अलग की जा सकती है। इसमें कुछ कपूर जैसी मधुर गन्ध आती है तथा इसका स्वाद कुछ कड़ुआ, तिक्त किन्तु रोचक होता है। इसके स्थान पर करण्टा के काण्ड भी बिकते हैं जिसमें गन्ध नहीं होती। पुरानी गन्धहीन हो जाने पर इसका व्यवहार नहीं करना चाहिये। इसमें उड़नशील गन्धयुक्त कार्यकारी तत्त्व होने के कारण इसका क्वाथ न बनाकर फाँट बना व्यवहार करना चाहिये। यह तत्त्व विशेषतया इसकी छाल में रहता है इसलिये पतली-पतली जड़ या जड़ की छाल का उपयोग करना चाहिये।

रासायनिक संगठन—इसकी ताजी जड़ में ०·२२५% एक उड़नशील तैल होता है जिसका ८०% भाग एक काउमॅरिन (Coumarin) सदृश गन्धयुक्त रवेदार पदार्थ (2-Hydroxy-4-Methoxy benzaldehyde) से युक्त होता है। इसके अतिरिक्त दो स्टेराल् (Sterol-Hemidesterol, Hemidesmol), राल, कषाय द्रव्य, शर्करा, कुछ ठोस पदार्थ एवं कुछ ग्लाइकोसाइड (Glycoside) ये पदार्थ इसमें पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—अनन्तमूल मूत्रविरेचन, मूत्रविरजन, स्वेदजनन, अग्निवर्धक, त्वक्-दोषहर, रक्तशोधक, वर्ण्य, जीवनविनिमय क्रिया के लिए उत्तेजक, रसायन, बल्य, दाहप्रशमन, पुरीषसंग्रहणीय एवं स्तन्यशोधन है। इसका प्रयोग ज्वर, कुष्ठ, कण्डु आदि चर्म रोग, फिरंग, जीर्ण आमवात, प्रदर, अग्निमांद्य, अरुचि, अतिसार, प्रमेह एवं श्वास-कासादि में किया जाता है। इसके फांट से मूत्र की मात्रा दुगनी या चौगुनी बढ़ती है तथापि इससे वृक्क को कोई हानि नहीं होती। इसका स्वेदजनन कार्य साधारण है इसलिये साथ में अन्य ज्वरघ्न ओषधियों का प्रयोग करना चाहिये। इसमें जीवन-विनिमय क्रिया को उत्तेजित करने वाला धर्म बहुत महत्त्व का है। इसके साथ गुडूची एवं सुगन्धि द्रव्य मिलाकर प्रयोग करने से अधिक लाभ होता है।

(१) वृक्कशोथ जिसमें मूत्र की मात्रा कम हो, मूत्र गाढ़ा एवं लाल रंग का हो तब इसका फांट गुडुच एवं जीरे के साथ देने से मूत्रमार्ग का शोथ तथा दाह कम होता है।

(२) फिरंग की द्वितीयावस्था तथा अन्य चर्म रोगों में इसको गुडुच के साथ देने से अच्छा लाभ होता है।

(३) बच्चों की दुर्बलता तथा पाण्डु आदि में वायविडंग के साथ इसको देने से बहुत लाभ होता है।

(४) प्रदर में इससे अच्छा लाभ होता है। उपदंश या सोजाक से गर्भस्राव होता हो तो इसका प्रारम्भ से ही उपयोग करते हैं। इससे बच्चा गौर वर्ण का होता है।

(५) व्रण पर इसकी मूल का लेप करते हैं। नेत्राभिष्यंद में इसका दुग्ध डालते हैं।

मात्रा—फांट ५-१० तोला; कल्क ३-६ माशा।

अथ भृङ्गराजः (भाँगरा)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

भृङ्गराजो भृङ्गरजो मार्कवो भृङ्ग एव च। अङ्गारकः केशराजो भृङ्गारः केशरञ्जनः॥२३९॥
भृङ्गारः कटुकस्तीक्ष्णो रूक्षोष्णः कफवातनुत्॥ २४०॥
केश्यस्त्वच्यः कृमिश्वासकासशोथामपाण्डुनुत्। दन्त्यो रसायनो बल्यः कुष्ठनेत्रशिरोऽर्तिनुत्॥

भाङ्गरा के नाम तथा गुण—भाङ्गरा के संस्कृत नाम-भृङ्गराज, भृङ्गरज, मार्कव, भृङ्ग, अङ्गारक, केशराज, भृङ्गार और केशरञ्जन ये सब हैं। भांगरा-कटुरसयुक्त, तीक्ष्ण, रूक्ष, गरम, कफ-वात नाशक, केशों के लिये हितकर, त्वचा को साफ करने वाला, दाँतों के लिये हितकर, रसायन, बलकारक एवं कृमि, श्वास, कास, शोथ, आम, पाण्डुरोग, कुष्ठ, नेत्ररोग तथा शिरोरोग को दूर करता है॥ २३९-२४१॥

नोट—अन्य निघंटुओं में इसके श्वेत, पीत एवं कृष्ण (नील) इन तीन भेदों का वर्णन है। कृष्ण भृङ्गराज क्या है, इसका निर्णय नहीं हुआ है। श्वेत पुष्प का भृङ्गराज सर्वत्र पाया जाता है जिसे Eclipta alba (एक्लिप्टा एल्बा) कहते हैं। पीत पुष्प का भृङ्गराज बंगाल, आसाम, कोंकण तथा मद्रास के समतल भागों में होता है जिसे Wedelia calendulacea (वेडेलिआ कॅलेण्डुलेसिआ) कहते हैं। दोनों एक ही वर्ग के हैं तथा गुणों की दृष्टि से दोनों में विशेष अन्तर नहीं है इसलिये दोनों के गुण तथा प्रयोग एक साथ ही दिये हैं।

१२५ भाङ्गरा

हि०—भाङ्गरा, भङ्गरा, भंगरैया। बं०-भीमराज, केशुरिया, केसरी। म०-माका। गु०-भांगरो। कं०-गर्ग। ते०-गुंटकल, लगरा। ता०-करीशलकणी। फा०-जमर्दर। अ०-कदीमुल-बित। ले०-*Eclipta alba Hassk.* (एक्लिप्टा एल्बा हास्क.)। Fam. Compositae (कम्पोझिटी)।

श्वेत भांगरा—इस देश के प्रायः सब प्रान्तों में आर्द्र स्थानों में उत्पन्न होता है। पहाड़ों पर यह ६००० फीट की ऊँचाई तक पाया जाता है।

इसका क्षुप-प्रसर की तरह भूमि पर फैला हुआ रहता है। शाखायें अनेक, भूमि से उठी हुई, खुरखुरी और ग्रन्थियों पर प्रायः मूलयुक्त रहती हैं। पत्ते-छोटे बड़े विविध आकार वाले दो इञ्च तक लम्बे, चौथाई इञ्च चौड़े, अण्डाकार या आयताकार, नोकीले और विपरीत रहते हैं। पुष्प-छोटे वृन्त से युक्त एवं छोटे छोटे मुण्डकों में आते हैं जिनमें प्रान्तीय पुष्प स्त्रीलिंग और जिह्वाकार एवं केन्द्रीय पुष्प घंटिकाकार होते हैं।

पीले फूल का भाङ्गरा—आसाम, बङ्गाल, कोंकण तथा मद्रास आदि प्रान्तों में पाया जाता है। इसको लेटिन् में Wedelia calendulacea Less. (वेडेलिआ कॅलेण्डुलेसिया लेस.) कहते हैं। इसका प्रसर १८ इञ्च तक बड़ा होता है। इसके काण्ड जमीन के नीचे प्रायः १-२ फीट लंबाई में फैले रहते हैं जिनसे स्वावलम्बी शाखायें ऊपर की ओर निकली रहती हैं। पत्ते-आयताकार प्रासवत, २-३ इंच लंबे, लगभग अखण्ड या दन्तुर होते हैं। अधः पत्रावली के पत्र लगभग

दो चक्रों में और बाहर के ३–५ पत्र बड़े एवं पर्णाकार होते हैं। पुष्पों के मुण्डक पीले होते हैं जिसमें प्रान्तीय जिह्वाकार पुष्प संख्या में लगभग आठ होते हैं।

भृङ्गराज के स्वरस एवं पंचांग का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है। इसको उबालने से इसका गुण नष्ट होता है इसलिये इसके स्वरस का प्रयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन – श्वेत भृङ्गराज में अधिक मात्रा में राल तथा एक्लिप्टाइन (Ecliptine) एवं निकोटीन (Nicotine) नामक क्षाराभ पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—भृङ्गराज तिक्त, उष्ण, दीपन, पाचन, वातानुलोमक, रसायन, कफ वातहर, चक्षुष्य, त्वग्दोषहर, केश्य एवं वर्ण्य है। इसका प्रयोग कुपचन, यकृतविकार, पाण्डु, कास, श्वास, कुष्ठ, चर्म रोग एवं पलित में करते हैं। इसकी अधिक मात्रा से वमन होता है।

(१) यकृत पर इसकी विशेष क्रिया होती है जिससे पाचन सुधर कर शरीर की सभी क्रियाएं ठीक होती हैं। यकृत दोष के कारण उत्पन्न यकृत वृद्धि, प्लीहा वृद्धि, कामला, अर्श, उदर, शिरःशूल, त्वचा के रोग, चक्कर आदि में इससे लाभ होता है।

(२) जीर्ण चर्मरोग जैसे कुष्ठ, कण्डू, व्रण, पलित, इन्द्रलुप्त तथा वृश्चिक-दंशपर इसका लेप करते हैं तथा पिलाते हैं। बाल काला करने के लिये तथा बढ़ाने के लिये इसका रस काशीश के साथ लेप करते हैं। अग्निदग्ध व्रण पर मरवा, मेंहदी तथा इसकी पत्ती का लेप करने से जलन दूर होती है तथा व्रण का दाग भी नहीं रहता। इससे सिद्ध तैल का नस्य, केश्य रूप में प्रयोग किया जाता है जिससे शिरःशूल, दृष्टिमान्द्य एवं पालित्य आदि में लाभ होता है।

(३) रसायन के लिये विशेष कर नील भृङ्गराज के सेवन का विधान है। एक महीने तक इसके स्वरस-पान के साथ दुग्धाहार पर रहने से बल एवं वीर्य की वृद्धि होती है तथा शतायु होता है।

(४) छोटे बच्चों की खांसी में इसका १–२ बूंद स्वरस मधु के साथ देते हैं, जिससे गले की घरघराहट भी कम होती है।

(५) इसके बीज वाजीकर होते हैं।

मात्रा—स्वरस ½–१ तोला; बीज १–३ माशा।

अथ शणपुष्पी। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

शणपुष्पी स्मृता घण्टा शणपुष्पसमाकृतिः। शणपुष्पी कटुस्तिक्ता वामिनी कफपित्तजित्॥२४२॥

शणपुष्पी के नाम तथा गुण—शणपुष्पी, घण्टा तथा शणपुष्पसमाकृति (शणपुष्प के समान आकृति वाली) ये नाम 'शणपुष्पी' के हैं। शणपुष्पी-यह कटु तथा तिक्तरसयुक्त, वमन कराने वाली एवं कफ-पित्तनाशक होती है॥ २४२॥

१२६ शणपुष्पी

हि०–शनपुष्पी, सुनक, सनई, वनसन, पटसन, झुनझुनिया। **बं०**–वनशण। **म०**–घागरी, तिरत, खुलखुल। **गु०**–घुघरो। **क०**–गिजि गिल। **ते०**–घेलेफेर्रिटा। **ता०**–वेल्लैनिकलुकिलुप्पै। **ले०**–*Crotalaria verrucosa Linn.* (क्रोटेलेरिया वेर्रुकोसा लिन.)। Fam. Leguminoceae (लेगुमिनोसी)।

शणपुष्पी—प्रायः भारत के गरम प्रान्तों में उत्पन्न होती है और सिलोन में भी पाई जाती है।

इसका क्षुप–सीधा, अनेक शाखाओं से युक्त एवं ३-४ फीट ऊँचा होता है। शाखाएँ चार धारीयुक्त होती हैं। पत्ते–चौड़ाई लिये तिर्यगायताकार, १–२ इञ्च बड़े क्वचित् इससे भी बड़े, गोलदन्तुर या कभी-कभी अल्प खण्डित लहरदार, मृदुरोमश एवं छोटे वृन्त से युक्त होते हैं। पुष्प–पर्ण विपरीत या अग्रग, ३–७ पुष्प युक्त मंजरियों में, १·५–३″ बड़े नील या पीताभ आते हैं। फली–अल्पवृन्त युक्त, १ इञ्च लंबी, एवं १२ या अधिक बीजों से युक्त होती है।

इसके पत्तों का चिकित्सा में प्रयोग किया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह तिक्त, पित्तनाशक, कफघ्न एवं स्नेहन है। पत्तों का लेप शीतल एवं त्वग्दोषहर है। त्वचा के विकारों में इनका बाह्याभ्यंतर प्रयोग करते हैं। पत्तों के स्वरस से लालास्राव कम होता है।

अथ त्रायमाणा। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

बलभद्रा त्रायमाणा त्रायन्ती गिरिजाऽनुजा। त्रायन्ती तुवरा तिक्ता सरा पित्तकफापहा।
ज्वरहृद्रोगगुल्मार्शोभ्रमशूलविषप्रणुत्॥ २४३॥

त्रायमाणा के नाम तथा गुण—बलभद्रा, त्रायमाणा, त्रायन्ती, गिरिजा तथा अनुजा ये नाम 'त्रायमाणा' के हैं। त्रायमाणा–तिक्त तथा कषाय रसयुक्त, सारक, पित्त कफनाशक एवम् ज्वर, हृद्रोग, गुल्म, अर्श, भ्रम, शूल और विष को दूर करने वाली होती है॥ २४३॥

नोट—त्रायमाण एक संदिग्ध द्रव्य हो गया है। विभिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न द्रव्यों का त्रायमाण नाम से उल्लेख किया है किन्तु आजकल अधिकांश विद्वान् जेन्शियाना कुर्रो (Gentiana kurroo Royle) को त्रायमाण मानते हैं। इसका वर्णन पहले कुटकी के वर्णन के पश्चात् किया जा चुका है (पृष्ठ-७१) क्योंकि कुटकी में प्रायः इसकी मिलावट रहती है। जिन गुणों के लिये आचार्यों ने त्रायमाण का प्रयोग किया है वे इसमें मिलते हैं तथा इसका प्रादेशिक पर्वतीय नाम त्रायमाण भी कहीं-कहीं मिलता है। तिक्त, सारक आदि गुण तथा ज्वर, गुल्म आदि में काम करने के कारण एवं पर्वतीय स्थानों में होने वाले (गिरिजा) इस अत्यन्त उपयोगी द्रव्य को त्रायमाण होने की अधिक संभावना है। चरक में तिक्त स्कंध में (वि. अ. ८), रक्तपित्त के लिये (चि. अ. ४), ज्वर में (चि. अ. ३), गुल्म की चिकित्सा में (चि. अ. ५), पैत्तिक अतिसार में (चि. अ. १०) एवं विसर्प में (चि. अ. ११) तथा सुश्रुत में लाक्षादिगण (सू. अ० ३८) में इसका उल्लेख है। इसके संबंध में अन्य मतों का संक्षेप में उल्लेख अप्रासंगिक न होगा।

(१) श्री डा० वा० ग० देसाई ने ओषधि-संग्रह नामक ग्रन्थ में त्रायमाण नाम से डेल्फिनिअम् झलिल् (Delphinium zalil) का वर्णन किया है जिसका पंचांग ईरान से आता है। इसका पंजाबी नाम उन्होंने 'गाफिझ', ईरानी नाम झलिल् अदफ्रक् (अस्परग) दिया है। मुहीते आजम नामक ग्रंथ में गाफिस का संस्कृत नाम त्रायमाण दिया है। इसी पुस्तक में डा० देसाई ने 'गाफिथ्', गाफिस् नाम से ईरान में होने वाला जेन्शियाना का भेद जेन्शियाना डेहुरिका (Gentiana dehurica) का उल्लेख किया है। इससे मालूम होता है कि ईरान से आनेवाले इन दोनों द्रव्यों को गाफिस् के नाम से प्रयोग करते हैं।

(२) श्री यादवजी ने 'द्रव्यगुणविज्ञान' में श्री वैद्यराज विद्याधरजी विद्यालंकार, पो० सोलन, जि० शिमला के मत का उल्लेख करते हुए एक वनस्पति का वर्णन किया है, किन्तु उसके लेटिन नाम को नहीं लिखा है। श्री प्रियव्रतजी शर्मा ने 'द्रव्यगुणविज्ञान' में त्रायमाणानाम से जेन्शियाना

कुर्रो का वर्णन किया है जो उपर्युक्त श्री यादवजी की पुस्तक में वर्णित वनस्पति से मिलता है। इससे ऐसा मालूम होता है कि श्री यादव जी की पुस्तक में की वनस्पति जेन्शियाना कुर्रो ही है किन्तु इन्होंने इसमें श्री देसाई के जिस नव्यमत का उल्लेख किया है वह श्री देसाई ने अपनी पुस्तक में डेल्फिनिअम् के अन्तर्गत किया है न कि जेन्शियाना के वर्णन में।

(३) श्री ठाकुर दलजीत सिंहजी 'यूनानी द्रव्यगुणविज्ञान' में गाफिस नाम से जे० डेहुरिका का वर्णन करते हैं जिसका भारतीय भेद जे० कुर्रो मानते हैं। इसका स्थानीय नाम त्रायमाण होने का उल्लेख है।

(४) कुछ वंगीय वैद्य, त्रायमाण नाम से शुष्क उदुम्बर जातीय अन्यफल 'बलाडुमुर', 'भुई-डुमूर' Ficus heterophylla (फिकस् हेटेरोफाइला) या उसके भेद का प्रयोग करते हैं जिसमें सारक गुण न होकर कुछ स्तंभन गुण ही होता है।

(५) कुछ लोग बनफसा को, कुछ पियारांगा या कहीं कहीं ममीरी नाम से भी बिकने वाली थॅलिक्ट्रम् फोलियोलोसम् (Thalictrum foliolosum) की जड़ को त्रायमाणा मानते हैं। ममीरी का नेत्र रोगों में अधिक उपयोग होता है किन्तु त्रायमाणा के गुणों में उसके नेत्र्य होने के संबंध में कुछ भी उल्लेख नहीं है।

पहले कुटकी के साथ जेन्शियाना कुर्रो का वर्णन (पृष्ठ-७१) किया जा चुका है। यहाँ अन्य द्रव्यों का वर्णन किया जा रहा है।

१२७ त्रायमाण (१)

ले०–*Delphinium zalil Aitch. & Hemsl* (डेल्फिनिअम् जलील ऐ., हे.)। Fam. Ranunculaceae (रेनन्क्युलेसी)। **हिं**–असवर्। **बं०**–गुड्अलील। **पं०**–असवर्ग, गाफिस्। **इरा०**–झलिल् असफ़क्। **अ०**–झरिर।

अफगानिस्तान, फारस आदि देशों में यह होता है। इसका **क्षुप** बहुवर्षायु होता है। **पत्र**–छोटे तथा पीताभ होते हैं। **पुष्प**–चमकीले, पीले रंग के मृदुरोमश तथा उनके नीचे कोमल काँटे रहते हैं। **फल**–छोटे, शिराओं से युक्त, नोकदार, डंठलदार एवं तीन कोष्ठयुक्त होता है। **बीज**–कोणयुक्त, हलके भूरे या कपिल रंग के होते हैं। **जड़**–लंबी होती है। इसके पुष्पयुक्त पंचांग का आयात होता है जो वस्त्र रंगने के काम आता है। यह हलके हरिताभ पीले रंग का एवं ताजी अवस्था में मधु जैसा सुगंधित रहता है।

रासायनिक संगठन—इसमें आइसोर्हॅम्नेटिन् (Isorhamnetin, $C_{16}H_{12}O_7$), क्वेर्सेटिन् (Quercetin) तथा संभवतः केम्फेरोल (Kaempferol) नामक तत्त्व पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—यह तिक्त, पौष्टिक, मूत्रजनन, कोष्ठवातप्रशमन, आनुलोमिक, दीपन, वेदनाहर एवं अपक्षालक (detergent) है। इससे पित्तस्राव होता है, जिससे पाचन उत्तेजित होता है। भूख लगती है तथा शौच साफ होता है। इसका क्वाथ बनाकर दिया जाता है। अधिक मात्रा से हानि होती है।

इसका प्रयोग कुपचन, आध्मान, अग्निमांद्य, उदरशूल, अर्श, कामला, प्लीहावृद्धि, शोथ, सभी प्रकार के उदर, जीर्णज्वर एवं पित्तज्वर में किया जाता है। पित्तज्वर में इसका अधिक उपयोग करते हैं।

इसकी राख नींबू के रस के साथ मिलाकर या घृत के साथ खुजली आदि त्वचा के रोगों में लगाई जाती है। जव के आटे के साथ इसके पञ्चांग का चूर्ण पकाकर उसकी लुगदी सूजन या फोड़े पर बाँधते हैं।

मात्रा—½–१ तो० क्वाथ बनाकर।

१२८ त्रायमाण (२)

ले०–*Thalictrum foliolosum D C.* (थॅलिक्ट्रम् फोलिओलोसम् डीसी.)। Fam. Ranunculaceae (रेनन्क्युलेसी)। **हिं०**–ममीरा, पीली जड़ी, शुद्रक, चवन्नीगाछ। **बं०**–गुर-वियानि। **बंब**–ममीरी, पीआरंग। **अ०**–ममीरा चीनी।

त्रायमाण सदृश कुछ गुण इसमें मिलने के कारण इसको कुछ लोग त्रायमाण मानते हैं। यह नेत्र्य होने के कारण वास्तविक ममीरी Coptis teeta Wall (कॉप्टिस् टीटा वाल्) का प्रतिनिधि भी इसे मानते हैं। पिआरंग नाम से बजार में बिकनेवाला द्रव्य इसी की जड़ है, ऐसा मानते हैं, किन्तु इसमें सन्देह है।

यह हिमालय में सर्वत्र ५००० से ८००० फीट तक एवं खासिआ पहाड़ों पर ४००० से ६००० फीट की ऊँचाई तक होता है। इसका **क्षुप**–२–४ फीट ऊँचा, बहुवर्षायु तथा दृढ़ होता है। **पत्ते**–पक्षाकार संयुक्त एवं पत्राधार कोषमय होता है। **पत्रक**–४·६ मि० मि०, बड़ी चवन्नी की तरह गोलाई लिये हुए तथा धार पर प्रायः गोल दन्तुर होते हैं। **पुष्प**–श्वेत या हलके हरे रंग के गुच्छे में आते हैं। **फल**–छोटे, आयताकार, दोनों तरफ नोकीले तथा धारीदार होते हैं।

मूलस्तम्भ—गाँठदार, पतले उपमूलों से युक्त एवं तोड़ने पर पीला होता है। इसका स्वाद कड़ुवा होता है। इसके मूल का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसमें ८½% बर्बेरीन (Berberine) एवं थॉलिक्ट्राइन् (Thalictrine) नामक तत्त्व होते हैं। मूल में का यह भाग जल में आसानी से घुल जाता है किन्तु मद्यसार में कम घुलता है।

गुण और प्रयोग—यह तिक्त-पौष्टिक, विषमज्वरनाशक, सारक, एवं मूत्रल है। इसका प्रयोग विषमज्वर, अग्निमांद्य, कुपचन एवं रोगनिवृत्ति के पश्चात की दुर्बलता में करते हैं। नेत्ररोग में इसको घिसकर पलकों पर लेप करते हैं।

मात्रा—२–५ रत्ती।

१२९ त्रायमाण (३)

ले०–*Ficus heterophylla Linn. f.* (फिकस् हेटेरोफाइला लिन); Fam. Moraceae (मोरॅसी)। **बं०**–भुइडुमूर, बालाडुमूर।

इसे वंगीय वैद्य त्रायमाण नाम से प्रयोग में लाते हैं। यह भारत के सभी उष्ण स्थानों में होता है। इसका **गुल्म**–झाड़दार या कभी-कभी जमीन या चट्टानों पर फैला हुआ होता है। **शाखाएँ**–मृदुरोमश होती हैं। **पत्ते**–सनाल, आकार में छोटे बड़े, अण्डाकार या कुछ भालाकार खुरदरे एवं कटे किनारेवाले होते हैं। **फल**–का अग्र भाग मोटा तथा गोलाकार होता है। **बीज**–गोलाकार होते हैं।

गुण और प्रयोग—इसके मूल का रस शूल में देते हैं। इसके पत्तों का रस दूध के साथ अतिसार में दिया जाता है। कास, श्वास में इसके मूल की छाल धनिया के साथ चूर्ण रूप में दी जाती है।

अथ मूर्वा। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

मूर्वा मधुरसा देवी मोरटा तेजनी स्रुवा। मधुलिका मधुश्रेणी गोकर्णी पीलुपर्ण्यपि ॥२४४॥
मूर्वा सरा गुरुः स्वादुस्तिक्ता पित्तास्रमेहनुत्। त्रिदोषतृष्णाहृद्रोगकण्डूकुष्ठज्वरापहा ॥२४५॥

मूर्वा के नाम तथा गुण—मूर्वा, मधुरसा, देवी, मोरटा, तेजनी, स्रुवा, मधूलिका, मधुश्रेणी, गोकर्णी और पीलुपर्णी ये सब नाम मूर्वा के हैं। मूर्वा स्वादिष्ट, तिक्त रसयुक्त, सारक, गुरु एवं पित्तरक्त, प्रमेह, त्रिदोष, तृषा, हृद्रोग, कण्डू (खुजली), कुष्ठ तथा ज्वर को दूर करने वाली होती है॥

मूर्वा एक संदिग्ध द्रव्य है। अनेक स्थानों पर विभिन्न प्रयोगों में मूर्वा का उल्लेख मिलता है। सुश्रुत के टीकाकार डल्हण के समय ही यह द्रव्य संदिग्ध रहा है ऐसा उनकी टीका से मालूम होता है। क्योंकि उन्होंने उसके परिचय में निम्न तीन प्रकार के मतों का विभिन्न स्थानों पर वर्णन किया है।

(१) मूर्वा चोरस्नायुः, यथा पूर्वदेशे गुणान् कुर्वन्ति धनुषाम् (सु॰ सू॰ अ॰ २२);
मूर्वा कन्दलीसदृशः स्वल्पविटपः 'इगौड़' इति लोके। (सु॰ सू॰ अ॰ २९)

(२) मूर्वा धनुर्गुणोपयोग्या 'दुधऊ' इति लोके।

(३) अन्ये कोविदारयुग्मपत्रां लताविशेषां मूर्वामाचक्षते।

इन वचनों से ऐसा मालूम पड़ता है कि प्रथम एवं द्वितीय मत उन्हें कुछ मान्य थे और तृतीय मत स्वीकार्य नहीं था। इसी प्रकार श्रीकण्ठ (सन् १२००–१२५०) ने 'मूर्वा स्वनामख्याता तदभावे जिङ्गलमूलम्' लिखा है जिससे यह अनुमव होता है कि उनके समय में भी यह द्रव्य सन्दिग्ध रहा है।

विभिन्न निघण्टुओं के अनुसार मूर्वा मधुर, तिक्त, सर, गुरु, त्रिदोषशामक एवं ज्वर, प्रमेह, हृद्रोग, कुष्ठ, वमन एवं पाण्डु रोग में लाभदायक है। सुश्रुत में आरग्वधादिगण, पटोलादिगण, पित्तसंशमन वर्ग एवं विरेचन विकल्प अध्याय में इसका उल्लेख है। चरक में तृप्तिघ्न, स्तन्यशोधन, दशेमानि में एवं तिक्तस्कन्ध में इसका पाठ है। क्षीरशोधन एवं वमनोपग द्रव्य के रूप में भी इसका उल्लेख है।

इसके स्वरूप-वर्णन से ऐसा मालूम होता है कि यह कोई मजबूत रेशेवाली लता विशेष होगी जिसका मौर्वी आदि बनाने में उपयोग किया जाता रहा है। विभिन्न निघण्टुओं ने इसके रूपपरिचयात्मक जो नाम दिये हैं वे सम्भवतः एक ही वनस्पति के लिये नहीं हैं। आज मूर्वा नाम से ली जानेवाली वनस्पतियों में से किसी में एक तो दूसरी में दूसरा नाम सार्थक मालूम पड़ता है। सम्भव है कि प्रत्यक्षतः न देखने के कारण विभिन्न आचार्यों द्वारा प्रयुक्त सभी नामों को एक साथ पर्याय में लिख दिया गया है। इसी प्रकार मोरटा को कुछ निघण्टुकारों ने इसके पर्याय में लिखा है और कुछ ने मूर्वा-विशेष कहकर दूसरे द्रव्य के रूप में भी उल्लेख किया है।

निम्नलिखित द्रव्यों का मूर्वा नाम से प्रयोग हो रहा है।

(१) **मरुआबेल, चिन्हार**—सम्भवतः डल्हण ने इसे ही-धनुर्गुणोपयोग्या 'दुधऊ' इति लोके-कहा है। अतिरसा, गोकर्णी, स्रुवा आदि पर्याय इसके लिये उचित मालूम पड़ते हैं। यह क्षीरबहुल-लता होती है। रॉक्सबर्ग के मतानुसार वनस्पति सृष्टि में अत्यन्त मजबूत रेशों में इसके काण्डत्वक् के निकाले हुये रेशों की गणना की जानी चाहिये। इसके स्थानिक थारू नाम मारवी या मरुआबेल मूर्वा से मिलते-जुलते मालूम पड़ते हैं। इसमें मूर्वा के गुण भी मिलते हैं। इन्हीं आधारों से श्री ठा॰ बलवन्तसिंहजी ने इसे मूर्वा माना है।

(२) **वंगीय मूर्वा**—यह डल्हणोक्त प्रथम द्रव्य चोरस्नायु या इगौड़ मालूम पड़ता है। इसे बंगाल के वैद्य मूर्वा मानते हैं।

(३) **मालझन, मालुआ बेल**—सम्भवतः यही डल्हणोक्त कोविदारयुग्मपत्रा वा अन्योक्त पृथक्पर्णी है जिसकी बड़ी विस्तृत लतायें होती हैं तथा पत्ते कचनार जैसे द्विविभक्त होते हैं।

(४) **मोरवेल, रानजाई**—बम्बई के तरफ इसको मूर्वा मानते हैं। इसके लिये त्रिपर्णी नाम सार्थक मालूम पड़ता है।

(५) **मुरहरी, मोरहरी**—चित्रकूट में यह मुरहरी नाम से प्रसिद्ध है। मधुरसा, पीलुपर्णी, तेजनी आदि पर्याय इसके लिये उपयुक्त प्रतीत होते हैं। सम्भवतः डल्हण-निर्णीत मोरटा यह हो।

(६) **मरोडफली**—इसके ऐंठे हुये फलों को उत्तरप्रदेश में मूर्वा नाम से लिया जाता है जो वास्तव में 'आवर्तनी' है न कि मूर्वा।

संक्षेप में प्रत्येक का स्वतन्त्र वर्णन यहाँ किया जा रहा है। इनमें से चिन्हार की मूर्वा होने की अधिक सम्भावना है।

१३० मूर्वा (१)

मिर्जापुर—जरतोर, चिन्हार। थारू–मारवी, मरुआबेल। खर–सिटी, चिटी। संथा–कोंगा, सिटकी। ले॰–*Marsdenia tenacissima. W. & A.* (मार्सडेनिया टेनॅसिस्सिमा)। Fam. Asclepiadaceae (एस्क्लेपिएडेसी)।

यह दून के खैर के जंगल, हिमालय के नीचे का भाग तथा बिहार में प्रायः शुष्क पर्वतमालाओं एवं झाड़ीदार जंगलों में पाई जाती है।

इसकी लता–मोटी, मजबूत काण्ड की, दुग्धयुक्त एवं चक्रारोही होती है। इसका नवीन भाग रोमश एवं काण्डत्वक् धूसर, कार्कयुक्त एवं नालीदार होता है। पत्ते–४-६ इञ्च लम्बे, ३-४ इञ्च चौड़े-स्पर्श में मखमली तलवाले, चौड़ाई लिये हुये लट्वाकार, लम्बाग्र एवं आधार की तरफ फलकमूल यकायक बहुत गहरा फटा हुआ हृदय होता है। पत्रनाल–२·५ इञ्च लम्बा होता है। पुष्प–हरित-पीत प्रायः दुर्गन्धयुक्त एवं गुच्छों में आते हैं। फली–४·५-५ इञ्च लम्बी एवं व्यास में १·२-१·४ इञ्च, रोमश और आधार से एक तिहाई दूरी पर सबसे अधिक मोटी होती है।

नवीन शाखाओं की त्वचा से सफेद रेशम जैसे रेशे निकलते हैं जिनसे मछली मारने की रस्सी एवं धनुष की डोरी (मौर्वी) बनाई जाती है। यह विषमज्वर में बहुत उपयोगी बतलायी जाती है। इसका मूल तथा काण्ड सफेद निसोथ (श्वेत त्रिवृत) के नाम से बाजार में बिकता है। (ठा॰ बलवन्तसिंह)

इसकी एक दूसरी उपजाति M. hamiltonii, Wight (मॉ. हमिल्टोनाई) भी मिलती है जिसे मोरन भडा भी कहीं-कहीं कहते हैं। इसमें पुष्प छोटे और आभ्यन्तर कोश बाहर से सफेद होते हैं।

लाखन—नामक एक और इसी वर्ग की बड़ी लता होती है जिसे लकवा में बहुत लाभदायक समझा जाता है। इसका ले॰ नाम Dregia volubilis Benth. ex Hook. f. (ड्रेगिया व्हॉल्यूबिलिस्) है।

१३१ मूर्वा (२)

सं॰–चोरस्नायु ? बं॰, म॰–घणरूप। बं–गोराचक्र, मूर्वा। उ॰ प्र॰–नागदमन। ले॰–*Sansevieria roxburghiana Schult.* (सॅन्सेवेरिया रॉक्सबर्घियाना शु॰); Fam. Haemodoraceae (हिमोडोरेसी)।

यह कारोमंडल तट पर पाया जाता है। बगीचों में गमलों में यह लगाया हुआ मिलता है।

इसमें जमीन के नीचे दिगन्तसम फैला हुआ अन्तर्भूमिशायी काण्ड होता है, जिससे जगह-जगह पत्रगुच्छ ऊपर निकले रहते हैं।

पत्ते-खड़े, १२-१८" लम्बे, १-१·३" चौड़े, अधरतल पर उन्नतोदर, बीच में सबसे अधिक चौड़े, दोनों तटों पर श्वेताभ पट्टियों से युक्त होने के कारण चित्रित एवं इनका अग्र तीक्ष्ण, कठोर एवं १ इञ्च लम्बा होता है। पत्तों के बीच से पुष्पध्वज-निकलता है। व्यूह सवृन्त काण्डज, घना १२"×२" बड़ा एवं पुष्प २-३ एक साथ उन्नत स्थानों से निकलते हैं।

इससे भी मजबूत रेशे निकलते हैं, जिनका मौर्वी बनाने में उपयोग होता है। पूर्वी भारत, बंगाल एवं उड़ीसा में इसका मूर्वा के नाम से प्रयोग कहीं-कहीं होता है।

इसके पत्र एवं मूल का चिकित्सा में उपयोग होता है।

गुण और प्रयोग—पुरानी खाँसी में इसकी जड़ का रस मधु के साथ देते हैं। इसके कोमल पत्तों का रस बच्चों को गले का कफ ढीला होकर निकालने के लिये देते हैं।

१३२ मूर्वा (३)

सं०–कोविदार युग्मपत्रा, पृथक्पर्णी। हि०–मालझन, माहुल, मालो, मजुलाइन। बं०–चेहुर ते०–अड्डा। था०–महुलन। खर०–महुलान। संथा–लमकलर, गोमकर। उ०–सियालपत्ता। ले०–*Bauhinia vahlii W. & A.* (बौहिनिया वाह्ली)। Fam. Leguminosae (लेग्युमिनोसी)।

यह हिमालय के निम्न भागों में ३००० फीट तक एवं आसाम, मध्यप्रदेश तथा बिहार में नम एवं छायादार स्थानों में वृक्षों पर फैली हुई पाई जाती है।

इसकी लता–बहुत बड़ी तथा आरोहणशील होती है। शाखाओं के अग्र पर प्रायः दो-दो सूत्र रहते हैं। नवीन शाखाओं, पत्रनालों एवं पत्तों के अधः पृष्ठों पर रक्ताभ या मखमली रोमावरण होता है। पत्ते–१ से १½ फीट तक चौड़े, चौड़ाई में कभी-कभी अधिक नहीं तो लम्बाई-चौड़ाई में बराबर, द्विखण्डित, खण्ड गहराई तक कटे हुये एवं फलकमूल गहरा, हृद्वत् होता है। पुष्प–श्वेत तथा मलाई के रंग के, समस्थ काण्डज व्यूह में आते हैं। फली–कठोर, ६-१२ इञ्च लम्बी, १½-२ इञ्च चौड़ी एवं रोमश होती है।

इसके पत्तों के पत्तल आदि बनाये जाते हैं। छाल के रेशों से रस्सियाँ बनाई जाती हैं। इसकी फलियों को आग में चिटका कर बीज निकाले जाते हैं, जिन्हें खाते हैं।

देहरादून के व्यापारियों द्वारा इसके मूल मूर्वा–नाम से बेचे जाते हैं। डल्हण ने इसका माल नाम से उल्लेख किया है एवं इसे कोविदार सदृश पर्ण वाला कहा है। डल्हण के समय से ही कुछ लोग इसे मूर्वा नाम से प्रयोग करते रहे हैं। किन्तु वह मत डल्हण को मान्य नहीं था क्योंकि अश्मंतक के परिचय में उसके लिये 'मालुया-सदृशपत्रः' लिखा है न कि 'मूर्वासदृशपत्रः'।

इसमें एक गोंद होता है। वाह्यत्वक् में टैनिन की मात्रा १७% एवं काण्ड में ७% होती है।

इसका मूल ज्वरघ्न, फल अतिसारघ्न एवं मूल-स्वरस क्षय में पिलाने के लिये लाभदायक माना जाता है। बीज बल्य माने जाते हैं।

१३३ मूर्वा (४)

हि०–चुरनहार। उ०–गोलरंग। देह०–बेलकंगु, बेलकम। म०–रानजाई। गु०–मोरवेल। ले०–*Clematis gouriana Roxb.* (क्लेमॅटिस् गोरियाना राक्स.)। Fam. Ranunculaceae (रेननक्युलेसी)।

यह पश्चिम हिमालय में ५००० फीट तक एवं भारत के सभी प्रान्तों में १ से ३ हजार फीट तक होती है।

यह लता जाति का एक विस्तृत क्षुप है, जिसकी कई उपजातियाँ इस प्रान्त में पाई जाती हैं। नवीन भाग मृदु रोमश होता है। पत्ते-संयुक्त पक्षवत् होते हैं। पत्रनाल सूत्रसदृश होता है, जिससे ये लताएँ दूसरे वृक्षों पर चढ़ती हैं। पत्रक-अण्डाकार, आयताकार, हृद्वत् तीक्ष्णाग्र, एवं ऊपर से चमकीले होते हैं। पुष्प-प्रायः श्वेत वर्ण के एवं त्रिविभक्त मञ्जरियों में होते हैं। फल–रोमश एवं पंखवद् पुच्छदार होते हैं।

महाराष्ट्र के कुछ लोगों ने इसे मूर्वा माना है, किन्तु इसके किसी भाग से रेशे नहीं निकलते; इसलिये इसे मूर्वा मानना उचित नहीं है। मूर्वा को 'धनुर्गुणोपयोग्या' होना आवश्यक है।

रासायनिक संगठन—इसमें एक तिक्त विषैला तत्त्व पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह स्रंसन, कुष्ठघ्न एवं स्वेदजनन है। इसके पत्ते तथा ताजे काण्ड को पीसकर चर्म पर लगाने से छाले पड़ते हैं।

उपदंश, गण्डमाला, रक्तपित्त, कुष्ठ एवं खुजली में इसके पञ्चांग का फांट देते हैं। इससे त्वचा की विनिमय-क्रिया ठीक होती है। ज्वर एवं नये सन्धिवात में इससे लाभ होता है।

१३४ मूर्वा (५)

सं०–पीलुपर्णी, मधुरसा, तेजनी, मोरटा। चित्रकूट–मुरहरी। ता०–भूमि चकरे। ते०–मोरिनिका। गु०–विका। ले०–*Maerua arenaria Hook. f. & Th.* (मेरुआ एरेनेरिया हुक.)। Fam. Capparidaceae (कॅपेरिडेसी)।

यह पंजाब, सिंधु, गुजरात, दक्षिण एवं मध्यभारत में होती है।

इसकी आरोही झाड़ीदार लता होती है। पत्र–१ से २ इञ्च लम्बे, ½–१ इञ्च चौड़े, अण्डाकार-आयताकार, कुण्ठिताग्र एवं चिकने होते हैं। पुष्प–हरिताभ श्वेत, समशिख (कोरिम्ब) गुच्छों में आते हैं। फल–हलके भूरे रंग के तथा प्रत्येक बीजों के बीच में संकुचित होते हैं। बीज–भूरे, गोल तथा काँटेदार होते हैं।

इसकी जड़ रसायन, बल्य एवं उत्तेजक मानी जाती है।

१३५ मूर्वा (६)

सं०–मूर्वा, आवर्तनी, आवर्तमाला। हि०–मरोड़फली, मरोरफली, ऐंठनी, गोमठी। म०–केवण, मुरडशेंग। बं०–आरमोरा। गु०–मरडासिंग, मरडासिंगी। ता०–वलंबुरी। ते०–आंडामति। ले०–*Helicteres isora Linn.* (हेलिक्टेरीज आइसोरा लिन,); Fam. Sterculiaceae. (स्टर्क्युलिएसी)।

यह पश्चिम एवं मध्य भारत के शुष्क जंगलों में, बिहार से लेकर जम्मू तक तथा पश्चिमी पेनिनसुला में पाई जाती है।

इसका गुल्म या छोटा वृक्ष होता हैं। पत्ते–फालसे की तरह तथा ऊपर से खुरदरे होते हैं, मध्यनाड़ी के भाग असमान होते हैं। शिराएँ–५–७ होती हैं। पुष्प–टेढ़े, अनियताकार तथा लालरंग के होते हैं। फल–१–२ इंच लम्बे ऐंठे हुये तथा पाँच खण्ड युक्त होते हैं। यह पाँच स्त्री-केशरों से बने हुए होते हैं। इनका मूर्वा नाम गलती से प्रयोग किया जा रहा है। इसकी छाल से सफेद दृढ़ रेशे भी निकाले जाते हैं।

गुण और प्रयोग—यह शीतल, कषाय, त्रिदोषघ्न एवं कृमिनाशक है।

इसके फल स्नेहन एवं ग्राही होते हैं तथा बच्चों के मरोड़ एवं आनाह में लाभदायक हैं।

इसकी छाल या फल अतिसार तथा प्रवाहिका में लाभदायक है। शूल में मूल, छाल या फल दिया जाता है। पेट की बीमारियों में इसका चूर्ण भूनकर २½-३ माशे की मात्रा में घृत एवं शर्करा के साथ दिया जाता है।

इसके मूल की छाल का क्वाथ मधुमेह में दिया जाता है। खुजली में इसके फल को घिस कर लेप करने से लाभ होता है।

मात्रा—१½-३ माशा।

अथ काकमाची (मकोय)। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

काकमाची ध्वाङ्क्षमाची काकाह्वा चैव वायसी। काकमाची त्रिदोषघ्नी स्निग्धोष्णा स्वरशुक्रदा॥ तिक्ता रसायनी शोथकुष्ठार्शोज्वरमेहजित्। कटुर्नेत्रहिता हिक्काच्छर्दिहृद्रोगनाशिनी ॥२४७॥

मकोय के नाम तथा गुण—काकमाची, ध्वाङ्क्षमाची, काकाह्वा और वायसी ये सब नाम मकोय के हैं। **मकोय**—तिक्त तथा कटुरस युक्त, त्रिदोषनाशक, स्निग्ध, उष्ण, स्वर को ठीक करने वाली, शुक्रजनन, रसायन, नेत्र के लिये हितकर एवं शोथ, कुष्ठ, अर्श (बवासीर), ज्वर, प्रमेह, हिक्का, वमन और हृद्रोग को दूर करने वाली होती है॥ २४६-२४७॥

१३६ मकोय

हि०—मकोय, छोटी मकोय। बं०—काकमाची, गुडकामाई। म०—कामोणी। गु०—पीलुडी। फा०—रूबाहतुर्बुक। अ०—इनबुस्सालब। अं०—Garden Nightshade (गार्डेन नाइटशेड)। ले०—*Solanum nigrum Linn.* (सोलॅनम् नाइग्रम् लिन.)। Fam. Solanaceae (सोलेनेसी)।

यह प्रायः सब प्रान्तों में एवं ८००० फीट तक पश्चिम हिमालय में उत्पन्न होती है।

इसका क्षुप-१-१॥ हाथ तक ऊँचा होता है और शाखायें-सघन होती हैं। यह गर्मी में नष्ट हो जाता है और वर्षा के अन्त में उत्पन्न हो जाड़े में खूब हरा-भरा दिखलाई पड़ता है। इसके **पत्ते**-अखण्ड, लहरदार या कभी कभी दन्तुर या खण्डित, लट्वाकार, प्रासवत् लट्वाकार या आयताकार, ४×१'७ इञ्च तक बड़े और उनका फलक-प्रायः वृन्त पर नीचे तक फैला रहता है। **पुष्प**-छोटे, सफेद और पत्रकोण से हट कर निकले हुए पुष्पदंड पर समस्थ मूर्धज क्रम में निकले रहते हैं। **फल**-गोल और पकने पर काले हो जाते हैं। कभी-कभी लाल या पीले भी होते हैं।

इसके फल एवं पंचांग का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है। चरक में तिक्तस्कन्ध में इसका पाठ है। इसके शाक का प्रयोग चरक ने वातरक्त, अर्श, ऊरुस्तम्भ आदि में किया है।

रासायनिक संगठन—इसमें सोलेनिन (Solanin) नामक एक क्षाराभ पाया जाता है। इसके अतिरिक्त सॅपोनिन् भी इसमें होता है। इसमें का विषैला द्रव्य बहुत अल्प मात्रा में इसमें होता है। इसकी विषाक्तता की परीक्षा करने के लिए भेड़ों को खिला कर देखा गया है।

गुण और प्रयोग—यह त्रिदोषशामक, अनुष्णशीत, तिक्त, कटु, रसायन, कुष्ठघ्न, भेदन (सारक), मूत्रजनन, वृष्य, स्वेदजनन एवं वेदनाहर है। इसके ताजे पत्तों का स्वरस गरम करके दिया जाता है। इसके फल ज्वर, अतिसार, नेत्ररोग एवं हृद्रोग में लाभदायक हैं।

इसका प्रयोग शोथ, कुष्ठ, नेत्र रोग, हृद्रोग, जीर्णयकृत-वृद्धि, रक्तष्ठीवन, अर्श, ज्वर एवं कंडू में किया जाता है।

(१) इसका प्रधान कार्य यकृत पर होता है। जीर्ण यकृद्वृद्धि, अर्श, उदर, रक्तष्ठीवन, चर्मरोग तथा आंव आदि यकृत विकार के कारण होने वाले रोगों में इससे लाभ होता है। इससे शौच साफ होता है तथा मूत्र द्वारा भी दोष निकलते हैं।

(२) जीर्ण चर्म रोग विशेषकर कंडू, सोराइसिस् (Psoriasis) तथा दाद में इसके कोमल कांड तथा पत्तों का शाक खिलाते हैं एवं पत्रलेप भी करते हैं।

(३) किसी भी प्रकार के शोथ में इसका बाह्यान्तर प्रयोग लाभदायक है। इसका शाक शोथ में खिलाते हैं। जलशोथ में इसका स्वरस अधिक मात्रा में दिया जाता है।

मात्रा—स्वरस १-२ तोला।

अथ काकनासा। तस्या नामगुणानाह

काकनासा तु काकाङ्गी काकतुण्डफला च सा॥ २४८॥
काकनासा कषायोष्णा कटुका रसपाकयोः।
कफघ्नी वामनी तिक्ता शोथार्शश्वित्रकुष्ठहृत्॥ २४९॥

काकनासा के नाम तथा गुण—काकनासा, काकाङ्गी और काकतुण्डफला ये नाम काकनासा के हैं। काकनासा—कषाय, कटु तथा तिक्त रसयुक्त, उष्णवीर्य, विपाक में कटु रसयुक्त, कफनाशक, वमन कराने वाली एवं शोथ, अर्श, सफेद कुष्ठ को दूर करने वाली होती है॥ २४८-२४९॥

काकनासा संदिग्ध द्रव्य है। कई वनस्पतियों के फलों को जो काक तुण्ड सदृश दिखलाई देते हैं, काकनासा नाम से ग्रहण किया जाता है। चरक में मधुर स्कन्ध में तथा च्यवनप्राश में इसका उल्लेख है। कासचिकित्सा के त्र्यूषणादि घृत में एवं अपस्मार, योनिरोग आदि की चिकित्सा में उल्लेख है। सुश्रुत में अनुवासनवस्ति-द्रव्यों में इसका उल्लेख है। चक्रपाणि एवं डल्हण की टीकाओं में इसे 'वायसफला' लिखा हुआ है। अन्य टीकाकारों ने इसका प्रादेशिक नाम कौवाटोटी, कौवाठोडी, कौवाडोडी आदि दिया है। कहीं-कहीं काकनासा एवं काकजंघा ये एक दूसरे के पर्याय दिये हैं, जो उचित नहीं मालूम होता। इस वनस्पति के निर्णय में काकतुण्डवत् फल का होना आवश्यक है। साथ ही इसमें उष्ण, कटु, कफनाशक, वामक एवं चर्मरोगनाशक गुण भी होना आवश्यक है। अर्वाचीन निघंटुकारों एवं टीकाकारों ने जिन विभिन्न वनस्पतियों का उल्लेख कौवाटोडी या काकनासा नाम से किया है उनमें अधिकांश विदेशी वनस्पतियां हैं जो कुछ काल से यहाँ भी प्रचुर होने लग गई हैं। काकनासा तो चरक-सुश्रुत के समय से चली आ रही है ऐसी अवस्था में इन्हें काकनासा मानना कहाँ तक उचित होगा? काकनासा के स्थान पर ली जाने वाली कुछ वनस्पतियों का संक्षेप में यहाँ वर्णन किया गया है। पटोलभेद, कौआठोटी, ले०-*Trichosanthes cucumerina Linn.* (ट्राइकोसॅन्थिस् क्युकुमेरिना लिन.) के फल पकने पर कौवे खाते हैं इसलिये कुछ लोग इसके काकनासा होने का अनुमान करते हैं। इसका वर्णन पटोल के साथ किया गया है। कुछ लोगों ने Pentatropis microphylla W. & A. (पेन्टाट्रोपिस् माइक्रोफाइला); Fam. Asclepiadaceae (एस्क्लेपिएडेसी) को तथा कुछ ने बृहती (Solanum indicum Linn. सोलेनम् इण्डिकम्) को काकनासा माना है।

१३७ काकनासा (१)

ले०-*Asclepias curassavica Linn.* (एस्क्लेपिअस् कुरेसेविका लिन.): Fam. Asclepiadaceae (एस्क्लेपिएडेसी)। सं०-काकतुण्डी, रक्तपुष्पा । बं०-कुरकी, कुर्की। पं०-काकतुण्डी । अं०-Bastard Ipecacuanha (बॅस्टर्ड इपेकॅक्युआन्हा)।

यह वेस्ट इण्डीज का विदेशी पौधा है किन्तु अब बागों में तथा गावों के आस-पास मिलता है।

इसका क्षुप-स्वावलम्बी तथा २ फीट ऊँचा होता है। पत्र-आमने-सामने, २-३ इञ्च लम्बे, भालाकार या आयताकार-भालाकार होते हैं। पुष्प-नारङ्ग या (स्कारलेट) रक्त रंग के गुच्छों में आते हैं। फली-दो-दो एक साथ, ३ इञ्च लम्बी तथा काकतुण्ड सदृश होती है। जड़-बहुत, पतली, हलके पीले रंग की तथा भीतर से श्वेत रहती है। स्वाद कडुवा तथा तीता होता है। इसमें दुग्ध होता है। इसकी जड़, पञ्चांग एवं पत्र का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसके पञ्चांग में एस्क्लेपिॲडिन् (Asclepiadin) नामक एक ग्लुकोसाइड होता है। इसकी जड़ में विंसेटॉक्सिन (Vincetoxin) नामक द्रव्य होता है जिसकी क्रिया इमेटीन (Emetine) सदृश होती है।

गुण और प्रयोग—इसके कार्यकारी तत्त्व की क्रिया इमेटीन सदृश होती है। अर्क से भी इसका सादृश्य है। इससे रक्तवाहिनियों का संकोच एवं बड़ी धमनियों का विस्फार होता है। हृदय के लिये यह अवसादक है। अल्प मात्रा में यह आमाशय उत्तेजक, यकृत के लिये उत्तेजक, पित्तस्रावक, स्वेदजनन एवं कफघ्न है। अधिक मात्रा में यह वामक एवं विरेचक है।

इसका प्रयोग कृमि, रक्तस्राव, राजयक्ष्मा, सोजाक, आमातिसार तथा अर्श में किया जाता है।

(१) इसके पत्तों या पुष्पों का लेप रक्तस्राव रोकने के लिये करते हैं।

(२) कफविकारों में इसको देने से कफ पतला होकर निकलता है।

(३) सोजाक में इसका क्वाथ ताजा बनाकर देते हैं।

१३८ काकनासा (२)

हि०-बिछुआ। म०-विंचु। बं०-बाघनोकी। ले०-*Martynia diandra Glox.* (मार्टिनिआ डाइएण्ड्रा ग्लोक्स.) Fam. Pedaliaceae (पेडॅलिएसी)।

यह मैक्सिको (Mexico) का आदिवासी होते हुये भी भारत में काफी फैल गया है तथा कूड़े आदि के स्थानों पर होता है।

इसका क्षुप-३, ४ फीट ऊँचा, मोटा, स्पर्श में मृदुरोमश, चिपचिपा तथा भींगा हुआ सा होता है। पत्ते-६-९ इञ्च लम्बे, विपरीत, तांबूलाकार, दूर-दूर पर दन्तुर एवं तट पर लहरदार होते हैं एवं इनका पृष्ठ प्रायः ओसकणों के समान एक चिपचिपे पदार्थ के सूक्ष्म बिन्दुओं से ढका रहता है। फूल-३-४ इञ्च लम्बी और अग्रग मंजरियों में नीचे की ओर लटके हुये, गुलाबी या गहरे बैंगनी रंग के एवं आकार में तिलपुष्प के समान होते हैं। फल-काले रङ्ग का, बहुत कठोर, अग्र पर दो तीक्ष्ण एवं टेढ़े कांटों से युक्त होता है। इन फलों का भ्रमवश काकनासा या वृश्चिकाली नाम से प्रयोग चल रहा है, जो गलत है। फल का स्वरूप कुछ कुछ बिच्छू के समान होने से तथा बिच्छू के काटने पर इसका लेप उपयोग में आने से इसे बिछुआ कहते हैं।

गुण और प्रयोग—बिच्छू के काटने पर इसके फल को घिस कर लेप करते हैं। अपक्व से फल का निकाला हुआ तैल पामा आदि चर्म रोगों में उपयोगी बतलाया गया है। इसके पत्तों को अपस्मार में प्रयोग करते हैं तथा अपची में लेप करते हैं।

१३९ काकनासा (३)

ले०-*Thunbergia alata Boj.* (थनुबर्जिआ एलेटा); Fam. Acanthaceae (एकेन्थेसी)।

यह लता संभवतः अफ्रीका की आदिवासी है। अपने यहां उद्यानों में लगाई हुई पाई जाती है।

इसकी लता पतली तथा आरोही होती है। पत्ते-मृदुरोमश, लट्वाकार, हृदयाकार, एवं वृन्त प्रायः सपंख रहता है। पुष्प-पीत या श्वेताभ एवं भूरे या बैंगनी रंग की आँख से युक्त होते हैं। फल-काकतुण्ड सदृश होते हैं। कुछ लोग इसे काकनासा मानते हैं।

अथ काकजङ्घा। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

काकजङ्घा नदीकान्ता काकतिक्ता सुलोमशा। पारावतपदी दासी काका चापि प्रकीर्तिता॥
काकजंघा हिमा तिक्ता कषाया कफपित्तजित्। निहन्ति ज्वरपित्तास्रज्वरकण्डूविषक्रिमीन्॥

काकजङ्घा के नाम तथा गुण—काकजङ्घा, नदीकान्ता, काकतिक्ता, सुलोमशा, पारावतपदी, दासी और काका ये सब नाम काकजङ्घा के हैं। काकजङ्घा-शीतवीर्य, तिक्त तथा कषाय रसयुक्त एवं कफ, पित्त, ज्वर, रक्तपित्त, व्रण (घाव), कण्डू (खुजली), विष और क्रिमि को दूर करने-वाली होती है॥ २५०-२५१॥

नोट—काकजङ्घा के स्थान पर उत्तर प्रदेश में मसी का ग्रहण किया जाता है किन्तु यह निःसंदिग्ध रूप से काकजङ्घा नहीं माना जा सकता। डॉ० देसाई ने Leea hirta (लीआ हिर्टा) को काकजङ्घा माना है। श्री डा. बलवन्तसिंह जी ने 'सिमजंगा' नामक वृक्ष की तरफ ध्यान आकर्षित किया है क्योंकि उसके स्थानिक नाम तथा गुण काकजङ्घा से मिलते-जुलते हैं। शास्त्रीय गुणों की दृष्टि से काकजङ्घा विषमज्वरनाशक, कफ-पित्तशामक, तिक्त, चर्मरोगनाशक एवं रक्तपित्त, बाधिर्य, क्षत, विष, एवं कृमि में लाभदायक होनी चाहिये। रा. नि. एवं ध. नि. इसे उष्ण मानते हैं। काकनासा, काकजङ्घा, काकमाची आदि काकसम्बन्धी वनस्पतियों का उल्लेख ग्रन्थों में आया है और टीकाकारों ने कहीं २ एक को दूसरे का पर्याय बतलाया है।

१४० काकजङ्घा (१)

हि०-काकजंघा, मसी। बं०-नासकाना। म०-रान किरायता। ले०-*Peristrophe bicalyculata Nees* (पेरिस्ट्रोफ बाईकेलीक्युलेटा नीस्)। Fam. Acanthaceae (एकेन्थेसी)।

यह सर्वत्र पाया जाता है। इसका क्षुप-३-६ फीट ऊँचा एवं शाखायें-प्रसरणशील होती हैं। काण्ड-षट्कोण एवं सन्धियाँ फूली हुई रहती हैं। पत्ते-रोमश, नोक वाले तथा नीचे बड़े एवं ऊपर छोटे होते हैं। नीचे के पत्ते ४·२५″ × २·७५″ होते हैं। पुष्पवाहक शाखाएँ अत्यन्त शाखाओं से युक्त और अन्तिम छोटी २ शाखाएँ केवल दो २ पुष्पों वाली होती हैं जिनमें प्रायः एक पुष्प अर्ध विकसित रहता है। पुष्प-छोटे, गुलाबी या जामुनी रंग के आते हैं।

गुण और प्रयोग—काकजंघा के स्थान पर उत्तरप्रदेश में इसी का व्यवहार किया जा रहा है। किन्तु इसके काकजंघा होने में सन्देह है। इसको सर्पविष में उपयोगी बतलाया जाता है।

१४१ काकजंघा (२)

सं०-काकजंघा। **हि०**-चिरईगोड़ा, मिजुरगोरवा। **असा०**-ओसाई। **बं०**-बोरूना गोडा। **ले०**-*Vitex peduncularis Wall.* (वाइटेक्स पेडन्क्युलेरिस् वाल.)। Fam. Verbenaceae (वर्बिनेसी)।

यह बिहार, मध्यप्रदेश, आसाम तथा पूर्वी बंगाल से तेनासरिम् तक होता है।

इसके वृक्ष-छोटे २०, २५ फीट ऊँचे, एवं शाखाएँ मृदुरोमश होती हैं। पत्ते-संयुक्त एवं त्रिपत्रक होते हैं। पत्रक-लम्बे, भालाकार, ४·५"×१"बड़े, नोकीले, अधरतल पर सूक्ष्म पीतवर्ण की ग्रन्थियों से युक्त होते हैं। वृन्त प्रायः सपक्ष होते हैं। पुष्प-६-११ इञ्च लम्बी मञ्जरियों में श्वेतवर्ण के तथा कण्ठ में पीले पुष्प आते हैं। फल-मांसल, गुठलीदार एवं ·३५-·४ इञ्च बड़ा होता है।

इसके पत्तों का व्यवहार किया जाता है। इसकी एक अन्य जाति V. leucoxylon Linn. (वा ल्यूकोक्साइलोन् लिन.) पायी जाती है।

इनके स्थानिक नाम सिमजंघा, मुरगी-गोडा, चिरई गोडा आदि काकजंघा के समानार्थक मालूम पड़ते हैं तथा इसका जंगली लोग विशिष्ट विषमज्वर Blackwater Fever (ब्लॅक वाटर फीवर) में प्रयोग भी करते हैं। काकजंघा को शास्त्रकारों ने विषमज्वर में उपयोगी बतलाया है। वरुण वृक्ष के पत्तों की तरह इसकी त्रिपत्रक पत्तियाँ होने के कारण इसे कहीं-कहीं वरुना भी कहते हैं।

रासायनिक संगठन—इसके पत्तों में एक उड़नशील तैल, अधिक मात्रा में टॅनिन्, गोंददार पदार्थ एवं कुछ ग्लूकोसाइड सदृश पदार्थ होते हैं।

गुण और प्रयोग—इसके पत्तों का फांट मलेरिया जैसे ज्वरों में विशेषकर Blackwater fever (ब्लॅक वाटर फीवर) में प्रयोग किया जाता है। दो औंस ताजे या छाया में सुखाये पत्तों को ४० औंस जल में ५।१० मिनट उबाल कर १ घंटा सोझने देते हैं। चाय की तरह बना यह फांट कुछ चीनी मिला कर दिन भर में ८ से १० औंस की मात्रा में दिया जाता है।

१४२ काकजंघा (३)

सं०, हि०, बं०, म०—काकजंघा। **ले०**-*Leea hirta Roxb.* (लीआ हिर्टा राक्स.)। Fam. Vitaceae (विटेसी)।

यह सिक्किम हिमालय, आसाम, पूर्व बंगाल, सिलहट एवं अण्डमान में होती है। इसकी १·२-३ मी. ऊँची झाड़ी होती है। नये काण्ड मृदुरोमश; पत्ते-संयुक्त; पत्रक-७·५-१८×२·५-४·५ से. मी., आयताकार या अण्डाकार-आयताकार, लम्बाग्र, असम दन्तुर, रोमश, अधोपृष्ठ गोल, चिपटे, चकत्तों से युक्त एवं पत्रदण्ड कोणदार; पुष्प-श्वेत मंजरियों में; फल-६ मि० मि० व्यास के, दबे हुवे गोल एवं पकने पर काले होते हैं। इसकी जड़ का चिकित्सा में व्यवहार करते हैं।

गुण और प्रयोग—यह स्नेहन तथा संग्राहक है। इसके पंचांग में क्षयनाशक गुण भी पाया गया है।

अथ नागपुष्पी। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

नागपुष्पी श्वेत पुष्पा नागिनी रामदूतिका। नागिनी रोचनी तिक्ता तीक्ष्णोष्णा कफपित्तनुत्।
विनिहन्ति विषं शूलं योनिदोषवमिक्रिमीन् ॥ २५२ ॥

नागपुष्पी के नाम तथा गुण—नागपुष्पी, श्वेतपुष्पा, नागिनी और रामदूतिका ये नाम नागपुष्पी के हैं। **नागपुष्पी**—तिक्त रसयुक्त, रोचक, तीक्ष्ण, उष्णवीर्य एवं कफ, पित्त, विष, शूल, योनिसम्बन्धी दोष, वमन तथा क्रिमि को नष्ट करने वाली होती है ॥ २५२ ॥

१४३ नागपुष्पी

हि०—नागपुष्पी। **म०**—नागाली।

नागपुष्पी लता जाति की वनौषधि जङ्गल में वृक्षों पर फैली हुई रहती है। एक २ शाखा में एक २ पत्ता होता है। फूल-सफेद और काले रंग के होते हैं। बेल के नीचे कन्द बैठता है। उपर्युक्त वर्णन सुना जाता है किन्तु वैज्ञानिक दृष्टि से इसका निर्णय अभी नहीं हो सका है। नागपुष्पी का उल्लेख रा. नि., ध. नि. में नहीं मिलता। चिकित्सा में भी इसका विशेष प्रयोग नहीं होता।

अथ मेषशृंगी (मेढाशिङ्गी)। तस्या नामानि तत्फलस्य च गुणाँश्चाह

मेषशृङ्गी विषाणी स्यान्मेषवल्ल्यजशृङ्गिका। मेषशृङ्गी रसे तिक्ता वातला श्वासकासहृत् ॥
रूक्षा पाके कटुः पित्तव्रणश्लेष्माक्षिशूलनुत् ॥ २५४ ॥
मेषशृङ्गीफलं तिक्तं कुष्ठमेहकफप्रणुत्। दीपनं स्रंसनं कासक्रिमिव्रणविषापहम् ॥ २५५ ॥

मेढ़ाशिंगी के नाम तथा गुण—मेषशृङ्गी, विषाणी, मेषवल्ली और अजशृङ्गिका ये सब संस्कृत नाम हैं। मेढ़ाशिंगी-तिक्त रसयुक्त, वातकारक, रूक्ष, विपाक में कटु रसयुक्त एवं श्वास, कास, पित्त, व्रण, कफ और नेत्रशूल को दूर करने वाली होती है। मेढ़ाशिंगी का फल—तिक्त रसयुक्त, अग्निदीपक, स्रंसन एवं कुष्ठ, प्रमेह, कफ, कास, क्रमि, व्रण और विष को नष्ट करने वाला होता है ॥ २५३-२५५ ॥

नोट—मेषशृङ्गी भी सन्दिग्ध द्रव्य है। अधिकांश विद्वानों ने 'गुडमार' को मेषशृङ्गी माना है। कुछ ने 'मरोडफली' को मेषशृङ्गी माना है। मरोडफली को कुछ मूर्वा के स्थान पर ग्रहण करते हैं जिसका पहले मूर्वा के अन्तर्गत वर्णन किया जा चुका है। मेषशृङ्गी का सुश्रुत में वरुणादिगण एवं सालसारादिगण में उल्लेख है। सुश्रुत में वरुणादिगण में अजशृङ्गी एवं मेषशृङ्गी दोनों का एक जगह पाठ किया है इससे ये दो अलग द्रव्य मालूम पड़ते हैं किन्तु भावप्रकाश एवं ध. नि. दोनों को पर्याय के रूप में उल्लेख करते हैं। चरक में तिल्वक कल्प एवं शीतज्वरोक्त अगुर्वादि तैल में उल्लेख है। सुश्रुत ने विष एवं अक्षिविकार में इसका प्रयोग किया है। यहाँ गुडमार का संक्षेप में वर्णन किया जा रहा है।

१४४ मेढ़ाशिंगी

सं०-मधुनाशिनी। **हि०**-मेढ़ासिंगी, गुडमार। **बं०**-मेषसिंगी। **म०**-मेढ़ाशिंगी, कावकी। **ता०**-शिरुकुरंज। **ते०**-पोडापत्री। **ले०**-*Gymnema sylvestre R. Br.* (जिमनेमा सिल्वेस्ट्रे)। Fam. Asclepiadaceae (एस्क्लेपिएडेसी)।

यह कोंकण, त्रावणकोर, गोवा, दक्षिण भारत में विशेष रूप से होती है। बिहार एवं उ० प्र० में भी कहीं-कहीं मिलती है तथा बागों में लगाई हुई पाई जाती है।

इसकी लता-चक्रारोही, पतले काण्ड की, काष्ठमय, रोमश तथा बहुत फैली हुई होती है। पत्ते-अभिमुख, अण्डाकार-आयताकार या लट्वाकार, कभी-कभी हृद्वत्, १-२ इञ्च लम्बे, कभी-कभी ३ इञ्च लम्बे, नोकदार एवं मृदुरोमश होते हैं। पुष्प-सूक्ष्म, पीले, समस्थ मूर्धजक्रम में निकले

हुए एवं आभ्यन्तर कोश घण्टिकाकार–चक्राकार होते हैं। फली–२–३ इञ्च लम्बी, '२–'३ इञ्च मोटी, कठोर, मालाकर क्रमशः नोकीली होती है। दो में से प्रायः एक फली का विकास नहीं होता। इसके सर्वांग में दूध होता है। मूल–१–½ इञ्च मोटा तथा बाहर से मुलायम एवं उस पर बीच-बीच में सीधी, लंबाई में गड्ढेदार नालियां होती हैं। मूल सूखने पर छाल पतली होकर आड़े-बल में फट जाती है। इसका स्वाद साधारण कड़वा होता है।

इसकी पत्तियों को चबाने से जीभ की स्वाद ग्रहणशक्ति नष्ट हो जाती है जिससे १–२ घण्टे तक मधुर तथा तिक्तरस का स्वाद नहीं मालूम पड़ता। इसी से इसे **गुडमार** या मधुनाशिनी कहते हैं।

रासायनिक संगठन—इसमें Gymnemic acid (जिम्नेमिक् एसिड) नामक एक पदार्थ होता है। पत्तों में ॲन्थ्राक्विनोन कम्पाउण्ड (Anthraquinone compound) होता है।

गुण और प्रयोग—इसके गुण इपिकाक तथा उतरण जैसे हैं। यह कफघ्न तथा वामक है। इसके पत्तों के सेवन से मधुमेह में लाभ होता है।

(१) मधुमेह में इसके पत्तों को चबाने से या इसके पत्र चूर्ण को १–२ माशे की मात्रा में गोदुग्ध या मधु के साथ सेवन से लाभ होता है।

(२) जड़ की छाल से हृल्लास, स्वेदोत्पत्ति एवं अधिक मात्रा (१५–३० र०) से वमन होता है। इससे कफ निकलता है एवं शरीर पीड़ा कम होती है।

(३) सर्पदंश में मूल का क्वाथ पिलाते हैं तथा लेप करते हैं जिससे वमन, विरेचन होकर विष कम होता है। बाद में उत्तेजक औषधियाँ देते हैं।

(४) पत्तों को पीसकर सूजन तथा व्रण पर लेप करते हैं।

मात्रा—पत्रचूर्ण १–२ माशा, मूलत्वक् १–२ र० कफघ्न, १५–३० र० वामक।

अथ हंसपदी (हंसराज)। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

हंसपादी हंसपदी कीटमाता त्रिपादिका। हंसपादी गुरुः शीता हन्ति रक्तविषव्रणान्।
विसर्पदाहातीसारलूताभूताग्निरोहिणीः॥ २५६॥

हंसराज के नाम तथा गुण—हंसपादी, हंसपदी, कीटमाता और त्रिपादिका ये संस्कृत नाम हंसराज के हैं। हंसराज—गुरु, शीतवीर्य एवं रक्तविकार, विष, व्रण, विसर्प, दाह, अतीसार, लूता-विष, भूतग्रह और अग्निरोहिणी (कक्षास्फोट) को दूर करती है॥ २५६॥

१४५ हंसराज

हि०–हंसपदी, समलपत्ती, हंसराज, गोधापदी। **बं०**–गोयलिया लता, कालीसाइ। **गु०**–हंसराजा। **म०**–हंसपदी, हंसराजा। **फा०**–परसा उशां, परस्यां व्शां। **अ०**–शारूजीनां, शारूल अर्ज। **अं०**–Maiden hair (मैडेन हेयर)। **लै०**–*Adiantum lunulatum Burm.* (एडीएण्टम् लुनुलेटम् बर्म.)। Fam. Polypodiaceae (पॉलिपोडिएसी)।

यह उत्तरी भारत के आर्द्र स्थानों में एवं दक्षिण के पश्चिमी मैदानों तथा पहाड़ियों के निचले भागों में होती है।

यह वनस्पति सुन्दर तथा छोटी होती है। इसमें अन्तर्भूमिशायी कांड होता है। इससे केवल पत्ते बाहर निकले रहते हैं। पत्रदण्ड काला, चमकीला होता है। पत्रक–कुछ-कुछ वृत्ताकार या अण्डाकार, आयताकार, '५–१'२ इंच लम्बे, अग्र की ओर का किनारा सरल और आधार की

ओर का किनारा घुमावदार होता है। इसमें पुष्प नहीं होते। अधर तल के किनारे पर बीजाणुकोष (Sporagia) होते हैं। इसका चरक में कण्ठ्य महाकषाय, मधुर स्कन्ध तथा सुश्रुत में विदारिगन्धादि गण में पाठ है। चिकित्सा में पंचांग का व्यवहार किया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह मधुर, शीत, कण्ठ्य, कुछ ग्राही, कफघ्न एवं कुछ मूत्रजनन है। अधिक मात्रा से वमन होता है। इसका प्रयोग ज्वर, रक्तविकार, विसर्प, विषविकार एवं कण्ठ विकार में करते हैं। बच्चों के कास में इससे लाभ होता है। इसके पंचांग का शरबत बना कर ½–१ तो० की मात्रा में प्रयोग करते हैं।

मात्रा—१०–२० रत्ती।

अथ सोमलता। तस्या नामगुणानाह

सोमवल्ली सोमलता सोमक्षीरी द्विजप्रिया। सोमवल्ली त्रिदोषघ्नी कटुस्तिक्ता रसायनी॥

सोमलता के नाम तथा गुण—सोमवल्ली, सोमलता, सोमक्षीरी और द्विजप्रिया ये सब सोमलता के पर्यायवाची शब्द हैं। **सोमलता**-कटु तथा तिक्तरसयुक्त, त्रिदोषनाशक एवं रसायन होती है॥

सोमलता

सोमलता नामक दिव्य औषधि क्या है? इस सम्बन्ध में अनेक विद्वानों ने विचार किया है किन्तु अभी तक इसका निर्णय नहीं हो सका है। वास्तव में सुश्रुत में ही इसके संबंध में लिखा है कि अधर्मी, कृतघ्न, भेषजद्वेषी तथा ब्राह्मणद्वेषी लोगों को यह दिखलाई नहीं देती। आधुनिक युग में कौन सा ऐसा व्यक्ति होगा जो किसी न किसी अवगुण से युक्त न हो। उपर्युक्त वचन से ऐसा प्रतीत होता है कि यह वनस्पति उस काल में भी अप्राप्य या दुष्प्राप्य रही हो और उसके स्थान पर उसके प्रतिनिधि द्रव्यों का प्रयोग होता रहा हो। सोम का वर्णन ऋग्वेद तथा पौराणिक साहित्य में भी है। यज्ञ के पूर्व आनन्ददायक पेय के रूप में सोमरस-पान किया जाता रहा। सोम को ओषधिराज लिखा है। इसी प्रकार के एक द्रव्य का उल्लेख प्राचीन पारसी धर्म ग्रंथ 'जन्द अवस्ता' में है, जिसे होम कहते हैं। संभव है होम यह सोम का परिवर्तित रूप हो। इसी आधार पर होम नाम से प्रयुक्त द्रव्यों को कुछ विद्वानों ने सोम माना है।

सुश्रुत में इसके संबंध में विशद वर्णन मिलता है। यह हिमालय, विन्ध्य, काश्मीर, मलय आदि स्थानों में होती है। इसके स्थान, नाम, आकृति, वीर्य भेद से २४ प्रकार होते हैं। इस लता में शुक्ल पक्ष में एक-एक पत्र प्रतिदिन बढ़ कर पूर्णिमा को १५ पत्ते हो जाते हैं तथा कृष्ण पक्ष में एक-एक पत्र घट कर अमावस्या को यह बिना पत्र के हो जाती है। इस लता में दुग्ध होता है तथा नीचे कन्द भी होता है। कायाकल्प के लिये कुटी प्रावेशिक विधि से इसके सेवन का वर्णन सुश्रुत में किया है। यह श्रेष्ठ मादक द्रव्य है। इससे बल, वाकशक्ति, स्फूर्ति, सौमनस्य एवं अमरत्व की प्राप्ति होती है। प्रत्येक रोग को दूर कर यह मन को आनन्द देने वाली लता है। इसमें अन्य मादक द्रव्यों का कोई दोष नहीं होता।

सोम के नाम से जिनका उल्लेख किया जाता है उनमें से कुछ का संक्षेप में यहाँ वर्णन दिया गया है, यद्यपि दिव्य गुण वाली सोम इनमें से कोई मालूम नहीं पड़ती।

१४६ सोम (१)

सं०–सोम। **हि०**–टुटगंठा। **पं०**–अमसानिया, बुदशुर, चेवा। **स०**–फोग। **ई०**–होम, हुम। **क०**–खम, खंड। **अं०**–Ephedra; Ma-huang (एफेड्रा, मा-हॉंग)। **लै०**–*Ephedra ger-*

ardiana (*Wall*) *Stapf*; *E. nebrodensis* (*Tineo*) *Stapf* (एफेड्रा जेरार्डिआना; ए. नेब्रोडेन्सिस्) । Fam. Gnetaceae (ग्नेटॅसी) ।

इनमें से ए. जेरार्डिआना हिमालय के शुष्क एवं ऊँचे स्थानों में ७–१६ हजार फीट तक बहुत होता है । पंगी, लाहौल, कनवार, सिमला जिले के शाली स्थान, कश्मीर एवं लद्दाख में बहुत होता है । ए० नेब्रोडेन्सिस्, लाहौल, पश्चिमी तिब्बत, बलूचिस्तान एवं वजीरीस्तान में होता है ।

औषध के लिए इसके कांड का संग्रह वसन्त ऋतु में करते हैं ।

ए० जेरार्डिआना का **क्षुप**-छोटा, सर्पणशील, कडा तथा गुच्छे के रूप में होता है । शाखाएं-प्रतिग्रंथि पर दो और अभिमुख या अनेक एक चक्र में निकली रहती हैं । ये सीधी, हरी एवं रेखा युक्त होती हैं । पर्व करीब ½ इञ्च से १½ इञ्च लम्बे होते हैं तथा दियासलाई की सींक की तरह दिखलाई देते हैं । पुराने काण्ड की त्वचा धूसर हो जाती है । पत्ते-वल्क सदृश होते हैं और प्रत्येक ग्रन्थि पर इन वल्कपत्रों के मिलने से एक पीताभ या भूरा करीब २ मि. मि. लंबा द्विविभक्त कोष बना होता है । पुष्प-नरपुष्पों की अण्डाकार विदण्डिक मंजरियाँ अकेली या २–३ के गुच्छे में रहती हैं जिनमें ४–८ नरपुष्प होते हैं । नारीपुष्पों की मंजरी प्रायः अकेली और १–२ पुष्पों से युक्त होती है । फल-७·५–१० मि. मि. लम्बा, लट्वाकार, लाल, मधुर तथा खाने लायक होता है । बीज-१–२ दोनों तरफ फूले हुये होते हैं ।

काण्ड में तीव्र गन्ध होती है तथा इसका स्वाद कषाय होता है ।

रासायनिक संगठन—इसके काण्ड में लीह्रो-एफेड्रीन (l–ephedrine), डेक्स्ट्रो-फाय-एफेड्रीन (d–f–ephedrine) तथा तत्सम अन्य क्षाराभ पाये जाते हैं । भारतीय एफेड्रा में संपूर्ण क्षाराभ की मात्रा ०·२८–२·८% तक पाई जाती है तथा उसमें l–ephedrine (लीह्रो-एफेड्रीन) की मात्रा ७०% तक होती है ।

गुण और प्रयोग—एफेड्रा के गुण-धर्म उसमें के उपर्युक्त दो क्षाराभो के कारण होते हैं, जिनमें से द्वितीय का रक्तभार, श्वसनिका एवं मस्तिष्क के उच्च केन्द्रों पर हलका प्रभाव पड़ता है । यह कम विषैला है तथा इसमें अन्य आनुबन्धिक दोष कम होते हैं । तमक श्वास (Asthma) के आवेगों को रोकने के लिये सोम का सत्त्व (Extract) उपयोगी है । विशुद्ध क्षाराभो की अपेक्षा यह सस्ता होने के कारण गरीबों के लिये यह अधिक अच्छा पड़ता है ।

हृदय को उत्तेजना (Cardiac stimulant) देने की दृष्टि से भी यह उपयोगी है । इसका टिंक्चर (Tincture), एपिडेमिक ड्रॉप्सी (Epidemic dropsy) के कारण उत्पन्न हृदय दौर्बल्य (Left heart failure) में बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ है । न्युमोनिया, डिप्थेरिया आदि औपसर्गिक रोगों के कारण उत्पन्न हृदय की विषाक्तता में यह बहुत ही अच्छा हृदयोत्तेजक सिद्ध हुआ है । हृदय की कायिक विकृति में इसका प्रयोग नहीं करना चाहिये । इसके प्रवाही सत्त्व की ५ सी० सी० मात्रा में ½ ग्रेन सम्पूर्ण क्षाराभ होते हैं ।

मात्रा—सोमसत्त्व क्षाराभ (एफेड्रीन) ⅓–१½ ग्रेन; टिंक्चर एफेड्रा ३०—६० बूंद ।

१४७ सोम (२)

सं०—सोम, सौम्या (राजनिघण्टु) । **हि०**—सोम, सोमलता, बाघ दूध । **म०**—रानशेर, **मुं०**—कुलतोमा (शेर का दूध) । **ले०**—*Sarcostemma brevistigma W. & A.* (सार्कोस्टेमा ब्रेविस्टिग्मा); Fam. Asclepiadaceae (एस्क्लेपिएडेसी) ।

यह कोंकण, डेक्कन, उत्तरी सरकार, कर्नाटक तथा हॉर्सलीकोंडा में ४५०० फीट तक शुष्क पत्थरों के बीच होती है । रांची, सिंगभूमि, मुंगेर, पुरी तथा बंगाल में भी पायी जाती है।

यह प्रसरणशील वनस्पति होती है जो चट्टानों तथा झाड़ियों पर फैली रहती है । इसमें दूध बहुत होता है । इसमें पत्ते-स्थाई नहीं होते जिससे शाखा-काण्ड हरे, चिकने, ⅛–¼ इञ्च व्यास के तथा ४–८ इञ्च की दूरी पर संधियुक्त होते हैं । पुष्प-श्वेत, ⅖ इञ्च व्यास में, सुगन्धित और प्रायः शाखाओं पर सवृन्त मूर्धज (Umbel) क्रम में निकले रहते हैं । फली-पतली, ४–५ इञ्च लम्बी क्रमशः नुकीली तथा सीधी होती है ।

इसका सोम-प्रतिनिधि के रूप में व्यवहार किया जाता है । कुछ तो वास्तविक सोम ही इसे मानते हैं । राजनिघण्टु ने इसका सोमवल्ली प्रतिनिधि के रूप में वर्णन किया है—

सौम्या महिषवल्ली च प्रतिसोमाऽन्त्रवल्लिका ।
अपत्रवल्लिका प्रोक्ता काण्डशाखा षडाह्वया ।
रसवीर्यविपाके च सोमवल्लीसमा स्मृता ॥ रा० नि०

गुण और प्रयोग—अर्क दुग्ध की तरह इसके दूध का भी उपयोग होता है जो बहुत गुणकारी माना जाता है और इसी लिये इसको बाघ दूध कहते हैं । राक्सवर्ग के मतानुसार इसका दूध खट्टा होता है तथा यात्री तृषा शमन के लिये इसका उपयोग करते हैं । शुष्क काण्ड वामक माना जाता है ।

अथाकाशवल्ली (अमरवेल) । तस्या नामानि गुणाँश्चाह

आकाशवल्ली तु बुधैः कथिताऽमरवल्लरी ॥ २५८ ॥
खवल्ली ग्राहिणी तिक्ता पिच्छिलाऽक्ष्यामयापहा । तुवराऽग्निकरी हृद्या पित्तश्लेष्मामनाशिनी

अमरवेल के नाम तथा गुण—आकाशवल्ली का ही पर्यायवाचक शब्द अमरवल्लरी है, ऐसा पण्डित लोग कहते हैं, अर्थात्-आकाशवल्ली, खवल्ली, अमरवल्लरी ये नाम अमरवेल के हैं ।

अमरवेल—तिक्त तथा कषाय रस युक्त, मलसंग्राहक, पिच्छिल, नेत्ररोगनाशक, जठराग्नि-वर्धक, हृदय के लिये हितकर एवं पित्त, कफ तथा आम को नष्ट करनेवाली होती है ॥ २५८-२५९ ॥

नोट—प्राचीन ग्रन्थों में अमरवेल का उल्लेख नहीं है । अमृतवल्ली शब्द आया है, जिसका अर्थ टीकाकारों ने गुडूची किया है । कुछ विद्वानों ने अमरवेल नाम (Cuscuta reflexa (कस्कुटा रिफ्लेक्सा) को दिया है तथा आकाशबेल (Cassytha filiformis) कॅसिथा फिलिफॉर्मिस् को दिया है । दोनों ही पराश्रयी लताएँ (Parasitic climber) हैं । दोनों एक स्थान पर उगी हुई नहीं पाई जातीं । दोनो का स्वतन्त्र वर्णन किया गया है ।

१४८ अमरवेल (१)

हि०—आकाश वेल, अमर वेल । **बं०**—आलोक लता । **म०**—आकाश वेल, अमर वेल । **गु०**—अमर वेल । **अ०**—कूसूस, कसूस । **पं०**—निराधार । **फा०**—अफ्तीमून । **अं०**—Dordar (डॉडॅर) **ले०**—*Cuscuta reflexa Roxb.* (कस्कुटा रिफ्लेक्सा राक्स.) । Fam. Convolvulaceae (कॉन्व्हॉल्व्हुलेसी) ।

यह भारत के सभी मैदानी भागों में तथा ८००० फीट की ऊँचाई तक पाई जाती है ।

इसकी **लता**—परोपजीवी होती है तथा जिस किसी वृक्ष पर फैलती है उसे अपने बोझ से झुका तक देती है । कभी-कभी इतनी फैलती है कि सारे वृक्ष को ढक देती है । अधिकतर बेर,

बबूल के वृक्षों पर फैली रहती है। इसमें पत्ते नहीं होते। **काण्ड**—पतले एवं प्रायः पीले रंग के आपस में गुथे हुये होते हैं। **पुष्प**-⅛-⅕ इञ्च लम्बे, श्वेताभ या गुलाबी, सुगंधित, नलिकाकार, एकाकी या गुच्छों में आते हैं। **फल**-⅛-⅕ इञ्च व्यास के, दबे हुवे, गोल एवं मांसल होते हैं। इसके मूल आधारादि वृक्ष के कांडों से संसक्त रहते हैं, जहाँ से वे अपना आहार ग्रहण करते हैं।

रासायनिक संगठन—इसमें कुस्कुटिन (Cuscutin) नामक एक रवेदार रंजक पदार्थ ०·२% होता है। इसके अतिरिक्त लॅक्टोन (Lactone) के समान गुण वाला कस्कुटॅलिन् (Cuscutalin) १%, बदामी रंग का मोम ०·१% तथा अपचायक शर्करा (Reducing sugar) होती है।

इसके बीजों में स्थिर तैल ३%, रंजक द्रव्य अमरबेलिन (Amarbelin), कड़वी राल तथा अपचायक शर्करा (Reducing sugar) पाई जाती हैं।

गुण और प्रयोग—यह आनुलोमक, पित्तसारक, तथा यकृतोत्तेजक है। आश्रयी वृक्ष के अनुसार इसके गुण-धर्म में कुछ परिवर्तन हो सकता है।

(१) इसका फाण्ट खुजली तथा व्रण-प्रक्षालन के काम में आता है।

(२) यकृत वृद्धि तथा विबंध हो तो इसका रस देने से दूषित पित्त निकल जाता है तथा विबंध भी दूर होता है।

(३) इसके बीजों को उबाल कर उससे पेट सेंकने से वायु का अनुलोमन होता है।

(४) कुछ लोगों ने इसका बावरबेल नाम से उल्लेख किया है तथा लिखा है कि पंजाब में दाइयाँ इसके क्वाथ को गर्भपात कराने के लिये प्रयोग में लाती हैं।

१४९ अमर बेल (२)

हि०—अमर बेल। **ले०**—*Cassytha filiformis Linn.* (कॅसिथा फिलिफॉर्मिस् लिन.)। Fam. Lauraceae (लॉरेसी)।

यह भारत में सभी स्थानों पर विशेषकर समुद्री किनारों पर अधिक होती है।

इसकी लता—पराश्रयी, पत्रहीन, उपर्युक्त प्रथम अमरबेल की तरह होती है, तथा शाल, करौंदा, कुटज तथा जामुन आदि वृक्षों पर फैली रहती है। इसका रंग पहली की अपेक्षा अधिक हरा होता है। **पुष्प**—अवृन्त, श्वेत, ·५-१·५ इञ्च लम्बी मंजरियों में रहते हैं और उनके आधार पर तीन चौड़े तथा लम्बे और लट्वाकार कोणपुष्पक होते हैं।

रासायनिक संगठन—इसमें एक क्षाराभ होता है।

गुण और प्रयोग—यह बल्य, केश्य, व्रणरोपण एवं वृष्य है।

(१) इससे सर के बाल धोने से जूयें आदि नष्ट होते हैं। इसे पीसकर तेल में मिलाकर केश वृद्धि के लिये काम में लाते हैं। मक्खन तथा सोंठ के साथ इसे व्रणरोपण के लिये काम में लाते हैं।

(२) इसका क्वाथ यकृत प्लीहोदर, गण्डमाला, क्षय आदि लक्षणयुक्त व्याधि में प्रयोग करते हैं।

अथ पातालगरुडी। तस्या नामगुणानाह

छिलिहिण्टो महामूलः पातालगरुडाह्वयः। छिलिहिण्टः परं वृष्यः कफघ्नः पवनापहः ॥२६०॥

'पातालगरुडी' के नाम तथा गुण—छिलिहिण्ट, महामूल, पातालगरुड, ये सब पर्यायवाचक शब्द हैं। **पातालगरुडी**—अत्यन्त वृष्य (वीर्यवर्धक), कफ तथा वायु को शमन करने वाली होती है ॥ २६० ॥

१५० पाताल गरुड़ी

हि०-पातालगरुड़ी, छिरेटा, फरीदबूटी, चिरहिंटा, छिरहटा, जलजमनी। **बं०**-हयेर। **म०**-वासनवेल, सुर्यूपाडल, तान्द्रीचावेल। **गु०**-पातालगलोरी, वेवड़ी। **ते०**-दूसरैतिगे। **क०**-दागुडी। **ता०**-कातुक कोदी। **ले०**-*Cocculus hirsutus (Linn.) Diels* (कॉक्युलस् हिर्सुटस्)। Fam. Menispermaceae (मेनिस्पर्मेसी)।

यह इस देश के प्रायः सब गरम और साधारण प्रान्तों में हिमालय से दक्षिण तक पायी जाती है।

इसकी आरोही लता—झाड़ियों आदि पर फैली हुई रहती है। शाखायें तथा पत्र मृदु श्वेताभ रोमावरण से ढके रहते हैं। **पत्ते**—इनके आकार और कद में बड़ी विभिन्नता रहती है। नीचे के पत्ते प्रायः लट्वाकार, आयताकार, ३"×२" तक बड़े और ऊपर के क्रमशः छोटे और आयताकार होते हैं। **पुष्प**—एकलिंग, हरिताभ एवं सूक्ष्म होते हैं। **फल**—काले बैंगनी रङ्ग के, चने के बराबर, एवं चिकने होते हैं तथा इनके भीतर काला रस रहता है। पुष्प वर्षा में एवं फल शीत में लगते हैं। **मूल**—काफी नीचे चला जाता है तथा मजबूत होता है।

इसके पत्तों को जल में मसलने से जल जम जाता है। इसलिये इसे जलजमनी कहते हैं। इसकी जड़ को सर्पविष में बहुत उपयोगी बतलाया गया है इसलिये इसका पातालगरुड़ी नाम सार्थक मालूम पड़ता है। प्राचीन ग्रन्थों में इसका वर्णन नहीं पाया जाता। इसकी जड़ एवं पत्तों का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है। पाठामूल के स्थान पर इसकी जड़ ली जाती है।

गुण और प्रयोग—इसकी जड़ उष्ण, स्वेदजनन, सौम्य, बलवर्धक, मूत्रजनन, मूत्रमार्ग के लिये शामक एवं ग्राही, ज्वरहर, वायुहर एवं शोधन है। यह सारिवा की तरह उपयोगी है। पत्ते दाहप्रशमन, मूत्रजनन, शोथहर, स्तन्यजनन एवं त्वक्दोष नाशक हैं।

(१) इसकी जड़ का बकरी के दूध में तैयार किया हुआ क्वाथ पीपल, सोंठ, आदि सुगन्धि द्रव्यों के साथ जीर्ण आमवात, विशेषकर यदि उपदंश के कारण उत्पन्न हो, सन्धिशोथ तथा त्वचा के रोगों में देते हैं।

(२) जमाया हुआ स्वरस शीतवीर्य होने के कारण जीरक एवं मिश्री के साथ नूतन सोजाक में बहुत उपयोगी है।

(३) पत्तों को पीसकर शोथ, चोट आदि पर बाँधने से लालिमा एवं पीड़ा कम होती है। शिरःशूल में भी बाँधते हैं।

(४) इसकी जड़ का प्रयोग बस्तिशोथ तथा अन्य प्रमेहों में किया जाता है।

मात्रा—स्वरस १-२ तोला; मूल-३-६ माशा।

अथ वन्दा। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

वन्दा वृक्षादनी वृक्षभक्ष्या वृक्षरुहाऽपि च। वन्दाकः स्याद्धिमस्तिक्तः कषायो मधुरो रसे। मङ्गल्यः कफवातास्ररक्षोव्रणविषापहः ॥ २६१ ॥

'वन्दा' के नाम तथा गुण—वन्दा, वृक्षादनी, वृक्षभक्ष्या, वृक्षरुहा और वन्दाक ये नाम 'बान्दा' के हैं। बान्दा-तिक्त, कषाय तथा मधुर रसयुक्त, शीतवीर्य, मङ्गलप्रद एवं कफ, वातरक्त, राक्षसबाधा, व्रण और विष को दूर करता है ॥ २६१ ॥

१५१ बान्दा (१)

हि०–बन्दा, बांदा, बंदाक । **बं०**–बरमांदा, मान्दा । **म०**–बांडागुल । **गु०**–बांदो । **ते०**–बादनीका । **अ०**–खरकतानां । **ले०**–*Loranthus longiflorus Desr.* (लोरॅन्थस् लॉंगिफ्लोरस् डेस. ; Syn. Deudrophthoe falcata (Linn. f.) Etting. (डेन्ड्रोफ्थो फॅल्केटा । Fam. Loranthaceae (लोरॅन्थेसी) ।

यह भारत में सर्वत्र पाया जाता है । इस कुल की वनस्पतियाँ अर्धपराश्रयी होती हैं । जिन वृक्षों के ऊपर यह उगती है, उनसे अपना भोजन ग्रहण करती है तथा स्वतः हरी होने के कारण स्वयं भी अपने लिये भोजन निर्माण करती है ।

उपर्युक्त बांदा अनेक प्रकार के वृक्षों पर उगा हुआ पाया जाता है । यह काष्ठीय होता है । **शाखायें**–चिकनी, चीमड़, कुछ लटकती हुई तथा कुछ सीधी एवं ३–४ फीट लम्बी होती हैं । **पत्ते**–३-६ इञ्च लम्बे, १–२ इञ्च चौड़े, चिकने, अनेक आकार के तथा मोटे होते हैं । **फूल**–रक्त, नारङ्ग या गुलाबी रंग के, १–२ इञ्च लम्बे और उनका सवर्ण कोश नालाकार होता है । **फल**–मांसल एवं बीज चिपचिपे होते हैं । इसके पुष्प एवं पत्तों का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है ।

गुण और प्रयोग–यह शीत, कषाय, कफघ्न, वातनाशक, मूत्रविरेचनीय, रक्तविकार नाशक एवं व्रणरोपक है ।

(१) शोथ पर इसके पत्तों एवं पुष्प को पीस-गरम कर लेप करने से सूजन दूर होती है ।

(२) इसके पुष्पों का प्रभाव हृदय एवं रक्तवाहिनियों पर होता है । हृदयोद्भूत श्वास, क्षयोद्भूत श्वास, फुफ्फुसशोथ, रक्तपित्त, अपस्मार, उन्माद एवं ज्वर में प्रलाप होने पर इसे देते हैं ।

मात्रा—स्वरस १–२ तोला ।

नोट—उपर्युक्त बांदे की और दो-तीन जातियां होती हैं । इनके अतिरिक्त एक अन्य प्रजाति का बांदा होता है । जिसकी भी दो उपजातियां पाई जाती हैं । इनमें किशमिश काबली प्रभावकर द्रव्य है जिसका संक्षेप में यहां वर्णन किया गया है ।

१५२ बाँदा (२)

ले०–*Viscum album Linn.* (विस्कम् ॲल्बम् लिन.); Fam. Loranthaceae (लोरॅन्थेसी) । **औ०**–चुल्लू का बांदा । **यू०**–किशमिश काबली । **अ०**–दिब्क, मवीजजे असली ।

यह हिमालय में काश्मीर से नेपाल तक ३०००–७००० फीट तक होता है । ये प्रायः अखरोट एवं गुलाब कुल के पौधों पर उगते हैं । कहीं-कहीं रास्ना पत्र के नाम से भी इनका प्रयोग होता है ।

इसके क्षुप-पराश्रयी होते हैं । इसके सब भाग हरे होते हैं । **शाखाएं**–द्विविभक्त या चाक्रिक क्रम में निकली रहती हैं । **पत्ते**–२ इञ्च लम्बे, ½ इञ्च चौड़े, विनाल, आयताकार या ऊपर से भालाकार होते हैं । आधार पर इनमें ३–५ शिराएं होती हैं । **पुष्प**–प्रति गुच्छे में ३–५ पुष्प होते हैं । **फल**–⅓ इञ्च लम्बे, सफेद, चिकने तथा पारदर्शक होते हैं । बाजार में मटर जितने बड़े, नरम, झुर्रीदार और भूरे रंग के सूखे फल मिलते हैं । इनके भीतर एक छोटा बीज तथा चिपचिपा पदार्थ होता है ।

इन फलों का चिकित्सा में प्रयोग होता है ।

गुण और प्रयोग—इसकी क्रिया हृदय पर डिजिटॅलिस सदृश होती है, जिससे हृदय को बल मिलता है तथा मूत्र की वृद्धि होती है । गर्भाशय पर इसका प्रभाव अर्गट की तरह होता है, जिससे गर्भाशय का संकोच होता है

(१) हृद्रोग एवं जलोदर में इसे देने से लाभ होता है ।

(२) अत्यार्तव एवं प्रसवोत्तर रक्तस्राव में पिपरामूल के साथ इसका फाण्ट देने से लाभ होता है ।

(३) प्लीहावृद्धि, अपस्मार, कटिपीडा, गुल्म, अर्श क्षत, व्रण, कर्णपूय आदि में इसका व्यवहार किया जाता है ।

मात्रा—फल ५–१५ रत्ती ।

अथ वटपत्री । तस्या नामगुणानाह

वटपत्री तु कथिता मोहिन्यैरावती बुधैः । वटपत्री कषायोष्णा योनिमूत्रगदापहा ॥२६२॥

'वटपत्री' के नाम तथा गुण—वटपत्री को विद्वान् लोग मोहिनी और ऐरावती कहते हैं । **वटपत्री**–कषाय रसयुक्त, उष्णवीर्य एवम् योनि तथा मूत्रसम्बन्धी रोगों को दूर करने वाली होती है ॥ २६२ ॥

१५३ वटपत्री

इसका निर्णय अभीतक नहीं हो सका है । निम्नलिखित वनस्पति को कुछ विद्वान् वटपत्री मानते हैं ।

ले०–*Saxifraga ligulata Wall.* (सॅक्सीफ्रेगा लीगुलेटा वाल.) । Fam. Saxifragaceae (सॅक्सीफ्रेगॅसी) ।

यह पाषाणभेद का ही भेद है तथा इसका वर्णन हरीतक्यादि वर्ग में पाषाणभेद के अंतर्गत पृष्ठ १०५ पर किया गया है ।

अथ हिङ्गुपत्री । तस्या नामानि गुणाँश्चाह

हिङ्गुपत्री तु कवरी पृथ्वीका पृथुका पृथुः ॥ २६३ ॥
हिङ्गुपत्री भवेद्रुच्या तीक्ष्णोष्णा पाचनी कटुः । हृद्वस्तिरुग्विबन्धार्शःश्लेष्मगुल्मानिलापहा ॥

हिङ्गुपत्री के नाम तथा गुण—हिङ्गुपत्री, कवरी, पृथ्वीका, पृथुका और पृथु ये सब नाम हिङ्गुपत्री के हैं । **हिङ्गुपत्री**–कटुरसयुक्त, रुचिजनक, तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, पाचक एवं हृद्रोग, बस्तिरोग, विबन्ध, अर्श, कफ, गुल्म और वायु को दूर करने वाली होती है ॥ २६३–२६४ ॥

१५४ हिंगुपत्री

हिंगुपत्री तथा आगे वर्णन की हुई वंशपत्री के विषय में थोड़ा मतभेद है । चरक में अपस्मार एवं उन्माद की चिकित्सा में क्रमशः हिंगुपत्री एवं हिंगुशिवाटिका इनका प्रयोग आया है । इसकी टीका में चक्रपाणि 'वंशपत्री' लिखते हैं । 'नाडीहिंगु' या 'डीकामाली' जिसका वर्णन पहले हरीतक्यादि वर्ग में किया जा चुका है, उसे 'हिंगुपत्री' कह सकते हैं, क्योंकि उसकी पत्र-कलिकाओं के ऊपर किसी-किसी ऋतु में पीला गोंद बूंद के रूप में निकला रहता है । इसकी छाल कट जाने पर वहाँ से भी गोंद निकलता है । इसमें उग्र गन्ध होती है । इसे डीकामाली या नाडीहिंगु कहते हैं । इस आधार पर नाडीहिंगु को हिंगुपत्री माना जा सकता है । हरीतक्यादि वर्ग में पृष्ठ ५५ पर नाडी हिंगु (डिकामाली) का वर्णन देखें ।

वंशपत्री । तस्या नामानि गुणाँश्चाह

वंशपत्री वेणुपत्री पिण्डा हिङ्गुशिवाटिका । हिङ्गुपत्रीगुणा विज्ञैर्वंशपत्री च कीर्त्तिता ॥२६५॥

वंशपत्री के नाम तथा गुण—वंशपत्री, वेणुपत्री, पिण्डा और हिङ्गुशिवाटिका ये नाम वंशपत्री के हैं । **वंशपत्री**-इसे विद्वानों ने गुणों में हिङ्गुपत्री के समान बताया है ॥ २६५ ॥

१५५ वंशपत्री

वंशपत्री भी संदिग्ध है । भावप्रकाशकार इसके गुण हिङ्गुपत्री की तरह ही बतलाते हैं । चक्रपाणि हिङ्गुपत्री की टीका में वंशपत्री लिखते हैं । सम्भव है ये दोनों एक ही हों और बोकामाली या नाडीहिङ्गु के ही पर्याय हों । हींग का पेड़ जिस प्रजाति (Genus) का है उसी प्रजाति (Ferula-फेरूला) के एक अन्य पेड़ के पत्ते देखने में कुछ बांस के पत्तों की तरह दिखलाई देते हैं । सम्भव है उसी में से किसी का वंशपत्री नाम हो ।

अथ मत्स्याक्षी । तस्या नामानि गुणाँश्चाह

मत्स्याक्षी बाह्लिका मत्स्यगन्धा मत्स्यादनीति च । मत्स्याक्षी ग्राहिणी शीतकुष्ठपित्तकफास्रजित् ॥
लघुस्तिक्ता कषाया च स्वाद्वी कटुविपाकिनी ॥ २६६ ॥

मत्स्याक्षी के नाम तथा गुण—मत्स्याक्षी, बाह्लिका, मत्स्यगन्धा और मत्स्यादनी ये नाम मत्स्याक्षी के हैं । **मत्स्याक्षी**—मलसंग्राहक, शीतवीर्य, लघु, तिक्त तथा कषाय रस युक्त, स्वादिष्ट, विपाक में कटुरस युक्त एवं कुष्ठ, पित्त, कफ और रक्तविकार को दूर करने वाली होती है ॥ २६६ ॥

नोट—यह भी संदिग्ध द्रव्य है । ब्राह्मी के पर्याय में अमरसिंह ने मत्स्याक्षी लिखा है । कुछ गुडरी साग को मत्स्याक्षी कहते हैं । संक्षेप में इसका यहाँ वर्णन किया है ।

१५६ मत्स्याक्षी ? गुडरी साग

ले०-*Alternanthera sessilis, (Linn.) R. Br.* (आल्टरनेन्थेरा सेसिलिस्); Fam. Amaranthaceae (एमरेन्थेसी) । बं०-शालिञ्च ।

यह भारत के सभी उष्ण प्रदेशों में नम जगहों में पाया जाता है ।

इसका क्षुप-परिप्रसरी अथवा ग्रन्थिमूल प्रसरी होता है । कभी-कभी शाखायें उत्थित प्रसरी होकर आस-पास की झाड़ियों पर फैली रहती हैं । **पत्ते**-लम्बे, अण्डाकार, आयताकार या अन्य प्रकार के भी होते हैं । **पुष्प**-श्वेत या गुलाबी रंग के मुण्डकाकार गुच्छों में आते हैं । पुष्प खिलने पर आधार भाग में गुलाबी और ऊपर सफेद होते हैं ।

रासायनिक संगठन—इसके नूतन भाग पौष्टिक (Nutritious) होते हैं तथा इसमें प्रोटीन (Protein) ५% तथा लौह १६·७ मि० ग्रा० प्रति १०० ग्रा० होता है ।

गुण और प्रयोग—यह ज्वरहर, पित्त-विरेचक तथा दुग्धवर्धक है । इसके पत्रशाक का उपयोग किया जाता है ।

अथ सर्पाक्षी ('सरहटी-गण्डिनी'ति च) । तस्या नामानि गुणाँश्चाह

सर्पाक्षी स्याच्च गण्डाली तथा नाडीकलापकः ॥ २६७ ॥
सर्पाक्षी कटुका तिक्ता सोष्णा कृमिनिकृन्तनी । वृश्चिकोन्दुरुसर्पाणां विषघ्नी व्रणरोपिणी ॥

सर्पाक्षी के नाम तथा गुण—सर्पाक्षी, गण्डाली और नाडीकलापक ये नाम सर्पाक्षी के हैं । सर्पाक्षी—कटु तथा तिक्त रसयुक्त, उष्णवीर्य, व्रण का रोपण करने वाली, कृमिनाशक तथा बिच्छू, मूषक और सर्प के विषों को नष्ट करने वाली है ॥ २६७-२६८ ॥

नोट—सर्पाक्षी भी बिलकुल निःसंदिग्ध द्रव्य नहीं है । रास्ना के नाम से लिये जाने वाले द्रव्यों में से एक ऑफिओराइझा मुन्गोस् को कुछ लोगों ने सर्पाक्षी माना है । कुछ ने पॉलिगोनम् प्लेबेजम् को सर्पाक्षी माना है । दूर्वा के पर्याय में सर्पाक्षी, मीनाक्षी ये शब्द आये हैं । डल्हण ने कल्पस्थान अ० ६ में इसे 'रक्तपुष्पा पूर्वदेशे प्रसिद्धा' एवं अ० ८-११७ में 'लोहितपुष्पा शंखपुष्पीभेदा' लिखा है । बंगीय ब्राह्मी के साथ कुछ विद्वानों ने इसका वर्णन किया है । यहाँ संक्षेप में दोनों का वर्णन किया गया है ।

१५७ सर्पाक्षी (१)

ले०-*Ophiorrhiza mungos Linn.* (ऑफिओराइझा मुन्गोस् लिन.) । Fam. Rubiaceae (रूबिएसी) । सं०-सर्पाक्षी । हि०-सरहटी । बं०-गन्धनाकुली । म०-मुंगसवेल, नागवेली । ता०-कीरिप्पुंडु । कोंक०-गडंघाताळि । क०-पाताल गरुड ।

यह खासिया पहाड़ एवं आसाम में २००० फीट तक, एवं पश्चिमीघाट, ट्रावनकोर एवं तिनेवेल्ली के पहाड़ों पर होता है ।

इसका क्षुप-करीब ४५-६० सें० मी० बड़ा होता है । **पत्ते**-१०-२० से० मी० बड़े, भालाकार, आधार की तरफ संकुचित, लम्बाग्र एवं ऊपर से चमकीले हरे रंग के होते हैं । **पुष्प**-श्वेत; **फली**-छोटी; एवं **बीज**-अनेक तथा भूरे रंग के होते हैं । **मूल**-बहुत मजबूत, टेढ़े-मेढ़े, ६ इञ्च लम्बे, स्वाद में कड़वे, तथा उसकी छाल पतली एवं कपिशवर्ण की होती है । कहीं-कहीं मूल का रास्ना के नाम से उपयोग किया जाता है । चिकित्सा में मूल का उपयोग होता है ।

रासायनिक संगठन—इसमें स्टार्च, राल, स्नेह तथा एक क्षाराभ रहता है ।

गुण और प्रयोग—यह तिक्त पौष्टिक, दीपन एवं पाचन है । इसकी जड़ का क्वाथ कुपचन, अतिसार आदि में दिया जाता है । लंका में सर्पदंश, वृश्चिक दंश, कुत्ते का विष आदि के लिये इसकी बहुत प्रशंसा है ।

१५८ सर्पाक्षी ? (२) मुनियारा

ले०-*Polygonum plebejum R. Br.* (पॉलिगोनम् प्लेबेजम्); Fam. Polygonaceae (पॉलिगोनेसी) । हि०-रानी फूल ।

यह भारत के सभी उष्ण स्थानों में तथा कभी-कभी ७००० फीट की ऊँचाई पर काश्मीर से भूटान तक होती है ।

इसके क्षुप-प्रसरी होते हैं । मूल के पास से अनेक शाखायें निकल कर इतस्ततः फैली रहती हैं पुष्पित अवस्था में शाखायें २-८ इञ्च तक लम्बी होती हैं । **पत्ते**-रेखाकार, आयताकार एवं छोटे पौधों में अभिलट्वाकार, तथा ४-१७ मि. मि. लम्बे होते हैं । उपपत्र छोटे एवं झालरदार होते हैं । **पुष्प**-छोटे, गुलाबी एवं **फल**-चिकने, चमकीले एवं त्रिकोणाकृति होते हैं । इसके कई भेदोपभेद होते हैं ।

गुण और प्रयोग—इसका शाक की तरह उपयोग किया जाता है । इसकी जड़ का आन्त्र विकारों में एवं पंचांग का चूर्ण न्युमोनिया में दिया जाता है ।

अथ शङ्खपुष्पी । तस्या नामानि गुणाँश्चाह

**शङ्खपुष्पी तु शङ्खाह्वा मङ्गल्यकुसुमाऽपि च । शङ्खपुष्पी सरा मेध्या वृष्या मानसरोगहृत् ॥
रसायनी कषायोष्णा स्मृतिकान्तिबलाग्निदा । दोषापस्मारभूतालक्ष्मीकुष्ठकृमिविषप्रणुत् २७०**

शङ्खपुष्पी के नाम तथा गुण—शङ्खपुष्पी, शङ्खाह्वा (शङ्ख के पर्यायवाची सब शब्द), मङ्गल्य-कुसुमा ये सब नाम 'शङ्खपुष्पी' के हैं। शङ्खपुष्पी-कषाय रस युक्त, उष्णवीर्य, सारक, मेधा के लिये हितकर, वृष्य, मानसरोग को दूर करने वाली, रसायन, स्मृतिशक्ति, कान्ति, बल, जठराग्नि इन सबों को बढ़ाने वाली एवं दोष, अपस्मार, भूतबाधा, दरिद्रता, कुष्ठ, कृमि और विष को नष्ट करने वाली होती है ॥ २६९-२७० ॥

नोट—शंखपुष्पी का 'विष्णुक्रान्ता' यह भेद अन्य निघण्टुकारों ने दिया है। भावप्रकाशकार ने 'विष्णुक्रान्ता' यह अपराजिता का पर्याय दिया है। वास्तव में विष्णुक्रान्ता यह अपराजिता या नीलापराजिता नहीं है। यह नीले फूल वाली शंखपुष्पी-भेद ही होना चाहिये। अन्य निघण्टुकारों ने विष्णुक्रान्ता के नील, श्वेत, एवं रक्त ये तीन भेद दिये हैं, जिनमें रक्त पुष्प वाले भेद को **सर्पाक्षी** नाम दिया है। अधिकांश विद्वानों ने एव्होल्व्हुलस् अल्सिनॉइडीस् को शङ्खपुष्पी माना है। वास्तव में इसके पुष्प नीले होते हैं। इस दृष्टि से इसे विष्णुक्रान्ता मानना अधिक उपयुक्त है। उसी वर्ग की तथा उससे मिलती-जुलती अन्य वनस्पति कन्व्हॉल्व्हुलस् प्लुरिकालिस् को, जिसके पुष्प श्वेत होते हैं, शंखपुष्पी मानना अधिक उपयुक्त है (ठा० बलवन्तसिंह)। कुछ विद्वानों ने 'दानकुनी' को शङ्खपुष्पी माना है जो उचित नहीं मालूम पड़ता। विष्णुक्रान्ता एवं शङ्खपुष्पी के गुण एक साथ ही दिये गये हैं तथा दानकुनी का अलग वर्णन किया गया है। शंखपुष्पी विशेष रूप से मेध्य होती है। (च० चि० अ० १)

१५९ शङ्खपुष्पी

हि०—शङ्खाहुली, शङ्खपुष्पी। **ले०**—*Convolvulus pluricaulis, Chois.* (कन्व्हॉल्व्हुलस् प्लुरिकॉलिस् को.); Fam. Convolvulaceae (कन्व्हॉल्व्हुलेसी)।

इसके **क्षुप**-प्रायः प्रसरणशील होते हैं। मूलस्तम्भ-काष्ठीय होता है। शाखाएं ४-१२ इञ्च लम्बी, रोमश, कुछ उठी हुई या फैली हुई रहती हैं। पत्ते-रेखाकार या नीचे की ओर के न्यूनाधिक अभिप्रासवत् एवं ·५-१·५ इञ्च लम्बे होते हैं। पुष्प-हलके गुलाबी रंग के या श्वेत होते हैं। बाह्यदल रोमश, रेखाकार प्रासवत् एवं आभ्यन्तर अंश कुप्पी के आकार का और बाहर से रोमयुक्त होता है। विष्णुक्रान्ता तथा शंखपुष्पी में अन्तर यह है कि विष्णुक्रान्ता में कुक्षिवृन्त दो और प्रायः पुनः द्विविभक्त होते हैं और शंखपुष्पी में केवल दो कुक्षियाँ होती हैं।

१६० विष्णुक्रान्ता (नील शङ्खपुष्पी)

हि०—शंखावली, शंखपुष्पी। **म०**—सांखवेल। **गु०**—शंखावली। **ले०**—*Evolvulus alsinoides Linn.* (एव्होल्व्हुलस् अल्सिनाइडीस् लिन.)। Fam. Convolvulaceae (कन्व्हॉल्व्हुलेसी)।

यह भारत के सभी प्रदेशों में तथा हिमालय पर ६००० फीट तक होती है।

इसके **क्षुप**-प्रसरणशील तथा सुन्दर होते हैं। शाखाएं-मूल के ऊपर से ४-१५ इञ्च लम्बी अनेक शाखाएं निकल कर चारों ओर फैली रहती हैं। पत्ते-अखण्ड, रेखाकार से लेकर अण्डाकार तक ·२५-·५ इञ्च तक लम्बे, (कभी-कभी १ इञ्च), एवं पृष्ठलग्न तथा रेशम तुल्य मुलायम रोमों से युक्त होते हैं। पुष्प-भड़कीले नीले रंग के होते हैं और दो या तीन की संख्या में पतले पुष्पदण्डों के अग्र पर रहते हैं। बाह्यदल रोमश और प्रासवत् होते हैं। आभ्यंतर कोश कभी-कभी श्वेत और कुछ-कुछ चन्द्राकार होते हैं। फल में २-४ फाँक होते हैं।

गुण और प्रयोग—शंखपुष्पी सारक, मेध्य, वृष्य, बल्य, कषाय, कटु, तिक्त एवं दीपन है। इसका उपयोग मानसरोग, उन्माद, अपस्मार, अनिद्रा, भ्रम एवं विष में किया जाता है।

(१) उन्माद में २-४ तोला ताजी शंखपुष्पी का स्वरस देने से दस्त साफ होता है और मद उतरता है। ज्वर में भी निद्रा के लिये एवं प्रलाप कम करने के लिये इसका फांट या इसे जीरक के साथ दूध में पीसकर देते हैं।

(२) बद्धकोष्ठ, गुल्म, आनाह आदि में इसकी जड़ देने से दस्त साफ होता है तथा शारीरिक विष निकल जाता है।

(३) इसके पत्तों का धूम्रपान जीर्णकास तथा श्वास में लाभदायक है।

(४) रक्तस्राव विशेषकर रक्तवमन में इसके स्वरस से लाभ होता है।

(५) पूयमेह, मूत्रकृच्छ्र तथा शुक्रदौर्बल्य में भी यह लाभदायक है। गर्भाशय-दौर्बल्य के कारण जिनमें गर्भधारणा नहीं होती उन्हें इससे लाभ होता है।

मात्रा—स्वरस २-४ तोला, चूर्ण १-६ माशा। फांट ४-८ तोला।

१६१ दानकुनी (शंखपुष्पी ?)

सं०—शंखपुष्पी। **हि०**—संखाहुली ? **बं०**—दानकुनी। **म०**—ययोची, दण्डोत्पल। **ले०**—*Canscora decussata Schult* (कन्स्कोरा डिकसेटा शुल्ट)। Fam. Gentianaceae (जेन्शिअनेसी)।

यह आर्द्र स्थानों में तथा ४००० फीट की ऊँचाई तक सब प्रदेशों में पायी जाती है।

यह वास्तव में शंखपुष्पी नहीं है। बंगाल के वैद्यों के द्वारा इसे शंखपुष्पी मानकर ग्रहण करने के कारण इसको कहीं-कहीं संखाहुली कह दिया जाता है।

इसके **क्षुप**-६-१५ इंच ऊँचे तथा चौकोर, सीधे, चिकने एवं सपक्ष काण्ड के होते हैं। **पत्ते**-अवृन्त, विपरीत, प्रासवत् या आयताकार-प्रासवत् ३, ३ शिराओं वाले, नीचे १ इञ्च तक लंबे किन्तु ऊपर क्रमशः छोटे होते हैं। पुष्प-श्वेत, अनियताकार और कुछ कुछ द्व्योष्ठ होते हैं। बाह्यदल सपक्ष और चार पुंकेसरों में एक बहुत बड़ा होता है। फली में बहुत बीज होते हैं। दानकुनी का स्वाद कड़वा होता है।

इसके पंचांग का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह दीपन, आनुलोमक तथा मज्जातंतु के लिये बलकारक है। उन्माद में इसका स्वरस २-४ तोले की मात्रा में देने से शौच होता है एवं मद उतरता है। बद्धकोष्ठ, गुल्म एवं आनाह आदि में इसकी जड़ देने से शौच साफ होकर शारीरिक विष निकल जाता है।

मात्रा—स्वरस १-२ तोला।

अथार्कपुष्पी । तस्या नामगुणानाह

अर्कपुष्पी क्रूरकर्मा पयस्या जलकामुका । अर्कपुष्पी कृमिश्लेष्ममेहपित्तविकारजित् ॥२७१॥

अर्कपुष्पी के नाम तथा गुण—अर्कपुष्पी, क्रूरकर्मा, पयस्या और जलकामुका ये नाम अर्कपुष्पी के हैं। अर्कपुष्पी-क्रिमि, कफ, प्रमेह और पित्तविकार को दूर करने वाली होती है ॥ २७१ ॥

नोट—अर्कपुष्पी को कुछ लोगों ने जीवन्ती-भेद माना है। रा. नि. में इसके परिचय में 'खर्णेरेति च कथ्यते' लिखा है। गुजराती में निम्नलिखित लता को खरणेर कहा जाता है।

जिसके कारण इसे श्री बापालालजी ने अर्कपुष्पी माना है। डल्हण के समय में भी यह संदिग्ध ही रही है। सु. शा. अ. १० में अर्कपुष्पी की टीका में—'अर्कपुष्पी पयस्या अर्कसदृशपयःपुष्पा, श्वेतदूर्वाविशेषां केचिदाहुः, वृक्षजातिमन्ये' लिखा है। दूसरे स्थान पर इसे 'अर्कपुष्पी अर्कपत्रसदृशी लता' लिखा है।

१६२ अर्कपुष्पी

हि०-अर्कपुष्पी, मोरन अड़ा, रानी मारवी, छरिवेल। म०-खानदोडका, शिरदोडी, तुलतुली। गु०-खरणेर, खरिवेल। ले०-*Holostemma rheedianum Spreng* (होलोस्टेमा हिडियेनम स्प्रेंग)। Fam. Asclepiadaceae (एस्क्लेपियडेसी)।

यह हिमालय के उष्ण प्रदेश तथा पश्चिमी पेनिन्सुला में पायी जाती है।

इसकी लता-बड़ी, आरोही, चिकनी, चमकदार तथा कांड पोले रहते हैं। पत्ते-आयताकार हृद्वाकार, गुडुच के समान, ३-७ इंच लंबे, लम्बाग्र, फलकमूल के पास बहुत भीतर की ओर धँसे हुये, कठोर एवं अधरतल पर मृदु रोमश होते हैं। पुष्प-सुगंधयुक्त, भीतर लाल बैंगनी और बाहर श्वेत या हलके गुलाबी रंग के प्रायः सचूड़ क्रम में आते हैं। फली-४-५ इञ्च लंबी आयताकार परन्तु सिरे पर क्रमशः पतली होकर कुंठिताग्र रहती है तथा उसके पृष्ठ पर दाने रहते हैं। इसकी जड़ तथा पत्तों का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह स्नेहन, शीतल, मूत्रजनन तथा शोथघ्न है। इसका प्रमेह, अश्मरी, मूत्ररोग में प्रयोग किया जाता है। इसके पत्तों का शाक के रूप में भी प्रयोग होता है।

(१) नये सोजाक में इसकी जड़ का क्वाथ जीरा, मिश्री तथा दूध मिलाकर देने से पेशाब की जलन कम होती है।

(२) शुक्रमेह में इसकी जड़ तथा सफेद सेमल की जड़ घिसकर ६ माशे की मात्रा में चीनी मिलाकर दिन में दो बार देते हैं।

(३) नेत्राभिष्यंद में इसे घिसकर पलकों पर लेप करते हैं।

मात्रा—मूल चूर्ण ½ तो० क्वाथ बनाकर।

अथ लज्जालुः। तस्या नामानि गुणांश्चाह

लज्जालुः स्याच्छमीपत्रा समङ्गा जलकारिका। रक्तपादी नमस्कारी नाम्ना खदिरकेत्यपि॥
लज्जालुः शीतला तिक्ता कषाया कफपित्तजित्। रक्तपित्तमतीसारं योनिरोगान् विनाशयेत्॥

लज्जावन्ती के नाम तथा गुण—लज्जालु, शमीपत्रा, समङ्गा, जलकारिका, रक्तपादी, नमस्कारी और खदिरका ये सब नाम लज्जावन्ती के हैं। लज्जावन्ती—तिक्त तथा कषाय रस युक्त, शीतवीर्य एवम् कफ, पित्त, रक्तपित्त, अतीसार और योनिरोग को नष्ट करने वाली होती है।

नोट—अधिकांश विद्वानों ने माइमोसा प्युडिका को लज्जालु माना है। कुछ विद्वान् बायोफाइटम् सेनसिटिह्वम् को लज्जालु मानते हैं। भावप्रकाशकार ने अलम्बुषा नाम से लज्जालु भेद दिया है, जिसे बायोफाइटम् मान सकते हैं। श्रीकण्ठ ने अलम्बुषा का अर्थ मुण्डितिका (गोरखमुण्डी) किया है, जो उचित नहीं मालूम पड़ता। लज्जालु, माइमोसा प्युडिका होनी चाहिये। चरक में सन्धानीय एवं पुरीषसंग्रहणीय महाकषाय में तथा सुश्रुत में प्रियङ्ग्वादिगण एवं अम्बष्ठादिगण में समङ्गा नाम से इसका उल्लेख है। इनमें लज्जालु एवं 'नमस्कारी' नाम का उल्लेख नहीं है।

अभिधानमञ्जरी में काञ्चनपुष्पी पर्याय जो दिया है वह बायोफाइटम् की दृष्टि से ठीक है, जिसे लज्जालु-भेद (अलम्बुषा) कह सकते हैं। कुछ विद्वानों ने नेप्ट्यूनिआ ओलेरॅसिआ लोर. (Neptunia oleracea Lour.; Fam. Leguminosae) को लज्जालु माना है। यह तालाबों में होता है तथा यह शीतल एवं संग्राही होता है।

१६३ लज्जालु

हि०-लज्जावन्ती, छुई-मुई, लजारू, लाजवती, लजउनी। बं०-लज्जावती, लाजक। म०-लाजाळू, लाजरी। गु०-रीसामणी। ता०-तोट्टा च्चुरंगी। ते०-मुणुगु दामरगु। ले०—*Mimosa pudica, Linn.* (माइमोसा प्युडिका लिन.)। Fam. Leguminosae (लेग्युमिनोसी)।

यह सम्भवतः उष्ण कटिबन्धज अमेरिका का आदिवासी है। अब यह समस्त भारत में पाया जाता है। इसको बागों में भी लगाते हैं।

इसका गुल्म-काँटेदार तथा फैला हुआ होता है। पत्रवृन्त-लम्बे होते हैं जिनसे चार पत्रक दण्ड पाणिवत् निकले रहते हैं। पत्रक-रेखाकार एवं अधिक से अधिक ½ इञ्च लम्बे, बबूल की तरह होते हैं। मुण्डक (पुष्प गुच्छ)—गुलाबी रंग के पुष्पों के मुण्डक, पत्र कोणीय पुष्पदण्डों के अग्र पर होते हैं। पुंकेशर ४ और बहुत बड़े होते हैं। फली-½-¾ इञ्च लम्बी होती है जिस पर बीजों के बीच की सन्धियों पर सूक्ष्म काँटे होते हैं। बीज-प्रत्येक में ३-४ होते हैं। शीतकाल में पुष्प आते है। जड़-चीमड़, खट्टी एवं कुछ तीती होती है। इसको स्पर्श करने से इसके पत्रक संकुचित हो जाते हैं। इसकी जड़ का विशेष प्रयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसमें माइमोसीन (Mismosine) नामक एक क्षाराभ पाया जाता है। इसकी जड़ में कषाय द्रव्य रहता है तथा इसकी राख ५½% निकलती है।

गुण और प्रयोग—यह संग्राहक है। इससे छोटी रक्तवाहिनियों का संकुचन होता है। रक्त तथा पित्तप्रधान रोगों में इसे देते हैं।

(१) इसकी जड़ का क्वाथ रक्तयुक्त आँव तथा सिकतामेह में देते हैं।

(२) अर्श में इसके पत्तों का चूर्ण दुग्ध के साथ पिलाते हैं।

मात्रा—स्वरस १-२ तोला।

अथालम्बुषा (लज्जालुभेदः)। तस्या नामगुणानाह

अलम्बुषा खरत्वक् च तथा मेदोगला स्मृता। अलम्बुषा लघुः स्वादुः क्रिमिपित्तकफापहा॥

अलम्बुषा के नाम तथा गुण—अलम्बुषा, खरत्वक् और मेदोगला ये नाम अलम्बुषा के हैं। यह लज्जावन्ती का भेद है। अलम्बुषा—लघु (हलकी), स्वादिष्ट एवं क्रिमि, पित्त तथा कफ को दूर करने वाली होती है॥ २७४॥

१६४ अलम्बुषा? (लकजन)

हि०-लज्जालू, लकजन। म०-लाजरी। गु०-रीसामणी, झरेर। मल०-मुकुट्टी, तीणराढाझी। ले०-*Biophytum sensitivum* (*Linn.*) *DC.*। (बायोफाइटम् सेन्सिटिवम्, लिन. डीसी.)। Fam. Geraniaceae (जिरॅनिएसी)।

यह भारत के सभी उष्ण प्रदेशों में पाया जाता है।

इसके **क्षुप**–छोटे तथा सुन्दर होते हैं। सदलपर्ण तथा पुष्पदण्ड जमीन के बराबर ३–४ इंच लंबे, रोमश एवं कभी-कभी सशाख काण्ड के अग्र से एक साथ निकले रहते हैं। **सदलपर्ण**–$1\frac{3}{2}$–५″ लंबे, इनके अग्रस्थित दल ·३·५″ लंबे, नीचे की ओर के दल क्रमशः छोटे, अवृन्त, आयताकार या आयताकार-अभिलट्वाकार होते हैं। **पुष्पदण्ड**–प्रायः पत्तियों से लंबे, घन रोमश, अनेक कोणपुष्पकों एवं सवृन्त और पीले पुष्पों से युक्त रहते हैं। निद्रागति (Sleep movement) के कारण दो-दो पत्रक रात्रि में परस्पर सट जाते हैं।

गुण और प्रयोग—यह शीतल, तिक्त, कषाय तथा कफघ्न है। रक्तपित्त, अतीसार तथा योनिरोगों में इसका प्रयोग किया जाता है।

(१) मूत्राश्मरी एवं सोजाक में इसके मूल का क्वाथ देते हैं।
(२) कुकास में जड़ को मधु के साथ देते हैं।
(३) अर्श में इसे पीसकर लेप करते हैं। अंडवृद्धि में भी इसको बांधते हैं।

अथ दुग्धिका (दुद्धी)। तस्या नामानि गुणांश्चाह

दुग्धिका स्वादुपर्णी स्यात्क्षीरा विक्षीरिणी तथा। दुग्धिकोष्णा गुरू रूक्षा वातला गर्भकारिणी॥
स्वादुक्षीरा कटुस्तिक्ता सृष्टमूत्रा मलापहा। स्वादुविष्टम्भिनी वृष्या कफकुष्ठक्रिमिप्रणुत्॥

दुद्धी के नाम तथा गुण—दुग्धिका, स्वादुपर्णी, क्षीरा, विक्षीरिणी ये नाम दुद्धी के हैं। दुद्धी–कटु तथा तिक्तरस युक्त, उष्णवीर्य, गुरु, रूक्ष, वातकारक, गर्भकारक, स्वादिष्ट दूध युक्त, मूत्र का प्रवर्त्तन तथा मल का निवारण करने वाली, स्वादिष्ट, विष्टम्भजनक, वृष्य (वीर्यवर्धक), एवं कफ, कुष्ठ और क्रिमि को नष्ट करनेवाली होती है॥ २७५–२७६॥

नोट—दूधी के अतिरिक्त एक छोटी दूधी होती है जिसके २, ३ प्रकार पाये जाते हैं। इनका संक्षेप में स्वतंत्र वर्णन किया गया है।

१६५ दुद्धी

हि०-दुद्धी, दुधिया, दुद्धि, दूधी। **बं०**–बरा, खरूई। **म०**–मोठी नायटी। **गु०**–नागला, दुधेली, राती। **ते०**–ननबाल। **ता०**–अमूपच्छे अरिस्सि। **ले०**–*Euphorbia hirta, Linn.* (युफोर्बिया हिर्टा, लिन.); Fam. Euphorbiaceae (युफोर्बिएसी)।

यह भारत के समस्त उष्ण भागों में होती है।

इसके **क्षुप**–वर्षायु, रोमश तथा २ फीट तक ऊंचे होते हैं। **काण्ड**–प्रायः चतुष्कोणीय होते हैं। **पत्र**–अभिमुख, मध्यशिरा के दोनों ओर के खण्ड छोटे-बड़े, तीक्ष्ण दन्तुर, अण्डाकार आयताकार या आयताकार-प्रासवत, $\frac{3}{4}$–$1\frac{1}{2}$ इञ्च तक लम्बे एवं तीक्ष्ण या संकुचित अग्रवाले होते हैं। एकामव्यूह सूक्ष्म एवं गुच्छीकृत होता है। **फली**–छोटी एवं रोमावृत होती है जिसमें रक्ताभ भूरे रंग के छोटे बीज होते हैं। इसको तोड़ने से दूध निकलता है। पुष्प एवं फल आने पर इसे सुखा कर रखते हैं। इसके पंचांग का व्यवहार किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इससे जलविलेय पदार्थ जैसे गॅलिक एसिड (Gallic acid), केर्सेटिन (Quercetin), फिनॉलीय द्रव्य, एक ग्लाइकोसाइड तथा शर्करा पाई जाती है। इनके अतिरिक्त सुरासार विलेय द्रव्य, कुछ उड़नशील द्रव्य एवं मोम भी होता है।

गुण और प्रयोग—हृदय एवं श्वसनक्रिया पर इसका अवसादक प्रभाव पड़ता है तथा केन्द्रीय प्रभाव से श्वसनिकाओं का विस्फार होता है। आमाशय में इससे स्थानिक क्षोभ उत्पन्न

होकर अधिक मात्रा से उत्क्लेश एवं वमन होता है। इसलिये इसका प्रयोग भोजनोपरान्त अधिक जल के साथ थोड़ी-थोड़ी मात्रा में करना चाहिये।

(१) जीर्ण कफविकारों एवं तमकश्वास में इसका क्वाथ देते हैं। इसके साथ अन्य कफ-निःसारक द्रव्य देने चाहिये।
(२) इसका स्वरस रक्तयुक्त आंव तथा शूल में दिया जाता है।
(३) बच्चों के कृमि, पेट के विकार तथा कफविकारों में इसे देते हैं।
(४) स्तन्यवर्धक रूप में इसका स्वरस पिलाया जाता है।
(५) वमन रोकने के लिए इसकी जड़ का प्रयोग किया जाता है।
(६) चर्मकील तथा दद्रु पर इसका दूध लगाते हैं।

मात्रा—स्वरस १०–२० बूँद; शुष्क चूर्ण २–५ रत्ती।

१६६ छोटी दूधी (१)

ले०–*Euphorbia thymifolia, Linn.* (युफोर्बिआ थाइमीफोलिया, लिन.)। Fam. Euphorbiaceae (युफोर्बिएसी)।

यह भी भारत के सभी मैदानी एवं छोटे पहाड़ी स्थानों पर एवं काश्मीर में ५५०० फीट तक होती है।

इसके पौधे बहुत छोटे ताम्रवर्ण के तथा फैली हुई शाखाओं से युक्त होते हैं। पत्ते–सूक्ष्म, अभिमुख, द्विपंक्ति, तिर्यक् आयताकार या गोल एवं गोलदन्तुर होते हैं। गुच्छीकृत एकामव्यूह हरित या गुलाबी तथा मृदुरोमश होते हैं।

गुण और प्रयोग—यह विशेष रेचक तथा उत्तेजक है। इसका रस दाद तथा अन्य चर्मरोगों में लगाते हैं। कफ एवं पित्त को निकालने के लिये इसका स्वरस दूध के साथ देते हैं। इसकी जड़ अनार्तव में दी जाती है।

१६७ छोटी दूधी (२)

ले०–*Euphorbia microphylla, Heyne* (युफोर्बिआ माइक्रोफाइला, हेन); Fam. Euphorbiaceae (युफोर्बिएसी)।

यह बंगाल, बुन्देलखण्ड, बिहार तथा प० प्रायद्वीप में होती है।

इसका **क्षुप** भी पहले की तरह होता है। यह श्वेतवर्ण का होता है। पत्ते–कुछ छोटे और कभी-कभी केवल अग्र पर दन्तुर होते हैं। इसमें एकामव्यूह चिकने होते हैं।

गुण और प्रयोग—स्तन्यवर्धक रूप में इसका प्रयोग करते हैं।

१६८ छोटी दूधी (३)

ले०–*Euphorbia hypericifolia, Linn.* (युफोर्बिआ हाइपेरिसी फोलिया, लिन.)। Fam. Euphorbiaceae (युफोर्बिएसी)। **पं०**–हजारदाना।

यह भारत के समस्त उष्ण भागों मे तथा ४५०० की ऊँचाई तक हिमालय पर होती है।

इसका **क्षुप**–करीब ६–२४ इञ्च बड़ा होता है। पत्ते–आयताकार या कुछ अभिअंडाकार, सूक्ष्म दन्तुर, एवं १·७″ से छोटे होते हैं। एकामव्यूह, छोटे, ०·०७ इञ्च बड़े होते हैं।

रासायनिक संगठन—इसमें फेनॉलीय द्रव्य, सुगन्धि तैल एवं क्षाराभ होता है।

गुण और प्रयोग—यह संग्राही एवं मादक है।

(१) बच्चों के उदरशूल में पत्र-स्वरस दूध के साथ देते हैं।

(२) शुष्क पत्र का फांट आंव, अतिसार, अत्यार्तव तथा श्वेतप्रदर में देते हैं।

(३) इसका दूध चर्मकील पर लगाते हैं।

अथ भूम्यामलकी (भुँइआमला) । तस्या नामगुणानाह

भूम्यामलकिका प्रोक्ता शिवा तामलकीति च। बहुपत्रा बहुफला बहुवीर्याऽजटाऽपि च॥ भूधात्री वातकृत्तिक्ता कषाया मधुरा हिमा। पिपासाकासपित्तास्रकफकण्डूक्षतापहा॥२७८॥

भुँइ आमला के नाम तथा गुण—भूम्यामलकिका, शिवा, तामलकी, बहुपत्रा, बहुफला, बहुवीर्या, अजटा और भूधात्री ये सब नाम भुँइ आमला के हैं।

भुँइ आमला—तिक्त, कषाय एवं मधुर रस युक्त, वातकारक, शीतवीर्य एवं तृषा, खाँसी, पित्त, रक्त, कफ, खुजली और क्षत को दूर करने वाली है॥ २७७-२७८॥

१६९ भूआमला

हि०-भुंई आमला, भूमि आंवरा, **बं०**-भुंई आम्ला। **क०**-किरूनेल्लि। **ते०**-नेल उसरि। **गु०**-भोंयआवली। **म०**-भुई आंवली। **ले०**-*Phyllanthus niruri, Linn.* (फाइलॅन्थस् निरुरी, लिन.)। Fam. Euphorbiaceae (युफोर्बिएसी)।

यह प्रायः सब प्रान्तों में वर्षा ऋतु में अधिक मिलती है। पहाड़ों पर यह ३००० फीट की ऊँचाई तक पाई जाती है।

इसका **क्षुप**-६ से १२ इञ्च तक ऊँचा होता है। शाखाएँ-सीधी, पतली तथा देखने में पक्षवत् पत्र सदृश मालूम होती हैं। पत्ते-दीर्घवृत्ताकार, आयताकार एवं ०·२५-०·७५ इञ्च लंबे होते हैं। फूल-छोटे, हरे या श्वेताभ, प्रायः २-३ पुपुष्प एवं १ स्त्रीपुष्प पत्रकोण में रहते हैं। फल-गोल, आंवला की तरह, ०·०८-०·१२ इञ्च व्यास के ०·२-०·३ इञ्च लम्बे दण्ड पर आते हैं। बीज-भूरे रंग के, खड़ेबल में सूक्ष्म दानेदार रेखाओं से युक्त एवं आड़ेबल में महीन धारीदार होते हैं।

इसकी एक अन्य जाति होती है जिसे Phyllanthus urinaria Linn. (फॉइलॅन्थस् युरिनॅरिआ लिन.) कहते हैं। इसमें पत्ते-०·१२-०·४ इञ्च लंबे, किसी किसी में ०·६ इञ्च तक लंबे, आयताकार या रेखाकार-आयताकार; फूल-रक्ताभ; फल-दबे हुये, गोल, ऊपर से शल्क (कीलक) युक्त; बीज-सूक्ष्म एवं आडेबल में महीन नालीदार होते हैं।

रासायनिक संगठन—इसके पत्तों में एक कडुआ द्रव्य फाइलेन्थिन (Phyllanthin) पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह कासहर, श्वासहर, शीत, मूत्रजनन, स्रंसन, दाहशामक, शोथहर, व्रणरोपण तथा नियतकालिक ज्वर प्रतिबन्धक है।

यह कामला, मलेरिया, यकृत्-प्लीहावृद्धि, दाह, मूत्ररोग, रक्तविकार तथा व्रण में उपयोगी है।

(१) इसके पंचांग का क्वाथ मलेरिया में दिया जाता है।

(२) मूत्रमार्ग के विकारों तथा जलशोथ में इससे लाभ होता है। इससे मूत्र की मात्रा बढ़ती है तथा जलन कम होती है।

(३) कामला में इसकी १ तोला जड़ दूध में पीस कर दोनों समय देते हैं।

(४) इसके कोमल काण्ड का फाण्ट आंव में देते हैं।

(५) व्रणशोथ तथा व्रण पर इसके पंचांग का चावल की पेया के साथ बना पोल्टिस बांधा जाता है।

(६) त्वचा के रोगों में पत्तों को नमक के साथ पीस कर बांधते हैं।

मात्रा—स्वरस १ से २ तोला; चूर्ण ३-६ माशा।

अथ ब्राह्मी मण्डूकपर्णी च। तयोर्नामानि गुणाँश्चाह

ब्राह्मी कपोतवङ्का च सोमवल्ली सरस्वती। मण्डूकपर्णी माण्डूकी त्वाष्ट्री दिव्या महौषधी॥ ब्राह्मी हिमासरा तिक्ता लघुर्मेध्या च शीतला। कषाया मधुरा स्वादुपाकाऽऽयुष्या रसायनी॥ स्वर्या स्मृतिप्रदा कुष्ठपाण्डुमेहास्रकासजित्। विषशोथज्वरहरी तद्वन्मण्डूकपर्णिनी॥ २८१॥

ब्राह्मी और मण्डूकपर्णी के नाम तथा गुण—ब्राह्मी, कपोतवङ्का, सोमवल्ली और सरस्वती ये नाम ब्राह्मी के हैं। मण्डूकपर्णी, माण्डूकी, त्वाष्ट्री, दिव्या और महौषधी ये नाम मण्डूकपर्णी के हैं। ब्राह्मी-शीतवीर्य, सारक (दस्तावर), तिक्त, कषाय और मधुर रसयुक्त, लघु, मेधा के लिए हितकर, शीतल, विपाक में मधुर रस युक्त, आयु को बढ़ाने वाली, रसायन, स्वर को उत्तम करने वाली, स्मरण-शक्ति को बढ़ाने वाली एवं कुष्ठ, पाण्डु, प्रमेह, रक्तविकार, खांसी, विष, शोथ तथा ज्वर को दूर करने वाली होती है। **मण्डूकपर्णी**-इसके भी समस्त गुण ब्राह्मी के समान ही हैं॥

नोट—भावप्रकाशकार ब्राह्मी तथा मण्डूकपर्णी दोनों के समान गुण लिखते हैं। वास्तव में ये दो भिन्न वनस्पतियाँ हैं। सुश्रुत चि० २८-४ में ब्राह्मी तथा मण्डूकपर्णी दोनों के अलग-अलग प्रयोग दिये हुये हैं। उत्तर प्रदेश के अधिकांश वैद्य जिसको ब्राह्मी मानते हैं यह वास्तव में मण्डूकपर्णी है जिसका लेटिन नाम हाइड्रोकोटाइल् एशियाटिका है। इसकी २, ३ किस्में तथा एक अन्य जाति भी पाई जाती है। इनके अतिरिक्त बंगाल के वैद्य जलनीम (हर्पेस्टिस् मोनिएरा) को ब्राह्मी मानते हैं। हो सकता है कि दोनों के गुणों में कुछ समानता पाई जाती हो और इसी कारण भावप्रकाशकार ने इनके गुण एक समान लिखे हों। इनमें से हाइड्रोकोटाइल् एशियाटिका निश्चित रूप से मण्डूकपर्णी मालूम होती है क्योंकि इसका बिहार प्रान्त का स्थानिक नाम बेंगसाग है, जिसका अर्थ मेंढक का शाक है। यहाँ दोनों का अलग-अलग वर्णन किया है।

१७० ब्राह्मी (बंगीय), जलनीम

हि०-ब्राह्मी, जलनीम, ब्रह्मी। **बं०**-ब्राह्मीशाक, ऊधाबिनि। **म०**-ब्राह्मी। **ते०**-शम्बनी चेट्टु। **ता०**-नीराब्रह्मि। **अं०**-Bacopa (बॅकोपा)। **ले०**-*Bacopa monnieri (Linn.) Pennell* (बॅकोपा मोनिएराइ (लिन.) पेन्नेल); B. monniera Wetts. (बॅ मोनिएरा वेट); Herpestis monniera (Linn.) H. B. & K. (हर्पेस्टिस् मोनिएरा)। Fam. Scrophulariaceae (स्क्रोफ्युलॅरिएसी)।

पानी के समीप आर्द्र स्थानों में यह सर्वत्र पाई जाती है।

इसका **क्षुप**-प्रसरी एवं किञ्चित् मांसल होता है। पत्ते-अभिलट्वाकार, आयताकार या सुवा के आकार के अखण्ड, अवृन्त, कुण्ठिताग्र, सूक्ष्म काले चिह्नों से युक्त एवं ६-२५×२·५-१० मि० मि० बड़े होते हैं। पुष्प-जामुनी मिला हुआ श्वेत या गुलाबी रंग का होता है। फली-५ मि० मि० लम्बी, अण्डाकार, चिकनी तथा नुकीली होती है, जिसमें सूक्ष्म बीज होते हैं।

इसका स्वाद कडुवा होने से तथा जल के समीप होने से इसे जलनीम भी कहते हैं। इसके पंचांग का व्यवहार किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसमें एक क्षाराभ ब्राह्मीन (Bramhine, 0·01–0·02%) पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—इसमें का क्षाराभ मेढ़क, चूहे तथा गिनीपिग आदि के लिये बहुत ही विषैला है। इससे रक्त का दबाव कम होता है। अल्प मात्रा से रक्त का दबाव कुछ बढ़ता है तथा श्वसन क्रिया को भी बल मिलता है। अत्यल्प मात्रा से भी अनैच्छिक मांसपेशियाँ, जैसे आन्त्र, गर्भाशय आदि उत्तेजित होती हैं। चिकित्सा की मात्रा में इसके क्षाराभ का प्रभाव स्ट्रिकनीन की तरह पड़ता है जिससे हृदय को बल मिलता है।

यह वातनाड़ी-संस्थान के लिये बल्य, मूत्रल एवं विरेचक है। इसका प्रयोग अपस्मार, उन्माद तथा स्वरभंग में किया जाता है।

(१) आमवात में इसके स्वरस का बाह्य प्रयोग करते हैं।

(२) बच्चों के सर्दी, खाँसी आदि में इसका स्वरस एक चम्मच देने से वमन तथा विरेचन होकर लाभ होता है।

(३) अवसाद, मानसिक दौर्बल्य आदि अवस्थाओं में इसके पत्तों का चूर्ण उपयोगी है।

(४) अपस्मार, हिस्टीरिया आदि में इससे बना ब्राह्मी घृत उपयोगी है।

मात्रा—स्वरस ½–१ तोला; चूर्ण ४–८ रत्ती।

१७१ मण्डूकपर्णी

हिं०–ब्रह्ममाण्डूकी, ब्राह्मीभेद। **बं०**–थोलकुरी। **गु०**–खडब्राह्मी। **क०**–वंदेलग। **ते०**–मण्डूक ब्राह्मी। **ता०**–वल्लै। **म०**–कारिवणा। **अं०**–Indian Pennywort (इंडियन पेनीवर्ट)। **ले०**–*Centella asiatica (Linn.) Urban* (सेन्टेला एशियाटिका (लिन.) अरबन); Hydrocotyle asiatica, Linn. (हाइड्रोकोटाइल एशियाटिका, लिन.)। Fam. Umbelliferae (अम्बेलीफेरी)।

यह भारत तथा लंका में आर्द्र स्थान पर ६००० फीट की ऊँचाई तक पाई जाती है। यह विदेशों में भी पाई जाती है।

इसका **क्षुप**—रूप में कुछ भिन्न भिन्न प्रकार का होता है। **काण्ड**–लंबे, प्रसरी एवं ग्रन्थियों पर मूलों से युक्त होते हैं। **पत्ते**–गोल वृक्काकार, अखण्ड परन्तु धार पर प्रायः गोल-दन्तुर, १.३–६.३ से. मी. व्यास में एवं लंबे वृन्त से युक्त होते हैं। **पुष्प**–ग्रन्थियों से कई पुष्पदण्ड एक साथ निकलते हैं, जिनमें लाल रंग के पुष्प संख्या में ३–५, सवृन्त मूर्धज होते हैं। **फल**–८ मि. मी. लंबे तथा चिपटे होते हैं, जिनमें चिपटे बीज होते हैं।

इसकी अन्य किस्में होती हैं, जिनमें एक में पत्ती बड़ी एवं फल सफेद तथा दूसरी में पत्ती छोटी तथा लाल फल होते हैं। एक अन्य जाति हा. रोटन्डिफोलिया (H. rotundifolia Roxb.) भी होती है जिसका **क्षुप**–बहुत कोमल, **पत्ते**–पतले झिल्ली के समान, स्पष्टतः ५–७ खण्डित एवं व्यास में १८ मि. मी. तक होते हैं। इसमें प्रत्येक पुष्पदंड में पुष्प १०–१५ तक एवं अवृन्त होते हैं। इसमें कोणपुष्पक सूक्ष्म होते हैं। पहला में वे स्पष्ट, प्रत्येक पुष्पदण्ड के साथ दो-दो, तथा चौड़े लट्वाकार होते हैं। इसके पत्तों एवं काण्ड का चिकित्सा में उपयोग किया जाता है। इसको छाया में सुखाकर चूर्ण बनाकर बन्द बोतलों में रखना चाहिये।

रासायनिक संगठन—इसमें एक क्षाराभ हाइड्रोकोटिलिन (Hydrocotylin, $C_{22}H_{33}NO_8$), एक ग्लाइकोसाइड, एशियाटिकोसाइड (Asiaticoside), अल्प उड़नशील तैल, स्थिरतैल तथा राळीय द्रव्य पाये जाते हैं। इनके अतिरिक्त वेलेराइन (Vellarine), पेक्टिक एसिड (Pectic acid) तथा विटामिन सी. (Ascorbic acid) पाये जाते हैं। शुष्क पौधे में सेन्टोइक् एसिड (Centoic acid–$C_{30}H_{48}O_6$) तथा सेन्टेलिक् एसिड (Centellic acid, $C_{30}H_4C_6$) पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—यह रसायन, बल्य, मूत्रजनन, वयःस्थापन, मेध्य, रक्तशोधक, कुष्ठघ्न, व्रणशोधक एवं व्रणरोपक है। अधिक मात्रा में यह मादक है। इससे शिरःशूल, चक्कर आना तथा कभी-कभी संन्यास (Coma) की अवस्था भी हो जाती है। इससे त्वचा की रक्तवाहिनियों का विस्फार होता है।

इसका प्रयोग वातिक विकार, चर्मरोग एवं रक्तविकार में किया जाता है।

(१) त्वचा के विकारों में यह अच्छी लाभदायक है। कुष्ठ में इससे कुछ लाक्षणिक लाभ एवं साधारण स्वास्थ्य ठीक होता है। फिरंग की द्वितीयावस्था एवं तृतीयावस्था तथा जीर्ण आमवात में इसको देते हैं। फिरंग में इसके देने से एक सप्ताह में त्वचा मुलायम पड़कर छूटने लगती है। अन्य त्वचा रोगों में भी इससे लाभ होता है। इसका चूर्ण व्रण पर लगाते हैं तथा इसे खिलाते हैं। इसके प्रयोग से यदि कण्डू हो तो कुछ दिन इसे रोकना चाहिये तथा रेचक औषध देनी चाहिये।

(२) बच्चों के खूनी आँव में २ से ४ पत्तों का स्वरस, जीरक एवं मिश्री के साथ पिलाते हैं तथा नाभि के नीचे लेप करते हैं।

(३) बच्चों को शब्दोच्चारण ठीक करने के लिये इसे चबाने को देते हैं।

(४) स्मरणशक्ति बढ़ाने के लिये इसका चूर्ण दुग्ध के साथ दिया जाता है।

मात्रा–चूर्ण २–४ रत्ती; ताजे पत्ते ८–१२ प्रौढ़ के लिये; २–४ बालकों के लिये।

अथ द्रोणा (गूमा)। तस्या नामगुणानाह

द्रोणा च द्रोणपुष्पी च फलेपुष्पा च कीर्त्तिता। द्रोणपुष्पी गुरुः स्वादू रूक्षोष्णा वातपित्तकृत्॥
सतीक्ष्णलवणा स्वादुपाका कट्वी च भेदिनी। कफामकामलाशोथतमकश्वासजन्तुजित्॥२८३॥

गूमा के नाम तथा गुण—द्रोणा, द्रोणपुष्पी और फलेपुष्पा ये नाम गूमा के हैं। **गूमा**–गुरु, स्वादिष्ट, रूक्ष, उष्ण, वात-पित्त कारक, तीक्ष्ण, लवणरसयुक्त, विपाक में मधुररसयुक्त, कटु, मल को भेदन करने वाली एवं कफ, आम, कामला, शोथ, तमकश्वास और क्रिमि को दूर करती है॥ २८२–२८३॥

१७२ गूमा

हिं०–गूमा। **बं०**–घलघसे, हलकषा, दण्ड कलस। **गु०**–कुबो। **म०**–तुंबा। **ले०**–*Leucas cephalotes Spreng.* (ल्युकस् सिफॅलोटिस् स्प्रेंग.); Fam. Labiatae (लेबियटी)।

यह प्रायः सब स्थानों में वर्षा में अधिक दिखाई पड़ती है। इसका **क्षुप**–आधे से २–३ फीट तक ऊँचा होता है। शाखायें चौपहल एवं रोमश होती हैं। **पत्ते**–२–३ इंच लंबे तथा आधा इंच चौड़े अथवा न्यूनाधिक होते हैं। ये अण्डाकार-प्रासवत् या लट्वाकार, गोल एवं आरावत् दन्तुर एवं रोमश दन्तुर होते हैं। पुष्पगुच्छ–श्वेत, प्रायः अग्रग, गोल, व्यास में १–२ इंच एवं प्रायः लम्बाग्र कोणपुष्पकों से घिरे हुये रहते हैं और पुष्पगुच्छ के शीर्ष पर प्रायः दो पत्तियाँ रहती हैं। पुष्प आकृति में द्रोण के सदृश होते हैं, इसलिये इसे द्रोणपुष्पी कहते हैं। पुष्प शरद् में आते हैं तथा ग्रीष्म में यह सूख जाता है। इस प्रजाति में अनेक जातियाँ हैं जिनमें से कई एक को गूमा कहा जाता है।

इसके पंचांग का चिकित्सा में व्यवहार होता है।

रासायनिक संगठन—इसमें एक सुगन्धित तैल तथा क्षाराम पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह उष्ण, कटु, स्वेदजनन, वातप्रशमन, स्रंसन एवं कफघ्न है। इसका प्रयोग प्रतिश्याय, कास, अग्निमांद्य, विषमज्वर एवं त्वचा के रोगों में किया जाता है।

(१) जुकाम में इसका फांट या स्वरस देते हैं। कफज्वर में टंकणक्षार तथा मधु के साथ इसका स्वरस देते हैं। इसके फूलों का शर्बत भी जुकाम आदि में लाभदायक है।

(२) आध्मान तथा उदरशूल में इसका स्वरस दिया जाता है।

(३) खुजली में इसका रस शरीर पर मलते हैं।

(४) सरदी से उत्पन्न शिरःशूल में इसके स्वरस का नस्य उपयोगी है।

(५) कामला में इसके पत्तों का रस नेत्रों में डालते हैं।

मात्रा—स्वरस ½–१ तोला।

अथ सुवर्चला (हुरहुर-श्वेत, पीत)। तयोर्नामगुणानाह

सुवर्चला सूर्यभक्ता वरदा बदराऽपि च। सूर्यावर्त्ता रविप्रीताऽपरा ब्रह्मसुदुर्लभा ॥२८४॥
सुवर्चला हिमा रूक्षा स्वादुपाका सरा गुरुः। अपित्तला कटुः क्षारा विष्टम्भकफवातजित् ॥
अन्या तिक्ता कषायोष्णा सरा रूक्षा लघुः कटुः। निहन्ति कफपित्तास्रश्वासकासारुचिज्वरान् ॥
विस्फोटकुष्ठमेहास्रयोनिरुक्कृमिपाण्डुताः ॥ २८६ ॥

हुरहुर तथा ब्रह्मसुवर्चला के नाम और गुण—सुवर्चला, सूर्यभक्ता, वरदा, बदरा, सूर्यावर्त्ता और रविप्रीता ये नाम हुरहुर के हैं। एक दूसरे प्रकार की भी 'हुरहुर' होती है, जिसका ब्रह्मसुदुर्लभा नाम है। हुरहुर-शीतवीर्य, रूक्ष, विपाक में मधुररसयुक्त, सारक, गुरु, किञ्चित पित्तजनक, कटुरसयुक्त, क्षारीय एवं विष्टम्भ, कफ और वात को दूर करने वाली होती है। और द्वितीय हुरहुर (ब्रह्मसुदुर्लभा)-तिक्त-कषाय और कटुरसयुक्त, उष्णवीर्य, सारक, रूक्ष, लघु एवं कफ, पित्त-रक्त, श्वास, कास, अरुचि, ज्वर, विस्फोटक, कुष्ठ, प्रमेह, रक्तविकार, योनिरोग, कृमि तथा पाण्डुरोग को दूर करने वाली होती है ॥ २८४–२८६ ॥

नोट—उपर्युक्त वनस्पति को अधिकांश विद्वानों ने आजकल मिलने वाली हुरहुर माना है। हुरहुर के दो भेद पाये जाते हैं। गाइनेन्ड्रोप्सिस् पेन्टाफाइला (Gynandropsis pentaphylla) नामक श्वेत हुरहुर तथा क्लिओम् विस्कोसा (Cleome viscosa) नामक पीत हुरहुर। एक अन्य क्लि० मोनोफाइला (C. monophylla Linn.) नामक बैंगनी हुरहुर भी होता है।

श्वेत हुरहुर के पत्र पर्णनाल पर सूर्य के साथ घूमते हैं, जिससे उपर्युक्त सूर्यभक्ता, सूर्यावर्त्ता, रविप्रीता आदि नाम इस (श्वेत हुरहुर) के लिये सार्थक मालूम पड़ते हैं। कुछ विद्वान् इसमें उग्रगन्ध होने से इसे उग्रगन्धा, अजगन्धा मानते हैं। इसका मराठी नाम तिलवण इसके तिलपर्णी होने का सन्देह पैदा करता है। कुछ ने इसे कर्णस्फोटा माना है। बंगाली वैद्य सुवर्चला नाम से इसे लेते हैं। यहाँ दोनों हुरहुर का वर्णन किया गया है। हुरहुर को शास्त्रीय सुवर्चला, अजगन्धा तिलपर्णी, आदित्यभक्ता, सूर्यमुखी या कर्णस्फोटा इनमें से क्या माना जाय यह सन्देहास्पद है। मालवा, राटंडीफोलिया (Malva rotundifolia Lill.; Fam. Malvaceae) का स्थानिक नाम सोंचल होने के कारण कुछ विद्वान् उसे सुवर्चला मानते हैं।

१. ब्रह्मसुवर्चला इति पाठा०।

१७३ हुरहुर (श्वेत)

हि०–हुरहुर सफेद, करेला, चमनी। को०–हेत काटाझड़ा। म०–तिलवण, माटवण, मान्ली बं०–हुरहुरिया। गु०–धोळी तलवर्णी। ते०–वामिटम्। मल०–तैवेल। ता०–कडुगु, वेले। ले०–*Gynandropsis pentaphylla, DC.* (गाइनेन्ड्राप्सिस् पेन्टाफाइला डीसी.)। Fam. Capparidaceae (कॅपेरिडेसी)।

यह भारत के सभी उष्ण स्थानों में होता है।

इसका क्षुप १–३ फीट ऊँचा एवं दुर्गन्धयुक्त होता है। पत्ते-सपत्रक, पाणिवत्, पत्रक प्रायः पाँच, अभिलट्वाकार, अधिक रोमश एवं चिपचिपे होते हैं। पुष्प-श्वेत या बैंगनी होते हैं, जिसमें ६ नरकेसर होते हैं। फली-गोल, चिकनी, लम्बी एवं लम्बे वृन्त से युक्त होती है। बीज-राई के समान किन्तु छोटे होते हैं। इसके बीज एवं मूल का व्यवहार किया जाता है।

रासायनिक संगठन–इसमें एक उड़नशील तैल होता है। बीजों में क्लिओमिन (Cleomin) नामक तत्त्व होता है।

गुण और प्रयोग– इसके बीज राई की तरह दाहजनक, दीपन, पाचन, उत्तेजक एवं कृमिघ्न हैं। जड़ उत्तेजक तथा स्वेदजनन है। पत्तों को पीस कर त्वचा पर लेप करने से यह पीत हुरहुर की अपेक्षा कम रक्तिमोत्पादक है।

(१) ज्वर में कमजोरी आने पर उत्तेजना लाने के लिये समूल क्षुप का स्वरस ½–१ तो० पिलाते हैं।

(२) पूतिकर्ण एवं कर्णशूल में इसके पत्तों का रस कान में डालते हैं, किन्तु इससे जलन होकर तकलीफ होती है।

(३) ग्रन्थि बैठाने के लिये इसके पत्तों का लेप किया जाता है।

१७४ हुरहुर (पीत)

हि०–चमनी, हुरहुरपीला, केदार इनावर (सं०)। म०–पिवली तिलवण। गु०–पीली तलवर्णी। बं०–हुरहुरिया। ले०–*Cleome viscosa, Linn.* (क्लिओम् विस्कोसा, लिन.); C. isocardia Linn. (आइसोकॅर्डा लिन.)। Fam. Capparidaceae (कॅपेरिडेसी)।

यह भारत के सभी भागों में होती है। इसका क्षुप भी पहले की तरह होता है किन्तु इसमें सपत्रक पर्ण में पत्रकों की संख्या ३–५ तक होती है एवं फूल-पीले होते हैं। इसमें नरकेशर छोटे होते हैं। फली-चिपटी, रेखादार एवं छोटे वृन्त से युक्त होती है। इसके बीज एवं पत्तों का चिकित्सा में उपयोग किया जाता है। इसीकी एक अन्य जाति क्लि० मोनोफाइला, लिन. (C. monophylla, Linn.) होती है जिसमें पर्ण अपत्रक एवं पुष्प बैंगनी होते हैं।

रासायनिक संगठन– इसके बीजों में ०·१% विस्कोसिक अम्ल (Viscosic acid), ०·०४% विस्कोसिन (Viscosin) पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह स्वेदजनन, उत्तेजक, कोष्ठवात-प्रशमन एवं कृमिघ्न है। पत्तों का रस कोथप्रशमन एवं मूल कृमिघ्न है। इसके बीज एवं पत्तों का प्रभाव राई की तरह होता है। श्वेत की अपेक्षा इसके पत्ते अधिक दाहजनक हैं, क्योंकि इसके लेप से त्वचा त्वरित लाल हो जाती है एवं फोड़े भी हो जाते हैं।

(१) इसके बीज केचुओं की बीमारी में देते हैं।

(२) आन्तरिक शोथ कम करने के लिये राई की अपेक्षा इसके पत्तों का लेप अधिक प्रभावशाली होता है। स्फोटोत्पादन के लिये या त्वक्-रागोत्पादन के लिये इसके पत्तों या पञ्चांग का लेप करते हैं।

(३) पूतिव्रण एवं बाधिर्य में इसके पत्तों का स्वरस तेल मिलाकर कान में डालते हैं।

मात्रा—बीज १-३ माशा।

अथ वन्ध्याकर्कोटकी (वनककोड़ा)। तस्या नामानि गुणांश्चाह

वन्ध्याकर्कोटकी देवी कन्या योगीश्वरीति च। नागारिर्नक्रदमनी विषकण्टकिनी तथा॥२८७॥
वन्ध्याकर्कोटकी लघ्वी कफनुद् व्रणशोधिनी। सर्पदर्पहरी तीक्ष्णा विसर्पविषहारिणी॥२८८॥

वन ककोड़ा के नाम तथा गुण—वन्ध्याकर्कोटकी, देवी, कन्या, योगीश्वरी, नागारि, नक्रदमनी और विषकण्टकिनी ये नाम वन ककोड़ा के हैं। वनककोड़ा-लघु, कफनाशक, व्रणशोधक, साँप के अहङ्कार को दूर करने वाली (विष के प्रभाव को दूर करने वाली), तीक्ष्णवीर्य एवं विसर्प तथा विष को नष्ट करने वाली होती है॥ २८७-२८८॥

१७५ वनककोड़ा

हि०—बाँझककोड़ा, वनककोड़ा, बांझखेखसा। **बं०**-तित्काकरोल। **म०**—वांझकर्टोली। **गु०**—वांझकंटोला, कंकोडी। **क०**-माडहागल। **ता०**-पलुप्पकै। **ते०**-आगाकर। **ले०**-*Momordica dioica Roxb.* (मोमोर्डिका डायोइका राक्स.)। Fam. Cucurbitaceae (कुकुर्बिटेसी)।

यह इस देश के प्रायः सब प्रान्तों के जङ्गल झाड़ियों में उत्पन्न होती है और वर्षा ऋतु में अधिक पाई जाती है। हिमालय में ५००० फीट की ऊँचाई तक पाई जाती है।

इसकी लता, पत्र आदि खेखसा के समान ही होते हैं, केवल अन्तर यह है कि खेखसा में फल लगता है और इसमें फल नहीं लगता इसलिए इसको वन्ध्याकर्कोटकी कहते हैं। इसका कारण यह है कि यह द्विवेकलिंगक वनस्पति है, इसलिये नर और नारी पुष्पों की लतायें पृथक् होती हैं। नरपुष्पों की लता को वन्ध्याकर्कोटकी या बाँझककोड़ा और फल देने वाली नारी पुष्पों को उत्पन्न करने वाली लताएँ कर्कोटकी कही जाती हैं। इसकी लता-आरोही, चिकनी प्रायः दुर्गन्धयुक्त एवं कोनदार काण्ड वाली होती है। तन्तु निःशाख होते हैं। पत्ते-आकार में छोटे-बड़े हुआ करते हैं जो २ से ४ इञ्च के घेरे में लम्बाई युक्त गोलाकार, हृद्वत्, ३ भागों में विभक्त या अखण्ड, प्रायः लहरदार एवं दन्तुर धार वाले रहते हैं। पुष्प-बड़े, पीत वर्णके; नर पुष्प-पतले एवं २-६ इञ्च लम्बे पुष्पदण्डों से युक्त होते हैं एवं नारीपुष्पों के दण्ड छोटे या उतने ही बड़े होते हैं। नरपुष्प में कोणपुष्पक बड़ा एवं पुष्प को आच्छादित किये रहता है तथा नारीपुष्प में यह छोटा होता है। फल-यह १-३ इञ्च लम्बा, दीर्घ वृत्ताभ और तीक्ष्णाग्र अथवा अण्डाकार होता है तथा इस पर मुलायम काँटे सदृश बाह्य वृद्धियाँ होती हैं। जड़ बहुवर्षायु एवं कन्दवत् होती है।

इसकी पत्ती एवं फल का शाकार्थ उपयोग होता है तथा कन्द एवं पत्रादि का चिकित्सा में प्रयोग किया जाता है। कर्कोटकी का स्वतंत्र वर्णन (गुण, प्रयोग आदि) आगे शाकवर्ग में आया है।

रासायनिक संगठन—इसकी राख में मैंगनीज होता है। इसमें क्षाराभ भी पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह थोड़ीसी रक्तसंग्राहक, विषनाशक, कफघ्न एवं व्रणहर है। इसका कन्द कफनाशक एवं सभी विषों को दूर करने वाला है।

(१) इसके कन्द को भूनकर या उसका चूर्ण रक्तार्श में देते हैं।

(२) सर्पविष तथा बिच्छू के काटने पर इसका प्रयोग करते हैं। इसकी जड़ को पीस कर पिलाते हैं तथा नस्य देते हैं।

(३) ज्वर में शाक के रूप में इसका प्रयोग किया जाता है (सु० उ० ३९-१५०)। तीव्र ज्वर एवं प्रलाप में इसका बाह्य लेप किया जाता है।

(४) मूत्रकृच्छ्र में मूल को दूध के साथ पिलाते हैं।

मार्कण्डिका (सनाय)। तस्या नामगुणानाह

मार्कण्डिका भूमिवल्ली मार्कण्डी मृदुरेचनी ॥ २८९ ॥
मार्कण्डिका कुष्ठहरी ऊर्ध्वाधःकायशोधिनी। विषदुर्गन्धकासघ्नी गुल्मोदरविनाशिनी॥

सनाय के नाम तथा गुण—मार्कण्डिका, भूमिवल्ली, मार्कण्डी और मृदुरेचनी (मृदु विरेचन करने वाली) ये नाम सनाय के हैं। सनाय—कुष्ठनाशक, ऊपर तथा नीचे से शरीर का शोधन करने वाली एवं विष, दुर्गन्ध, खाँसी, गुल्म तथा उदर रोग को दूर करने वाली होती है॥ २८९-२९०॥

१७६ सनाय

हि०—देशी सनाय। **बं०**-सोनपात, सोनामुखी। **म०**-सोनामुखी। **गु०**-मीठीआकवल, सोनामुखी। **ते०**-नेलातेनगेडु। **ता०**-निलाविरै। **अ०**-सनाय मक्की। **अं०**-Indian or Tinnevelly Senna (इंडियन या तिनेवेली सेना)। **ले०**-*Cassia angustifolia, Vahl* (केशिया ऍंगस्टिफोलिया)। Fam. Leguminosae (लेग्युमिनोसी)।

इसका आदि स्थान अरब तथा सोमालीलैंड है। किन्तु अब इसकी खेती दक्षिण भारत में तिनेवेली, मदुरा तथा त्रिचनापल्ली जिलों में होती है। मैसूर में भी इसकी उपज का प्रयत्न किया गया है।

इसका सीधा गुल्म २-३ फ्रीट ऊँचा होता है। पत्ते-संयुक्त होते हैं जिनमें पत्रक १-८ जोड़े होते हैं। पत्रक-अण्डाकार भालाकार, २·५-७ से० मी० लम्बे तथा ७-८ मि० मि० चौड़े (१-२ इञ्च × ०·२-०·६ इन्च) एवं चिकने होते हैं। पुष्प-पत्रकोणीय सदण्डिक (Raceme) मंजरियों में पीतवर्ण के पुष्प आते हैं। फली-चिपटी, १·४ से २·८ इन्च लम्बी, करीब ०·८ इंच चौड़ी एवं हरिताभ भूरी होती है। यह के० ऍक्यूटिफोलिया की फली से कम चौड़ी किन्तु अधिक लम्बी होती है। बीज-संख्या में ५-७, गहरे भूरे रंग के, अभिलट्वाकार एवं दबे हुए होते हैं। इसकी फली एवं पत्तों का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है।

ब्रिटिश फारमाकोपिया (British pharmacopoeia) में दो जाति की सनाय मान्य है। एक उपर्युक्त सनाय तथा दूसरी ऍलेक्सैंण्ड्रियन सेना (Alexandrian senna) जो कि केशिया ऍक्यूटिफोलिया (Cassia acutifolia Delile) के जंगली पौधों से प्राप्त होती है। यह अफ्रीका तथा सूडान में होती है। इसको भारत में भी उगाने का प्रयत्न किया गया है। एक तीसरा भेद के० ऑब्होवेटा (Cassia obovata (L.) Collad) होता है, जिसे इटालियन सेना (Italiansenna)

कहते हैं, सिंध, पंजाब, गुजरात, दक्षिण महाराष्ट्र एवं डेक्कन में पाया जाता है। यह देशी सनाय (Country senna) के नाम से भारतीय बाजार में सनाय के प्रतिनिधि रूप में बिकती है।

रासायनिक संगठन—इसमें हीन (Rhein, $C_{14}H_5O_2(OH)_2COOH$), एलो-एमोडीन (Aloe-emodin, $C_{14}H_5O_2(OH)_2CH_2OH$), केम्फेरिन (Kaempferin), एवं आइसोर्हॅम्नेटिन (Isorhamnetin) मुक्त रूप में या ग्लाइकोसाइड के रूप में होते हैं। इनके अतिरिक्त केम्फेरॉल (Kaempferol), माइरिसिल् ॲल्कोहोल (Myricyl alcohol) तथा फाइटोस्टेरोलिन (Phytosterolin) भी पाये जाते हैं।

इनके अतिरिक्त इसके पत्तों में गोंद, कॅल्शियम ऑक्सॅलेट (Calcium oxalate), राल तथा कुछ ग्लाइकोसाइड सम द्रव्य होते हैं। मेथिल ॲन्थ्रा किनोन (Methyl-anthraquinone) से संजात (Derivatives) कुल द्रव्य की मात्रा २-४% तक पाई गई है।

गुण और प्रयोग—यह रेचन औषध है। इसका छोटी आंतों पर प्रभाव होता है, जिससे पुरस्सरण की क्रिया बढ़ती है। सेवन के ६-१० घण्टे पश्चात् साफ शौच होता है। इसमें कुछ मरोड़ होती है जो संभवतः इसके पत्तों में के राळीय द्रव्य के कारण या पत्तों में रहने वाले एमोडीन (Emodin) के कारण होती है। इसे दूर करने के लिये तथा स्वाद ठीक करने के लिये इसके साथ सुगन्धि द्रव्य या क्षारीय विरेचन एवं मुलेठी या द्राक्षा देना चाहिये। इसका उत्सर्ग दूध द्वारा होने के कारण दूध में विरेचक गुण आ जाता है।

(१) जिनको कब्ज की शिकायत रहती है, उन्हें इसको दिया जाता है।

(२) पित्तज्वर में विरेचन के लिये इसे देने से दूषित पित्त निकल जाता है, जिससे दाह, शिरःशूल आदि कम हो जाते हैं

(३) आवेष्टन युक्त विबन्ध (Spastic constipation), या प्रक्षोभयुक्त बृहदांत्र (Irritable colon) एवं बृहदांत्र शोथ (Colitis) में इसका प्रयोग निषिद्ध है।

मात्रा—५-१५ रत्ती।

अथ देवदाली पीतदेवदाली च। खेखसावत्फलव्रततिः। तयोर्नामानि गुणांश्चाह

देवदाली तु वेणी स्यात्कर्कटी च गरागरी। देवताडो वृत्तकोशस्तथा जीमूत इत्यपि ॥२९१॥
पीता परा खरस्पर्शा विषघ्नी गरनाशिनी। देवदाली रसे तिक्ता कफार्शःशोफपाण्डुताः।
नाशयेद्वामनी तीक्ष्णा क्षयहिक्काकृमिज्वरान् ॥ २९२ ॥

देवदाली के नाम तथा गुण—देवदाली, वेणी, कर्कटी, गरागरी, देवताड, वृत्तकोश और जीमूत ये नाम देवदाली के हैं। दूसरी पीतदेवदाली के नाम-खरस्पर्शा, विषघ्नी और गरनाशिनी ये सब हैं। देवदाली-तिक्तरसयुक्त, वमन कराने वाली, तीक्ष्ण, एवं कफ, अर्श (बवासीर), शोथ, पाण्डुरोग, क्षय, हिचकी, कृमि तथा ज्वर को नष्ट करने वाली होती है ॥ २९१-२९२ ॥

अथ तत्फलगुणानाह

देवदालीफलं तिक्तं कृमिश्लेष्मविनाशनम्। स्रंसनं गुल्मशूलघ्नमर्शोघ्नं वातजित्परम् ॥२९३॥

देवदाली घघरवेल के फल का गुण—यह तिक्तरसयुक्त, स्रंसन एवं कृमि, कफ, गुल्म, शूल, अर्श तथा वायु को दूर करने वाला होता है ॥ २९३ ॥

१७७ देवदाली

हि०—देवदाली, सोनैया, बन्दाल, घघरवेल, घुसरान। **बं०**—बिंदाल, घोषालता, देवताड़, देयाताड़। **म०**—देवडांगरी, कुकरवेल। **गु०**—कुकड़वेल। **ते०**—पनिबिर। **क०**-देवडंगर। **अं०**—Bristly Luffa (ब्रिस्टलि लफा)। **ले०**—*Luffa echinata Roxb.* (लुफा एचिनॅटा राक्स.)। Fam. Cucurbitaceae (कुकुरबिटेसी)।

यह—सिन्ध, गुजरात, बिहार, देहरादून, उत्तरी अवध, बुंदेलखंड, उत्तर प्रदेश, और बङ्गाल आदि स्थानों में अधिक उत्पन्न होती है।

इसकी लता-खेकसा (कर्कोटकी) के समान होती है, कर्कोटकी का विस्तार अधिक सघन होता है, परन्तु देवदाली का विस्तार बहुत कम होता है। इसके काण्ड पतले एवं पांच कोन वाले होते हैं। तन्तु द्विशाख शाखाओं वाले होते हैं। पत्ते-१-२½ इञ्च के घेरे में गोलाकार, वृक्काकार, कद्दूवाकार, पञ्च कोणाकार, अथवा पाँच भागवाले एवं गहरे कटे किनारे वाले तथा प्रत्येक भाग दन्तुर दीर्घवृत्ताभ होते हैं। पत्रदण्ड-१-२ इञ्च लम्बा होता है। पुष्प-श्वेत तथा व्यास में ½-१ इञ्च होते हैं। पुं-पुष्प-२-८ इञ्च लंबी मंजरियों में और उन्हीं पत्रकोणों में एकाकी स्त्री-पुष्प निकले रहते हैं। फल-१ से १॥ इञ्च लम्बे, लगभग आधा इञ्च मोटे, ¼-⅓ इञ्च लंबे सघन कड़े रोम (बाह्यवृद्धि) अथवा कोमल काँटों से आच्छादित रहते हैं। फल कच्चे होते हैं, तो यह काँटे हरे रङ्ग के और सूखने पर भूरे रङ्ग के हो जाते हैं। फलों के मुँह पर सूक्ष्म ढक्कन (Lid) होता है। जब फल जाड़े में पक कर सूख जाता है, तब यह ढक्कन अपने आप फल से अलग हो कर गिर जाता है और फल के अन्दर के रेशेवाले तीन छिद्रों में से बीज निकलना आरम्भ होता है। इस लता का स्वाद बहुत कड़ुवा होता है। इसके फल का उपयोग किया जाता है। पंचांग का प्रयोग भी किया जा सकता है।

इसी प्रजाति की एक दूसरी लता लुफा ग्रॅविओलेन्स राक्स. (Luffa graveolens. Roxb.) होती है, जिसमें पुष्प पीले रंग के, तन्तु ३-५ शाखाओं वाले, पुंपुष्प गुच्छबद्ध, पुंकेशर पांच (देवदाली में केवल ३) किन्तु फल देवदाली की तरह काँटेदार होते हैं। काँटे कुछ मुलायम होते हैं।

पीले, लाल और सफेद फूलों के भेद से देवदाली तीन प्रकार की मानी जाती है। इसमें सफेद फूल की देवदाली अधिक मिलती है, पीले फूल की कहीं कहीं देखने में आती है और लाल फूल की देवदाली कम देखने में आती है। परन्तु गुणों में सब समान ही हैं। रक्त एवं पीत का रसायन के लिये उपयोग होता है।

रासायनिक संगठन—इसमें एक एचिनेटिन् (Echinatin) नामक कड़वा पदार्थ तथा सॅपोनिन होता है। बीजों में तेल होता है जो कड़वा नहीं होता।

गुण और प्रयोग—यह उष्ण, कड़वा, मूत्रजनन, विरेचन, शिरोविरेचन, व्रणशोधक एवं व्रणरोपक है। अधिक मात्रा से हैजे की तरह वमन एवं विरेचन होता है। गर्भिणी में गर्भपात हो जाता है। इसका प्रभाव कड़वी तरोई की तरह होता है।

इसका प्रयोग कामला, जलोदर, हिक्का, कास, श्वास, क्षय, कृमि, यकृत् प्लीहावृद्धि एवं आन्त्रशूल में किया जाता है।

(१) इसके एक फल को कूटकर रात में जल में भिगो दे। सुबह इसे मसल, कपड़े से छान ५-१० बूंद शिरोविरेचन के लिये नाक में डाले। इससे दिनभर पानी बहता है। कफज शिरोरोग तथा कामला में इसका प्रयोग करते हैं। कामला में इसके फल को मट्ठे के साथ

खिलाते हैं तथा इसके पंचांग के क्वाथ से नहलाते हैं। नस्य के लिये १ रत्ती चूर्ण का भी नस्य कराते हैं।

(२) इसका फांट या टिंक्चर (१ में २०), १०-२० बूँद की मात्रा में यकृत्-प्लीहावृद्धि, बाल यकृत् की प्रारंभिक अवस्था तथा इनसे उत्पन्न जलोदर में लाभदायक है। इससे मूत्र की मात्रा बढ़ती है तथा विरेचन भी होता है।

(३) इसके फांट से व्रण, दूषित व्रण आदि धोये जाते हैं।

(४) कफज्वर में अन्य कफनिःसारक द्रव्यों के साथ इसका प्रयोग लाभदायक है।

(५) चूहे के विष में दही के साथ इसको देने से लाभ होता है। (सुश्रुत)।

मात्रा—१-२ रत्ती।

अथ जलपिप्पली। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

जलपिप्पल्यभिहिता शारदी शकुलादनी।
मत्स्यादनी मत्स्यगन्धा लाङ्गलीत्यपि कीर्तिता॥ २९४॥
जलपिप्पलिका हृद्या चक्षुष्या शुक्रला लघुः॥ २९५॥
संग्राहिणी हिमा रूक्षा रक्तदाहव्रणापहा। कटुपाकरसा रुच्या कषाया वह्निवर्द्धिनी॥२९६॥

जलपीपल के नाम तथा गुण—जलपिप्पली, शारदी, शकुलादनी, मत्स्यादनी, मत्स्यगन्धा और लाङ्गली ये नाम जलपीपल के हैं। जलपीपल-हृदय तथा नेत्रों के लिये हितकर, शुक्रजनक, लघु, मलसंग्राहक, शीतवीर्य, रूक्ष, रक्तविकार, दाह और व्रण को नष्ट करने वाली, विपाक में कटुरस युक्त, रुचिकारक, कटु तथा कषाय रसयुक्त एवं अग्निवर्धक होती है॥ २९४-२९६॥

१७८ जलपीपल

हि०—जलपीपल, पनिसि (स)गा, भुईओकरा, बुक्कन बूटी। **बं०**—बुक्कन, कांचड़ा। **म०**—जल-पिप्पली, रतवेल। **गु०**-रतवेलीयो। **अं०**-Purple Lippia (पर्पल लिपिआ)। **ले०**-*Lippia nodiflora Mich.* (लिप्पिआ नोडिफ्लोरा मिक्.)। Fam. Verbenaceae (वर्बिनेसी)।

यह प्रायः सब प्रान्तों की गीली भूमि में अधिक पाई जाती है तथा बलूचिस्तान में भी होती है।

यह प्रसर-(प्रसरी क्षुप) जाति की वनौषधि भूमि पर फैली हुई रहती है। **पत्ते**-अभिमुख, अभिलट्वाकार, आरावत् दन्तुर, कुंठिताग्र तथा '५-१ इंच लंबे होते हैं। **पुष्प**-श्वेत रंग के छोटे पुष्प आते हैं, जो कोणपुष्पकों से युक्त, पत्रकोणीय, सदण्ड मुण्डकाकार व्यूह में आते हैं। **फल**-यही बाद में फल में परिवर्तित हो जाते हैं, जो पिप्पली की तरह दिखलाई पड़ते हैं। इसके स्वरस का उपयोग करते हैं। चरक में शाकवर्ग में इसका उल्लेख मिलता है

रासायनिक संगठन—इसमें एक कड़वा पदार्थ पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह कटु, स्नेहन, मूत्रजनन, संग्राही एवं ज्वरहर है।

(१) सूजन पर इसका पोल्टिस बांधने से जलन कम होती है तथा जल्दी पकती है।

(२) इसके पत्तों का फांट बच्चों के अजीर्ण, अतिसार, साधारण सरदी तथा प्रसूति ज्वर में दिया जाता है।

मात्रा—स्वरस ½-२ चम्मच।

अथ गोजिह्वा। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

गोजिह्वा गोजिका गोभी दार्विका खरपर्णिनी।
गोजिह्वा वातला शीता ग्राहिणी कफपित्तनुत्॥ २९७॥
हृद्या प्रमेहकासास्रव्रणज्वरहरी लघुः। कोमला तुवरा तिक्ता स्वादुपाकरसा स्मृता॥२९८॥

गोजिह्वा के नाम तथा गुण—गोजिह्वा, गोजिका, गोभी, दार्विका और खरपर्णिनी ये नाम गोभी के हैं। गोजिह्वा-वातकारक, शीतवीर्य, ग्राही, कफ-पित्तनाशक, हृदय के लिये हितकर, प्रमेह-कास-रक्तविकार, व्रण तथा ज्वर को दूर करने वाली एवं लघु, कोमल, कषाय, तिक्त तथा मधुर रसयुक्त और विपाक में मधुर होती है॥ २९७-२९८॥

नोट—गोजिह्वा के विषय में विद्वानों में कुछ मतभेद देखा जाता है। कुछ ने एलिफॅन्टोपस् स्केबर (Elephantopus scaber) को गोजिह्वा माना है किन्तु श्री ठा० बलवन्तसिंहजी ने इसके स्थानिक नामों के आधार पर इसे गोजिह्वा न मानकर 'मयूरशिखा' माना है। कुछ ने यूनानी में प्रचलित द्रव्य गावजबान इसे माना है, जिसका ले० नाम ओनोस्मा ब्रॅक्टिएटम् है। कुछ इसे गावजबान से भिन्न मानते हैं। कुछ ने कॅकसीनिया ग्लॉका (Caccinia glauca, Savi) को गावजबान माना है जो बलूचिस्तान में होता है तथा गुण में बल्य, मूत्रल एवं स्नेहन है तथा इसका आमवात एवं फिरंग में प्रयोग किया जाता है।

चरक के दशेमानि में गोजिह्वा का उल्लेख नहीं है। शाक में इसका उल्लेख मिलता है, तथा विसर्प के लेपों में भी वर्णन है। चरक, सुश्रुत दोनों इसे व्रणरोपण मानते हैं। सुश्रुत में उपदंश, व्रण एवं ग्रन्थिविसर्प में तथा शाक के रूप में इसका प्रयोग मिलता है।

यहाँ पर दोनों का वर्णन किया गया है।

१७९ गोजिह्वा (१)

सं०-मयूरशिखा? **हि०**—गोभी। **बं०**—हस्तिशुण्डा? गोजिया। **म०**—गोजीभ, हस्तिपत। **गु०**—भोंपाथरी, गलजीभी। **वि०**—मयूरजुटी, माराचुडा, मयूरचुटिया, मयूरशिखार। **ले०**—*Elephantopus scaber Linn.* (एलिफॅन्टोपस् स्केबर लिन.)। Fam. Compositae (कम्पोझिटी)।

यह भारत के सभी उष्ण भागों में होती है। इसका **क्षुप**—स्वावलम्बी तथा ८-१८ इञ्च ऊँचा होता है। मूलीय **पत्ते**-पत्र-गुच्छों के रूप में, ४-६ इञ्च लम्बे एवं अभिलट्वाकार या अभिप्रासवत् होते हैं। काण्ड पतला, द्विविभक्त तथा रोमयुक्त होता है, जिस पर पत्ते १-३ इञ्च लंबे, अवृन्त एवं काण्डसंसक्त तथा दूर दूर होते हैं। **पुष्पव्यूह**—मुण्डक के रूप में आते हैं जो सूक्ष्म तथा समूहबद्ध होकर प्रायः ३, पत्रवत् एवं हृद्वत् कोणपुष्पकों के बीच में रहते हैं। प्रत्येक मुण्डक में पुष्प-संख्या प्रायः २-५ तक होती है।

मुण्डकगुच्छ कोणपुष्पकों के साथ मयूर की शिखा के सदृश दिखलाई देते हैं। इसके आदिवासियों में प्रचलित नाम मयूरशिखा के समानार्थक हैं, जिससे इसे श्री ठा० बलवन्त सिंह जी ने शास्त्रीय मयूरशिखा माना है।

रासायनिक संगठन—इसके पत्ते एवं काण्ड के सुरासारीय सत्त्व में प्रति जैविकीय क्रिया (Antibiotic activity) पाई गई है।

गुण और प्रयोग—यह स्नेहन, शीतल, मूत्रजनन, बल्य एवं ज्वरनाशक है।

(१) इसके पंचांग का क्वाथ मूत्रकृच्छ्र में पिलाते हैं।

(२) ज्वर में इसके पंचांग को चावल की पेया में पका कर देते हैं। इससे पेट का दर्द भी दूर होता है।

(३) रक्तातिसार तथा बच्चों के अतिसार में इसका मूल उपयोगी होता है।

(४) इसको गरी के तेल में पका कर व्रण एवं छाजन पर लगाते हैं।

(५) इसकी जड़ को वमन रोकने के लिये देते हैं तथा मिरिच के साथ चूर्ण बनाकर दन्तशूल में लगाते हैं।

१८० गोजिह्वा (२) गावजबान

सं०-गोजिह्वा, दर्वीपत्रा, वृषजिह्वा, खरपत्रा। **हि०-म०-गु०-फा०**-गाजबाँ, गावजबान। **अ०**-लिसानुस्सौर। **ले०**-*Onosma bracteatum Wall.* (ओनोस्मा ब्रॅक्टिएटम् वाल्.)। Fam. Boraginaceae (बोरॅजिनेसी)।

यह ईरान, अफगानिस्तान तथा पश्चिमी हिमालय में काश्मीर से कुमाऊँ तक ११५०० फीट तक पाया जाता है।

इसका क्षुप-१५ इञ्च ऊँचा तथा रोमश होता है। पत्र-मूलीय, ६″×१″ बड़े, सवृन्त, भालाकार एवं ऊपर के २″×$\frac{3}{4}$″, लम्बाग्र, अण्डाकार, भालाकार, एवं ऊपरी सतह, रोम के कारण खुरदरी होती हैं। रोम का आधार दानेदार होता है। नीचे की सतह मृदु दबे हुये रोम से युक्त होती है। पुष्प-बैंगनी रंग के गुच्छों में आते हैं जो १-३ इञ्च व्यास के तथा रोमश होते हैं। फल-१-६ इञ्च बड़े, अण्डाकार तथा नोकदार होते हैं। इसके पंचांग का व्यवहार किया जाता है। यूनानी वाले इसके पत्तों को बर्गे गावजबान एवं पुष्पों को गुलेगावजबान के नाम से व्यवहार करते हैं।

रासायनिक संगठन—इसके पत्तों को जल में भिगोने से काफी लुआब निकलता है, जिसका स्वाद नमकीन होता है। इसकी राख में सोडियम् ९$\frac{1}{2}$%, पोटॅशियम् २४$\frac{1}{2}$%, कॅल्शियम् २७%) मॅग्नेशियम् २$\frac{3}{4}$% एवं लोह १% आदि के लवण पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—यह बल्य, हृद्य, मूत्रल, रसायन, स्नेहन एवं सौमनस्यजनन है। इसका प्रयोग फिरंग, आमवात, हृदय की धड़कन, मूत्रकृच्छ्र, आमाशय एवं बस्तिप्रक्षोभ एवं ज्वर में किया जाता है।

(१) विषमज्वर में जब ठंढ लगती है तब इसे आसव के साथ देने से प्यास कम होती है तथा बेचैनी दूर होती है।

(२) फिरंग तथा सोजाक से उत्पन्न संधिशोथ में चोपचीनी के साथ इसका क्वाथ उपयोगी है।

(३) हृदय की धड़कन तथा मूत्रकृच्छ्र में इसके फाँट का प्रयोग किया जाता है।

मात्रा—४-६ माशा दूध के साथ; पुष्प ३-६ माशा।

अथ नागदमनी। तस्या नामगुणानाह

विज्ञेया नागदमनी बलामोटा विषापहा। नागपुष्पी नागपत्रा महायोगेश्वरीति च॥ २९९॥
बलामोटा कटुस्तिक्ता लघुः पित्तकफापहा। मूत्रकृच्छ्रव्रणान् रक्षो नाशयेज्जालगर्दभम्॥३००॥
सर्वग्रहप्रशमनी निःशेषविषनाशिनी। जयं सर्वत्र कुरुते धनदासुमतिप्रदा॥ ३०१॥

नागदमनी के नाम तथा गुण—नागदमनी, बलामोटा, विषापहा, नागपुष्पी, नागपत्रा और महायोगेश्वरी ये नाम नागदमनी के हैं। नागदमनी—कटु तथा तिक्त रसयुक्त, लघु एवं पित्त, कफ, मूत्रकृच्छ्र, व्रण, राक्षसबाधा, जालगर्दभ, सम्पूर्णग्रहबाधा और समस्त विष को दूर करने वाली तथा सर्वत्र जय करने वाली, धन तथा अच्छी मति को देने वाली होती है॥ २९९-३०१॥

नोट—यह सन्दिग्ध द्रव्य है। मूर्वा नाम से पूर्वी भारत में प्रयुक्त सॅन्सेवेरिया राक्सबर्घियाना को कुछ लोग नागदौन मानते हैं। इसका पहले मूर्वा के साथ वर्णन किया जा चुका है। डा० वा० ग० देसाई ने सुदर्शन की एक जाति, क्राइनम् एशियाटिकम् लिन. (Crinum asiaticum Linn.) को नागदमनी लिखा हैं। कुछ ने दमनक (आर्टिमिसिआ), जिसका भावप्रकाशकार पुष्पवर्ग में स्वतन्त्र वर्णन करते हैं, नागदमन नाम से उल्लेख किया है। श्री ठा० बलवन्त सिंहजी ने 'बिहार की वनस्पतियाँ' नामक पुस्तक में एक वनस्पति प्युपेलिया लेप्पासिया का उल्लेख किया है जिसे कुछ लोग नागदमनी मानते हैं। सुदर्शन एवं दमनक का आगे स्वतन्त्र वर्णन आया हुआ है। यहाँ संक्षेप में प्युपेलिया लेप्पासिया का वर्णन किया गया है।

१८१ नागदमनी ?

सं०—नागदमनी ? **ले०**—*Pupalia lappacea, Moq.* (प्युपेलिया लेप्पॉसिया मो०)। Fam. Amaranthaceae ॲमेरेन्थेसी)।

बिहार में यह मुंगेर, पलामू, संथाल परगना आदि स्थानों में विशेषकर पथरीली भूमि में होती है।

इसमें गुल्मक रोमश होते हैं। शाखाएँ कमजोर होती हैं। पत्ते—मृदुरोमश, अभिमुख, लट्वाकार, लट्वाकार-आयताकार या प्रासवत्, १-४ इञ्च लम्बे होते हैं। फलगुच्छ—मुण्डकाकार, व्यास में ५ इञ्च एवं उस पर टेढ़े सूक्ष्म काँटे होते हैं, जिससे सम्पर्क में आने पर ये कपड़ों में चिपट जाते हैं।

गुण और प्रयोग—इसे कुछ लोगों ने सर्पविष में उपयोगी माना है।

अथ वीरतरुः। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

वेल्लन्तरो जगति वीरतरुः प्रसिद्धः श्वेतासितारुणविलोहितनीलपुष्पः।
स्याज्जातितुल्यकुसुमः शमिसूक्ष्मपत्रः स्यात्कण्टकी विजलदेशज एव वृक्षः॥ ३०२॥
वेल्लन्तरो रसे पाके तिक्तस्तृष्णाकफापहः। मूत्राघाताश्मजिद्ग्राही योनिमूत्रानिलार्त्तिजित्॥

वीरतरु के नाम तथा गुण—वेल्लन्तर और वीरतरु ये दो नाम जगत् में प्रसिद्ध हैं, इसके पुष्प-जाती (चमेली) के फूलों के समान होते हैं और वे सफेद, काले, अरुण, गाढ़े लाल तथा नीले रङ्ग के होते हैं। पत्ते-शमी के पत्तों के समान सूक्ष्म होते हैं और यह काँटेदार तथा निर्जल प्रदेशों में उत्पन्न होने वाला वृक्ष होता है। वीरतरु-विपाक तथा रस में तिक्त तथा ग्राही होता है एवं तृषा, कफ, मूत्राघात, पथरी, योनिरोग, मूत्ररोग एवं वातिक पीड़ा को नष्ट करने वाला होता है।

१८२ वीरतरु

हि०—बेकन्तर, बीरतरु, बरबेल, वरतुली। **ते०**—लतुग। **मा०**—खड़ी कंलई, कुंरात, खेरी। **अजमेर०**—खेड़ी। **राजपुताना०**—खेन। **म०**—सिगमकाटी। **गु०**—केल्लंतरो। **ता०**—विड़तल्लै, वेल्लुरू। **ले०**—*Dichrostachys cinerea W. & A.* (डाइकॉस्टॅचिस् सिनेरिया)। Fam. Leguminosae (लेग्युमिनोसि)।

यह पश्चिमोत्तर प्रदेश, मध्य भारत, राजपूताना, डेक्कन, दक्षिण महाराष्ट्र तथा उत्तरी कनाडा से सिलोन तक होता है। मलाया तथा उत्तरी आस्ट्रेलिया में भी यह पाया जाता है।

यह वृक्ष-झाड़दार, मध्यमाकार का या छोटे कद का कांटेदार होता है। इस पर सीधे, दृढ़, और तीखे कांटे रहते हैं। पत्ते-द्विपक्षवत् ३·२-६·३ से० मी० लम्बे होते हैं, जिसमें प्रधान पत्रदण्ड मृदुरोमश तथा प्रत्येक उपपक्ष के बीच ग्रन्थि होती है। उपपक्ष-८-१४ जोड़े, १-१·६ से० मी० लम्बे एवं विनाल होते हैं, जिस पर सूक्ष्म, तिर्यक्, रेखाकार, विनाल पत्रक-१२-२० जोड़ों की संख्या में होते हैं। सितम्बर से अक्तूबरतक इस पर २·५-३·८ से० मी० लम्बी विदण्डिक पुष्पमञ्जरी में पुष्प आते हैं। मञ्जरी का ऊपर का आधा भाग पीत एवं नीचे का आधा भाग लाल रहता है। ऊपर के पुष्पों के परागयुक्त पुंकेसर पीत रहते हैं तथा नीचे के परागरहित पुंकेसर बहुत लम्बे एवं लाल रहते हैं। फली-५-७·५ से० मी० लम्बी, ०·६-१·० से० मी० चौड़ी, चिपटी, गहरे भूरे रंग की तथा पकने पर ऐंठी हुई रहती है जिसमें ६-१० बीज होते हैं। सुश्रुत में इसका उल्लेख मिलता है।

गुण और प्रयोग—इसकी जड़ ग्राही होती है तथा आमवात, पथरी तथा वृक्क विकार में प्रयोग की जाती है। नेत्र-विकार में इसके कोमल पत्तों को पीसकर लगाते हैं।

अथ छिकनी (नकछिकनी)। तस्या नामगुणानाह

छिक्कनी क्षवकृत्तीक्ष्णा छिक्किका घ्राणदुःखदा। छिक्कनी कटुका रुच्या तीक्ष्णोष्णा वह्निपित्तकृत्
वातरक्तहरी कुष्ठक्रिमिवातकफापहा ॥ २०४ ॥

नकछिकनी के नाम तथा गुण—छिक्कनी, क्षवकृत्, तीक्ष्णा, छिक्किका और घ्राणदुःखदा ये नाम नकछिकनी के हैं। **नकछिकनी**—कटुरसयुक्त, रुचिकारक, तीक्ष्ण तथा उष्णवीर्य, अग्नि तथा पित्तजनक, एवं वातरक्त, कुष्ठ, क्रिमि, वात और कफ को नष्ट करने वाली होती है ॥ २०४ ॥

१८३ नकछिकनी

हिं०—नकछिकनी छिकनी। बं०—हांचुटी, मेचिट्ट। म०—नाक शिंकणी। गु०—नाक छींकणी। ले०—*Centipeda orbicularis, Lour.* (सेंटिपीडा ऑर्बिक्युलेरिस् लोर०)। Fam. Compositae (कम्पोज़िटी)।

यह प्रायः इस देश के सब प्रान्तों में विशेषकर आर्द्रभूमि में अधिक उत्पन्न होती है।

क्षुप बहुत छोटे, सुन्दर, पर जमीन पर फैले हुए रहते हैं। शाखायें-मूल के पास से निकलकर फैली हुई रहती हैं। पत्ते-बहुत छोटे, ६-१०×३-४·५ मि० मि० बड़े, अभिप्रासवत् या अभिलट्वाकार, आयताकार और दूर-दूर दन्तुर होते हैं। पुष्प-छोटे छोटे गोल मुण्डक में आते हैं, जिनमें प्रान्तीय पुष्प-स्त्री-पुष्प कई चक्रों में और जिह्वाकार; केन्द्रीय पुष्प उभयलिंग तथा नालाकार एवं संख्या में कम होते हैं। अधःपत्रावलि दो चक्रों में रहती है।

इसका चरक तथा सुश्रुत दोनों में उल्लेख है। चरक में इसे शिरोविरेचनोपग माना है तथा शिरोरोग एवं कटुस्कंध में पाठ है और सुश्रुत में अतिसार एवं विसूचिका के लिये इसे उपयोगी बतलाया है।

रासायनिक संगठन—इसमें एक क्षाराभ, अत्यल्प सॅपोनिन, एक ग्लाइकोसाइड, उड़नशील तैल एवं अम्लस्वभावी कड़वा द्रव्य माइरियोगाइनिन् (Myriogynin) पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह शिरोविरेचन, दीपन, ग्राही, उष्ण, क्रमिघ्न एवं वातनाशक है

(१) प्रतिश्याय, सिर के भारीपन एवं अर्धावभेदक में इसके स्वरस या चूर्ण का नस्य देते हैं, जिससे बहुत छींकें आकर आराम मिलता है।

(२) दन्तशूल में इसके पंचांग का उष्ण कल्क गालों के बाहर से लगाया जाता है।

(३) इसके बीज क्रमिघ्न होते हैं।

अथ कुकुन्दरः (कुकुरवँदा)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

कुकुन्दरस्ताम्रचूडः सूक्ष्मपत्रो मृदुच्छदः ॥ २०५ ॥
कुकुन्दरः कटुस्तिक्तो ज्वररक्तकफापहः।
तन्मूलमार्द्रं निक्षिप्तं वदने मुखशोषहृत् ॥ २०६ ॥

कुकरवँदा के नाम तथा गुण—कुकुन्दर, ताम्रचूड, सूक्ष्मपत्र और मृदुच्छद ये नाम कुकुरवँदा के हैं। **कुकुरवँदा**-कटु तथा तिक्तरसयुक्त, ज्वर, रक्त और कफ को दूर करने वाला होता है। इसकी जड़ गीली (ताजी) यदि मुख में रक्खी जाय तो मुख का सूखना बन्द हो जाता है ॥ २०५-२०६ ॥

१८४ कुकुरवंदा

हिं०—कुकरोंदा, कुकुरवंदा, कुकुंगा। बं०—कुकुरशिमुंली, भाबूर्डी, भांगरूळ, गंगावली। ता०—नारकरंडे। ले०—*Blumea lacera DC.* (ब्लुमिया लॅसेरा डीसी.)। Fam. Compositae (कम्पोज़िटी)।

यह सब प्रान्तों में २००० फीट तक उत्पन्न होता है। इसका क्षुप-वर्षायु, धूसरवर्ण का मृदुरोमश तथा टर्पेंटाइन की जैसी तीव्रगंध युक्त होता है। पत्ते-३·८-१२·५×२·२-६·३ से. मी. बड़े, नीचे के सनाल, कटे हुए तथा ऊपर के न्यूनाधिक विनाल, दीर्घवृत्ताकार आयताकार, मृदुरोमश दन्तुर तथा आधार क्रमशः संकुचित होता है। पुष्प-पीत तथा मुण्डक में आते हैं। फल-छोटे, आयताकार तथा कुछ चतुष्कोणीय होते हैं। इसकी ३, ४ अन्य जातियाँ देखने में आती हैं। समस्त क्षुप में उग्र गंध आती है।

रासायनिक संगठन-इसमें उड़नशील तैल, तथा कपूर पाया जाता है। इससे तथा विशेषकर ब्लु. बालसमीफेरा नामक जाति से जो कपूर निकाला जाता है, उसे नागी कपूर या पत्री कपूर कहते हैं, जिसका वर्णन कपूर के साथ किया जा चुका है।

गुण और प्रयोग—यह कड़वा, दीपन, वायुनाशी, कफघ्न, रक्तस्तंभक तथा ज्वरनाशक है। इसके गुण कपूर से मिलते-जुलते हैं) इसका स्वरस क्रमिघ्न, ग्राही, ज्वरहर, उत्तेजक एवं मूत्रल है। मूल का विसूचिका में प्रयोग किया जाता है। इसकी जड़ मुख में रखने से मुखशोथ में लाभ होता है।

(१) रक्तार्श में इसका स्वरस मिरिच के साथ देते हैं।

(२) इसके (ब्लु. बालसमीफेरा के) स्वरस में बना लौहभस्म का प्रयोग वृक्कजन्य उदर में करते हैं। मूत्र रुकने पर स्वरस देते हैं।

(३) ज्वर में इसको निर्गुण्डी-क्वाथ के साथ देने से पसीना होता है तथा कफ निकलता है।

मात्रा—पत्रचूर्ण ५-१५ रत्ती; स्वरस १ तोला।

अथ सुदर्शना । तस्या नामगुणानाह

सुदर्शना सोमवल्ली चक्राह्वा मधुपर्णिका । सुदर्शना स्वादुरुष्णा कफशोथास्रवातजित्॥३०७॥

सुदर्शन के नाम तथा गुण—सुदर्शना, सोमवल्ली, चक्राह्वा और मधुपर्णिका ये नाम सुदर्शन के हैं। **सुदर्शन**-स्वादिष्ट, उष्णवीर्य एवं कफ, शोथ और रक्तवात को दूर करने वाला होता है ॥३०७॥

नोट—क्राइनम् (Crinum) की विभिन्न जातियों को सुदर्शन माना जाता है। श्री डा० वा० ग० देसाई ने क्रा० एशियाटिकम् को (सं०) नागदमनी माना है, किन्तु इसका हिन्दी नाम सुदर्शन भी दिया है। कुछ ने गुडूचीभेद टिनोस्पोरा मलबारिका (Tinospora malabarica (Lam.) Miers.) जो पद्मगुडूची है, उसको सुदर्शन लिखा है। क्राइनम् की ३ जातियां पाई जाती हैं जिनमें से कुछ बागों में भी लगाई हुई मिलती हैं। यहां क्राइनम् का वर्णन किया गया है।

१८५ सुदर्शन

हि०-सुदर्शन, सुखदर्शन। **बं०**-सुखदर्शन। **म०**-गदाभी कंद, गदनीचा कांदा। **ता०**-विष-मुंगिल। **लै०**-*Crinum latifolium Linn.* (क्राइनम् लॅटिफोलियम् लिन.)। Fam. Amaryllidaceae (एमेरिलिडेसी)।

यह समस्त भारत में होता है तथा बागों में लगाया हुआ भी पाया जाता है।

इसका क्षुप-बहुवर्षायु तथा २, ३ हाथ ऊँचा होता है। पत्ते-भूमि से निकलते मालूम पड़ते है, जो २॥-४ फीट तक लम्बे होते हैं एवं जिनकी चौड़ाई मध्य भाग में ३-४॥ इञ्च तक होती है। पुष्प-बैंगनीपन लिये हुवे सफेद रंग के सुगंधित सुन्दर फूल बीच में से निकलते हैं। कन्द-गोलाकार, व्यास में ५ इञ्च तक एवं उसकी मोटी गर्दन ३-५ इञ्च तक लम्बी होती है। हर साल पत्ते सूखकर नये आते हैं तथा पत्ते बड़े होने से पहले ही फूल आ जाते हैं।

इसकी अन्य जातियां क्रा० एशियाटिकम् लिन. (C. asiaticum Linn.) एवं क्रा० डेफिक्सम् केर (C.defixum Ker-Gawl.) भी पाई जाती हैं।

इसके पत्र एवं कन्द का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह उष्ण, मधुर, तीक्ष्ण, जंतुघ्न, कुष्ठघ्न, शोथहर, वामक, कफनाशक एवं ज्वरहर है।

(१) कर्णशूल में इसके पत्तियों को गरम करके उसका स्वरस निकाल कर डालते हैं।

(२) इसके पत्तों को गरम कर तथा एरण्ड तैल लगाकर बाँधने से सभी प्रकार की सूजन, फोड़े, बवासीर आदि कम होती है। संधिशोथ पर यह उपयोगी है। त्वचा के रोगों में इसका स्वरस या इससे सिद्ध तैल लगाते हैं।

(३) कंद का प्रयोग कफज विकारों में वामक द्रव्य के रूप में किया जाता है। शुष्क द्रव्य (क्रा० एशियाटिकम्) की मात्रा दुगनी देनी पड़ती है।

मात्रा—कंदस्वरस १-२ तोला वमनार्थ।

अथाखुकर्णी (मूसाकर्णी) तस्या नामानि गुणांश्चाह

आखुकर्णी त्वाखुपर्णी पर्णिका भूदरीभवा। आखुकर्णी कटुस्तिक्ता कषाया शीतला लघुः।
विपाके कटुका मूत्रकफामयक्रिमिप्रणुत् ॥ ३०८ ॥

मूसाकर्णी के नाम तथा गुण—आखुकर्णी, आखुपर्णी, पर्णिका और भूदरीभवा ये नाम मूसाकर्णी के हैं। **मूसाकर्णी**-कटु, तिक्त तथा कषाय रसयुक्त, शीतल, लघु, विपाक में कटुरसयुक्त एवं मूत्र तथा कफ-सम्बन्धी रोग और कृमि को दूर करने वाली होती है ॥ ३०८ ॥

१८६ मूसाकर्णी

हि०-मूसाकानी, चूहाकानी, मूसाकर्णी। **बं०**-इन्दुरकाणीपाना। **म०**-उन्दिरकानी। **गु०**-उन्दरकानी। **लै०**-*Ipomoea reniformis, Chois* (आईपोमिया रेनीफॉर्मिस् को०)। Fam. Convolvulaceae (कन्हॉल्व्हुलेसी)।

यह प्रायः सब प्रान्तों में पाई जाती है, विशेष कर उड़ीसा, बंगाल तथा दक्षिण हिन्दुस्तान में उत्पन्न होती है।

यह प्रसरी क्षुप जाति की वनस्पति प्रायः वर्षा में उत्पन्न होती है तथा सितम्बर से दिसम्बर तक फूलती-फलती है। इसकी प्रायः प्रत्येक गांठ से जड़ निकल कर यह फैलती जाती है। **पत्ते**-वृक्काकार, आध से १॥ इञ्च घेरे में लम्बाई की अपेक्षा चौड़ाई में अधिक, दन्तुर एवं गोल होते हैं। **फूल**-छोटे तथा पीले रंग के आते हैं। **फल**-दो-दो बीज वाले होते हैं। चिकित्सा में इसके पंचांग का व्यवहार किया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह शोधन, मूत्रल, रसायन, कृमिघ्न, त्वक्-दोषहर एवं आनुलोमिक है। इसकी क्रिया मण्डूकपर्णी की तरह होती है तथा अनन्तमूल की तरह या उसके साथ इसका प्रयोग किया जाता है।

(१) इसका प्रयोग त्वचा के रोगों में किया जाता है। इससे पाखाना साफ होता है तथा शारीरिक शिथिलता दूर होती है।

(२) कृमि के लिये इसके स्वरस एवं रक्त शालि (लाल चावल) की पीठी के साथ बनी पूपलिका (पुआ) निर्धूम अंगारे पर पका कर, विडङ्ग तैल एवं लवण के साथ देने का विधान है। (चरक वि० ७-२६, सु० उ० ५४-२७)

मात्रा—५-१० रत्ती फांट बनाकर।

अथ मयूरशिखा (मोरशिखा)। तस्या नामगुणानाह

मयूराह्वशिखा प्रोक्ता सहस्राहिर्मधुच्छदा। नीलकण्ठशिखा लघ्वी पित्तश्लेष्मातिसारजित् ॥

मोरशिखा के नाम तथा गुण—मयूराह्वशिखा ('मयूर' के पर्यायवाचक शब्दों के अन्त में 'शिखा' जोड़ देने से जो शब्द बनते हैं वे सब; जैसे—नीलकण्ठशिखा आदि), सहस्राहि और मधुच्छदा ये नाम मोरशिखा के हैं। **मोरशिखा**-लघु एवं पित्त, कफ तथा अतिसार को नष्ट करने वाली होती है ॥ ३०९ ॥

नोट—अनेक वनस्पतियों को जो मयूरशिखा की आकृति की तरह दिखलाई देती हैं, मयूरशिखा के नाम से विभिन्न स्थानों पर प्रयुक्त किया जा रहा है। चरक-सुश्रुत में इसका वर्णन देखा नहीं जाता। भा० प्र० में इसे लघु एवं पित्त-कफनाशक तथा अतिसार में उपयोगी लिखा है।

गोजिह्वा के अन्तर्गत वर्णित एलिफॅण्टोपस् स्केबर लिन. (Elephantopus scaber Linn.) को श्री ठा० बलवन्त सिंह जी उसके स्थानिक नामों के आधार पर मयूरशिखा मानते हैं। सेलोसिआ क्रिस्टॅटा (Celosia cristata) को कुछ ने मयूरशिखा माना है। कुछ ने एडिएण्टम्

कॉडेटम् (Adiantum caudatum) को तथा कुछ ने ॲक्टिनोप्टेरिस् डाइकोटोमा (Actinopteris dichotoma) को मयूरशिखा लिखा है। यहाँ संक्षेप में इनका वर्णन किया गया है।

१८७ मयूरशिखा (१)

ले०-*Actinopteris dichotoma, Bedd.* (ॲक्टिनोप्टेरिस् डाइकोटोमा बेड.); Fam. Polypodiaceae (पॉलिपोडिएसी)

यह सभी स्थानों पर विशेषतया पेनिनसुला, शुष्क पहाड़ी स्थानों में ४००० फीट तक एवं नीलगिरी पर २००० फीट तक एवं कुमाऊं में होती है।

इसका क्षुप बहुत सुन्दर, ३-७ इञ्च ऊँचा एवं छोटे ताड़ की तरह दिखलाई देता है। बरसात में सूखी पहाड़ियों में पत्थरों के बीच में कहीं-कहीं यह दिखलाई देता है। पत्ते-व्यास में १-१·५ इञ्च, तालपत्र की तरह लम्बे पतले पत्रदण्ड पर रहते हैं जो मयूरशिखा की तरह दिखलाई देते हैं।

गुण और प्रयोग—इसका रक्तस्तम्भक एवं कृमिघ्न रूप में प्रयोग किया जाता है।

१८८ मयूरशिखा (२)

ले०-*Adiantum caudatum Linn.* (एडिएण्टम् कॉडेटम् लिन.) ; Fam. Polypodiaceae (पॉलिपोडिएसी)।

यह सभी स्थानों में, मैदानी भागों एवं पहाड़ियों के निचले ढालों पर पाई जाती है।

इसका क्षुप-हंसपदी की जाति का होता है। पत्रदण्ड-६-१६ इञ्च लम्बा, मृदुरोमश तथा चमकीले बादामी रंग का होता है। पत्रक-विनाल या कुछ आयताकार तथा एक किनारा सीधा एवं दूसरा कटादुरा होता है। अधरतल पर, किनारे पर बीजाणुकोष केवल खण्डों के अन्त में होते हैं।

गुण और प्रयोग—इसका चर्मरोग, मधुमेह, कास तथा ज्वर में प्रयोग किया जाता है।

१८९ मयूरशिखा (३)

हिं०-लालमुर्गा। ले०-*Celosia cristata Linn.* (सेलोसिआ क्रिस्टेटा लिन.)। Fam. Amaranthaceae (एमेरेन्थेसी)।

यह बागों में लगायी हुई पाई जाती है एवं मैदानी भाग तथा हिमालय में ५००० फीट तक भी पाई जाती है। इसका क्षुप-मरसे के समान होता है। केवटीमोथा के अन्तर्गत वर्णित सफेद मुर्गा का यह भेद है। इसके पत्र प्रायः चौड़े होते हैं। पुष्प-छोटे तथा अत्यन्त सघन मंजरी में आते हैं।

रासायनिक संगठन—इसके पौधे में बिटेनिन् (Betanin) तथा नाइट्रोजन पदार्थ एवं इसके बीजों में एक स्थिर तैल पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—इसके पुष्प ग्राही होते हैं। इनका प्रयोग अतिसार तथा रक्तप्रदर में किया जाता है।

इसके बीज स्नेहन हैं तथा मूत्रकृच्छ्र, कास एवं संग्रहणी में प्रयोग किये जाते हैं।

इति श्रीमिश्रलटकनतनयश्रीमिश्रभावविरचिते भावप्रकाशे पूर्वखण्डे मिश्रप्रकरणे चतुर्थो गुडूच्यादिवर्गः समाप्तः ॥ ४ ॥

अथ पुष्पवर्गः

तत्रादौ कमलम्। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

वा पुंसि पद्मं नलिनमरविन्दं महोत्पलम्। सहस्रपत्रं कमलं शतपत्रं कुशेशयम् ॥ १ ॥
पङ्केरुहं तामरसं सारसं सरसीरुहम्। बिसप्रसूनराजीवपुष्कराम्भोरुहाणि च ॥ २ ॥
कमलं शीतलं वर्ण्यं मधुरं कफपित्तजित्। तृष्णादाहास्रविस्फोटविषवीसर्पनाशनम् ॥ ३ ॥

कमल के नाम—पद्म (यह नपुंसकलिङ्ग कभी २ पुंल्लिङ्ग में भी व्यवहृत होता है), नलिन, अरविन्द, महोत्पल, सहस्रपत्र, कमल, शतपत्र, कुशेशय, पङ्केरुह, तामरस, सारस, सरसीरुह, बिसप्रसून, राजीव, पुष्कर और अम्भोरुह ये सब संस्कृत में होते हैं।

कमल—शीतल, वर्ण (शरीर के रङ्ग) को उत्तम करने वाला, मधुर रस युक्त, कफ-पित्त नाशक एवम्—तृष्णा, दाह, रक्तविकार, विस्फोट (शरीर में छोटी २ फुंसियों का होना), विष, और विसर्प को दूर करने वाला होता है ॥ १-३ ॥

अथ नामोल्लेखपूर्वकं कमलभेदाँस्तद्गुणाँश्चाह

विशेषतः सितं पद्मं पुण्डरीकमिति स्मृतम्। रक्तं कोकनदं ज्ञेयं नीलमिन्दीवरं स्मृतम् ॥४॥
धवलं कमलं शीतं मधुरं कफपित्तजित्। तस्मादल्पगुणं किञ्चिदन्यद्रक्तोत्पलादिकम् ॥५॥

कमल के भेदों के नाम—विशेष करके श्वेत कमल "पुण्डरीक" कहा जाता है। लाल कमल को "कोकनद" एवम् नीले कमल को "इन्दीवर" कहते हैं।

श्वेतकमल—शीतल, मधुर एवम् कफ-पित्त का नाशक होता है। रक्तकमल आदि श्वेतकमल की अपेक्षा न्यूनगुणवाले होते हैं ॥ ४-५ ॥

नोट—भावप्रकाशकार कमल के ३ भेद श्वेत, रक्त तथा नील लिखते हैं। आगे श्वेत कुवलय (श्वेत कुमुद) का तथा कल्हार (रक्त कुमुद) का अलग वर्णन करते हैं। इसके अतिरिक्त एक स्थल कमल का और वर्णन करते हैं। अन्य निघण्टुओं ने वर्ण के आधार पर जो नाम दिये हैं उनमें आपस में पर्याप्त मतभिन्नता पाई जाती है। चरक, सुश्रुतादि में भी इसके कई भेदों का उल्लेख है। आधुनिक वानस्पतिक वर्गीकरण की दृष्टि से नेलंबियम् स्पेसिओजम् में श्वेत एवं रक्त दो भेद पाये जाते हैं। इसे अधिकांश विद्वानों ने कमल माना है। इसमें नीला भेद नहीं पाया जाता। दूसरी प्रजाति (Genus) निंफिया की श्वेत, रक्त तथा नील जातियां (Species) पायी जाती हैं। इस प्रजाति को कुमुद कोई) मानते हैं। संभव है इसी प्रजाति के नील जाति (Species) को कमल का नील भेद मान लिया गया हो। गुणों की दृष्टि से दोनों (कमल एवं कुमुद) में पर्याप्त समता होने के कारण एक का दूसरे के स्थान पर प्रयोग किया जा सकता है। सभी प्रकार के कमल वर्ण्य कषाय एवं रक्तपित्तहर होते हैं। (च. सू. अ. २७)

पुण्डरीक प्रायः श्वेत कमल को, कोकनद रक्तकमल को एवं इन्दीवर नील कमल को कहा गया है।

विकसित होने की दृष्टि से इनके दो भेद सूर्य-विकाशी एवं चन्द्र-विकाशी मानते हैं। जो प्रातः खिलते हैं तथा शाम को संकुचित हो जाते हैं उन्हें सूर्यविकाशी तथा जो रात को खिले रहते हैं तथा दिन को संकुचित रहते हैं उन्हें चन्द्र-विकाशी कहा जाता है। कमल सूर्यविकाशी तथा कुमुद प्रायः चन्द्रविकाशी होते हैं।

जैसा कि ऊपर कहा गया है कमल (नेलंबिअम् स्पेसिओजम्) में कोई जाति (Species) भेद नहीं पाया जाता है केवल वर्ण-भेद से दो प्रकार श्वेत एवं गुलाबी पाये जाते हैं। इसमें पत्तियाँ तथा पुष्प प्रायः पानी की सतह के ऊपर निकले रहते हैं। इसमें स्त्री-केशर पृथक्-पृथक् कर्णिका में इतस्ततः धंसे हुए तथा बाह्यदल (Sepals) कर्णिका के नीचे से निकले रहते हैं। इसमें दूध होता है तथा पत्र-नाल पर दूर-दूर छोटे काँटे होते हैं।

कुमुद (निंफिया) में पत्तियाँ तथा पुष्प प्रायः पानी की सतह तक निकले रहते हैं। इनमें स्त्री केशर चक्राकार स्थित, न्यूनाधिक परस्पर संयुक्त और कर्णिका में किंचित धंसे रहते हैं। ऊपर के कुछ बाह्यदल कर्णिका से संलग्न रहते हैं। यहाँ कमल का वर्णन किया गया है। कुमुद का आगे वर्णन किया गया है।

१ कमल

हि०-कमल, पुरइन। **बं०**-पद्म्। **उड़ि०**-पदम। **म०-गु०**-कमल। **प०**-कवलककरी। **क०**-बिलिया तावरे। **ते०**-कलाका, तम्मिपुव्वु। **ता०**-तामरै, अम्बल। **मला०**-तमर। **अ०**-कातिलुन्नहल। **अं०**-Sacred lotus (सैक्रेड लोटस्)। **ले०**-*Nelumbium speciosum Willd.* (नेलंबियम् स्पेसिओजम् विल्ड)। Fam. Nymphaeaceae (निंफिएसी)

यह भारत के सभी उष्ण प्रदेशों में होता है।

यह तालाबों में होने वाला विस्तृत जलीय क्षुप है। इसकी जड़ कीचड़ में फैलती है। पत्र-पतले, १-३ फूट व्यास के, चक्राकार, चिकने, चमकीले, नतोदर तथा वृन्तगोलायत (Peltate) होते हैं। पत्रनाल—बहुत लम्बा तथा उस पर दूर दूर छोटे काँटे होते हैं। फूल-एकाकी, ४-१० इंच व्यास में, श्वेत या गुलाबी, सुगंधित तथा लंबे दंड पर आता है। गर्मी तथा वर्षा काल में यह फूलते हैं।

कर्णिका (बीजाधार) स्पंज के समान एवं धूसर होती है जिसमें ½ इञ्च लंबे, गोल, काले तथा चिकने बीज रहते हैं। इन्हें (हिं) कमलगट्टा, (सं) पद्मबीज, (म) कमलकाकडी, (गु०) पवडी कहा जाता है।

रासायनिक संगठन—इसके कंद तथा बीजों में राल, ग्लूकोज, मेटार्बिन (Metarbin), टैनिन, वसा तथा नेलंबिन (Nelumbine) नामक क्षाराभ पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—कमल के पुष्प-(पंखुड़ियाँ) शीत, दाह प्रशमन, हृदय-बल्य, हृदय-संरक्षक, रक्तसंग्राहक, मूत्रजनन, मूत्र विरजनीय एवं ग्राही होते हैं।

इनका प्रयोग रक्तपित्त, ज्वर, मूत्रकृच्छ्र, एवं अतिसार में किया जाता है।

(१) तीव्र ज्वर में हृदय पर ज्वर का कुप्रभाव न हो तथा उसे बल मिले इस दृष्टि से इसका फांट मिश्री मिलाकर दिया जाता है। इसके साथ श्वेत तथा रक्तचंदन, बालक, मुलेठी, मुस्तक मिलाते हैं। डिजिटैलिस की तरह इसका हृदय पर प्रभाव पड़ता है जिससे धड़कन कम होकर हृदय को बल मिलता है।

(२) सगर्भावस्था में रक्तस्राव प्रारंभ होने पर इसके फांट से त्वरित लाभ होता है।

मात्रा—पंखड़ियां १-२ तो० फांट बनाकर।

अथ पद्मिनी। तस्या लक्षणनामगुणानाह

मूलनालदलोत्फुल्लफलैः समुदिता पुनः। पद्मिनी प्रोच्यते प्राज्ञैर्बिसिन्यादि च सा स्मृता ॥

पद्मिनी के लक्षण—मूल, नाल, पत्र और फल से युक्त, खिले हुए कमल को विद्वान् लोग "पद्मिनी" कहते हैं।

पंचांग (पद्मिनी) के नाम—इसके बिसिनी आदि भी नाम हैं ॥ ६ ॥

"आदिशब्दान्नलिनी-कमलिनीत्यादि ॥ ६ ॥

यहाँ पर-आदि पद से—नलिनी, कमलिनी इत्यादि भी नामान्तर समझना चाहिये ॥ ६ ॥

पद्मिनी शीतला गुर्वी मधुरा लवणा च सा। पित्तासृक्कफनुद्रूक्षा वातविष्टम्भकारिणी ॥ ७ ॥

पद्मिनी—शीतल, पाक में गुरु, मधुर तथा लवण रस युक्त, रूक्ष, एवम्-वातविष्टम्भ (अधो वायु का शुद्ध न खुलना) पैदा करने वाली होती है, तथा पित्त, रक्तविकार और कफ की नाशक होती है ॥ ७ ॥

अथ नवपत्रादि। तस्य नामान्याह

संवर्तिका नवदलं बीजकोशस्तु कर्णिका। किञ्जल्कः केशरः प्रोक्तो मकरन्दो रसः स्मृतः।
पद्मनालं मृणालं स्यात्तथा बिसमिति स्मृतम् ॥ ८ ॥

कमल के नवीन पत्ते आदि के नाम—संवर्तिका—यह कमल के नवीन पत्तों का नाम है। कर्णिका—बीजकोश (जिसमें बीज रहते हैं) का नामान्तर है। किञ्जल्क-कमल के केशर को कहते हैं।

मकरन्द—कमलपुष्प के रस का वाचक है। मृणाल तथा बिस ये दो नाम कमल के नाल के हैं ॥ ८ ॥

कमल के विभिन्न अंगों के अन्य पर्यायवाची तथा विभिन्न भाषाओं के नाम—**कमलकर्णिका**—**सं०**-बीजकोश, वराटक। **हिं०**-कमल का छत्ता। **म०**-शांगुड, हापणी। **गु०**-पीतेलां, कुमदा (रात्रिविकाशी)।

कमलनाल-**सं०**-बिस, मृणाल। **हिं०**-मुरार, भसींड। **म०** भिसें।

कमलकन्द—**सं०**-शालूक, करहाटक। **गु०**-लोढ।

अथ संवर्तिका (नये पत्ते)। तस्या गुणानाह

संवर्तिका हिमा तिक्ता कषाया दाहतृट्प्रणुत्। मूत्रकृच्छ्रगुदव्याधिरक्तपित्तविनाशिनी ॥ ९ ॥

संवर्तिका (कमल के नवीन पत्र)-शीतल, तिक्त तथा कषाय रस युक्त एवम्—दाह, प्यास, मूत्रकृच्छ्र, गुदासम्बन्धी रोग (अर्श आदि) और रक्तपित्त को नष्ट करने वाली होती है ॥९॥

अथ कर्णिका। तस्या गुणानाह

पद्मस्य कर्णिका तिक्ता कषाया मधुरा हिमा। मुखवैशद्यकृल्लघ्वी तृष्णाऽस्रकफपित्तनुत् ॥१०॥

कर्णिका(बीज कोश)—तिक्त, कषाय तथा मधुर रस युक्त, शीतल, लघु और मुख को स्वच्छ करने वाली एवम्—तृषा, रक्तविकार, कफ तथा पित्त को नाश करने वाली होती है ॥१०॥

कमल के बीज—इसके बीज पौष्टिक, मधुर, स्नेहन, ग्राही, रक्तसंग्राहक, गर्भसंस्थापक एवं शीत होते हैं। खाद्य के रूप में भी इसका प्रयोग किया जाता है।

इसकी पेया बनाकर वमन तथा हिचकी में देने से लाभ होता है। प्रदर में भी इसे देते हैं।

मात्रा—$\frac{1}{4}$-$\frac{1}{2}$ तो० पेया बनाकर।

अथ किञ्जल्कः (केशर)। तस्य गुणानाह

किञ्जल्कः शीतलो वृष्यः कषायो ग्राहकोऽपिसः ।
कफपित्ततृषादाहरक्तार्शोविषशोथजित् ॥ ११ ॥

किञ्जल्क (कमल का केशर)—शीतल, वृष्य (वीर्यवर्धक), कषाय रस युक्त, ग्राही एवम्—कफ, पित्त, तृषा, दाह, रक्तार्श (खूनी बवासीर), विष और शोथ को दूर करने वाला होता है ॥ ११ ॥

कमल का केशर—यह ग्राही, शीतवीर्य, रक्तपित्तशामक एवं दाहप्रशमन होता है।

इसका चूर्ण मिश्री के साथ रक्तार्श, रक्तप्रदर तथा ऊर्ध्वग रक्तपित्त में देने से लाभ होता है।

मात्रा—चूर्ण ५-१५ रत्ती।

अथ मृणालं शालूकञ्च । तयोर्गुणानाह

मृणालं शीतलं वृष्यं पित्तदाहास्रजिद् गुरु ॥ १२ ॥
दुर्जरं स्वादुपाकञ्च स्तन्यानिलकफप्रदम् । संग्राहि मधुरं रूक्षं शालूकमपि तद्गुणम् ॥१३॥

मृणाल (कमल नाल)—शीतल, वृष्य (वीर्यवर्धक), गुरु, कठिनता से पचने वाला, रूक्ष, विपाक में मधुर, संग्राही, मधुर रस युक्त, दुग्धवर्धक, वायु तथा कफ को उत्पन्न करने वाला एवम्—पित्त, दाह और रक्त विकार को दूर करने वाला होता है।

शालूक (कमल कन्द)—यह भी गुणों में मृणाल के तुल्य ही होता है ॥ १२-१३ ॥

इसकी पेया बनाकर अतिसार, रक्तातिसार एवं कुपचन में दी जाती है। अर्श में चूर्ण का उपयोग करते हैं। चर्मरोगों में इसका लेप किया जाता है।

मात्रा—½-१ तो० पेया बनाकर।

अथ स्थलकमलम् । तस्य नामगुणानाह

पद्मचारिण्यतिचराऽव्यथा पद्मा च शारदा । पद्माऽनुष्णा कटुस्तिक्ता कषाया कफवातजित् ।
मूत्रकृच्छ्राश्मशूलघ्नी श्वासकासविषापहा ॥ १४ ॥

स्थलकमल के नाम—पद्मचारिणी, अतिचरा, अव्यथा, पद्मा और शारदा ये सब हैं।

स्थलकमल—किञ्चित् उष्णवीर्य, कटु, तिक्त तथा कषाय रस युक्त एवम्—कफ, वात, मूत्रकृच्छ्र, पथरी, शूल, श्वास, कास तथा विष को दूर करने वाला है ॥ १४ ॥

नोट—इस संबंध में विद्वानों में मतभेद है। चरक, सुश्रुत तथा वाग्भट में इसका उल्लेख नहीं है। वृंद के 'सिद्धयोग' में स्थलपद्म का प्रयोग मिलता है। इसके कल्क को दूध के साथ पिलाने से प्लीहा रोग तथा सभी प्रकार के शोथ में लाभदायक माना है। श्री कण्ठ ने इसको 'माणकम्' लिखा है। इसके कहीं चार प्रकार मानते हैं—

चतुर्धा स्थलपद्मानि सेवन्ती गुलदावदी । नैपाली च गुलाबश्च बकुलश्च कदम्बकः ॥ १ ॥

निम्न दो पौधों को स्थल कमल कुछ विद्वानों ने माना है।

२ स्थलपद्म (१)

ले०-*Ionidium suffruticosum Ging.* (आयोनिडियम् सफ्रुटिकोसम्)। Fam. Violaceae (व्हायोलेसी)। हिं०-रतनपुरुष।

इसके छोटे बहुवर्षायु क्षुप बुन्देलखण्ड, आगरा, बंगाल, मद्रास, गुजरात, खानदेश तथा कर्नाटक में पाये जाते हैं। पत्ते-कुन्तल क्रम में, लगभग अवृन्त, '७-१'' लंबे और भालाकार होते हैं। पुष्प-एकाकी तथा गुलाबी रंग के आते हैं। पाँच आभ्यन्तर दलों में, एक दल लम्बे दलदण्ड (Claw) और लगभग वृत्ताकार दलोत्सर (limb) से युक्त होता है। मूल तथा पंचांग का चिकित्सा में व्यवहार होता है।

रासायनिक संगठन—इसमें एक क्षाराभ पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह शीतल, स्नेहन एवं मूत्रजनन होता है। मधुमेह में इसे लाभदायक माना जाता है। बच्चों के उदरविकार में इसकी जड़ देते हैं। उष्णताजन्य शिरःशूल एवं गरमी में दाहशान्ति के लिए भी इसका उपयोग होता है।

२ स्थलपद्म (२)

ले०-*Hibiscus mutabilis Linn.* (हिबिस्कस् म्यूटेबिलिस्)। Fam. Malvaceae (माल्वेसी)। सं०-पद्मचारिणी। हिं०-गुलियाजैब। बं०-थलपद्म।

यह बागों में लगाया मिलता है। इसका आदि स्थान चीन है।

इसका वृक्ष-छोटा तथा कांटे विहीन होता है। शाखाएँ मृदुरोमश होती हैं। पत्ते-हृदयाकार, दन्तुर, ४ इञ्च व्यास में तथा ३ इञ्च लंबे दण्ड से युक्त होते हैं। पुष्प-३-४ इञ्च व्यास में आते हैं जो प्रातः खिलने पर श्वेत या गुलाबी रंग के तथा शाम तक गहरे लाल रंग के हो जाते हैं। फल-गोल, चिपटे तथा रोमश होते हैं। बीज-वृक्काकार एवं खरखरे होते हैं।

गुण और प्रयोग—मलाया तथा चीन में इसके पुष्पों को वक्ष तथा फुफ्फुस विकारों में प्रयोग करते हैं तथा इसे उत्तेजक मानते हैं। इसके पत्तों को शोथ पर बाँधते हैं।

अथ कुमुदम् "कमोदनी" इति लोके । तस्य नामानि गुणाँश्चाह

श्वेतं कुवलयं प्रोक्तं कुमुदं कैरवं तथा । कुमुदं पिच्छिलं स्निग्धं मधुरं ह्लादि शीतलम् ॥१५॥

कुमुद के नाम—श्वेतकुवलय, कुमुद, कैरव ये सब संस्कृत में हैं। इसे लोक में "कमोदनी" कहते हैं।

कुमुद-पिच्छिल, स्निग्ध, मधुररसयुक्त, शीतल एवम् चित्त को आह्लादित (प्रसन्न) करने वाला है ॥ १५ ॥

अथ कुमुदिनी । तस्या नामगुणाँश्चाह

कुमुद्वती कैरविका तथा कुमुदिनीति च ॥ १६ ॥
सा तु मूलादिसर्वाङ्गैरुक्ता समुदिता बुधैः ।
पद्मिन्या ये गुणाः प्रोक्ताः कुमुदिन्याश्च ते स्मृताः ॥ १७ ॥

कुमुदिनी के नाम—कुमुद्वती, कैरविका और कुमुदिनी ये सब हैं। लक्षण—मूल, नाल, पत्रादिकों के सहित जो कुमुद है उसे "कुमुदिनी" कहते हैं।

गुण—पद्मिनी के जो गुण पूर्व में कह चुके हैं वे ही सब कुमुदिनी के भी समझने चाहिये ॥ १६-१७ ॥

अथ कल्हारम् । तन्नामगुणानाह

सौगन्धिकं तु कल्हारं हल्लकं रक्तसन्ध्यकम् । कल्हारं शीतलं ग्राहि विष्टम्भि गुरु रूक्षणम् ॥

कल्हार के नाम—सौगन्धिक, कल्हार, हल्लक और रक्तसन्ध्यक ये सब कल्हार (लालकुमुद) के पर्यायवाची शब्द हैं।

कल्हार—शीतल, ग्राही, वातविष्टम्भ को उत्पन्न करने वाला, पाक में गुरु एवं रूक्ष होता है ॥ १८ ॥

नोट—कमल तथा कुमुद के संबंध में विशेष विवरण कमल के नोट के अन्तर्गत दिया जा चुका है। गुणों की दृष्टि से दोनों में पर्याप्त साम्यता है। जिससे एक का दूसरे के स्थान पर प्रयोग किया जा सकता है। कुमुद (निंफिया) में वर्ण के अनुसार ४ भेद (Species) पाये जाते हैं पीत वर्ण का भेद भी विदेशों में पाया जाता है। यहाँ श्वेत कुमुद (निं० अल्वा) का वर्णन किया गया है। अन्यों का केवल संक्षेप में भेद बतलाया गया है।

४ कुमुद

हि०—कुमुद, कमोदनी, कोईं, कुईं। बं०—शालुक, सुन्दी। गु०—पोयणु। म०—कमोद। फा०—नीलूफर। अ०—अनेंबुल्मा। अं०—Water lily (वाटर लिली)। ले०—*Nymphaea alba Linn.* (निम्फिआ अल्वा लिन)। Fam. Nymphaeaceae (निम्फिएसी)।

यह काश्मीर में जलाशयों में पाया जाता है।

इसका जलीय क्षुप बहु वर्षायु होता है। इसकी जड़ें जलाशय की सतह में फैलती हैं। पत्ते—गोल, हृदयाकार, चमकीले तथा जल की सतह पर तैरते रहते हैं। पत्रनाल १० फुट तक लंबा होता है तथा पत्र फलक के मध्य में जुटा रहता है। पुष्प—श्वेत, तथा २–५ इञ्च व्यास में आते हैं। बाह्यदल—४, बाहर से कुछ हरिताभ तथा अन्दर से श्वेत होते हैं। आभ्यंतर दल—करीब १० होते हैं जो अन्दर की तरफ पुंकेशर में बदल जाते हैं। फल—स्पंज सदृश होता है जो जल के अन्दर पक्व होकर फट जाता है जिसमें से बीज बाहर निकल कर जल पर तैरते हैं। बीज—छोटे, कच्चे लाल एवं पकने पर काले होते हैं। इन्हें भेंट या बेरा कहते हैं। बिहार और बंगाल में इनका लावा बनाकर उसके लड्डू बनाते हैं। उनको वहाँ रामदाने के लड्डू कहते हैं।

अन्य जातियाँ—

(१) Nymphaea rubra Roxb. (नि. रूब्रा)। रक्त, गुलाबी या श्वेत वर्ण के ३–८ इञ्च व्यास के पुष्प इसमें आते हैं। यह सभी स्थानों पर होता है। इसमें पुष्प केवल सुबह ही खिलते हैं।

(२) N. pubescens. Willd. (नि. प्यूबेसेन्स)। यह उपर्युक्त के समान ही है किन्तु इसमें पुष्प कुछ छोटे तथा पत्र अधोतल पर रोमश होते हैं।

(३) N. stelleta Willd. (नि. स्टेल्लेटा)। इसमें पुष्प नीले, हलके बैंगनी तथा ३–६ इञ्च व्यास में आते हैं। यह भी सभी उष्ण भागों में होता है।

रासायनिक संगठन—नि. अल्बा के मूलों में निम्फीन (Nymphaeine) नामक क्षाराभ तथा अन्य कषाय द्रव्य पाये जाते हैं। इस क्षाराभ का वातनाडी संस्थान के ऊपर विषैला प्रभाव पड़ता है। इसके पुष्पों में हृदय पर परिणाम करने वाला निम्फैलिन (Nymphalin) नामक

ग्लूकोसाइड पाया जाता है। इसमें के क्षाराभ का चूहा, मेंढक, गिनी पिग तथा कबूतर के मस्तिष्क पर घातक परिणाम होता है तथा श्वसन संस्थान की विषाक्तता होकर मृत्यु होती है।

पुष्प एवं कंद के क्षाराभों का अल्प मात्रा में शामक (Sedative) प्रभाव पड़ता है।

गुण और प्रयोग—इसके गुणादि कमल जैसे ही होते हैं। मूल ग्राही एवं कुछ मादक होता है। पुष्प कामसादक होते हैं।

इसके मूल को प्रवाहिका में देते हैं। पुष्प तथा फल का फांट अतिसार में दिया जाता है तथा इसे स्वेदजनक मानते हैं।

अथ वारिपर्णी शैवालश्च (जलकुम्भी—सिवार)। तयोर्नामानि गुणाँश्चाह

वारिपर्णी कुम्भिका स्याद्वारिमूली खमूलिका।
शैवालं जलनीली स्याच्छैवलं जलजञ्च तत् ॥ १९ ॥
वारिपर्णी हिमा तिक्ता लघ्वी स्वाद्वी सरा कटुः।
दोषत्रयहरी रूक्षा शोणितज्वरशोषकृत् ॥ २० ॥
शैवालं तुवरं तिक्तं मधुरं शीतलं लघु। स्निग्धं दाहतृषापित्तरक्तज्वरहरं परम् ॥ २१ ॥

वारिपर्णी (जलकुम्भी) के नाम—वारिपर्णी, कुम्भिका, वारिमूली, खमूलिका ये सब हैं। जलकुम्भी—शीतल, तिक्त तथा कटुरसयुक्त, स्वादिष्ट, पाकमें लघु, दस्तावर, रूक्ष, त्रिदोषनाशक एवम्–रक्तविकार, ज्वर तथा शोष को उत्पन्न करने वाली है।

शैवाल (सेवार) के नाम—शैवाल, जलनीली, शैवल और जलज ये सब हैं। सेवार—कषाय, तिक्त तथा मधुर रस युक्त, शीतल, लघु, स्निग्ध और दाह, तृषा, पित्त, रक्तविकार, और ज्वर को अत्यन्त दूर करने वाला होता है ॥ १९–२१ ॥

नोट—मूल पाठ में श्री लाला शालिग्राम जी की टीका में इस प्रकार भेद है।

"वारिपर्णी कुम्भिका स्याच्छैवालं शैवलञ्च तत्।
वारिपर्णी हिमा तिक्ता······ज्वरहरं परम् ॥"

इससे ऐसा मालूम होता है कि कुम्भिका तथा शैवाल पर्यायवाची नाम हैं किन्तु आगे दोनों के गुण अलग अलग दिये होने से यह संदेह दूर हो जाता है तथा उपर्युक्त पाठभेद गलत मालूम होता है। कुम्भिका तथा शैवाल, दो भिन्न द्रव्य हैं। अमरकोश में भी 'वारिपर्णी तु कुम्भिका' तथा 'जलनीली तु शैवालं शैवलः' दिया हुआ है।

वारिपर्णी (कुम्भिका) के गुणों में 'शोणित ज्वर शोषकृत' के स्थान पर हृत होना चाहिये। सभी टीकाकारों ने गुणों में लिखा है कि यह रक्तविकार, ज्वर तथा शोष में लाभदायक है।

कुम्भिका से जलकुम्भी नामक द्रव्य लिया गया है। अन्य कुछ द्रव्यों के लिये भी यह नाम आता है। जलकुम्भी नाम चरक, सुश्रुत, रा. नि. तथा ध. नि. में नहीं मिलता। अधिकांश विद्वानों ने पिस्टिया स्ट्रेटिओटीस लिन. (Pistia stratiotes Linn.) को जलकुम्भी माना है। एक अन्य बड़ी जलकुम्भी भी पाई जाती है जो इचोर्निया क्रेसिपीस (Eichhornia crassipes Solms) है। यह विदेशी पौधा है जो संभवतः सौन्दर्य की दृष्टि से बागों आदि में लगाया जाने लगा है। इनका अलग-अलग वर्णन किया गया है। शैवाल के संबंध में जलकुम्भी के वर्णन के पश्चात् विवेचन किया गया है।

५ जलकुम्भी (वारिपर्णी) (१)

हिं०–कुम्भी, जलकुम्भी। **बं०**–टोका पाना। **म०**–प्रश्नी, गोंडाल, शेवँळ। **गु०**–जल शंखलो। **ता०**–आकाश तामरै। **अं०**–The wester-Lettuce (दी वेस्टर लेट्यूस)। **ले०**–*Pistia stratiotes Linn.* (पिस्टिया स्ट्रेटिओटीस्)। *Fam. Araceae* (एरेसी)।

यह समस्त भारत में, तालाबों तथा गढों में जहाँ जल जमा रहता है, पायी जाती है।

इसके **क्षुप**–जलाशयों के ऊपर तैरते रहते हैं। देखने में छोटी गोभी जैसे दिखलाई देते हैं। **पत्ते**–विनाल, मांसल, १–३" लंबे, अभिलट्वाकार, चक्राकार गुच्छों में आते हैं। **पुष्पव्यूह**–पीले या श्वेत पत्रावरण से आवृत होता है। **मूल**–मूल से डोरे-डोरे जैसे कई उपमूल निकले रहते हैं।

इसके पंचांग, पत्ते, मूल तथा इसकी राख का उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसमें ३१% राख होती है जिसमें से जल में घुलनशील क्षार ६% होते हैं। क्षार में पोटेशियम् क्लोराइड ७३% तथा पोटेशियम सल्फेट २२% होता है।

गुण और प्रयोग—यह शीतल, मूत्रजनन, आनुलोमिक, एवं कास शामक है। इसकी गंध से खटमल भरते हैं। इसका प्रयोग मूत्रकृच्छ्र, अर्श, गलगण्ड एवं चर्म रोग में किया जाता है।

(१) मूत्रकृच्छ्र में इसके पत्तों का क्वाथ पिलाते हैं तथा पीसकर पेड़ू पर बांधते हैं।

(२) अर्श पर पत्तों को पीस गरम कर बांधते हैं।

(३) सर की दाद पर इसकी राख लगाते हैं। चर्मरोगों में इसके स्वरस से बना गरी का तेल लगाते हैं।

(४) भस्म गोमूत्र के साथ गलगंड में देते हैं।[1]

मात्रा—स्वरस १–२ तोला; चूर्ण २–८ माशा।

६ जलकुम्भी (२)

हिं०–बड़ी जलकुम्भी। **बं०**–कचूरीपान। **मल०**–कोलावझा। **ता०**–आकाशथामरै। **ते०**–पिशाचियामर। **ले०**–*Eichhornia crassipes Solms* (इकोर्निया क्रेसिपीस)। Fam. Pontederiaceae (पोंटेडेरियेसी)।

यह सुन्दर विदेशी पौधा भारत में समस्त जलाशयों में पाया जाता है।

इसका **क्षुप**–बहुवर्षायु तथा जल में तैरने वाला होता है। इसकी **जड़ें**–लम्बी तथा रेशेदार, रोएंदार होती हैं जो छिछले जल में कीचड़ में जम जाती हैं। **पत्ते**–चक्राकार गुच्छों में, चम्मच के आकार के गोल, चौड़े, २–८" व्यास में आते हैं जिनका नाल–पुंगी की तरह बहुत फूला हुआ होता है जिससे यह जल पर तैरता है। **पुष्प**–सुन्दर, नीलाभ बैंगनी रंग के, १–१॰५ इञ्च लंबे, निवापसम (Funnel-shaped), ६–१० इञ्च लंबे पुष्पदण्ड पर आते हैं। बहुत बीज वाले **फल** (Capsule) आते हैं।

रासायनिक संगठन—इसके ताजे पत्तों में कैरोटीन (Carotene) पाया जाता है। इसमें पोटेशियम की काफी मात्रा होने से खाद के लिये इसका उपयोग किया जाता है।

गुण और प्रयोग—इसके पुष्प घोड़ों के चर्मरोगों में उपयोगी माने जाते हैं।

---

१. जलकुम्भीकजं भस्म पक्वं गोमूत्र गालितम्।
पिबेत्कोद्रवतक्राशी गलगण्डोपशान्तये ॥ (वृन्द)

७ सिवार (१)

शैवाल—जैसा कि पहले लिखा जा चुका है कि शैवाल तथा कुम्भिका एक द्रव्य नहीं हैं वरन् दो भिन्न द्रव्य हैं। हिन्दी का सेवार शब्द शैवाल से ही बना अपभ्रंश मालूम पड़ता है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से शैवाल शब्द का अर्थ है कि जो जल में होता हो।

चरक सुश्रुतादि में शैवाल का उल्लेख है। विसर्प के लेपों में इसका अधिक उल्लेख है। ध. नि. में इसके पर्यायों में जलमुस्त शब्द आया है जिससे ऐसा मालूम होता है कि इसमें मोथे की तरह नीचे मूल का कुछ स्वरूप हो।

अपने यहाँ नदियों आदि में एक पौधा पाया जाता है जो सिरैटोफाइलम् डिमर्सम (Ceratophyllum demersum Linn.) है। यह सिरैटोफाइलेसी (Ceratophyllaceae) वर्ग का पौधा है जो वनस्पतियों के उस विभाग के अन्तर्गत आता है जिनमें पुष्प बीजादि वाली वनस्पतियाँ आती हैं। यह ऍल्गी (Algae) विभाग का नहीं है जिनमें काण्ड, पत्र तथा मूल जैसे अलग-अलग अंगों की उत्पत्ति नहीं हुआ करती। समुद्र में पाई जाने वाली कुछ ऍल्गी ऐसी होती हैं जिनको सेवार कहा जा सकता है।

नदियों में पाया जाने वाला एक अन्य क्षुप वेलिसनेरिया स्पाइरेलिस् (Vellisneria spiralis Linn.) है जिसे कुछ ने सेवाल लिखा है।

नदियों में एक सेवार पाई जाती है जिसे गरमी के दिनों में लोग भैंसों आदि को खिलाते हैं। इसमें नीचे मोथे की तरह राइजोम पाये जाते हैं। ध. नि. में लिखा जलमुस्त पर्याय संभवतः इसके लिये अभिप्रेत हो। इससे जल का स्वरूप नीला सा होने से जलनीली पर्याय भी इसके लिये ठीक मालूम पड़ता है। इस सेवार का वनस्पति शास्त्र की दृष्टि से विनिश्चय अभी तक नहीं किया जा सका है।

यहां पर प्रथम दो का वर्णन किया जा रहा है जिन्हें अधिकांश विद्वानों ने सेवार लिखा है।

हिं०–सिवार, सेवार। **बं०**–शेओयाला। **म०**–शेवाल, शेवाळे। **गु०**–शेवाल। **फा०**–चश्म-वजग। **अ०**–तुहलब। **ले०**–*Ceratophyllum demersum Linn.* (सिरैटोफाइलम् डिमर्सम्)। Fam. Ceratophyllaceae (सिरैटोफाइलेसी)।

यह सभी जगह पाया जाता है। इसके जलीय **क्षुप**–८ से ३६ इंच लंबे होते हैं जिनकी शाखायें तथा पत्तियाँ पानी से बाहर निकालने पर आपस में गुंथकर जाल सा बन जाती हैं। **पत्ते**–करीब १ इंच लंबे होते हैं जिनके खण्ड जल में फैले रहते हैं। इनकी मोटाई तथा पत्र दन्त में पर्याप्त भिन्नता पाई जाती है। **पुष्प**–छोटे तथा पुं पुष्प एवं स्त्री पुष्प भिन्न दण्डों पर आते हैं।

इसके पंचांग का व्यवहार किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसके रोओं में माइरोफाइलिन (Myrophyllin) पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह शीतवीर्य तथा ज्वरहर है। पैत्तिक विकार, रक्तपित्त आदि में इसका प्रयोग करते हैं।

मात्रा—स्वरस १–२ तोला।

८ सिवार (२)

हिं०–सेवार। **म०**–शेवाळ। **ता०**–जलसपोंलियन। **ते०**–पुनस्तु। **ले०**–*Vellisneria spiralis Linn.* (वेलिसनेरिया स्पाइरेलिस्)। Fam. Hydrocharitaceae (हाइड्रोचेरिटेसी)।

यह समस्त भारत में होता है। इसके क्षुप-जल में डूबे हुए, काण्डहीन तथा आपस में गुँथे हुये होते हैं। पत्ते-रेखाकार, बहुत लंबे तथा पारभासक होते हैं। पुष्प-पुं पुष्प छोटे पत्राकृत व्यूह में होते हैं और बहुत छोटे तथा संख्या में बहुत होते हैं। परिपक्व होने पर वे व्यूह से अलग हो कर जल के ऊपर आ जाते हैं तथा खिल जाते हैं। स्त्री पुष्प, लंबे कुण्डलित वृन्त से युक्त होते हैं तथा परिपक्व होने पर कुण्डल खुलकर वे ऊपर आ जाते हैं तथा परिषेचन होने पर फिर वृन्त का कुण्डल हो कर नीचे चले जाते हैं।

गुण और प्रयोग—यह दीपन तथा शोथघ्न है। इसका प्रयोग श्वेतप्रदर में करते हैं। फोड़े पर इसको बांधने से जलन कम होती है तथा जल्दी फूट जाता है।

अथ शतपत्री [गुलाब]। तस्या नामानि गुणांश्चाह

शतपत्री तरुण्युक्ता कर्णिका चारुकेशरा। महाकुमारी गन्धाढ्या लाक्षापुष्पा[1] ऽतिमञ्जुला॥
शतपत्री हिमा हृद्या ग्राहिणी[2] शुक्रला लघुः। दोषत्रयास्रजिद्वर्ण्या कट्वी तिक्ता च पाचनी॥

शतपत्री (गुलाब) के संस्कृत नाम-शतपत्री, तरुणी, कर्णिका, चारुकेशरा, महाकुमारी, गन्धाढ्या, लाक्षापुष्पा और अतिमञ्जुला ये सब हैं। **शतपत्री**—शीतल, हृदय को हितकर, संग्राही, शुक्रजनक, लघु, त्रिदोष तथा रक्तविकार को दूर करनेवाली, शरीर के वर्ण को उत्तमबनाने वाली, कटु तथा तिक्त रसयुक्त और पाचक होती है॥ २२-२३॥

१ गुलाब

नोट—गुलाब का फूल सुप्रसिद्ध है। चिकित्सा के अतिरिक्त सुगंध के लिए इसका बहुत उपयोग होता है। कुछ वैज्ञानिकों का अनुमान है कि यह विदेशी पौधा है। चरक सिद्धिस्थान अध्याय १० में स्वर्णयूथिका, प्रियंगु, रक्तमूली इत्यादि सांग्राहिक द्रव्यों के साथ तरुणी का भी उल्लेख है। भा० प्र० भी इसे ग्राही लिखते हैं। गुलकंद का उपयोग मृदुसारक द्रव्य के रूप में प्रत्यक्ष सिद्ध है। इसलिए तरुणी शब्द गुलाब के लिए ही है अथवा अन्य किसी भिन्न द्रव्य के लिये है यह संदेह होता है। शतपत्री शब्द भी कई अर्थों में आता है।

गुलाब की कई जातियाँ तथा उनके भेद पाये जाते हैं। उत्तर-पश्चिम हिमालय तथा कश्मीर में पहाड़ों पर यह वन्य अवस्था में भी पाया जाता है। अधिकतर यह बागों में लगाया हुआ मिलता है। फूलों के वर्ण-भेद से, सुगंधभेद से, कांटों की उपस्थिति या अभाव की दृष्टि से इसके अनेक भेद पाये जाते हैं। करीब एक लाख पुष्पों से १ तोला इत्र प्राप्त होता है जिसका सुगन्ध के लिए उपयोग होता है।

हि०, स०, गु०-गुलाब। बं०-गोलाप। ता०-इराशा, गोलप्पु। क०-गुलाबि। ते०-गुलाबी-पुवु। फा०-गुले सुर्ख, गुल, गुले गुलाब। अ०-वर्द, वर्दे अहमर। अं०-Rose (रोज)। ले०-*Rosa centifolia Linn.* (रोज़ा सेन्टिफोलिया)। Fam. Rosaceae (रोजेसी)।

यह सभी जगह बागों में लगाया हुवा मिलता है।

इसका क्षुप ५-७ फीट ऊंचा होता है। शाखाएँ-कांटों से युक्त होती हैं तथा कांटे असमान, बड़े एवं टेढ़े होते हैं। कांटों के अतिरिक्त इन पर चिपचिपे रोएँ भी होते हैं। पत्ते-संयुक्त तथा

१. वृष्या इति पाठः। २. 'सरा च' इति पाठः।

पत्रक संख्या में प्रायः ५ तथा मृदुरोमश होते हैं। पत्रदण्ड पर कांटे नहीं होते। पुष्प-प्रायः गुलाबी, बड़े, सुगंधयुक्त तथा लंबे दंड पर हिलते रहते हैं। बाह्यदल स्थायी तथा अन्तर्दल अंदर मुड़े हुये होते हैं।

सेवती गुलाब—(Rosa alba-रोज़ा ॲल्बा) नामक एक विशेष भेद होता है जिसमें पुष्प श्वेत होते हैं।

चिकित्सा के लिए वसंत ऋतु में उत्पन्न पुष्पों की छाया में सुखाई हुई कलिकाओं का उपयोग करना चाहिये। इसके केशर इत्यादि भागों को निकाल कर केवल पंखड़ियों का उपयोग गुलकंद बनाने में किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसमें उड़नशील तैल, टैनिक अम्ल, मैलिक अम्ल, तथा कुछ राल आदि द्रव्य पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—गुलाब शीतवीर्य, मृदुसारक, पाचन, त्रिदोषघ्न, पौष्टिक, हृद्य एवं वर्ण्य है। इससे शौच साफ होकर भूख बढ़ती है तथा शरीर पुष्ट होता है। ग्रीष्म ऋतु में स्त्रियों तथा बच्चों को गुलकंद खिलाया जाता है। गुलकंद तथा गुलाबजल का अनुपान के लिए उपयोग करते हैं। नेत्रबिन्दु में गुलाबजल का उपयोग किया जाता है।

मुख व्रण में इसका स्थानिक प्रयोग हितकर है। शोथ में इसका लेप किया जाता है तथा व्रण पर इसका चूर्ण डालते हैं। इसके चूर्ण को शरीर पर मलने से स्वेदाधिक्य कम हो कर दुर्गंध दूर होती है।

सेवती गुलाब का प्रयोग ज्वर में शीतलता लाने के लिए करते हैं। इससे हृदय की धड़कन भी कम होती है।

मात्रा—गुलकंद १ से २ तोला; चूर्ण १ से ३ माशा; अर्क २ से ४ तोला।

अथ वासन्ती (नेवारी)। तस्या नामानि गुणांश्चाह

नेपाली कथिता तज्ज्ञैः सप्तला नवमालिका। वासन्ती शीतला लघ्वी तिक्ता दोषत्रयास्रजित्॥

वासन्ती (नेवारी) के संस्कृत नाम—नेपाली, सप्तला, नवमालिका और वासन्ती ये सब हैं। वासन्ती-तिक्तरसयुक्त, शीतल, लघु एवम् त्रिदोष तथा रक्तविकार को दूर करने वाली है॥ २४॥

नोट—नेवारी को कुछ विद्वानों ने जस्मिनम् आर्बोरेसेन्स माना है तथा कुछ ने आइक्जोरा आर्बोरिया (Ixora arborea Roxb.) माना है। 'वासन्ती' नाम इसके वसन्त ऋतु में पुष्पित होने का द्योतक मालूम पड़ता है। 'नेपाली' पर्याय, इसका नेपाल देश से कुछ संबंध बतलाता है। या नेपाली के स्थान पर नेवाली शब्द हो सकता है जिसका अपभ्रंश नेवारी हो गया होगा।

चमेली, बेला, जूही इत्यादि के साथ ही इसका वर्णन होने से इसके जस्मिन् जाति के ही होने की अधिक संभावना है। ज. आर्बोरेसेन्स को कुछ ने कुन्द माना है। कुन्द का आगे स्वतंत्र वर्णन किया गया है। यहां नेवारी (ज. आर्बोरेसेन्स) का वर्णन किया जा रहा है। निघंटुओं द्वारा वर्णित इन सुगंधयुक्त विभिन्न वनस्पतियों के पर्यायों में पर्याप्त मतभिन्नता पाई जाती है।

१० नेवारी

हि०-नेवारी, वासन्ती, चमेली। बं०-बुराकुन्दा, नवमल्लिका। मु०-कुसर। ता०-नागमल्ली। ते०-नागमल्ले। ले०-Jasminum arborescens *Roxb.* (जस्मिनम् आर्बोरेसेन्स)। *Fam. Oleaceae* (ओलिएसी)।

यह हिमालय में ४००० फीट की ऊंचाई तक तथा बंगाल, छोटा नागपूर, उड़ीसा, मध्य तथा दक्षिण भारत एवं गंजम् और विजगापट्टम् के पहाड़ों पर होता है।

यह झाड़ीदार वृक्ष होता है। शाखाएँ–रोमश होती हैं। पत्ते–साधारण, विपरीत, ५–७·५ से. मी. लंबे, अण्डाकार या अण्डाकार-आयताकार, लम्बाग्र, तथा १–२ से. मी. लंबे पत्रनाल से युक्त होते हैं। पुष्प–अत्यंत सुगन्धित, सफेद रंग के, २·५–३·३ से. मी. व्यास में एवं मृदुरोमश होते हैं। इनके खण्ड नलिका से बड़े या बराबर होते हैं। अन्तर्दल नलिका १–१·३ से. मी. तथा खण्ड ९–१२ रहते हैं। स्त्री केशर (Carpel) १, आयताकार या अंडाकार, १·३ से. मी. लंबा एवं काला होता है।

रासायनिक संगठन—पुष्पों में एक उड़नशील तैल होता है।

गुण और प्रयोग—इसके पत्ते तिक्त, कषाय, बल्य तथा दीपन होते हैं। इसके फल बल्य माने जाते हैं।

श्वसनिकाओं में कफ जमा होने पर इसके पत्तों का स्वरस, मरिच, लहसुन तथा अन्य उत्तेजक औषधियों के साथ वामक औषध के रूप में देते हैं।

संथाल लोग इसका प्रयोग मासिक विकारों में करते हैं। इसकी जड़ सर्पविष में लाभदायक मानी गई है।

अथ वार्षिकी (बेला)। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

श्रीपदी षट्पदानन्दा वार्षिकी मुक्तबन्धना ॥ २५ ॥

वार्षिकी शीतला लघ्वी तिक्ता दोषत्रयापहा। कर्णाक्षिमुखरोगघ्नी तत्तैलं तद्गुणं स्मृतम् ॥

वार्षिकी (बेला) के संस्कृत नाम—श्रीपदी, षट्पदानन्दा, वार्षिकी और मुक्तबन्धना ये सब हैं। वार्षिकी (बेला)—शीतल, लघु, तिक्तरसयुक्त एवम्–त्रिदोष, कान, नेत्र, मुखसम्बन्धी समस्त रोग को दूर करने वाली होती है। तथा इसके तेल के भी ये ही सब गुण हैं ॥ २५–२६ ॥

११ बेला

हि०–मोगरा, मोतिया बेला। **म०**–मोगरा। **गु०**–डोलर, मोगरो। **क०**–मल्लिगे। **ता०**–अडुक्कु मल्लि। **बं०**–मोतिया। **लै०**–Jasminum sambac Ait. (जस्मिनम् सम्बॅक्)। *Fam. Oleaceae* (ओलिएसी)।

यह भारत में सभी स्थानों पर बागों में लगाया मिलता है। अन्य उष्ण प्रदेशों में भी यह होता है।

इसका झाड़ीदार गुल्म होता है। नवीन शाखायें मृदुरोमश होती हैं। पत्ते–पतले, विपरीत, ३·८–११·५×२·२–६·३ से. मी., विभिन्न आकार के, प्रायः अण्डाकार, चिकने तथा ४–६ जोड़ी बगल की स्पष्ट शिराओं से युक्त होते हैं। पत्रनाल ३–६ मि. मि. लंबा तथा रोमश, होता है। पुष्प–अत्यन्त सुगन्धित, श्वेत, एकाकी अथवा ३ एक साथ रहते हैं। बाह्यदल १·३ से.मी लंबा, रोमश एवं ६–१० मि. मि. लंबे ५–९ विभागों में रहता है। अन्तर्दल नलिका १–३ से. मी. तथा उसके खण्ड नलिका के बराबर होते हैं। स्त्री केशर परिपक्व होने पर ६ मि. मि., गोल, काला तथा बाह्यदल से घिरा रहता है।

बागवानी में इसके अनेक प्रकार पाये जाते हैं। जिनमें चार मुख्य हैं। (१) मोतिया बेला—इसमें पुष्प द्विगुण एवं गोल अन्तर्दल युक्त तथा कली गोल रहती है। (२) बेला—इसमें

भी द्विगुण अन्तर्दल कुछ लंबे रहते हैं। (३) हजारा बेला—इसमें पुष्प के अन्तर्दल द्विगुण नहीं रहते हैं। (४) मोगरा—अन्तर्दल बहु चक्रों में, गोल तथा कलिका १ इञ्च व्यास में रहती है।

अन्य निघंटुओं ने जो विभिन्न भेद वार्षिकी, ग्रैष्मी, अतिमुक्ता, मल्लिका लिखे हैं वे सब इसी ज० सम्बॅक् के ही भेद हैं। वार्षिकी में वर्षाकाल में पुष्प आते हैं। ग्रैष्मी में ग्रीष्म ऋतु में फूल आते हैं। जिसमें फूल छोटे-छोटे होते हैं उसे अतिमुक्ता कहा गया है। भावप्रकाशकार गुण की दृष्टि से मल्लिका को उष्ण वीर्य लिखते हैं और वार्षिकी को शीतवीर्य। अतिमुक्ता यह पर्याय भावप्रकाशकार माधवी के लिये लिखते हैं जो दूसरी लता होती है।

इसके पत्र, पुष्प तथा मूल का उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसके पुष्पों में एक सुगंधि उड़नशील तैल पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह त्रिदोषघ्न, शोथघ्न, व्रणरोपक, स्तन्यनाशन एवं गर्भाशयोत्तेजक है।

(१) प्रसूता को स्तनशोथ होने पर इसके पुष्पों को पीसकर बाँधते हैं जिससे दुग्धस्राव बंद होकर शोथ कम होता है।

(२) इसकी ३ माशे जड़ का क्वाथ अनार्तव तथा अनियमितार्तव में देते हैं।

(३) रक्तप्रवाहिका में इसकी ३-४ पत्तियों को जल में पीस, छान, मिश्री मिलाकर २-३ बार में देते हैं।

(४) पुराने व्रणों पर इसकी पत्तियों का लेप किया जाता है।

मात्रा—मूल ३ माशा; पत्र ३-४।

अथ मालती स्वर्णजाती च (जाई—पीलीजाई)। तयोर्नामानि गुणाँश्चाह

जातिर्जाती च सुमना मालती राजपुत्रिका। चेतिका हृद्यगन्धा च सा पीता स्वर्णजातिका ॥

जातीयुगं तिक्तमुष्णं तुवरं लघु दोषजित्। शिरोऽक्षिमुखदन्तार्तिविषकुष्ठानिलास्रजित् ॥२८॥

जाई-पीलीजाई के संस्कृत नाम—जाति, जाती, सुमना, मालती, राजपुत्रिका, चेतिका और हृद्यगन्धा ये सब "जाई" के नाम हैं; यदि पीली जाई हो तो उसे "स्वर्णजातिका" कहते हैं। दोनों जाती (जाई-पीलीजाई) तिक्त तथा कषाय रसयुक्त, उष्ण, लघु, दोषनाशक एवम्–शिर, आंख, मुख और दांतों के रोगों को दूर करने वाली तथा विष, कुष्ठ, वायु और रक्तविकार को नष्ट करने वाली होती हैं ॥ २७–२८ ॥

१२ चमेली

हि०–चमेली, चम्बेली, चंबेली। **बं०**–चमेली, जाति। **गु०**–चंबेली। **म०**–चमेली। **ता०**–पिच्चि। **ते०**–जाति। **अ०**–यासमीन, यास मून। **फा०**–यास मन। **अं०**–Spanish Jasmine (स्पॅनिश जस्मिन)। **लै०**–*Jasminum grandiflorum* Linn. (जस्मिनम् ग्रैन्डिफ्लोरम्)। Fam. Oleaceae (ओलिएसी)।

यह भारत में सभी स्थानों पर बागों में लगाया मिलता है। इसका आदि स्थान उत्तर पश्चिम हिमालय मानते हैं। उत्तर प्रदेश में इसकी विस्तृत पैमाने पर खेती की जाती है।

इसके गुल्म–बड़े, आरोही तथा फैलने वाले होते हैं। शाखाएँ–धारीदार होती हैं। पत्ते–विपरीत, संयुक्त तथा २–५ इञ्च लंबे होते हैं। पत्रक संख्या में ७–११, अंतिम अग्र का पत्रक बड़ा

तथा बगल के पत्रक विनाल तथा अग्र के जोड़े का आधार मिला हुआ रहता है। पुष्प—सुगंधित सफेद, बाहर से कुछ गुलाबी तथा १॥ इञ्च तक व्यास में रहते हैं।

जाती का स्वर्णजाती भेद लिखा हुआ है जिसमें पीले रंग के पुष्प आते हैं। उपर्युक्त जाति (Species) में पीला फूल नहीं पाया जाता। किन्तु जस्मिन् की एक अन्य जाति, ज० ह्यूमाइल (J. humile) होती है जिसमें पीले सुगंधित फूल आते हैं। संभवतः यही स्वर्ण जाती हो।

कर्पूरादि वर्ग में गन्धमालती नामक एक द्रव्य का वर्णन आया है। वहाँ पर एक लता ॲॅगनोस्मा कॅरियोफाइलॅटा का वर्णन (पृ. २६१) आया है जिसे भी मालती कहते हैं। इसमें पुष्प सफेद आते हैं किन्तु यह ॲपोसाइनेसी (Apocynaceae) वर्ग की लता है। चमेली के पुष्प तथा पत्तों का उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसके पुष्पों में उड़नशील तैल तथा पत्तों में एक क्षाराभ एवं सेलिसिलिक अम्ल होता है।

गुण और प्रयोग—यह शीत, तिक्त, व्रणरोपण, व्रणशोधन एवं कुष्ठघ्न है।

(१) त्वचा के विकारों में इसके पत्तों का बाह्य प्रयोग किया जाता है। मुखपाक तथा दंतपीड़ा में पत्ते चबाने को देते हैं। पूतिकर्ण में पत्तों से बनाया तेल कान में डालते हैं। अंगुलियों के बीच का भाग सड़ने पर पत्तों को पीसकर लेप करते हैं। कॉर्न (Corn) पर ताजा रस लगाते हैं।

(२) पुष्पों का लेप नेत्ररोग, विस्फोट, शिरःशूल आदि में करते हैं। इससे बना तेल शिरःशूल तथा ठंडक के लिए लगाया जाता है।

अथ यूथिका पीतयूथिका च (जूही—सुवर्णजूही)। तयोर्नामानि गुणाँश्चाह

यूथिका गणिकाऽम्बष्ठा सा पीता हेमपुष्पिका। यूथीयुगं हिमं तिक्तं कटुपाकरसं लघु ॥२९॥
मधुरं तुवरं हृद्यं पित्तघ्नं कफवातलम्। व्रणास्रमुखदन्ताक्षिशिरोरोगविषापहम् ॥ ३० ॥

जूही तथा सुवर्ण जूही के संस्कृत नाम—यूथिका, गणिका, अम्बष्ठा ये नाम जूही के हैं, यदि पीली जूही हो तो उसे "हेमपुष्पिका" कहते हैं। दोनों जूही—शीतल, तिक्त-मधुर तथा कषाय रस युक्त, एवम् पाक में तथा आस्वाद में कटुरसयुक्त, लघु, हृदय को हितकर, पित्तनाशक, कफ तथा वात जनक और व्रण, रक्तविकार, मुख-दांत-नेत्र-शिरसम्बन्धी समस्त रोग तथा विष विकार को दूर करने वाली हैं ॥ २९-३० ॥

१३ जूही

हि०—जूही। क०—कदर मल्लिगे। ते०—मागधी। ता० उसिमल्लिगे। ले०—Jasminum auriculatum Vahl. (जस्मिनम् ऑरीक्युलेटम्)।

Fam. Oleaceae (ओलिएसी)।

यह दक्षिण, कर्नाटक तथा पश्चिम प्रायद्वीप में होती है। भारत के सभी स्थानों पर इसकी खेती होती है। उत्तर प्रदेश में तो व्यापारिक दृष्टिकोण से इसकी खेती करते हैं।

इसका गुल्म—मृदुरोमश, लता के समान आरोहणशील या फैला हुआ रहता है। पत्ते—प्रायः साधारण, कभी-कभी त्रिपत्रक जिसमें दो नीचे के पत्रक बहुत छोटे या कभी-कभी अनुपस्थित, बीच का पत्रक २–३.२ × १–१.५ से. मि., चौड़ाई लिए हुए अण्डाकार या गोल, मृदुरोमश या चिकना

होता है। पुष्प—श्वेत, सुगंधि गुच्छों में आते हैं। बाह्यदल नलिका ४ मि. मि. लम्बी तथा दन्तुर एवं अन्तर्दल नलिका १३ मि. मि. लंबी तथा उसके खण्ड ५–८ एवं ६ मि. मि. लंबे होते हैं।

यद्यपि पीतयूथिका का वर्णन भा० प्र० ने किया है तथापि, उपर्युक्त जाति में पीले फूल नहीं होते किन्तु ज. हेटेरोफाइलम् (J. heterophyllum) नामक जाति में पीले सुगंधित फूल होते हैं।

डा० देसाई ने उपर्युक्त जाति (ज. ऑरीक्युलेटम्) का वर्णन जाई के अन्तर्गत किया है।

इसके पत्ते तथा फूलों का उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसमें सुगंधि तैल पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—इसके गुण चमेली की ही तरह हैं। यह भी शीतवीर्य, व्रणरोपण एवं व्रणशोधन है। (१) मुखपाक में पत्तों को चबाने को देते हैं या त्रिफला दारुहल्दी के साथ इसके पत्तों के कषाय से कुल्ला कराते हैं। अंगुलियों के बीच के स्थान सड़ जाने पर पत्तों का लेप उपयोगी है। व्रण पर पत्तों को पीसकर बांधते हैं।

(२) कर्ण विकारों में इसके पत्तों से पकाया तिल का तेल कान में डालते हैं।

(३) पुष्पों को क्षय में दिया जाता है।

अथ चम्पकः (चम्पा)। तस्य नामगुणानाह

चाम्पेयश्चम्पकः प्रोक्तो हेमपुष्पश्च स स्मृतः। एतस्य कलिका गन्धफलेति कथिता बुधैः ॥
चम्पकः कटुकस्तिक्तः कषायो मधुरो हिमः। विषक्रिमिहरः कृच्छ्रकफवातास्रपित्तजित् ॥

चम्पा के संस्कृत नाम—चाम्पेय, चम्पक, हेमपुष्प ये सब हैं। इसकी कली को पण्डित लोग "गन्धफली" कहते हैं। चम्पा—कटु-तिक्त-कषाय-मधुर रस युक्त, शीतल एवम् विष, क्रिमि, मूत्रकृच्छ्र, कफ, वात, रक्तविकार या वातरक्त और पित्त को दूर करने वाला है ॥ ३१-३२ ॥

१४ चम्पा

हि०—चम्पा। बं०—चांपा, चाम्पा। म०—सोन चाफा; पिवळा चाफा। गु०—राय चम्पो, पीळो चम्पो। क०—संपगे। ते०—सम्पङ्गी। ता०—शंपंगि। ले०—Michelia champaca Linn. (माइकेलिया चम्पक)। *Fam. Magnoliaceae* (मॅग्नोलिएसी)।

चम्पा के वृक्ष प्रायः वाटिकाओं में रोपण किये जाते हैं किन्तु पूर्वी हिमालय में ३००० फीट तक तथा आसाम, प० घाट एवं दक्षिण भारत में यह वन्य अवस्था में भी पाया जाता है।

इसका वृक्ष छोटा करीब २० फीट ऊँचा होता है और बारहो मास हरा भरा रहता है। पत्ते—८-१० इञ्च लम्बे, २॥ से ४ इञ्च तक चौड़े, नोकीले, चिकने और चमकीले होते हैं। फूल—२ इञ्च के घेरे में घंटाकार फीके पीले या नारङ्गी रङ्ग के सुगन्धित होते हैं। फल—लंबे, १–४ धूसर बीजों से युक्त होते हैं।

नोट—चंपक के अन्य प्रकारों का भी उल्लेख मिलता है जैसे क्षीर चंपक, नागचंपक (नागकेसर), नीलचंपक (हरा चंपा) एवं भूचंपक आदि, जो विभिन्न वनस्पतियाँ हैं।

इसके पंचांग, विशेष रूप से छाल तथा पुष्पों का व्यवहार किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसके पुष्प तथा छाल में उड़नशील तेल होता है। छाल का क्वाथ करने से यह तेल उड़ जाता है। इसलिये इसका फाण्ट या चूर्ण बनाकर प्रयोग करना चाहिये।

गुण और प्रयोग—इसकी छाल-ज्वरहर, मूत्रल, कफहर, दीपन एवं तिक्त पौष्टिक है। पुष्प-उत्तेजक, उद्वेष्टन निरोधी, चक्षुष्य, दाहशामक, मूत्रल, कुष्ठ, कण्डू व्रणहर एवं दीपन है। जड़ की छाल-विरेचन, आर्तवजनन, एवं शोथहर है।

इसका प्रयोग ज्वर, चर्मरोग, उपदंश, शोथ तथा आर्तव विकारों में करते हैं।

(१) विषम ज्वर में इसका फांट पिलाते हैं।

(२) उपदंश की द्वितीयावस्था में त्वचा के विकार या सन्धि में विकृति होने पर इसकी छाल का प्रयोग करते हैं।

(३) मूल की छाल अनार्तव में दी जाती है। व्रणशोथ पर इसे दही में पीसकर लगाते हैं।

(४) सोजाक में पुष्पों का फांट पिलाने से जलन कम होती है।

(५) त्वचा के रोगों में पुष्पों का प्रयोग करते हैं।

(६) तिल के तेल में पुष्पों को पीसकर शिरःशूल, अक्षि पीडा, चक्कर, आदि में सर पर बांधते हैं।

(७) पत्तों का रस शहद के साथ उदरशूल में देते हैं।

मात्रा—त्वक् चूर्ण ५-१५ रत्ती।

अथ बकुलः ("मौलसिरी" इति लोके)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

बकुलो मधुगन्धश्च सिंहकेसरकस्तथा। बकुलस्तुवरोऽनुष्णः कटुपाकरसो गुरुः॥
कफपित्तविषश्वित्रकृमिदन्तगदापहः॥ ३३॥

मौलसिरी के संस्कृत नाम—बकुल, मधुगन्ध, सिंहकेसरक ये सब हैं। **मौलसिरी**—कषायरसयुक्त, किञ्चित् उष्ण, पाक तथा रस में कटु, गुरु, एवम्-कफ, पित्त, विष, श्वेतकुष्ठ, कृमि एवं दाँतों के रोगों को दूर करने वाला है॥ ३३॥

अथ बृहद्बकुलः (बड़ी मौलसिरी)। तस्य नामगुणानाह

शिवमल्ली पाशुपत एकाष्ठीलो वको वसुः॥ ३४॥
वकोऽनुष्णः कटुस्तिक्तः कफपित्तविषापहः। योनिशूलतृषादाहकुष्ठशोथास्रनाशनः॥ ३५॥

बड़ी मौलसिरी के संस्कृत नाम—शिवमल्ली, पाशुपत, एकाष्ठील, वक, वसु ये सब हैं। **बड़ी मौलसिरी**-किञ्चित् उष्ण, कटु, तथा तिक्त रसयुक्त एवम्-कफ, पित्त, विष, योनिशूल, तृषा, दाह, कुष्ठ, शोथ और रक्तविकार को दूर करने वाली है॥ ३४-३५॥

नोट—भावप्रकाशकार बकुल की दो जातियों का उल्लेख करते हैं जिनमें बड़ी को शिवमल्ली, पाशुपत, एकाष्ठील, वक एवं वसु कहा गया है। वक नाम होने से इसे कुछ अगस्त मानते हैं किन्तु अगस्त का स्वतंत्र वर्णन आगे आया हुआ है। वानस्पतिक दृष्टि से बकुल की कोई भिन्न जाति (Species) का उल्लेख नहीं पाया जाता। संभव है केवल स्थानादि भेद से कहीं-कहीं बड़े आकार के वृक्ष हो जाते हों जिन्हें बृहद् बकुल कहा गया हो।

१५ मौलसिरी

हिं०—मौलसिरी। **बं०**—बकुल। **म०**—बकुळ, ओवली। **गु०**—बोलसरी। **क०**—बकुळ। **ते०**—पोगड **ता०**—मगिलम। **ले०**—Mimusops elengi Linn. (मिम्युसोप्स एलेन्गी)। *Fam. Sapotaceae* (सेपोटेसी)।

शोभा तथा सुगंध के लिए यह सभी जगह बागों में लगाया हुआ पाया जाता है। दक्षिण तथा अंडमान में अधिक होता है।

इसके **वृक्ष**-५० फीट तक ऊँचे, सघन, चिकने पत्तों से युक्त, झोपड़ाकार और सुहावने दिखाई पड़ते हैं तथा बारहो मास हरे भरे रहते हैं। **छाल**-धूसर एवं कुछ फटी हुई तथा काष्ठसार लाल रंग का होता है।

पत्ते-जामुन के पत्तों के समान ३॥ इञ्च लम्बे, १॥ इञ्च चौड़े, नोकदार एवं किनारों पर लहरदार तथा पौन इञ्च दण्ड से युक्त होते हैं। **फूल**-सफेद, लगभग एक इञ्च गोल चक्राकार होते हैं और उनसे अत्यन्त सुगन्धि आती है जो इनके सूखने पर भी चिरकाल तक बनी रहती है। **फल**-किञ्चित् लम्बाई लिये गोल, पौन इञ्च से १ इञ्च लम्बे, ऊपर से साफ, कच्ची अवस्था में हरे रङ्ग के और पकने पर पीले एवं कषाय मधुर हो जाते हैं जिनमें एक बड़ा बीज रहता है। ग्रीष्म से शरद तक यह फूलता है तथा बाद में फलता है।

इसकी छाल, फल तथा पुष्पों का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है।

रासायनिक संगठन—बीजों में सैपोनिन एवं एक तैल होता है। छाल में कषाय द्रव्य, रबर सदृश पदार्थ, मोम, रंजक द्रव्य, स्टार्च एवं राख होती है। फूलों में उड़नशील तैल होता है। फल में शर्करा होती है।

गुण और प्रयोग—इसकी छाल कषाय एवं पौष्टिक है। फल संग्राहक एवं स्नेहन हैं।

(१) दांत हिलते हों या अन्य दन्त विकारों में इसका बहुत उपयोग किया जाता है। इससे दतुअन करते हैं। छाल को या कच्चे फलों को चबाने को देते हैं। छाल के क्वाथ से गण्डूष भी कराते हैं। इससे अत्यधिक लालास्राव में भी लाभ होता है। बीजों से भी लाभ होता है।

(२) छाल का क्वाथ जीर्ण ज्वर में पौष्टिक रूप में देते हैं।

(३) सूखे फूलों का नस्य शिरःशूल में दिया जाता है।

(४) पुरानी आंव में पके फल खिलाते हैं।

अथ कदम्बः। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

कदम्बः प्रियको नीपो वृत्तपुष्पो हलिप्रियः। कदम्बो मधुरः शीतः कषायो लवणो गुरुः॥
सरो विष्टम्भकृद्रूक्षः कफस्तन्यानिलप्रदः॥ ३६॥

कदम्ब के संस्कृत नाम—कदम्ब, प्रियक, नीप, वृत्तपुष्प और हलिप्रिय ये सब हैं। **कदम्ब**-मधुर, कषाय तथा लवण रस युक्त, शीतल, गुरु, सारक, रूक्ष, वातविष्टम्भ (वायु का न खुलना) को उत्पन्न करने वाला, कफकारक, दुग्धवर्धक और वायुजनक होता है॥ ३६॥

नोट—अन्य निघंटुओं ने इसके कई भेदों का उल्लेख किया है। इनके विभिन्न पर्यायों में से धाराकदम्ब, धूलिकदंब, भूकदंब, राजकदंब, एवं नीप मुख्य हैं। इनमें से संभवतः कुछ एक-दूसरे के पर्याय हैं तथा कुछ भेद हैं। सुप्रसिद्ध कदंब वृक्ष तो राजकदंब मालूम पड़ता है जिसका विस्तार से नीचे वर्णन किया गया है। संभवतः इसे ही नीप कहा गया है। भूकदंब तो मुण्डी है जिसका पहले (पृ० ४१३) वर्णन आ चुका है। कदंब के ही वर्ग के कुछ उससे मिलते जुलते दो अन्य वृक्ष, ले०-*Mytragyna parvifolia* Korth. (मिट्रागाइना पार्विफोलिया), हिं०-करम, कैमा एवं ले०-*Adina cordifolia* Benth. & Hook. f. (एडिना कॉर्डिफोलिया), हिं०-जातकदम, हलदू, सं०-हरिद्रु, आसा०-केलिकदंब पाये जाते हैं जो संभवतः उपर्युक्त भेदों में से हैं। इनमें से प्रथम धारा कदंब एवं द्वितीय धूलिकदंब हो सकता है।

१६ कदम्ब:

हि०–कदम, कदम्ब । **बं०**–कदम । **म०**–कळम्ब । **गु०**–कदम्ब । **क०**–कड्व । **ते०**–कदंबमु । **ता०**–वेल्लइ कदम्ब । **ले०**–Anthocephalus cadamba Miq. (एंथोसिफेलस् कदम्ब)। Fam. Rubiaceae (रूबिएसी)। यह हिमालय के निचले भागों में नेपाल से पूर्व की तरफ वर्मा तक तथा दक्षिण में उत्तरी सरकार तथा पश्चिमी घाट में होता है। सभी स्थानों पर बागों में लगाया हुआ भी पाया जाता है।

कदम्ब का वृक्ष–४०–५० फीट ऊँचा, बड़ा और छायादार होता है। पत्ते–महुवे के पत्तों के समान लम्बाई युक्त अण्डाकार, ५–९ इञ्च लंबे होते हैं। इन पर सिरायें बहुत स्पष्ट होती हैं। पुष्प गुच्छ १–२ इञ्च के घेरे में, गोलाकार नारङ्गी रङ्ग के अनेक पुष्पगुच्छ होते हैं और उनसे विशेष कर रात्रि में सुगन्धि आती है। फल–कच्चे में हरे और पकने पर फीके नारङ्गी रङ्ग के, १–१॥ इञ्च व्यास में, गोल तथा मधुराम्ल होते हैं। चिकित्सा में फल तथा छाल का उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसकी छाल में राख १०% रहती है जिसमें चूना रहता है। इसमें का प्रधान तत्त्व सिन्कोटेनिक अम्ल (Cinchotannic acid) की तरह है तथा इसकी छाल का रंग भी सिंकोना में के लाल द्रव्य की तरह है। इसमें का क्षाराभ हृदयावसादक है।

गुण और प्रयोग—यह तिक्त पौष्टिक, शीतवीर्य, ज्वरघ्न, मूत्र स्तंभन (Antidiuretic), व्रणरोपण, शुक्रशोधन, वेदनास्थापन, एवं विषघ्न है।

इसका प्रयोग ज्वर, रक्तातिसार, मूत्रकृच्छ्र, मूत्रदोष एवं मुखपाक में किया जाता है।

(१) इसकी छाल का रस, जीरा एवं मिश्री के साथ बच्चों के ज्वर, वमन एवं अतिसार में दिया जाता है।

(२) नेत्राभिष्यंद में अन्य औषधियों के साथ इसका रस पलकों पर लगाते हैं।

(३) मुखपाक में छाल का या पत्तों का कषाय गण्डूष के लिए दिया जाता है।

(४) फल का रस ज्वरजन्य पिपासा में उपयोगी मानते हैं।

मात्रा—त्वक् ५–१० रत्ती।

अथ कुब्जकः (कूजा)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

कुब्जको भद्रतरुणी वृत्तपुष्पोऽतिकेसरः। महासहा कण्टकाढ्या नीलालिकुलसंकुला ॥३७॥
कुब्जकः सुरभिः स्वादुः कषायानुरसः सरः। त्रिदोषशमनो वृष्यः शीतहर्त्ता च स स्मृतः ॥

कूजा के संस्कृत नाम-कुब्जक, भद्रतरुणी, वृत्तपुष्प, अतिकेसर, महासहा, कण्टकाढ्या, नीलालिकुलसंकुला ये सब हैं। कूजा–सुगन्धयुक्त, आरम्भ में मधुर, अन्त में कषाय रसयुक्त, सारक, त्रिदोषनाशक, वृष्य (वीर्यवर्धक) और शीत को दूर करने वाला है ॥ ३७–३८ ॥

१७ कूजा

हि०–कूजा, कुजई । **बं०**–कूजा । **ले०**–*Rosa moschata Herrm* (रोजा मॉस्केटा)। Fam. Rosaceae (रोझेसी)।

यह मध्य तथा पश्चिम हिमालय के साधारण उष्ण प्रदेशों में मुरी से नेपाल तक २ हजार से ११ हजार फीट तक होता है।

गुलाब की जाति की यह इतस्ततः फैलने वाली विस्तृत लता होती है। काण्ड–५" तक मोटे तथा ५० फीट तक ऊँचे होते हैं। कांटे भूरे रंग के होते हैं। पत्ते–संयुक्त, २"–६" लंबे एवं

वृन्त पर कांटे होते हैं। पत्रक–संख्या में ५–९, अंडाकार, तीक्ष्णाग्र, दन्तुर, १–३" लंबे एवं अधर-पृष्ठ पर मृदुरोमश होते हैं। पुष्प–श्वेत, सुगंधि, १–१·५" व्यास में एवं इनके वृन्त पर कांटे नहीं होते। फल–नारंगी, रक्त या हलके लाल रंग के, गोल या अंडाकार एवं व्यास में ०·३–०·६" रहते हैं। पुष्पकाल अप्रिल से जून एवं फलोद्गम अक्तूबर से फरवरी तक।

गुण और प्रयोग—यह सारक, त्रिदोषघ्न तथा वृष्य है। इसका प्रयोग पैत्तिक विकार, दाह एवं नेत्र रोगों में किया जाता है।

अथ मल्लिका। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

मल्लिका मदयन्ती च शीतभीरुश्च भूपदी ॥ ३९ ॥
मल्लिकोष्णा लघुर्वृष्या तिक्ता च कटुका हरेत्।
वातपित्तास्यदृग्व्याधिकुष्ठारुचिविषव्रणान् ॥ ४० ॥

मल्लिका (बेला, मोतिया) के संस्कृत नाम– मल्लिका, मदयन्ती, शीतभीरु, भूपदी ये सब हैं। मल्लिका–उष्ण, लघु वृष्य, तिक्त तथा कटु रसयुक्त एवम्—वात, पित्त, मुख-नेत्र-सम्बन्धी रोग, कुष्ठ, अरुचि, विष तथा व्रण को दूर करने वाली है ॥ ३९–४० ॥

१८ मल्लिका

यह जस्मिनम् सम्बॅक् (Jasminum sambac) की ही एक जाति (Variety) है जिसका वर्णन बेला (वार्षिकी) के अन्तर्गत (पृष्ठ ४९०) किया जा चुका है। गुण की दृष्टि से यह उससे कुछ समान ही है किन्तु इसे भा० प्र० उष्णवीर्य एवं वार्षिकी को शीतवीर्य मानते हैं।

अथ माधवी (वासन्ती)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

माधवी स्यात्तु वासन्ती पुण्ड्रको मण्डकोऽपि च। अतिमुक्तो विमुक्तश्च कामुको भ्रमरोत्सवः ॥
माधवी मधुरा शीता लघ्वी दोषत्रयापहा ॥ ४१ ॥

माधवी के संस्कृत नाम—माधवी, वासन्ती, पुण्ड्रक, मण्डक, अतिमुक्त, विमुक्त, कामुक, भ्रमरोत्सव ये सब हैं। माधवी–मधुर रसयुक्त, शीतल, लघु तथा त्रिदोषनाशक है ॥ ४१ ॥

१९ माधवी

हि०–माधवी । **बं०**–माधवी लता । **म०**–मधु मालती, हलदवेल । **गु०**–रगतपीती, माधवी लता । **ता०**–अडिगम । **ते०**–माधवतीगे । **अं०**– Clustered Hiptage (क्लस्टर्ड हिप्टेज)। **ले०**–*Hiptage madablota Gaertn.* (हिप्टेज मैडेब्लोटा)। Fam. Malpighiaceae (मॅल्पिघिएसी)।

यह दक्षिण, सिवालिक, कुमाऊ, पूर्वीबंगाल, आसाम, नेपाल तथा अंडमान में होती है एवं बागों में भी यह लगाई जाती है।

इसकी लता–बहुत विस्तार में फैलने वाली होती है और निकटवर्ती वृक्ष पर चढ़ कर उसको ढक देती है। इसका स्तम्भ–मजबूत होता है और शाखाएं मोटी होती हैं।

पत्ते–अण्डाकार, लट्वाकार–आयताकार या आयताकार–प्रासवत्, लम्बाग्र, अभिमुख, चिकने चमकीले एवं ४–७" लंबे तथा २·५" चौड़े होते हैं। पुष्प–आकर्षक, श्वेत तथा सुगंधि रहते हैं। आभ्यंतर दल झालरदार रहते हैं जिनमें से एक दल पीला रहता है। प्रत्येक स्त्री केशर में एक
32 बड़ा और दो छोटे पक्ष (wing) होते हैं। इसकी छाल तथा पत्तों का उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसमें हिप्टेजिन (Hiptagin) नामक एक ग्लूकोसाइड पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—इसके पत्ते कुष्ठघ्न हैं। त्वचा के रोगों में पत्तों को पीसकर लगाया जाता है। खुजली (Scabies) में यह लाभदायक है।

इसकी छाल कड़वी तथा सुगंधि है तथा इसका जीर्ण आमवात तथा श्वास में उपयोग किया जाता है।

कमर पतली करने के लिए जड़ को मट्ठे के साथ पिलाना चाहिये। (चक्रदत्त)

अथ केतकः सुवर्णकेतकी च (केवड़ा-पीला केवड़ा) तयोर्नामानि गुणाँश्चाह

केतकः सूचिकापुष्पो जम्बुकः क्रकचच्छदः। सुवर्णकेतकी त्वन्या लघुपुष्पा सुगन्धिनी॥
केतकः कटुकः स्वादुर्लघुस्तिक्तः कफापहः। उष्णा तिक्तरसा ज्ञेया चक्षुष्या हेमकेतकी॥४३॥

केवड़ा के संस्कृत नाम—केतक, सूचिकापुष्प, जम्बुक, क्रकचच्छद, ये सब हैं। पीला केवड़ा के संस्कृत नाम—सुवर्णकेतकी, लघुपुष्पा, सुगन्धिनी ये सब हैं। केवड़ा-कटु, मधुर तथा तिक्त रस युक्त, लघु, तथा कफनाशक है। पीला केवड़ा-उष्ण, तिक्तरस युक्त एवम् नेत्रों के लिये हितकर होता है॥ ४२-४३॥

२० केवड़ा

हि०—केवड़ा। **बं०**-केया। **म०**—केवडा। **गु०**—केवड़ो। **ते०**-मुगलीपुवु। **ता०**-तालई। **क०**-केदगे। **फा०**-गुलकेरी। **अ०**-कादी। **अं०**-Screw Pine (स्क्रू पाइन)। **लै०**-*Pandanus odoratissimus Roxb.* (पेन्डेनस् ओडोरेटिसिमस्)। Fam. Pandanaceae (पेन्डेनेसी)।

भारतीय प्रायद्वीप के दोनों तरफ समुद्री किनारों तथा अण्डमान में यह पाया जाता है। सभी स्थानों में बागों में लगाया हुआ भी मिलता है।

इसका गुल्म या छोटा वृक्ष करीब १०-१२ फीट ऊँचा होता है। काण्ड से वायवीयमूल निकल कर उसे सहारा देते हुए जमीन में धुसे रहते हैं। पत्ते-सघन, चमकीले, हरे, तलवार की तरह, ३-७ फीट तक लंबे, पतले तथा किनारों एवं मध्यशिरा पर तीक्ष्ण काँटों से युक्त होते हैं। पुष्प-पत्रावृत अवृन्त-काण्डज व्यूह (Spadix) में आते हैं जिनके पत्रकोश (Spathe) सुगन्धित तथा श्वेतवर्ण के होते हैं। पुं पुष्प एवं स्त्री पुष्प भिन्न-भिन्न वृक्षों पर होते हैं। पुं पुष्प व्यूह में कई गुच्छ, ५-१०×२.५-३.८ से. मी. बड़े रहते हैं किन्तु स्त्रीपुष्प व्यूह में एक ही गुच्छ, ५ से. मी. व्यास का रहता है। फल-गोल या आयताकार, १५-२५ से. मी. लंबा चौड़ा, पीत या रक्तवर्ण का होता है। वर्षा ऋतु में पुष्प एवं शरद् ऋतु में फल आते हैं।

भावप्रकाशकार इसके दो भेद मानते हैं। (१) केतक तथा (२) सुवर्ण केतकी। सुवर्णकेतकी के पुष्प कुछ छोटे, स्वर्ण वर्ण के तथा अधिक सुगन्धि वाले माने जाते हैं। आधुनिक राक्सबर्ग जैसे वैज्ञानिकों का मत है कि सुगन्ध पुं पुष्प में अधिक होती है।

पेन्डेनस की ऐसी भी कुछ जातियाँ (Species) पाई जाती हैं जिनके पत्तों में काँटे नहीं होते। इसके पुष्प एवं पत्तों का उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसके पुष्पों में ०.१-०.३% सुगन्धित तैल होता है।

गुण और प्रयोग—यह सौमनस्यजनन, हृद्य, मस्तिष्क को बल देने वाला, दुर्गन्ध हर एवं कफनाशक है।

(१) इसका अर्क ज्वर में देने से पसीना आकर ताजगी मालूम पड़ती है।

(२) इसके तेल की मालिश से शिरःशूल, कटिशूल एवं आमवातादि में लाभ होता है।

(३) चर्मरोगों में पत्तों का उपयोग किया जाता है।

(४) गुल्म में इसके क्षार का प्रयोग किया जाता है। (सुश्रुत)

मात्रा—अर्क ४-६ तोला; शर्बत २-४ तो०।

अथ किङ्किरातः (गौडादौ प्रसिद्धः) तस्य नामानि गुणाँश्चाह

किङ्किरातो हेमगौरः पीतकः पीतभद्रकः॥ ४४॥
किङ्किरातो हिमस्तिक्तः कषायश्च हरेदसौ। कफपित्तपिपासाऽस्रदाहशोषवमिक्रिमीन्॥४५॥

किङ्किरात (यह गौड़ आदि देशों में प्रसिद्ध है) के संस्कृत नाम—किङ्किरात, हेमगौर, पीतक, पीतभद्रक ये सब हैं। किङ्किरात-तिक्त तथा कषाय रस युक्त, शीतल तथा कफ, पित्त, प्यास, रक्तविकार, दाह, शोष, वमन तथा क्रिमि को दूर करता है॥ ४४-४५॥

२१ किंकिरात

आगे वटादिवर्ग में बब्बूल (किंकिरात) का वर्णन आया है। या तो इसके फूलों के महत्त्व को बतलाने के लिए इसका यहाँ स्वतंत्र वर्णन किया गया हो या यह बब्बूल का कोई भेद हो। पीले पुष्प की कटसरैया को भी कुछ विद्वान् किंकिरात मानते हैं।

दक्षिण की तरफ एक बब्बूल की जाति का छोटा वृक्ष म०-देवबाभूळ, लै०-*Acacia latromun Willd.* (अकेसिया लेट्रोमन); Fam. Leguminosae (लेग्युमिनोसी) पाया जाता है। यदि बब्बूल से भिन्न किंकिरात हो तो इसके होने की संभावना है।

यह छोटा सा वृक्ष होता है जिसका ऊपर का भाग पुराने वृक्षों में छत्र की तरह फैल जाता है। इसमें पुष्प सफेद आते हैं जो बाद में पीले हो जाते हैं।

पागल कुत्ते के काटने पर इसकी ताजी जड़, ४ तोले की मात्रा में ठंडे जल में पीस कर ७ दिन पिलाते हैं।

अथ कर्णिकारः ("पांगारा" इति महाराष्ट्रे प्रसिद्धः) तस्य नामानि गुणाँश्चाह

कर्णिकारः परिव्याधः पादपोत्पल इत्यपि॥
कर्णिकारः कटुस्तिक्तस्तुवरो शोधनो लघुः। रञ्जनः सुखदः शोथश्लेष्मास्रव्रणकुष्ठजित्॥४६॥

कर्णिकार (यह "पांगारा" इस नाम से महाराष्ट्र में प्रसिद्ध है) के संस्कृत नाम-कर्णिकार, परिव्याध, पादपोत्पल ये सब हैं। कर्णिकार-कटु, तिक्त तथा कषाय रस युक्त, कोष्ठशोधक, लघु, रंग देने वाला, सुख पहुँचाने वाला, एवम्—शोथ, कफ, रक्तविकार, व्रण और कुष्ठ को दूर करने वाला है॥ ४६॥

२२ कर्णिकार

कर्णिकार क्या है इस संबन्ध में कुछ मतभेद हैं। हरीतक्यादि वर्ग में (पृ० ६८) आरग्वध के पर्याय में कर्णिकार शब्द आया है। जैसे बब्बूल का पर्याय किंकिरात होते हुए भी उसके पुष्पों के महत्त्व की दृष्टि से उसका दो स्थानों पर स्वतंत्र वर्णन किया है वैसे ही संभवतः इसका यहां फिर से वर्णन किया गया है। ध० नि० ने कर्णिकार को आरग्वध भेद माना है। 'पांगारा', इति महाराष्ट्रे प्रसिद्धः' यह जो प्रारंभ में दिया हुआ है वह उचित नहीं मालूम पड़ता। मराठी में पांगारा यह पारिभद्र, Erythrina indica (एरिथ्रिना इण्डिका) का नाम है जिसका पहले वर्णन (पृ० ३३४) किया जा चुका है।

कुछ विद्वानों ने उलटकंबल, Abroma augusta (एब्रोमा ऑगस्टा) को कर्णिकार माना है। कुछ ने बं०-कनकचम्पा, Pterospermum acerifolium (टेरोस्पर्मम् एसेरिफोलियम्) को कर्णिकार माना है किन्तु वह तो मुचकुंद है। मुचकुंद के लिये गलती से लोगों ने Pterospermum suberifolium (टे० सुबेरिफोलियम्) नाम लिखा है।[1] मुचकुंद का आगे स्वतंत्र वर्णन आया हुआ है।

अथाशोकः । तस्य नामानि गुणाँश्चाह

अशोको हेमपुष्पश्च वञ्जुलस्ताम्रपल्लवः। कङ्केलिः पिण्डपुष्पश्च गन्धपुष्पो नटस्तथा ॥४७॥
अशोकः शीतलस्तिक्तो ग्राही वर्ण्यः कषायकः। दोषापचीतृषादाहकृमिशोषविषास्रजित्[2] ॥

अशोक के संस्कृत नाम—अशोक, हेमपुष्प, वञ्जुल, ताम्रपल्लव, कङ्केलि, पिण्डपुष्प, गन्धपुष्प, नट ये सब हैं। अशोक-तिक्त तथा कषाय रस युक्त, शीतल, ग्राही, शरीर के वर्ण को उत्तम करने वाला एवम् वातादिदोष, अपची, तृषा, दाह, क्रिमि, शोष, विष और रक्तविकार को दूर करने वाला है॥ ४७-४८ ॥

नोट—यद्यपि अशोक वृक्ष, Saraca indica Linn. (साराका इण्डिका) है तथापि कहीं-कहीं Polyalthia longifolia (पॉलिएल्थिया लौंगिफोलिया) को गलती से लोग अशोक मानते हैं।

असली अशोक का उपयोग रक्तप्रदर आदि गर्भाशय के विकारों में बहुत प्रचलित है किन्तु इस गुण का उल्लेख चरक, सुश्रुत, भा० प्र०, रा० नि०, ध० नि०, में देखने में नहीं आता। सुश्रुत में लोध्रादिगण में इसका पाठ है जिसमें ये द्रव्य योनिदोषों में उपयोगी बतलाये गये हैं। चरक में वेदनास्थापनगण एवं कषायस्कंध में उल्लेख है। वृन्द ने प्रथम रक्तप्रदर में इसका उपयोग किया है।

यहाँ प्रथम असली अशोक का तथा बाद में दूसरे अशोक का संक्षेप में वर्णन किया है।

२३ अशोक (१), असली अशोक

हिं०-अशोक। बं०-असोक। म०, गु०-अशोक। क०-अशोक। ता०-अचोकम्। ले०-*Saraca indica Linn.* (सराका इन्डिका)। Fam. Leguminosae (लेग्युमिनोसी)।

यह मध्य और पूर्वी हिमालय, पूर्व बंगाल और दक्षिण भारत में पाया जाता है तथा अनेक प्रकार की वाटिकाओं में भी देखने में आता है। बङ्गाल में इसका अधिक आदर है और प्रायः वहां के सब वाटिकाओं में देखा जाता है।

---

१. श्री ठा० बलवन्तसिंह—बिहार की वनस्पतियां, पृ. १७.
२. शोषापची……कृमिशोथविषास्रजित्। इति पाठा०।

इसका वृक्ष—बड़ा, सीधा और झोपड़ाकार होता है तथा यह बारहो मास हरा भरा दिखाई पड़ता है। लकड़ी—हलकी, किंचित् लाली युक्त भूरे रंग की होती है। पत्ते—सम-पक्षवत् एवं पत्रक—पतली २ टहनियों पर३ से ६ जोड़े रहते हैं और वे ३ से ९ इञ्च तक लम्बे, आयताकार या आयताकार प्रासवत्, चिकने, तीक्ष्ण या लम्बाग्र एवं चमकीले होते हैं। नई २ टहनियाँ नीचे की ओर झुकी हुई रहती हैं और उनके पत्ते अत्यन्त कोमल, एक दूसरे से सटे हुए, तांबे के रंग के लाल मनोहर दिखाई पड़ते हैं। इसीलिए इसको ताम्रपल्लव कहते हैं। वसन्त ऋतु में इस पर फूल तथा शरद् में फल आते हैं। पुष्प—सघन गुच्छों में आते हैं और वे नारंगी रंग से लेकर अत्यन्त रक्तवर्ण तक परम सुहावने होते हैं। इसमें कोण पुष्पक एवं बाह्यदल रंगीन होते हैं। बाह्यदल ४ तथा आयताकार होते हैं। आभ्यंतरदल नहीं रहते। पुंकेशर ७-८, करीब १ इञ्च लम्बे एवं गहरे लाल रंग के होते हैं। फलियां—६ से १० इञ्च तक लम्बी, चिपटी, १ से १॥ इञ्च चौड़ी तथा दोनों सिरों पर कुछ-कुछ टेढ़ी होती हैं। प्रत्येक फली में ४ से ८ तक बीज रहते हैं। बीज—१-१॥ इञ्च लम्बे एवं कुछ चिपटे होते हैं।

इसकी छाल—का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है। यह पतली, ६ मि. मी. मोटी, बाहर से धूसराभ भूरे रंग की, कुछ चिकनी, अंदर से हलके भूरे रंग की, सूखने पर रक्ताभ भूरे रंग की, लंबाई में झुर्रीदार कठोर एवं रेशेदार होती है। इसका स्वाद कड़वा होता है।

रासायनिक संगठन—इसकी छाल में कषाय द्रव्य (Tannins), कैटेचोल (Catechol) एवं लौहयुक्त सेन्द्रीय द्रव्य पाये जाते हैं। राख की मात्रा १०% रहती है।

गुण और प्रयोग—यह शीत, कषाय, तिक्त, वेदनास्थापन, ग्राही एवं रक्तसंग्राहक है। इससे गर्भाशय की शिथिलता दूर होती है तथा उसकी अन्तःकला एवं अण्डाशय (Ovary) पर कुछ उत्तेजक प्रभाव पड़ता है।

इसका उपयोग रक्तप्रदर-कष्टार्तव, श्वेतप्रदर, रक्तार्श, रक्तातिसार एवं गर्भाशय के विकारों में किया जाता है। अर्गट की तरह सभी प्रकार के रक्तप्रदर में इसका प्रयोग किया जा सकता है।

(१) रक्तप्रदर में इसकी छाल का क्षीरपाक करके सुबह पिलाते हैं। (चक्रदत्त)

मात्रा—१ से २ तोला (क्षीरपाक करके)।

२४ अशोक (२)

हिं०-अशोक, असोक, देवदारु। बं०-देव दारु। म०-अशोक। ते०-असोकमु। क०-पुत्रजीवी। ले०-*Polyalthia longifolia Benth. & Hook. f.* (पॉलीएल्थिया लौंगीफोलिया)। Fam. Annonaceae (अन्नोनेसी)।

यह प्रायः सब प्रान्तों में पाया जाता है, विशेष कर सड़कों के किनारे देखने में आता है। इसे वाटिकाओं में भी लगाते हैं।

इसका वृक्ष—सीधा खड़ा होता है। शाखाएँ—सघन नहीं होतीं। पतली-पतली टहनियों पर पत्ते विषमवर्ती रहते हैं। छाल—पतली और लकड़ी—किंचित् पीलापन युक्त सफेद होती है। पत्ते—६ से ९ इञ्च तक लंबे, किंचित् अण्डाकार, भालाकार, लहरदार धारवाले और चमकीले होते हैं। फूल—हरापन युक्त पीले रंग के अथवा पीलापन युक्त सफेद रंग के आते हैं। फल—जामुन के समान गोल होते हैं। कच्ची अवस्था में नीले रंग के और पकने पर लाल हो जाते हैं।

गुण और प्रयोग—गलती से इसकी छाल का कहीं-कहीं असली अशोक के स्थान पर प्रयोग किया जाता है। यह ज्वरनाशक होती है।

अथाम्लाटनः (बाणपुष्प इति गौडादौ प्रसिद्धः)
तस्य नामानि गुणाँश्चाह

अम्लातोऽम्लाटनः प्रोक्तस्तथाऽम्लातक इत्यपि ॥ ४९ ॥
कुरण्टको वर्णपुष्पः स एवोक्तो महासहः। अम्लाटनः कषायोष्णः स्निग्धः स्वादुश्च तिक्तकः ॥

अम्लाटन (यह "बाणपुष्प" के नाम से गौड़ आदि देशों में प्रसिद्ध है) के संस्कृत नाम—अम्लात, अम्लाटन, अम्लातक, कुरण्टक, वर्णपुष्प, महासह ये सब हैं। अम्लाटन-कषाय तथा तिक्त-रस युक्त, उष्ण, स्निग्ध एवम् स्वादिष्ट है ॥ ४९-५० ॥

२५ बाणपुष्प

इसके संस्कृत पर्याय-अम्लात, अम्लाटन, अम्लातक, कुरण्टक आदि कटसरैया के बोधक हैं। इसलिये बाणपुष्प, कटसरैये का ही कोई भेद मालूम पड़ता है ॥ २५ ॥

अथ सैरेयकः (कटसरैया) तस्य नामानि भेदान् गुणाँश्चाह

सैरेयकः श्वेतपुष्पः सैरेयः कटसारिका। सहाचरः सहचरः स च भिन्द्यपि कथ्यते ॥ ५१ ॥
कुरण्टकोऽत्रपीते स्याद्रक्त कुरबकः स्मृतः। नीले बाणा द्वयोरुक्तो दासी चार्त्तगलश्च सः ॥५२॥
सैरेयः कुष्ठवातास्रकफकण्डूविषापहः। तिक्तोष्णो मधुरोऽनम्लः[1] सुस्निग्धः केशरञ्जनः॥५३॥

सफेद फूलवाली कटसरैया के संस्कृत नाम—सैरेयक, श्वेतपुष्पसैरेयक, सैरेय, कटसारिका, सहाचर, सहचर, भिन्दी ये सब हैं। पीले फूल वाली कटसरैया का संस्कृत नाम—कुरण्टक है। लाल फूलवाली का संस्कृत नाम—कुरबक है। नीले फूलवाली कटसरैया के संस्कृत नाम—बाणा, बाण, (बाण शब्द पुल्लिङ्ग तथा स्त्रीलिङ्ग दोनों में है), दासी, आर्तगल ये सब हैं। कटसरैया-तिक्त, मधुर तथा किञ्चित् अम्लरस युक्त, उष्ण, अतिस्निग्ध, केशों को रंगनेवाली होती है तथा कुष्ठ, वातरक्त, कफ, खुजली एवं विष का नाश करती है।

नोट—सैरेयक के पुष्पों के आधार पर विभिन्न भेद किये हुए हैं। ये सब Barleria (बार्लेरिया) की विभिन्न जातियाँ हैं जिनके साधारण स्वरूप में साम्यता रहती है। यहाँ वानस्पतिक वर्णन केवल पीत का किया गया है। गुणकर्म भी सब के प्रायः समान ही होने से एक साथ ही सबका वर्णन किया गया है। निम्न भेदों का उल्लेख निघण्टुओं ने किया है।

(१) श्वेत पुष्प—सहचर, Barleria cristata Linn. (बार्लेरिया क्रिस्टेटा)।
(२) पीत „ —कुरंटक, „ prionitis „ („ प्रियोनाइटिस्)।
(३) रक्त „ —कुरबक, „ cristata „ („ क्रिस्टेटा)।
(४) नील „ —दासी, आर्तगल, बाण, B. strigosa Willd. („ स्ट्राइगोसा)।

B. cristata (बा. क्रिस्टेटा) में स्थानभेद से पुष्प वर्ण तथा पत्रादि में पर्याप्त भिन्नता पाई जाती है। इसमें श्वेत तथा गुलाबी दोनों प्रकार के फूल पाये जाते हैं। हिमालय पर होने वाले पौधों में जामुनी नील वर्ण के पुष्प होते हैं।

बार्लेरिया की अन्य अनेक जातियां भी पाई जाती हैं जिन्हें बागों में शोभा के लिए भी लगाते हैं।

१. दन्त्यः इति पाठा०।

२६ कटसरैया

हिं०—कटसरैया, पियाबांसा। बं०—कांटाजाती। म०—कोरांटी। गु०—पीलो कांटारीयो। ले०—*Barleria prionitis Linn.* (बार्लेरिया प्रियोनाइटिस्)। Fam. Acanthaceae (अॅकेन्थेसी)।

कटसरैया सभी उष्ण प्रान्तों में पाई जाती है तथा बागों में भी लगाई जाती है।

इसका क्षुप-झाड़दार, कांटेदार तथा २ से ५ फीट तक ऊँचा होता है। पत्ते-१·५ से ४ इञ्च लंबे, कण्टकित अग्रयुक्त, अंडाकार (शाखाओं में आयताकार-प्रासवत्), विपरीत तथा अखण्डतट वाले होते हैं। पुष्प-पीले तथा उनके दलाग्र भी कंटकित होते हैं। शीत ऋतु में ये आते हैं। डोडी-१ इञ्च लंबी होती है जिनमें दो चिपटे बीज पाये जाते हैं।

कटसरैया के पत्र एवं मूल का चिकित्सा में उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—पीत सैरेयक में एक क्षाराभ पाया गया है तथा इसमें पोटेशियम् (Potassium) काफी रहता है।

गुण और प्रयोग—सैरेयक, तिक्त, अम्ल, उष्ण, कफनिःसारक, कुछ स्वेदजनक, शोथहर, व्रण-रोपण, विषघ्न एवं केशरंजक है।

इसका उपयोग कास, शोथ, दंतशोथ, चर्मरोग एवं चूहे के विष में किया जाता है।

(१) बच्चों के कफयुक्त खांसी में इसके पत्तों का स्वरस मधु या शर्करा मिलाकर देते हैं। शुष्क कास में सूखी हुई छाल का चूर्ण चटाते हैं।

(२) जलशोथ (Anasarca) में मूल की ताजी छाल या पंचांग की राख खांड के साथ देते हैं।

(३) चूहे के विष में मूल को मधु तथा चावल की धोवनके साथ देते हैं। (वाग्भट उ० ३८)।

(४) दांत हिलते हों तो नील सैरेयक के पत्तों के कषाय से गण्डूष कराते हैं (चक्र); दंत-शूल में नमक के साथ पत्तों का लेप मसूड़ों पर करते हैं।

(५) ग्रन्थि, शोथ आदि में मूल का लेप, व्रण पर पंचांग सिद्ध तैल एवं बरसात में पैर न फटे इसलिये तलवे पर पत्तों का लेप किया जाता है। कुष्ठादि चर्मरोगों में इसका लेप एवं आन्तरिक प्रयोग किया जाता है।

मात्रा—स्वरस ½-१ तोला; क्वाथ ५-१० तो०।

अथ कुन्दम्। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

कुन्दं तु कथितं माध्यं सदापुष्पश्च तत्स्मृतम्। कुन्दं शीतं लघु श्लेष्मशिरोरुग्विषपित्तहृत् ॥

कुन्द के संस्कृत नाम—कुन्द, माध्य, सदापुष्प ये सब हैं। कुन्द-शीतल, लघु तथा कफ, शिरोरोग, विष और पित्त को दूर करने वाला है ॥ ५४ ॥

२७ कुन्द

हिं०—कुन्द, कुन्दे का वृक्ष, कुन्द फूल। बं०—कुन्द। म०—कस्तूरी मोगरा। गु०—मोगरो। ता०—मल्लिगै। ते०—कुंदमु। ले०—*Jasminum pubescens Willd.* (जसमीनम् प्युबेसेन्स्)। Fam. Oleaceae (ओलिएसी)।

यह सब स्थानों पर होता है। बागों में शोभा के लिये भी लगाते हैं।

इसका गुल्म-बड़ा, रोमश, लतासदृश आरोहणशील होता है। पत्ते-विपरीत, ३·८-७×१·६-३.८ से० मी०, अण्डाकार एवं लम्बाग्र तथा वृन्त ६-१० मि. मी. घन रोमश होता है। पुष्प-बेला के समान या उससे कुछ लंबे, गुच्छों में, श्वेत, सुगन्धित एवं दल पत्र आयताकार तथा भालाकार होते हैं। यद्यपि यह वर्ष भर फूलता है किन्तु शीत ऋतु में बहुत अधिक फूलता है।

इसके पुष्प, पत्र एवं मूल का प्रयोग किया जाता है।

गुण और प्रयोग—इसके पत्तों का पुल्टिस बनाकर पुराने व्रणों पर बाँधने से व्रणरोपण होने लगता है। इसकी जड़ सर्पविष में उपयोगी बतलाई गई है। पुष्प एवं पिप्पली को तण्डुलांबु के साथ श्वास में पिलाने से लाभ होता है। (सु. उ. अ. ५१-३७)।

अथ मुचुकुन्दः। (नाम्नैव प्रसिद्धः)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

मुचुकुन्दः क्षत्रवृक्षश्चित्रकः प्रतिविष्णुकः। मुचुकुन्दः शिरःपीडापित्तास्रविषनाशनः ॥ ५५ ॥

मुचुकुन्द (यह इसी नाम से प्रसिद्ध है) के संस्कृत नाम-मुचुकुन्द, क्षत्रवृक्ष, चित्रक, प्रतिविष्णुक, ये सब हैं। मुचुकुन्द-शिर की पीडा, पित्त, रक्तविकार एवम् विष का नाशक है ॥ ५५ ॥

२८ मुचकुन्द

हिं०, म०, बं०, गु०—मुचकुन्द। ले०-*Pterospermum acerifolium Willd.*[1] (टेरोस्पर्मम् एसेरिफोलियम्)। Fam. Sterculiaceae (स्टर्क्यूलिएसी)।

यह हिमालय में ४००० फीट तक तथा बंगाल, चटगांव, खासिया पहाड़, मणीपुर में तथा दक्षिण में विशेष रूप से बम्बई प्रान्त में लगाया हुआ मिलता है।

इसका वृक्ष-ऊँचा तथा सुन्दर होता है। पत्ते-६-१५ इञ्च बड़े, खण्डित, अखण्ड या दन्तुर, हृद्वत, शिराविन्यास पाणिवत तथा अधर तल पर श्वेत मृदुरोमश होते हैं। पुष्प-बड़े, श्वेत तथा सुगंधित होते हैं। आभ्यंतर दल ३½-४½ इञ्च लम्बे होते हैं। फल-लंब गोल तथा कड़े होते हैं।

इसके पुष्पों का चिकित्सा में उपयोग किया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह स्वच्य, वेदनाहर एवं रक्तस्तंभक है।

(१) इसके फूल कांजी में पीसकर शिरःशूल में बांधने से लाभ होता है। हिमांशु तैल में यह डाला जाता है।

(२) पत्राधः रोम रक्तस्तंभक माने जाते हैं।

(३) रक्तार्श में इसका लेप एवं घृत शर्करा के साथ बनाया हलुवा उपयोगी है।

(४) चेचक के व्रणों पर इसके पुष्प एवं छाल को जलाकर कबीले के साथ मिलाकर लगाते हैं।

---

१. "ग्रन्थों में भूल से एक दूसरी जाति P. suberifolium Lam. को मुचकुंद नाम दिया हुआ मिलता है।" —ठा० बलवन्तसिंह, बिहार की वनस्पतियां, पृष्ठ १७। कुछ विद्वानों ने P. acerifolium को कर्णिकार माना है। कर्णिकार संभवतः आरग्वध है। चरक में मुचकुंद का उल्लेख नहीं मिलता। सुश्रुत में विद्रधि अध्याय (चि० १८-१०) में है।

अथ तिलकः (तिलाभपुष्पस्तिलकनाम्नैव प्रसिद्धः)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

तिलकः क्षुरकः श्रीमान्पुरुषश्छिन्नपुष्पकः ॥
तिलकः कटुकः पाके रसे चोष्णो रसायनः। कफकुष्ठक्रिमीन्वस्तिमुखदन्तगदान्हरेत् ॥५६॥

तिलक (इसके फूल तिल के फूल के सदृश होते हैं अतः यह इसी नाम से प्रसिद्ध है) के संस्कृत नाम—तिलक, क्षुरक, श्रीमान्, पुरुष, छिन्नपुष्पक ये सब हैं। तिलक-पाक तथा रस में कटु, उष्ण, रसायन एवम्-कफ, कुष्ठ, क्रिमि, वस्ति-मुख-दन्त-सम्बन्धी रोगों को दूर करने वाला है ॥ ५६ ॥

२९ तिलक[1]

हिं०-तिलक, तिलिया, तिलका। संथाल-हुण्डू। ले०-*Wendlandia exerta DC.* (वेन्डलैन्डिया एक्जर्टा)। Fam. Rubiaceae (रूबिएसी)।

यह हिमालय के उष्ण प्रदेशीय शुष्क जंगलों में चेनाब से नेपाल तक, ४००० फीट की ऊंचाई तक एवं उड़ीसा, मध्यभारत कोंकण एवं उत्तरी डेक्कन में पाया जाता है।

यह खुली हुई और छोटी-छोटी वनस्पतियों से रहित भूमि जैसे नालों के ढालों पर अधिक होते हैं।

इसके वृक्ष-सुन्दर, झुके हुए तथा छोटे होते हैं। पत्ते-चर्मवत, आयताकार या लट्वाकार-प्रासवत, लम्बाग्र तथा ४-९×१-३·५ इञ्च बड़े होते हैं। शिराएँ १०-१० जोड़ी तथा उपपत्र चौड़े, प्रायः लट्वाकार एवं अग्र पर टेढ़े होते हैं। पुष्प-⅙ इञ्च व्यास में, सुगन्धित एवं श्वेत होते हैं। आभ्यंतरदल मुड़े हुए एवं उनके स्वतंत्र खण्ड आभ्यंतरनाल से बड़े होते हैं। पुष्पकाल—मार्च, अप्रैल। उस समय वृक्ष का शिखर सफेद चांदनी से ढँका मालूम पड़ता है। फल-1/10 इञ्च व्यास के, श्वेत एवं मृदुरोमावृत होते हैं। छाल-रक्ताभ होती है।

गुण और प्रयोग—इसकी छाल रेचक तथा चबाने से लालास्राव वर्धक होती है।

अथ बन्धुजीवः (गोजुनिया)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

बन्धूको बन्धुजीवश्च रक्तो माध्याह्निकोऽपि च।
बन्धूकः कफकृद् ग्राही वातपित्तहरो लघुः ॥ ५७ ॥

दुपहरिया के संस्कृत नाम – बन्धूक, बन्धुजीव, रक्त, माध्याह्निक ये सब हैं। दुपहरिया-कफकारक, ग्राही, वात-पित्तनाशक और लघु है ॥ ५७ ॥

---

१. नोट—निघण्टुओं में वर्णित इस तिलक वृक्ष के बारे में अभी तक किसी को पता नहीं था कि यह वृक्ष कैसा होता है तथा इसका लेटिन नाम क्या है। सर्वप्रथम श्री ठा० बलवन्तसिंह जी ने अपनी पुस्तक 'बिहार की वनस्पतियां' (पृ० ६८) में अनेक प्रमाणों के आधार पर तिलक को Wendlandia exerta DC. (वेण्डलैण्डिया एक्जर्टा) सिद्ध किया है तथा इसका वैज्ञानिक वर्णन किया है। इसके जंगलों में प्रचलित स्थानिक नाम, शास्त्रीय परिचयात्मक पर्याय तथा प्रचलित गुणकर्म सभी आधारों से यह तिलक सिद्ध होता है।

३० दुपहरिया

हिं०-गुल दुपहरिया। बं०-बान्धुली। म०-तांबडी दुपारी। गु०-बपोरियो। ता०-नागपू। पं०-गुल दुपहरिया। ले०-*Pentapetes phoenicea Linn.* (पेन्टापेटिस् फीनीसिया)। Fam. Sterculiaceae (स्टर्क्युलिएसी)।

यह उत्तर पश्चिम भारत, बंगाल तथा गुजरात में पाया जाता है। सभी भागों में बागों में लगाया भी जाता है। यह प्रायः जलाशयों में तथा चावल के खेतों में होता है।

इसका **क्षुप**-२-५ फीट ऊँचा होता है। **पत्ते**-३-५ इञ्च लम्बे, प्रासवत्, तीक्ष्ण दन्तुर अथवा गोल-अभ्यारावत् तथा केवल एक शिरावाले होते हैं। **पुष्प**-लाल रंग के, बड़े तथा दण्ड पर दो-दो एक साथ नीचे की तरफ लटके रहते हैं। दोपहर के समय खिलने से इसे गुल दुपहरिया कहते हैं। फल-कुछ लंब गोल, खुरदरा तथा पांच विभागों से युक्त, जिनमें प्रत्येक में ८-१२ बीज रहते हैं। पुष्प काल—जुलाई में बीज बोने से सितम्बर, अक्तूबर तक फूलता है।

इसके मूल, पुष्प तथा फल का उपयोग किया जाता है।

वक्तव्य—यद्यपि राजनिघंटु ने इसके कृष्ण, श्वेत, पीत तथा रक्त चार भेद लिखे हैं तथापि केवल श्वेत भेद पाया जाता है। चरक दशेमानि में इसका उल्लेख नहीं है। विषचिकित्सा (चि. अ. २५-१७९) में इसके मूल से नस्य के लिए लिखा है। सुश्रुत इसकी जड़ ऊर्ध्वभाग हर गण में उल्लेख करते हैं। कुछ विद्वानों ने Ixora (आइक्जोरा) की जाति तथा कुछ ने Hibiscus (हिबिस्कस्) की जाति को बन्धूक लिखा है।

गुण और प्रयोग—यह विषघ्न एवं स्नेहन है। फल में स्नेहन धर्म है। मूल ऊर्ध्वभाग दोषहर है।

अथ जपापुष्पम् (गुड़हर, अढ़ौल)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

ओड्रपुष्पं जपा चाथ त्रिसन्ध्या साऽरुणा सिता।
जपा संग्राहिणी केश्या त्रिसन्ध्या कफवातजित् ॥ ५८ ॥

अढ़ौल के नाम—ओड्रपुष्प और जपा हैं। लाल तथा सफेद फूल वाली अढ़ौल का नाम-त्रिसन्ध्या है। जपा-संग्राही और केशों का उत्तम बनाने वाला होता है। **त्रिसन्ध्या**-कफ तथा वायु को नाश करने वाली होती है ॥ ५८ ॥

३१ गुड़हर

हिं०-ओड्हुल, ओ(अ)ड़हुल, अढ़ौल, गुड़हल, जवाकुसुम। बं०-जबाफुल। म०-जास्वन्द, गु०-जासुद, जासुस। ते०-दासनमु। ता०-शप्पात्तुप्पु। क० दासणिगे। फा०-अंगरा हिन्दी। अं०-Shoe Flower (शू फ्लावर)। ले०-*Hibiscus rosa-sinensis Linn.* (हिबिस्कस् रोजा-साइनेन्सिस्), Fam. Malvaceae (माल्वेसी)। यह प्रायः सब प्रान्त के बागों में रोपण किया जाता है।

इसका **गुल्म**-छोटा, सदाहरित, काष्ठीय, सुन्दर एवं ५-८ फीट ऊंचा होता है। **पत्ते**-चमकीले हरे, अंडाकार, दन्तुर तथा शहतूत के जैसे होते हैं। **पुष्प**-प्रायः लाल, घंटाकार, बड़े, ४-६ इञ्च व्यास में एवं जननांग बीच से बाहर निकले हुए रहते हैं। फली-गोलाकार तथा अनेक बीजों से युक्त होती है।

विविध प्रकार के फूलों जैसे इकहरे, दोहरे, तथा लाल, पीले, सफेद रंग के भेदों से यह कई प्रकार का पाया जाता है तथा हमेशा फूलता रहता है।

इसके पुष्प, कलिका तथा मूलत्वक् का उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसके पुष्प के खाने योग्य भाग (६१·६%) में प्रति १०० ग्राम में कैल्शियम् (Calcium, 4·04), फास्फोरस् (Phosphorus, 26·68), एवं लोह (Iron, 1·69) मिलीग्राम पाया गया है। इनके अतिरिक्त थियामिन (Thiamine, 0·031 mg%), राइबोफ्लेविन Riboflavin, 0·058 mg%), नियासिन (Niacin, 0·61 mg. %) एवं विटामिन सी (Ascorbic acid 4 16 mg. %) पाये जाते हैं।

फूलों को पीसकर उससे एक रंग प्राप्त किया जाता है जिसका उपयोग बाल, भौं तथा मदिरा आदि रंगने के काम में करते हैं।

पत्तों में केरोटीन (Carotene, 7·34 mg. per. 100 g. of fresh material) पाया जाता है जिनका चारे के लिए उपयोग करते हैं।

गुण और प्रयोग—जपा ग्राही, रक्तसंग्राहक, केश्य, हृद्य एवं मस्तिष्क के लिये बलप्रद है। इसका प्रयोग प्रदर, प्रमेह एवं ज्वर में किया जाता है।

(१) काली गाय के मूत्र में फलों को पीसकर लगाने से गंजापन दूर होकर बाल बढ़ते हैं। ताजे फूलों को पीसकर लगाने से बालों का रंग सुन्दर हो जाता है।

(२) फूल की १०-१२ कलियाँ दूध में पीसकर पिलाने से तथा पथ्य में दूध देने से प्रदर अच्छा होता है।

(३) यूनानी वाले इसका शर्बत हृदय तथा मस्तिष्क की दुर्बलता, उन्माद तथा पैत्तिक ज्वर में देते हैं।

(४) इसकी जड़ अल्थिया (Althaea) के स्थान पर खांसी के लिए काम में लाई जाती है।

(५) मुँह के छाले में इसे चबाने से लाभ होता है।

मात्रा—पुष्प ३-६ माशा।

अथ सिन्दूरी (सेन्दुरिया)। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

सिन्दूरी रक्तबीजा च रक्तपुष्पा सुकोमला। सिन्दूरी विषपित्तास्रतृष्णावान्तिहरी हिमा ॥

सेन्दुरिया के संस्कृत नाम—सिन्दूरी, रक्तबीजा, रक्तपुष्पा और सुकोमला ये सब हैं।
सेन्दुरिया—शीतल तथा विष, पित्त, रक्तविकार, तृषा, और वमन को दूर करने वाली है ॥ ५९ ॥

३२ सिन्दुरिया

हिं०—सें (सि) दुरिया, लटकन, सदा सुहागन। बं०—लटकन। म०—शेन्दी। ता०, ते०—जाफर। ले०-*Bixa orellana Linn.* (बिक्सा ओरिलाना)। Fam. Bixaceae (बिक्सेसी)।

सेंदुरिया—एक प्रसिद्ध फूल है जिसके वृक्ष को बागों में लगाते हैं तथा दक्षिण, बंगाल तथा आसाम में भी कहीं कहीं पाया जाता है। मैसूर में इसकी खेती भी की जाती है।

इसका **वृक्ष**-छोटा, शाखा प्रशाखाओं करके सघन, झाड़दार एवं सुन्दर होता है। **पत्ते**-हृद्वत्, लंबाग्र, चिकने, चमकीले एवं ४-६ इञ्च लम्बे होते हैं। **पुष्प**-छोटे, गुलाबी, पाँच अन्तर्दलवाले एवं बीच से स्त्री केशर बाहर निकला रहता है। फल-धतूरा की तरह मृदु कंटकित होता है। बीज-करीब ५०, छोटे एवं सिन्दूरवर्ण स्तर से ढके हुवे होते हैं जिनसे एक रंग तैयार किया जाता है। इसका एक अन्य प्रकार होता है जिसमें पुष्प श्वेत एवं फल हरा रहता है।

इसमें के रंग को निकालने के लिये बीजों को कूटकर गरम जल में मसलकर लकड़ी के पात्रों में कई दिन रखते हैं। फिर छानकर १ सप्ताह और रखते हैं। फिर नीचे बैठे हुये रंग को अलग कर सुखा लेते हैं। बीजों में यह रंग ॲनाटो (Annatto) ४·८-६% होता है जिसका उपयोग अहितकर न होने के कारण खाद्यपदार्थों जैसे मक्खन, दूध तथा तेलों के रंगने में किया जाता है। यह तैल विक्रेय होता है।

चिकित्सा में पंचांग का उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—बीजों में प्रधान रंजक द्रव्य बिक्सिन (Bixin, $C_{25}H_{30}O_4$) तथा स्नेह, राल तथा तिक्त पदार्थ पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—इसकी फल मज्जा ग्राही है किन्तु अधिक मात्रा में स्रंसन है। बीज एवं मूल रोचक, ज्वरघ्न एवं ग्राही हैं।

(१) मूल की छाल ज्वर में दी जाती है।

(२) बीज सोजाक में देते हैं।

(३) पत्तों का फांट कामला में दिया जाता है। **मात्रा**—छाल ३ से ६ माशे।

अथ मुनिवृक्षः (अगस्तिया)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

अथागस्त्यो वङ्गसेनो मुनिपुष्पो मुनिद्रुमः ॥ ६० ॥
अगस्तिः पित्तकफजिच्चातुर्थिकहरो हिमः। रूक्षो वातकरस्तिक्तः प्रतिश्यायनिवारणः ॥६१॥

अगस्तिया के संस्कृत नाम—अगस्त्य, वङ्गसेन, मुनिपुष्प, अगस्ति और मुनिद्रुम ये सब हैं। **अगस्तिया**-तिक्तरसयुक्त, शीतल, रूक्ष, वातकारक एवम् पित्त, कफ, चातुर्थिक (चौथिया) ज्वर और प्रतिश्याय (जुखाम) को दूर करने वाला है ॥ ६० ६१ ॥

इसके पुष्प के गुण आगे शाकवर्ग में दिये हुये हैं।

३३ अगस्त

हि०—अगस्त, हथिया, अगथिया, अगस्तिया। **बं०**—बक। **म०**—हदगा, अगस्ता। **क०**—अगचे। **गु०**—अगथियो। **ते०**—अविसी। **ता०**—अगति। **ले०**—*Sesbania grandiflora Linn.* (सेसबेनिया ग्रॅन्डीफ्लोरा)। Fam. Leguminosae (लेगुमिनोसी)।

इसको बागों में लगाते हैं तथा दक्षिण एवं बंगाल में विशेष रूप से होता है।

इसका वृक्ष—१५-२० फीट ऊँचा, सीधा, तथा शीघ्र बढ़ने वाला होता है। **पत्ते**-संयुक्त, एकान्तर, ६-१२ इञ्च लंबे, शिरीष जैसे होते हैं। **पत्रक**—१६ से ३० युग्म, आयताकार, एवं कुंठिताग्र होते हैं।

पुष्प—२ से ४ इञ्च लंबे, श्वेत एवं लाल तिरछे तथा नौकाकार आते हैं। **फली**—लटकती हुई, १२-१५ इञ्च लंबी, पतली एवं चारधार वाली होती है। अगस्त्यतारा के उदय काल (प्रायः सितम्बर) में पुष्प लगते हैं और पौष में फली पक जाती है। पुष्प एवं कोमल पत्तों का शाक एवं अचार बनाते हैं।

इसकी छाल, पत्र, पुष्प एवं मूल का चिकित्सा में उपयोग किया जाता है।

गुण और प्रयोग—इसके पुष्प वातकर एवं क्षय, कासनाशक तथा रतौंधी में लाभकर हैं। (सु. सू. अ. ४६)। मूल उष्ण, वातहर, कफघ्न एवं शोथघ्न है। पत्र आनुलोमिक एवं शिरोविरेचन हैं। छाल ग्राही है।

इसका उपयोग कास, प्रतिश्याय, ज्वर एवं नेत्ररोगों में किया जाता है।

(१) फुफ्फुसपाक में मूल त्वक पान के साथ या स्वरस १ से २ तोला मात्रा में मधु के साथ देने से कफ निकलता है तथा पसीना आकर ज्वर कम होता है।

(२) प्रतिश्याय में शिरःशूल तथा नेत्र विकार में पुष्प एवं पत्र स्वरस का नस्य देते हैं।

(३) अनार्तव में पुष्पों का साग देते हैं।

(४) मसूरिका में छाल का फांट दिया जाता है।

(५) चोट लगने पर पत्तों का लेप एवं संधिशोथ में मूल का लेप किया जाता है।

(६) दृष्टिमांद्य में पुष्प रस आंख में डालते हैं।

मात्रा—मूल स्वरस १ से २ तोला।

अथ तुलसी शुक्ला कृष्णा च। तयोर्नामगुणानाह

तुलसी सुरसा ग्राम्या सुलभा बहुमञ्जरी। अपेतराक्षसी गौरी भूतघ्नी देवदुन्दुभिः ॥ ६२ ॥
तुलसी कटुका तिक्ता हृद्योष्णा दाहपित्तकृत्। दीपनी कुष्ठकृच्छ्रास्रपार्श्वरुक्कफवातजित् ॥
शुक्ला कृष्णा च तुलसी गुणैस्तुल्या प्रकीर्त्तिता ॥ ६३ ॥

तुलसी के संस्कृत नाम—तुलसी, सुरसा, ग्राम्या, सुलभा, बहुमञ्जरी, अपेतराक्षसी, गौरी, भूतघ्नी, देवदुन्दुभि ये सब हैं। तुलसी—कटु तथा तिक्तरस युक्त, हृदय को हितकर, उष्ण, दाह तथा पित्त कारक, अग्निदीपक एवम् कुष्ठ, मूत्रकृच्छ्र, रक्तविकार, पसली की पीड़ा, कफ और वायु को दूर करने वाली है। सफेद तथा काली तुलसी दोनों ही गुणों में समान मानी जाती हैं ॥ ६२-६३ ॥

३४ तुलसी

हि०—तुलसी। **बं०**—तुलसी। **गु०**—तुलसी। **ते०**—गग्गेर चेट्टु। **म०**—तुळस। **ता०**—तुळशी। **क०**—एरेड तुलसी। **अं०**—Holy Basil (होली बेसील)। **ले०**—*Ocimum sanctum Linn.* (ओसीमम् सॅक्टम्)। Fam. Labiatae (लेबिटएटी)।

यह प्रायः सब गरम और साधारण प्रान्तों के वन उपवनों में आप ही उत्पन्न होती है और पवित्र मानी जाने से घर में भी लगाते हैं।

यह क्षुप जाति की वनस्पति १ से ३॥ फीट तक ऊंची होती है और समस्त क्षुप से तीव्र गन्ध आती है। शाखायें सीधी और फैली हुई रहती हैं। **पत्ते**—१ से २ इञ्च तक लम्बे और अण्डाकार तथा सुगंधित होते हैं। शाखाओं के अन्त में मञ्जरी लगती है। जिसके पत्ते हरे सफेदी लिये होते हैं उसको सफेद तुलसी और जिसके पत्ते और डंडियां कालापन युक्त हरे होते हैं उसको काली तुलसी कहते हैं। तुलसी की अन्य भी कई जातियां (Species) पाई जाती है जिनमें से ऑ० ग्रेटिसिमम् (O. gratissimum Linn.) को **रामतुलसी** कहते हैं।

कृष्णतुलसी अधिक गुणकारी समझी जाती है। इसके पत्ते एवं बीजादि का उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसके पत्तों में ०·७% उड़नशील तैल पाया जाता है जो कफनिःसारक, प्रतिदूषक तथा कीड़ों को भगाता है।

गुण और प्रयोग—तुलसी के पत्र या इसका स्वरस उष्ण, रूक्ष, कफनिःसारक, शीतहर, वातहर, स्वेद जनन, दीपन, कृमिघ्न, दुर्गन्धनाशक एवं प्रतिदूषक हैं।

इसका उपयोग कास, श्वास, पार्श्वशूल, विषमज्वर, बालयकृत वृद्धि, विषविकार, एवं पाचन के विकारों में करते हैं। इसका विशेष प्रयोग इन व्याधियों में अन्य औषधि के अनुपान के रूप में किया जाता है।

इसके बीज मधुर, स्निग्ध, शीत एवं मूत्र जनन होते हैं जिनका उपयोग मूत्रकृच्छ्रादि विकारों में किया जाता है।

पत्तों के स्वरस का बाह्य उपयोग कर्णशूल, व्रण प्रक्षालन, कृमि-कीट-दंश एवं चर्मरोगों में किया जाता है।

मात्रा—स्वरस १ से २ तोला; बीज १ से २ माशा।

अथ मरुबकः (मरुआ)। तस्य नामानि गुणाश्चाह

मारुतोऽसौ मरुबको मरुन्मरुरपि स्मृतः। फणी फणिज्जकश्चापि प्रस्थपुष्पः समीरणः ॥६४॥
मरुदग्निप्रदो हृद्यस्तीक्ष्णोष्णः पित्तलो लघुः ॥ ६५ ॥
वृश्चिकादिविषश्लेष्मवातकुष्ठक्रिमिप्रणुत्। कटुपाकरसो रुच्यस्तिक्तो रूक्षः सुगन्धिकः ॥६६॥

मरुवा के संस्कृत नाम—मारुत, मरुबक, मरुत, मरु, फणी, फणिज्जक, प्रस्थपुष्प, समीरण ये सब हैं। **मरुआ**—पाक तथा रसमें कटु, रुचिकारक, तिक्त रसयुक्त, रूक्ष, सुगन्धयुक्त, अग्निवर्धक, हृदय को हितकर, तीक्ष्ण, उष्ण,पित्तजनक, लघु एवम् बिच्छु आदि के विष, कफ, वात, कुष्ठ और क्रिमी का नाशक है ॥ ६४-६६ ॥

३५ मरुआ

हि०—मरुआ, मरुवा। **बं०**—मुर्रु। **म०**—मरवा। **गु०**—मरवो। **ते०**—मरवमु। **फा०**—मरजन, जोस। **अं०**—Sweet Marjoram (स्वीट मारजोरम्)। **ले०**—*Origanum majorana Linn.* (ऑरीगेनम् मॅजोराना)। Fam. Labiatae (लेबिएटी)।

मरुआ प्रायः सब प्रान्तों की वाटिकाओं में रोपण किया जाता है।

यह क्षुपजाति की वनस्पति १-२ फीट ऊंची होती है और इससे सुगन्धि आती है। पत्ते—लम्बे अंडाकार किञ्चित लालिमायुक्त सफेदी मायल एवं सुगन्धित होते हैं। उस पर तुलसी के समान मञ्जरी लगती है। सफेद और काले रंगों के भेद से यह दो प्रकार का होता है। इनमें सफेद, औषधि और काला शिव-पूजन के काम में आता है ॥ ३९ ॥

इसके पंचांग एवं उसकी राख का उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसमें सुगन्धितैल तथा कुछ तिक्त पदार्थ पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह उष्ण, सुगन्धि, वातानुलोमक, स्वेदजनन, आर्तवजनन, कफनिःसारक, यकृतबल्य एवं कुष्ठघ्न है।

इसका उपयोग आध्मान, शूलादि पाचन विकार, प्रतिश्याय, अनार्तव एवं व्रण के लिये करते हैं।

(१) उदरशूल में पत्तों को सफेद हुरहुर के पत्तों के साथ देते हैं। अतिसार में फांट देते हैं।

(२) इसका स्वरस या पंचांग की राख व्रण रोपण एवं वेदनास्थापन होने से पुराने व्रण में लाभ करती है। **मात्रा**—स्वरस ५-१० बूंद; तैल २-६ बूंद; पंचांग ५-३० रत्ती।

अथ दमनकः (दवना)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

उक्तो दमनको दान्तो मुनिपुत्रस्तपोधनः। गन्धोत्कटो ब्रह्मजटो विनीतः कलपत्रकः ॥ ६७ ॥
दमनस्तुवरस्तिक्तो हृद्यो वृष्यः सुगन्धिकः। ग्रहणाद् विषकुष्ठास्रक्लेदकण्डूत्रिदोषजित् ॥६८॥

दवना के संस्कृत नाम—दमनक, दान्त, मुनिपुत्र, तपोधन, गन्धोत्कट, ब्रह्मजट, विनीत, कलपत्रक और दमन ये सब हैं। **दवना**—कषाय तथा तिक्त रसयुक्त, हृदय को हितकर, वृष्य (वीर्य वर्धक), सुगन्धित एवम् विष, कुष्ठ, रक्तविकार, क्लेद, खुजली तथा त्रिदोष का नाशक है ॥

नोट—अनेक विद्वानों ने दमनक का ले. नाम आ. सिवरसियाना (A. siversiana) दिया है।

३६ दवना

हि०—दौना, दवना। **बं०**—दोना। **म०**—दवणा। **गु०**—डमरो। **अ०**—अफसंतीन। **ले०**—*Artemisia vulgaris Linn.* (आर्टिमिसिया वल्गॅरिस्)। Fam. Compositae (कम्पोजिटी)।

इसको वाटिकाओं में लगाते हैं। पश्चिम हिमालय, खासिया पहाड़, आबू, पश्चिम घाट, कोंकण, लंका आदि जगहों में यह आप ही आप जङ्गली उत्पन्न होता है।

इसके क्षुप-४ से ८ फीट ऊँचे एवं गंध युक्त होते हैं। पत्ते—नीचे के २-४ इञ्च लंबे, १-२ इञ्च चौड़े, सनाल, लट्वाकार, एक या दो बार पक्षाकार क्रम से विच्छिन्न, दोनों पृष्ठों पर रोमश एवं नीचे के पृष्ठ पर राख या श्वेत वर्ण के होते हैं। ऊपर के पत्ते प्रायः विनाल, रेखाकार मालाकार, सरल धार वाले, तथा तीन विच्छेदों से युक्त होते हैं। इसको डा० देसाई ने क्षुरपर्ण नाम दिया है तथा दमनक, आ० सिवरसियाना को माना है। इसके पंचांग का उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसमें ०·२% उड़नशील तैल पाया जाता है। इसमें यवक्षार पर्याप्त मात्रा में रहता है।

गुण और प्रयोग—यह तिक्त, दीपन, पाचन, उद्वेष्टनरोधी, आर्तवजनन, आनुलोमिक, वामक एवं व्रणरोपण है।

इसका फांट वातरोग, उद्वेष्टनयुक्त रोग, श्वास एवं भूतोन्माद में देते हैं। बालकों की उदर सम्बन्धी व्याधियों, आध्मान, कृमि आदि में यह बहुत उपयोगी है।

इसके क्वाथ से दुष्ट व्रण प्रक्षालन किया जाता है तथा कर्णशूल में इसके स्वरस को डालते हैं।

मात्रा—स्वरस ५-१० बूंद।

अथ बर्बरी (वनतुलसी)। तस्या भेदसहितं नामानि गुणांश्चाह

बर्बरी तुवरी तुङ्गी खरपुष्पाऽजगन्धिका। पर्णाशस्तत्र कृष्णे तु कठिल्लककुठेरकौ ॥ ६९ ॥
तत्र शुक्लेऽर्जकः प्रोक्तो वटपत्रस्ततोऽपरः। बर्बरीत्रितयं रूक्षं शीतं कटु विदाहि च ॥ ७० ॥
तीक्ष्णं रुचिकरं हृद्यं दीपनं लघुपाकि च। पित्तलं कफवातास्रकण्डूक्रिमिविषापहम् ॥ ७१ ॥

वन तुलसी के संस्कृत नाम—बर्बरी, तुवरी, तुङ्गी, खरपुष्पा, अजगन्धिका, पर्णाश ये सब हैं। काली वन तुलसी का संस्कृत नाम—कठिल्लक और कुठेरक है। सफेद वन तुलसी का संस्कृत नाम-अर्जक है। तीसरी जाति की वन तुलसी का संस्कृत नाम-वटपत्र है। तीनों बर्बरी-रूक्ष, शीतल, कटुरसयुक्त विदाही, तीक्ष्ण, रुचिकारक, हृदय को हितकर, अग्निदीपक, पाक में लघु, पित्तजनक तथा कफ, वात, रक्तविकार, खुजली, क्रिमि और विष का नाशक होती है ॥ ६९-७१ ॥

नोट—भावप्रकाशकार बर्बरी के ३ भेद लिखते हैं।

(१) कठिल्लक; कुठेरक (कृष्णपुष्प)। (२) अर्जक (श्वेतपुष्प)। (३) वट्पत्र। अन्य निघंटुओं ने भी इसी प्रकार या तो इन्हें स्वतंत्र या एक दूसरे का भेद बतलाया है। ये सभी तुलसी वर्ग के ही द्रव्य मालूम पड़ते हैं। बर्बरी यह ऑ० बेसिलिकम् (O. basilicum Linn.) है। ऑर्थोसिफॉन् ग्रेन्डिफ्लोरस् (Orthosiphon grandiflorus Boldingh) के अर्जक होने की संभावना पर विचार करने के लिये श्री ठा० बलवन्तसिंह जी ने 'बिहार की वन-

स्पतियां" में लिखा है क्योंकि इसको बनारस के आसपास अजगुर कहा भी जाता है तथा डल्हणोक्त 'अर्जकः बर्बरिकाकारो लघुमंजरीकः सूक्ष्मपत्रो निर्गंधः श्वेतकुठेरकः (सु० सू० अ० ३८-१८) वचन भी इसके लिये ठीक बैठता है।

३७ बर्बरी (सबजा)

हि०-बर्वरी, बर्बरी, वन तुलसी, बार्बर, सबजा। बं०-बाबुई तुलसी। म०-सबजा। गु०-डमरो, रान तुलसी। ते०-भू तुलसी। ता०-तिरतुलपत्ची। प०-बबरि। अं०-Common-Sweet-Basil (कामन स्वीट् बेसिल्)। ले०-*Ocimum basilicum Linn.* (ऑसीमम् बेसिलीकम्)। Fam. Labiatae (लेबिएटी)।

यह भारत के गरम तथा साधारण प्रान्तों में विशेष कर पंजाब में अधिक पाई जाती है। सभी प्रान्तों में बागों में लगाई हुई भी पाई जाती है।

इसका क्षुप-सीधा, १-२फीट तक ऊँचा होता है। शाखायें-हरे रङ्ग की अथवा फीकी पीलापन युक्त हरे रङ्ग की होती हैं। पत्ते-१-२ इञ्च लम्बे, अंडाकार और नोकीले होते हैं। शाखाओं के अन्त में फूलों की मञ्जरी लगती है। उसी में बीजकोष लगते हैं। बीज-नन्हें २ काले रङ्ग के किंचित् लम्बे, एक ओर महराब का चिह्न और दूसरी ओर चिपटे तथा मोटी नोकवाले होते हैं। वे गन्धहीन होते हैं परन्तु उनका स्वाद तेलिया और कुछ चरपरा होता है। इनको पानी में भिगोने से लुबाबदार से दीख पड़ते हैं। इन्हें तुख्म शर्बती कहते हैं। किसी ने इसे तुख्म रैहाँ भी लिखा है।

इसके पंचांग तथा बीज का उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसमें एक सुगंधि तैल पाया जाता है। यह पीताभ हरा एवं जल से हलका होता है। रखने से यह जमकर इसके रवे बनते हैं जिन्हें बेसिल कैंफर (Basil camphor) कहते हैं।

गुण और प्रयोग—इसका स्वरस तीक्ष्ण, उष्ण, रूक्ष, वात प्रशमन, वातनाड़ी संस्थान उत्तेजक, स्वेदजनन एवं कृमिघ्न है। इसके बीज मधुर, स्निग्ध, शीतल, मूत्रजनन एवं स्तंभन हैं। इसका प्रयोग उन्माद, संन्यास, जीर्णवातिक ज्वर, कास, अजीर्ण, अतिसार, सर्प एवं वृश्चिक विष, दद्रु एवं व्रण में किया जाता है।

(१) कास में इसका स्वरस मधु के साथ पिलाते हैं। इसमें बीज का फांट भी लाभदायक है।

(२) बीज का फांट ग्राही होने के कारण आमातिसार में देते हैं।

(३) सर्पविष में इसका स्वरस ४-५ तोला, चार चार घंटे पर पिलाते हैं। बिच्छू काटने पर पत्तों को पीसकर लेप करते हैं।

(४) कर्णपीड़ा, दंतशूल आदि में स्वरस का बाह्य प्रयोग किया जाता है। सर की रूसी, दाद आदि में स्वरस लगाने से लाभ होता है। बीजों को घोकर व्रण पर बांधते हैं।

(५) सोजाक में बीजों का फांट दिया जाता है।

(६) वाजीकरण में लिये बीज १ से २ ड्राम की मात्रा में देते हैं।

मात्रा—स्वरस ½-१ चायका चम्मच; बीज ½ से १ तोला, दुग्ध एवं शर्करा के साथ फांट बनाकर।

इति श्रीमिश्रलटकनतनयश्रीमिश्रभावविरचिते भावप्रकाशे मिश्रप्रकरणे पञ्चमः-
पुष्पवर्गः समाप्तः ॥ ५ ॥



अथ वटादिवर्गः

तत्रादौ वटः। तस्य नामानि गुणांश्चाह

वटो रक्तफलः शृङ्गी न्यग्रोधः स्कन्धजो ध्रुवः। क्षीरी वैश्रवणो वासो बहुपादो वनस्पतिः ॥१॥
वटः शीतो गुरुर्ग्राही कफपित्तव्रणापहः। वर्ण्यो विसर्पदाहघ्नः कषायो योनिदोषहृत् ॥ २ ॥

बरगद के संस्कृत नाम—वट, रक्तफल, शृङ्गी, न्यग्रोध, स्कन्धज, ध्रुव, क्षीरी, वैश्रवण, वास, बहुपाद, वनस्पति ये सब हैं। बरगद—कषाय रसयुक्त, शीतल, गुरु, ग्राही, शरीर के वर्ण को उत्तम करने वाला एवम् कफ, पित्त, व्रण, विसर्प, दाह और योनिसंबन्धी दोषों को दूर करता है ॥१-२॥

१ बड़

हि०-बड़, बरगद। बं०-वट, बड़गाछ। म०-वड। क०-आल, आलदमारा। ते०-मर्रि। गु०-बड़। फा०-दरख्तेरीश। अ०-कबिरूल अश्जार। अं०-Banyan Tree (बनियन ट्री)। ले०-*Ficus bengalensis Linn.* (फाइकस् बेंगालेन्सिस्)। Fam. Moraceae (मोरेसी)।

यह सब प्रान्तों में उत्पन्न होता है। ग्राम के पास लोग इसको पवित्र जान कर लगाते हैं। हिमालय के जङ्गल और दक्खन के पहाड़ियों पर यह जंगली उत्पन्न होता है।

इसका वृक्ष-बहुत विशाल और शाखायें फैली हुई प्रायः भूमि की ओर नत हो जाती हैं। पत्ते-लम्बे चौड़े और मोटे होते हैं। फल-छोटे छोटे झरबेर के समान, कच्ची अवस्था में हरे रङ्ग के और पकने पर लाल हो जाते हैं। शाखाओं से लाल तथा पीले रङ्ग के अङ्कुर निकल कर भूमि की ओर बढ़ते हैं। इसको वटजटा, बरोह या बड़ की दाढ़ी कहते हैं। यह जटा बढ़ते बढ़ते पृथ्वी में घुस जाती हैं और खम्भे के समान दीखाई देती है।

इसके पंचांग का चिकित्सा में उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—छाल में ११% टैनिन होता है।

गुण और प्रयोग—बड़ शीत, ग्राही, स्तम्भन, मूत्रसंग्रहणीय एवं व्रणरोपण है।

(१) इसका क्षीर वेदनास्थापन एवं व्रणरोपण है तथा इसको कटिपीड़ा, सन्धिपीड़ा एवं बरसात में होने वाले हाथ-पैर की अंगुलियों के व्रणों पर लगाते हैं। सड़े हुये दांत में लगाने से पीड़ा दूर होती है।

(२) इसकी छाल का क्वाथ बहुमूत्र में एवं फल मधुमेह में देते हैं। छाल को अतिसार तथा प्रवाहिका में भी देते हैं।

(३) वटजटा सोजाक में, वमन रोकने के लिये तथा बाह्य लेप के रूप में चर्मरोग में प्रयोग की जाती है

मात्रा—चूर्ण ३ से ६ माशा; क्वाथ ५ से १० तोला।

अथ पिप्पलः (पीपल)। तस्य नामानि गुणांश्चाह

बोधिद्रुः पिप्पलोऽश्वत्थश्चलपत्रो गजाशनः। पिप्पलो दुर्जरः शीतः पित्तश्लेष्मव्रणास्रजित्।
गुरुस्तुवरको रूक्षो वर्ण्यो योनिविशोधनः ॥ ३ ॥

पीपल के संस्कृत नाम—बोधिद्रु, पिप्पल, अश्वत्थ, चलदल और गजाशन ये सब हैं। पीपल—कषाय रसयुक्त, कठिनता से पचने वाला, शीतल, गुरु, रूक्ष, वर्ण को उत्तम बनाने वाला, योनिका शोधन करने वाला एवम् पित्त, कफ, व्रण तथा रक्तविकार को दूर करने वाला है॥ ३॥

२ पीपल

हि०-पीपल वृक्ष। बं०-अश्वत्थ। म०-पिंपळ। क०-अरलो। गु०-पीपलो। ते०-राविचेट्टु। ता०-अरशमरम्। फा०-दरख्ते लरजा। अ०-शज्रतुल मुर्त अश। ले०-*Ficus religiosa Linn.* (फाइकस् रिलीजिओसा) Fam. Moraceae (मोरेसी)।

पीपल के वृक्ष इस देश के प्रायः सब प्रान्तों में लगाये हुये पाये जाते हैं और हिमालय पहाड़ के जङ्गलों, बंगाल तथा मध्य भारत में भी पाये जाते हैं। इसका वृक्ष बहुत ऊँचा होता है और खूब फैलता है। पत्ते-गोलाकार और नोकीले होते हैं। पत्रदण्ड-लम्बा होता है। इसमें भी बड़ के समान छोटे २ गोल फल लगते हैं। इसकी छाया सघन और प्रिय होती है। पीपल वृक्ष पवित्र माना जाता है॥ २ है

इसकी छाल, छाल की राख, पत्र एवं फल का उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—छाल में ४% टैनिन होता है।

गुण और प्रयोग—यह शीत, मूत्रसंग्रहणीय, रक्तसंग्राहक, पौष्टिक, स्तम्भन एवं व्रणनाशक है। इसके पत्ते एवं फल आनुलोमिक हैं। छाल का जलीय सत्व स्टेफिलोकोकस ऑरियस (Staphylococcus aureus) एवं एस्चेरिचिया कोलाई (Escherichia coli) जीवाणु रोधी है।

(१) वाजीकरण के लिये इसके फल, मूल, छाल एवं कोपल को दूध में पका, मधु एवं शर्करा मिलाकर पिलाते हैं। (सु. चि. अ. २६)

(२) इसकी छाल की राख पानी में डालकर ऊपर का जल पिलाने से हिक्का एवं वमन में लाभ होता है।

(३) सोजाक में कोपल दूध में पकाकर पिलाते हैं। छाल का भी प्रयोग सोजाक में किया जाता है।

(४) व्रणप्रक्षालन, उत्तरबस्ति, डूश, गण्डूष आदि के लिये इसकी छाल का क्वाथ या पञ्चवल्कल क्वाथ का प्रयोग किया जाता है जो बहुत उपयोगी है।

मात्रा—चूर्ण १ से ३ माशा; क्वाथ ५ से १० तो०।

अथ पिप्पलभेदः (गजदण्डसहोरा) इति लोके। तस्य नामानि गुणांश्चाह

पारीषोऽन्यः पलाशश्च कपिचूतः कमण्डलुः। गर्दभाण्डः कन्दरालः कपीतनसुपार्श्वकौ॥४॥
पारीषो दुर्जरः स्निग्धः क्रमिशुक्रकफप्रदः। फलेऽम्लो मधुरो मूले कषायस्वादुमज्जकः॥५॥

पारीष पीपल (यह पीपल का भेद है, लोक में इसी नाम से प्रसिद्ध है) के संस्कृत नाम—पारीष, पलाश, कपिचूत, कमण्डलु, गर्दभाण्ड, कन्दराल, कपीतन और सुपार्श्वक ये सब हैं।

पारीष पीपल—दुर्जर (कठिनता से पचने वाला), स्निग्ध (चिकना), कृमि, शुक्र तथा कफ को उत्पन्न करने वाला, फल में अम्ल जड़ में मधुर, मज्जा (मींगी) में कषाय रसयुक्त एवम् स्वादिष्ट होता है॥ ४-५॥

३ पारीष पीपल

हि०-पारिसपीपल, पारस पीपर, गजदन्डसिहारे (सहोरा)। बं०-गज शुण्डी, पराश पिपुल। म०-भेंडी। गु०-पारस पीपलो। क०-हुविरसी। ते०-गङ्गराइवि। ता०-पूवरशु। ले०-*Thespesia populnea Soland ex Correa* (थेस्पेसिया पोपुल्निया)। Fam. Malvaceae (माल्वेसी)।

यह समुद्री किनारों के जङ्गल एवं सड़कों के किनारे लगाया हुआ अधिक पाया जाता है।

इसका वृक्ष-मध्यमाकार का सदा हरा भरा और जल्दी बढ़ने वाला होता है। पत्ते-३-५ इञ्च लंबे, २-३ इञ्च व्यास के, पीपल के पत्तों के आकार वाले और पीपल से छोटे नोकवाले होते हैं। फूल-घंटाकार, पाँच पंखडी वाले, पीले एवं मुरझाने पर प्रायः गुलाबी रङ्ग के होते हैं। फल-गूलर के समान परन्तु दृढ़ होता है। इसके अन्दर ४ बीज एरण्ड के बीज की आकृति के होते हैं परन्तु बहुत बड़े। हरे फलों को चीरने से बहुत सा स्वर्णवर्ण का पीला दूध निकलता है। फल सूखने पर हरापन छोड़ कर खाकी रंग के होकर चिटक जाते हैं परन्तु बीज अलग नहीं होते।

नोट—पारीष की गणना क्षीरी वृक्षों में की गई है इसलिये किसी किसी वटजातीय (Ficus) वृक्ष को कुछ लोग पारीष मानते हैं। इस दृष्टि से पीपल की तरह जिनके पत्ते होते हैं ऐसे फाइकस् आर्नोशियाना (F. arnottiana) एवं फाइकस् रम्फाई (F. rumphii) को पारीष माना जा सकता है। थेस्पेसिया पोपुल्निया के छाल में यद्यपि क्षीर नहीं होता तथापि उसके फल में होता है।

इसकी छाल तथा पक्व फलों का उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—पुष्पदल में पोपुलिनिन (Populinin), पोपुल्नेटिन (Populnetin) एवं हर्बेसेटिन (Herbecetin) ये द्रव्य पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—इसके फलों की राख तेल में मिला कर खुजली, दाद आदि चर्मरोगों में लगाई जाती है एवं इसकी छाल का क्वाथ पिलाते हैं।

मात्रा—त्वक् २-६ माशा।

अथ नन्दीवृक्षः (बेलिया पीपर)। तस्य नामगुणानाह

नन्दीवृक्षोऽश्वत्थभेदः प्ररोही गजपादपः। स्थालीवृक्षः क्षयतरुः क्षीरी च स्याद्वनस्पतिः॥६॥
नन्दीवृक्षो लघुः स्वादुस्तिक्तस्तुवर उष्णकः। कटुपाकरसो ग्राही विषपित्तकफास्रजित्॥७॥

बेलिया पीपर के संस्कृत नाम—नन्दीवृक्ष, अश्वत्थभेद, प्ररोही, गजपादप, स्थालीवृक्ष, क्षयतरु, क्षीरी और वनस्पति ये सब हैं।

नन्दीवृक्ष—स्वादिष्ट, तिक्त तथा कषायरस युक्त, पाक में कटु रस युक्त, लघु, ग्राही, उष्ण, एवम् विष, पित्त, कफ तथा रक्तविकार को दूर करने वाला होता है॥ ६-७॥

४ बेलिया पीपल

हि०-बेलिया पीपल (र), कामरूप। बं०-कम्रुप। ते०-येरॅजुवि। गु०-नांदरुखीवड़। म०-नन्दी वृक्ष, नांद्रुक। ले०-*Ficus retusa Linn.* (फाइकस् रेट्युझा)। Fam. Moraceae (मोरेसी)।

यह छोटा नागपुर, बिहार, मध्यभारत, दक्षिण, लंका तथा सुन्दरवन में होता है।

इसका **वृक्ष**–साधारण ऊँचा होता है तथा प्ररोह अल्प या नहीं रहते। पत्ते–२ से ४ इञ्च लंबे एवं करीब उतने ही चौड़े, कुछ अंडाकार, चमकीले एवं छोटे वृन्त से युक्त होते हैं। फल–अंडाकार होते हैं।

इसके पत्ते एवं छाल का उपयोग किया जाता है।

नोट—नन्दीवृक्ष का अभी तक निर्णय नहीं हुआ है। कुछ विद्वानों ने संभवतः इसके गुजराती नाम नाँदरूखीवड को आधार पर इसे नन्दी वृक्ष माना है।

गुण और प्रयोग—(१) यकृत वृद्धि में एक तोला छाल दूध में पीसकर पिलाते हैं। (२) पत्ते एवं छाल को कूटकर आमवात में संधिशोथ पर बांधते हैं। मूल एवं पत्तों से पकाया तेल व्रण तथा चोट पर लगाते हैं।

मात्रा—त्वक् ५ से १० माशा।

अथोदुम्बरः (गूलर)। तस्य नामानि गुणांश्चाह

उदुम्बरो जन्तुफलो यज्ञाङ्गो हेमदुग्धकः ॥ ८ ॥

उदुम्बरो हिमो रूक्षो गुरुः पित्तकफास्रजित्। मधुरस्तुवरो वर्ण्यो व्रणशोधनरोपणः ॥ ९ ॥

गूलर के संस्कृत नाम—उदुम्बर, जन्तुफल, यज्ञाङ्ग और हेमदुग्धक ये सब हैं।

गूलर—मधुर तथा कषायरस युक्त, शीतल, रूक्ष, गुरु, वर्ण को उत्तम करने वाला, व्रण का शोधन तथा रोपण (घाव भरना) करने वाला एवम्—पित्त, कफ तथा रक्तविकार को दूर करने वाला है ॥ ८-९ ॥

५ गूलर

हि०–गूलर, गुल्लर। **बं०**–यज्ञ डुमुर। **म०**–उम्बर, उम्बराचे झाड़। **गु०**–उम्बरो, ऊमरडो। **क०**–अतिमर। **अ०**–जमीज़। **ते०**–अति चेट्टु। **ता०**–अत्तिमरम्। **फा०**–अंजीरे आदम, समर पिस्ता। **ले०**–*Ficus glomerata Roxb.* (फाइकस् ग्लोमेरेटा)। Fam. Moraceae (मोरेसी)।

गूलर इस देश के प्रायः सब प्रान्तों में पाया जाता है। पहाड़ी भूमि और पहाड़ों पर भी इसके वृक्ष पाये जाते हैं।

इसके वृक्ष ६० फीट तक ऊँचे फैले हुये होते हैं। पत्ते–५–७ इञ्च लम्बे, अण्डाकार, गहरे हरे और चिकने चमकीले होते हैं। फल–१–२ इञ्च व्यास में सटे हुए गुच्छों में लगते हैं। कच्चे फल हरे और पकने पर लाल हो जाते हैं। फलों के भीतर प्रायः छोटे २ कीड़े होते हैं।

इसके सभी अंगो का उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—छाल में १४% टैनिन होता है।

गुण और प्रयोग—इसकी छाल स्तंभन; पक्वफल शीत, स्तम्भन एवं रक्तसंग्राहक; क्षीर शीतल, स्तंभन, रक्तसंग्राहक, पौष्टिक एवं शोथहर है।

(१) सभी प्रकार के रक्तपित्त के लिये इसके फल तथा छाल का उपयोग किया जाता है। विशेष रूप में, रक्तप्रदर, अत्यार्तव, आसन्न गर्भपात, रक्तमेह आदि में इसको देते हैं।

(२) मधुमेह में फल या मूल का रस दिया जाता है।

(३) इसका क्षीर रक्तातिसार में लाभदायक है। बच्चों के अतिसार, वमन तथा दौर्बल्य में इसको १० बूंद दूध के साथ देते हैं।

(४) मूल को आंव में देते हैं।

मात्रा—छाल ½–१ तोला; फल २ से ४; क्षीर १० से २० बूँद दुग्ध एवं शर्करा के साथ।

अथ काकोदुम्बरिका (कठूमर)। तस्या नामानि गुणांश्चाह

काकोदुम्बरिका फल्गुर्मलयूर्जघनेफला। मलयुः[1] स्तम्भकृत्तिक्ता शीतला तुवरा जयेत्। कफपित्तव्रणश्वित्रकुष्ठपाण्ड्वर्शकामलाः ॥ १० ॥

कठूमर के संस्कृत नाम—काकोदुम्बरिका, फल्गु, मलयु और जघनेफला ये सब हैं।

कठूमर—तिक्त तथा कषाय रसयुक्त, मलस्तम्भ करनेवाला (मल को बांधने वाला), शीतल एवम्–कफ, पित्त, व्रण, श्वेतकुष्ठ, पाण्डु, अर्श तथा कामला रोग को दूर करने वाला है ॥ १० ॥

६ कठूमर

हि०–कठूमर, कट (ठ) गुलरिया, कठगूलर। **बं०**–काठडुमुर। **म०**–भुई उम्बर, बोखाड़ा। **गु०**–टेडउँबरो। **ते०**–बद्दा मेडिचेट्टु। **ता०**–पेअट्टिस। **ले०**–*Ficus hispida Linn.* (फाइकस् हिस्पिडा)। Fam. Moraceae (मोरेसी)।

कठूमर भारतवर्ष के प्रायः सब प्रान्तों में पाया जाता है। यह नदी नालों के किनारे अधिकतर होता है।

इसका **वृक्ष**–मध्यमाकार का शीघ्र बढ़ने वाला होता है। किन्तु कहीं कहीं पथरीली भूमि का वृक्ष बड़ा झाड़ सा दिखाई पड़ता है। इसकी कोमल टहनियों पर सूक्ष्म रोवें होते हैं। पत्ते–विपरीत, लम्बे, किञ्चित् अण्डाकार, जड़ की ओर गोलाकार, नोकदार और दन्तुर होते हैं। आकार में वे एक समान नहीं होते बल्कि, छोटे बड़े हुआ करते हैं। वे साधारणतः ४ इञ्च तक चौड़े तथा ९ इञ्च लम्बे होते हैं और पत्रदण्ड–१॥ इञ्च तक लम्बा होता है। नई शाखाओं के पत्ते १२ इञ्च तक लम्बे एवं सूक्ष्म रोवेंदार होते हैं। स्पर्श में वे रूखे और खुरदरे होते हैं। फल–इसके हरे या पीत हरिताभ गूलर के समान लगते हैं। इस कारण इसको "उदुम्बरफल" तथा "जङ्गली गूलर" कहते हैं। देखने में फलों का आकार अंजीर के समान होता है इस कारण इसे जङ्गली अंजीर भी कहते हैं। फलों के ऊपर सूक्ष्म रोवें होते हैं। इसकी छाल एवं फल का उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसकी छाल में टेनिन, सैपोनिन एवं एक ग्लूकोसाइड पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—इसके फल एवं छाल वामक तथा विरेचक हैं और छाल अल्प मात्रा में पौष्टिक है।

(१) इसका उपयोग यकृत्वृद्धि में करते हैं। इससे कामला में भी लाभ होता है।

(२) फलों को कूटकर तथा पकाकर शोथ, गांठ आदि पर बांधते हैं।

(३) विषमज्वर में छाल का चूर्ण दूध के साथ देते हैं।

(४) श्वित्र के लिए सुश्रुत (चि. अ. ९) में प्रयोग दिया है जिसमें गूलर तथा कठगूलर के मूल का सुखोष्ण क्वाथ पिलाकर रोगी को धूप में बैठाते हैं जिससे श्वित्र पर फोड़े आ जाते हैं। उनको फोड़कर उस पर चीते या हाथी का चमड़ा जला, तैल में मिलाकर लेप का विधान है।

---

१. मलपू इति पाठः।

अथ प्लक्षः (पाखर । तस्य नामानि गुणांश्चाह

प्लक्षो जटी पर्करी च पर्कटी च स्त्रियामपि ॥ ११ ॥

प्लक्षः कषायः शिशिरो व्रणयोनिगदापहः। दाहपित्तकफास्र[1]घ्नः शोथहा रक्तपित्तहृत् ॥१२॥

पाखर के संस्कृत नाम—प्लक्ष, जटी, पर्करी, पर्कटी (यह स्त्रीलिङ्ग भी होता है) ये सब हैं।

पाखर—कषाय रसयुक्त, शीतल एवम् व्रण, योनिसम्बन्धी रोग, दाह, पित्त, कफ, रक्तविकार, शोथ तथा रक्तपित्त को दूर करने वाला है ॥ ११–१२ ॥

७ पाकर

हि०–पाकर, पाखर, पिलखन, पकरिया, पकरी। **बं०**–पाकी, पाकुर। **म०**–पाईट, पिंपरी वृक्ष। **गु०**–पीप, पीपर। **क०**–बसारी। **ते०**–जुव्वि। **ता०**–कुरगु। **ले०**–*Ficus infectoria Roxb.* (फाइकस् इन्फेक्टोरिया)। Fam. Moraceae (मोरेसी)।

यह प्रायः सब प्रान्तों में पाया जाता है।

पाकर के वृक्ष–बड़, पीपर के समान जङ्गल और ग्रामों में बड़े २ होते हैं। पत्ते–४–५ इञ्च लम्बे, आम के पत्तों के समान पर इनसे चौड़े होते हैं। इनकी शाखायें सघन और छाया उत्तम होती है। फल–पत्तों के डंडियों पर छोटे २ पीपर वृक्ष के फल के समान लगते हैं। ये पकनेपर सफेद या कुछ काल एवं बिन्दुकित होते हैं।

गुण और प्रयोग—यह शीत, व्रणरोपक, रक्तपित्तघ्न एवं योनिरोग नाशक है।

इसकी छाल का क्वाथ गण्डूष, व्रणप्रक्षालन एवं डूश के लिए काम में लाया जाता है।

अथ शिरीषः (सिरस)। तस्य नामानि गुणांश्चाह

शिरीषो भण्डिलो भण्डी भण्डीरश्च कपीतनः। शुकपुष्पः शुकतरुर्मृदुपुष्पः शुकप्रियः ॥१३॥

शिरीषो मधुरोऽनुष्णस्तिक्तश्च तुवरो लघुः। दोषशोथविसर्पघ्नः कासव्रणविषापहः ॥१४॥

सिरस के संस्कृत नाम–शिरीष, भण्डिल, भण्डी, भण्डीर, कपीतन, शुकपुष्प, शुकतरु, मृदुपुष्प और शुकप्रिय ये सब हैं।

सिरस—मधुर, तिक्त तथा कषाय रसयुक्त, किञ्चित उष्ण, लघु एवम्–वातादिक दोष, शोथ, विसर्प, कास (खांसी), व्रण तथा विष को दूर करने वाला है ॥ १३–१४ ॥

८ सिरस

हि०–सिरस, सिरिस। **बं०**–शिरीषगाछ। **म०**–शिरस, चिचोला। **गु०**–सरसडो, काकीयो सरस। **क०**–बागेमर। **ते०**–दिरसन। **ता०**–वाकै। **ले०**–*Albizzia lebbeck Benth.* (आलबीजिया लेबेक्)। Fam. Leguminosae (लेग्युमिनोसी)।

यह प्रायः सब प्रान्तों में पाया जाता है तथा लगाया भी जाता है।

सिरस के वृक्ष–बड़े २ और सघन होते हैं। पत्ते–इमली के पत्तों के समान; उपपक्ष (Pinnae) २ से ४ जोड़े; पत्रक–$\frac{3}{4}$–२$\frac{1}{4}$ इञ्च लम्बे, ६ से ८ जोड़े, तिर्यक्, कडे एवं छोटे वृन्त से युक्त होते हैं। प्रधान पर्णवृन्त के आधार पर एक बड़ी ग्रन्थि होती है। पुष्प–सवृन्त, हरिताभ पीत, मुण्डक (Heads) में आते हैं। फली–६ से १२ इञ्च लम्बी, $\frac{3}{4}$–१$\frac{1}{2}$ इञ्च चौड़ी, पतली, हलके पीले रंग की होती है जिनमें ६–१० बीज होते हैं।

१. कफामघ्नः इतिपाठा०।

इसके वृक्ष से एक प्रकार का बबूर के गोंद के समान गोंद निकलता है जो पानी में डालने से गल जाता है।

नोट—शीरीष की एक अन्य जाति होती है जिसे ले०–आ० ओडोरेटिस्सिमा (A. odoratissima), काला शिरीष कहते हैं। इसमें उपपक्ष २ से ५ जोड़े; पत्रक $\frac{1}{2}$–१$\frac{1}{2}$ इञ्च लंबे, ६ से २४ जोड़े वृन्तहीन होते हैं। इसमें प्रधान पर्णवृन्त तथा ऊपर के १–२ उपपक्ष के वृन्त के आधार पर ग्रन्थि होती है। पुष्प–धूसर, अवृन्त एवं सशाख मुण्डक में आते हैं। फली–६–१२ इञ्च लंबी, १–१$\frac{1}{2}$ इञ्च चौड़ी, पारभासक या चमकीली एवं ८–१२ बीजों से युक्त होती है।

इसका एक अन्यभेद **श्वेत शिरीष** पाया जाता है। यह आ० प्रोसेरा (A. procera) है। इसकी छाल श्वेत या हरित श्वेत, उपपक्ष ३–६ जोड़े एवं पत्रक ५–११ जोड़े, १ से २$\frac{1}{2}$ इञ्च लंबे होते हैं। पुष्प–मुण्डक काले शिरीष की तरह होते हैं। फली–४–८ इञ्च × $\frac{1}{2}$–१ इञ्च, भूरी एवं ८–१२ बीज युक्त होती है। इसे मराठी में किन्हइ कहते हैं तथा इसे प्राचीनों का **कटभी** या **किणिही** मानना उचित है ऐसा श्री ठा० बलवन्तसिंह जी का मत है।

शिरीष की छाल एवं बीज का उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसमें गोंद, सेपोनिन एवं टैनिन ७–११% होता है।

गुण और प्रयोग—यह उष्ण, तिक्त, कषाय, त्रिदोषघ्न, विषघ्न, त्वक् दोषहर, कासहर, पौष्टिक, वाजीकर एवं ग्राही है।

(१) शुक्रस्तंभन के लिये पुष्पों का प्रयोग करते हैं। वीर्य गाढा करने के लिये इसके बीजों को दूध एवं शर्करा के साथ देते हैं। छाल का चूर्ण घृत के साथ शरीर को पुष्ट बनाने के लिये उपयोगी है।

(२) छाल के क्वाथ से कुल्ला करने से दांत मजबूत होते हैं।

(३) गंडमाला में बीजों का लेप किया जाता है तथा खिलाते भी हैं।

(४) रतौंधी में पत्तों का क्वाथ पिलाते हैं तथा स्वरस आंख में लगाते हैं।

मात्रा—छाल का चूर्ण ३ से ६ माशा; बीजचूर्ण १ से २ माशा; पुष्प या पत्रस्वरस १ से २ तोला।

अथ क्षीरिवृक्षपञ्चकं त्वक्पञ्चकञ्च। तयोर्लक्षणं तत्पत्रस्य च गुणांश्चाह

न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थपारीषप्लक्षपादपाः। पञ्चैते क्षीरिणो वृक्षास्तेषां त्वक्पञ्चवल्कलम् ॥

"क्षीरिवृक्ष–पञ्चक" से प्रसिद्ध वृक्षों के हिन्दी नाम—बरगद, गूलर, पीपल, पारीष और पाकर इन्हीं पाचों क्षीरिवृक्षों के समुदाय को क्षीरिवृक्ष–पञ्चक समझना चाहिये। एवम् इन्हीं पांचों के वल्कल को "पञ्चवल्कल" समझना चाहिये ॥ १५ ॥

***केचित्तु पारीषस्थाने शिरीषं, वेतसं परे, वा वदन्तीति विशेषः ॥ १५ ॥**

यहाँ पर मूल में कोई विद्वान् पारीष के स्थान में शिरीष तथा और दूसरे विद्वान् वेतस का पाठ मानते हैं। यह विशेष समझना चाहिये ॥ १५ ॥

क्षीरिवृक्षा हिमा वर्ण्या योनिरोगव्रणापहाः।
रूक्षाः कषाया मेदोघ्ना विसर्पामयनाशनाः ॥ १६ ॥
शोथपित्तकफास्रघ्नाः स्तन्या भग्नास्थियोजकः।
त्वक्पञ्चकं हिमं ग्राहि व्रणशोथविसर्पजित् ॥ १७ ॥

तेषां पत्रं हिमं ग्राहि कफवातास्रनुल्लघु। विष्टम्भाध्मानजित्तिक्तं कषायं लघु लेखनम् ॥१८॥

क्षीरिवृक्ष पञ्चक—कषाय रसयुक्त, शीतल, वर्ण को उत्तम करने वाले, रूक्ष, दुग्धवर्धक, टूटी हुई हड्डियों के जोड़ने वाले एवम् योनिरोग, व्रण, मेद, विसर्प, शोथ, पित्त, कफ तथा रक्त-विकार के नाशक हैं। **पञ्चवल्कल** (उक्त क्षीरिवृक्षों की छाल)—शीतल, ग्राही एवम् व्रण, शोथ तथा विसर्पनाशक है।

क्षीरिवृक्षपत्र—तिक्त तथा कषाय रसयुक्त, शीतल, ग्राही, लघु, किंचित् लेखन एवम् कफ, वात, रक्तविकार, विष्टम्भ और आध्मान को दूर करने वाले होते हैं॥ १६-१८॥

अथ शालः (साखू)। तस्य नामानि गुणांश्चाह

शालस्तु सर्जकार्श्याश्वकर्णकाः शस्यशम्बरः। अश्वकर्णः कषायः स्याद् व्रणस्वेदकफक्रिमीन्॥
ब्रध्नविद्रधिबाधिर्ययोनिकर्णगदान् हरेत्॥ १९॥

साखू के संस्कृत नाम—शाल, सर्ज, कार्श्य, अश्वकर्णक और शस्यशम्बर ये सब हैं।

साखू—कषायरसयुक्त एवम्—व्रण, स्वेद, कफ, क्रिमि, ब्रध्न, विद्रधि, बहरापन एवं योनि तथा कर्णसम्बन्धी रोग को दूर करने वाला है॥ १९॥

९ शाल

हि०—शाल, साल, साखु, सखुआ। **बं०**—शालगाछ, सलूरा। **म०**—रालेचा वृक्ष। **गु०**—शलवृक्ष, रालनुं झाड़। **ते०**—जलरि चेट्टु, इनुमद्धि। **ता०**—कुंगिलियम्। **उरिया**—सल्व। **नेपा०**—सकब। **अं०**—The Sal tree (दि साल ट्री)। **ले०**—*Shorea robusta Gaertn. f.* (शोरीया रोबस्टा)। Fam. Dipterocarpaceae (डिप्टेरोकार्पेसी)।

शाल के वृक्ष बहुत बड़े विशाल होते हैं। ये हिमालय पहाड़, सतलज नदी से आसाम तक, मध्य हिन्दुस्तान के पूर्वीभाग, बंगाल के पश्चिमी भाग और छोटा नागपूर के जङ्गलों में होते हैं। इसके **पत्ते**—६-१०×४-६ इञ्च एवं बड़े अण्डाकार-आयताकार होते हैं। **फूल**—पीले रङ्ग के झुमकों में वसन्त ऋतु में लगते हैं और **फल**—छोटे होते हैं। इसकी लकड़ी बहुत मजबूत और बड़े काम की होती है। इसके गोंद को राल कहते हैं। फल वर्षा ऋतु के प्रारम्भ में पक जाते हैं।

शालसार ताजा काट कर निकालने पर लाल या सफेद दोनों तरह का होता है जिनमें से श्वेत शाल अच्छा माना जाता है। शाल के निर्यास को **राल** कहते हैं जिसका कर्पूरादि वर्ग में वर्णन किया जा चुका है।

नोट—यद्यपि भा० प्र० में अश्वकर्ण, शाल का पर्याय एवं अजकर्ण, सर्जक का पर्याय दिया है तथापि ये चार भिन्न वृक्ष हो सकते हैं क्योंकि सुश्रुत सालसारादिगण में साल, अजकर्ण एवं अश्वकर्ण नामक ३ वृक्ष तथा चरक में कषाय स्कन्ध में साल, सर्ज, अश्वकर्ण एवं अजकर्ण नामक ४ वृक्षों का वर्णन मिलता है। इस दृष्टि से अश्वकर्ण यह डिप्टेरोकार्पस ॲलेटस (Dipterocarpus alatus), हिं०-गर्जन एवं अजकर्ण यह टर्मिनेलिया टोमेन्टोझा (Terminalia tomentosa), हिं०-असन हो सकता है।

अथ शालभेदः (सर्जकः)। तस्य नामानि गुणांश्चाह

सर्जकोऽन्योऽजकर्णः स्याच्छालो मरिचपत्रकः॥ २०॥
अजकर्णः कटुस्तिक्तः कषायोष्णो व्यपोहति। कफपाण्डुश्रुतिगदान् मेहकुष्ठविषव्रणान्॥२१॥

सर्ज (यह साखू का भेद है) के संस्कृत नाम—सर्जक, अजकर्ण, शाल और मरिचपत्रक ये सब हैं।

सर्ज—कटु तिक्त तथा कषायरसयुक्त, उष्ण एवम् कफ, पाण्डु, कर्णसम्बन्धी रोग, प्रमेह, कुष्ठ, विष तथा व्रण को दूर करने वाला होता है॥ २०-२१॥

१० सर्जक

हि०—बड़ा साल। **बं०**—कुन्द्रो। **म०**—सफेद डामर, चन्द्रस। **गु०**—धूप। **क०**—दमर। **ते०**—तेल्लदामरमु। **ता०**—वेल्ल कुंगुरिकम्। **यूना०**—संद्रस, सुंद्रस। **ले०**—*Vateria indica Linn.* (वेटेरिया इण्डिका)। Fam. Dipterocarpaceae (डिप्टेरोकार्पेसी)।

यह पश्चिम भारत और दक्षिण हिन्दुस्तान के जंगलों में बहुत होता है। इसका **वृक्ष** बहुत हरा भरा और सुहावना दिखाई पड़ता है। पत्ते—४ से १० इञ्च तक लम्बे तथा ३॥ इञ्च तक चौड़े, जड़ की ओर गोलाकार और अण्डाकार होते हैं। फूल—आध से पौन इञ्च के घेरे में गोलाकार होते हैं। फल—२-२॥ इञ्च लम्बे गोल होते हैं।

अथ शल्लकी (सलई)। तस्या नामानि गुणांश्चाह

शल्लकी गजभक्ष्या च सुवहा सुरभी रसा। महेरुणा कुन्दुरुकी वल्लकी च बहुस्रवा॥२२॥
शल्लकी तुवरा शीता पित्तश्लेष्मातिसारजित्। रक्तपित्तव्रणहरी पुष्टिकृत्समुदीरिता॥२३॥

सलई के संस्कृत नाम—शल्लकी, गजभक्ष्या, सुवहा, सुरभि, रसा, महेरुणा, कुन्दुरुकी, वल्लकी और बहुस्रवा ये सब हैं।

सलई—कषाय रसयुक्त, शीतल, पुष्टिकारक एवम्-पित्त, कफ, अतिसार, रक्तपित्त तथा व्रण को दूर करने वाली कही हुई है॥ २२-२३॥

११ सालई

हि—सालई, सलई। **बं०**—सले। **म०**—सालई वृक्ष। **गु०**—शालेडुं, धूपडो, सालेडा। **कुमाऊँ**—अदुंकु। **गोंड**—सल्ल। **संताल**—सास्गा। **क०**—मादिमर। **ता०**—कुंदुरुकम्। **मा०**—सेलो। **ते०**—परंगिसाम्राणि। **ले०**—*Boswellia serrata Roxb.* (बॉस्वेलिया सेरेटा)। Fam. Burseraceae (बर्सेरेसी)।

यह पश्चिम हिमालय के नीचे के जंगलों में, मध्य भारत, बिहार से राजपूताना तक, दक्षिण और कोंकण आदि प्रान्तों में होता है। आसाम तथा बंगाल में नहीं होता।

शालई का **वृक्ष** ३० फीट तक ऊँचा होता है। शाखाएँ नीचे की ओर झुकी हुई होती हैं। **छाल**—रक्ताभपीत या हरित श्वेत, चिकनी और कागज के समान छूटने वाली होती है। संयुक्त पत्तियाँ शाखाओं के अग्रपर दलबद्ध रहती हैं। पत्रक—आमने-सामने वा कुछ अन्तर देकर, ८ से १५ जोड़े होते हैं जो लम्बे, नीम के पत्तों के समान भालाकार या रेखाकार तथा दन्तमय धारवाले होते हैं। **पुष्प**—छोटे एवं श्वेत रङ्ग के होते हैं। पुष्प के बाह्य कोश एवं आभ्यंतरकोश के दल ५-५; पुंकेशर ५ बड़े और ५ छोटे होते हैं। **फल**—मांसल और तीन धार वाला होता है जो पकने पर तीन भागों में फटता है।

रासायनिक संगठन—इसकी छाल में चीरा लगाने से एक तरह का गोंद निकलता है जिसे 'सलईगूगल' कहते हैं। प्राचीनों ने इसी को कुन्दुरु लिखा है लेकिन आजकल बाजार में बिकने

वाला कुन्दुरु इसी जाति के विदेशी वृक्ष, बॉ० फ्लोरिबंडा का गोंद है जो अरब एवं अफ्रीका से आता है। 'कुन्दुरु एवं सलई गूगल' का वर्णन पहले कर्पूरादि वर्ग में (पृष्ठ २१२) किया जा चुका है।

गुण और प्रयोग—सलई की छाल शीतल, पुष्टिकर, ग्राही तथा त्वच्य होती है।

इसका प्रयोग अतिसार, रक्तातिसार, रक्तपित्त, अर्श, कुष्ठ एवं व्रण में किया जाता है।

(१) अतिसार में इसकी छाल, शर्करा तथा मधु का उपयोग किया जाता है। रक्तातिसार में इसे दूध में घिसकर शहद मिलाकर पिलाते हैं।

(२) श्वास में इसके चूर्ण को घृत एवं मधु के साथ चटाया जाता है।

(३) अन्य द्रव्यों के साथ इसके क्वाथ से व्रण-प्रक्षालन किया जाता है।

(४) सलई के फल तथा फूल का उपयोग कफविकार, वातविकार, अर्श, कुष्ठ तथा अरुचि में किया जाता है।

मात्रा—त्वक्चूर्ण ३-६ माशा।

अथ शिंशपा (शीसम)। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

शिंशपा पिच्छिला श्यामा कृष्णसारा च सा गुरु।
कपिला सैव मुनिभिर्भस्मगर्भेतिकीर्तिता॥
शिंशपा कटुका तिक्ता कषाया शोषहारिणी। उष्णवीर्या हरेन्मेदःकुष्ठश्वित्रवमिक्रिमीन्॥
वस्तिरुग्व्रणदाहास्रबलासान् गर्भपातिनी॥ २५॥

शीसम के संस्कृत नाम – शिंशपा, पिच्छिला, श्यामा और कृष्णसारा ये सब हैं। यदि वही शीसम भारी एवं कपिल (भूरा) रङ्ग का हो तो उसका संस्कृत नाम—'भस्मगर्भा' है।

शीसम—कटु, तिक्त तथा कषायरसयुक्त, उष्णवीर्य, गर्भगिराने वाला एवम्–शोष, मेद, कुष्ठ, श्वेतकुष्ठ, वमन, क्रिमि, वस्तिसम्बन्धी रोग, व्रण, दाह, रक्तविकार और कफ का नाशक है॥

१४ शीसम

हि०–सीसम; कपिलवर्ण–शीसम, शीशो, शीसव। बं०–शिशु। म०–शिसव। गु०–सीस। क०–अगरू गिड़। ते०–सिंशुप। ता०–गेट्टे। ले०–*Dalbergia sissoo Roxb.* (डालबर्जीया सिस्सू)। Fam. Leguminosae (लेग्युमिनोसी)।

सीसो के वृक्ष प्रायः सब प्रान्तों में लगाये जाते हैं तथा पश्चिम हिमालय में ४००० फीट तक, नेपाल की तराई, सिक्किम तथा ऊपरी आसाम के जंगलों में पाये जाते हैं। इसका वृक्ष बड़ा और विशाल हुआ करता है। इसकी लकड़ी मजबूत होती है। इसके लकड़ी से बहुत सुन्दर सन्दूक, पलङ्ग, प्रभृति अनेक वस्तुएं तैयार होती हैं। इसके पत्ते–गोल, नोकदार, बेर के पत्तों के समान पर इनसे कुछ बड़े तथा पाढ़ी के पत्तों के समान होते हैं। ये चिकने और ऊपर से चमकीले होते हैं। फूल–बहुत छोटे २ गुच्छों में और फली–लम्बी, पतली और चिपटी होती है। बीज–छोटे २ और चिपटे होते हैं। इसकी लकड़ी श्यामता और ललाई लिये भूरे रङ्ग की दृढ़ होती है।

इसकी एक अन्य जाति डा० लेटिफोलिया (D. latifolia Roxb.) होती है जिसकी लकड़ी भी फर्नीचर बनाने के काम में आती है जिसे अंग्रेजी में इंडियन रोजवुड (Indian Rosewood) कहते हैं।

रासायनिक संगठन—लकड़ी के सार में ५·३५% गाढा तेल होता है। फली में टैनिन २% होता है।

गुण और प्रयोग—इसकी लकड़ी चर्मरोग एवं वमन में लाभदायक है। इसके पत्तों का क्वाथ सोजाक में देते हैं। इसका तेल व्रणशोधन है एवं कुष्ठ, कृमि, वातविकार एवं कफनाशक है।

मात्रा—सार-लकड़ी ५ से ७ माशा।

अथ ककुभः (अर्जुन)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

ककुभोऽर्जुननामाख्यो नदीसर्जश्च कीर्त्तितः। इन्द्रद्रुर्वीरवृक्षश्च वीरश्च धवलः स्मृतः॥२६॥
ककुभः शीतलो हृद्यः क्षतक्षयविषास्रजित्। मेदोमेहव्रणान् हन्ति तुवरः कफपित्तहृत्॥२७॥

अर्जुन के संस्कृत नाम—ककुभ, अर्जुन के संज्ञावाचक सभी शब्द (जैसे अर्जुन, गाण्डीवी, पार्थ, धनञ्जय, कर्णारि आदिक), नदीसर्ज, इन्द्रद्रु, वीरवृक्ष, वीर और धवल ये सब हैं।

अर्जुन—कषाय रसयुक्त, शीतल, हृद्य (हृदय को हितकर) एवम्–क्षत, क्षय, विष, रक्तविकार, मेद, प्रमेह, व्रण (प्रमेह सम्बन्धी व्रण), कफ तथा पित्त का नाशक होता है॥ २६–२७॥

१३ अर्जुन

हि०–अर्जुन, कहू, कोह। बं०–अर्जुन गाछ। म०–अर्जुन, अर्जुन सादड़ा। गु०–अर्जुन। पं०–जुमरा। ते०–तेल्लमद्दि। क०–मद्दि। ता०–मरुदमरम्। ले०–*Terminalia arjuna W. & A.* (टर्मिनेलिया अर्जुन)। Fam. Combretaceae (कॉम्ब्रेटेसी)।

यह सब प्रान्तों में कहीं न कहीं पाया जाता है किन्तु हिमालय की तराई, छोटा नागपूर, मध्यभारत, बंबई एवं मद्रास में अधिक होता है।

इसका वृक्ष—६०–७० फीट तक ऊँचा होता है। **पत्ते**–अमरूद के पत्ते के समान ४ से ६ इञ्च तक लम्बे, छोटी २ टहनियों पर कहीं विपरीत और कहीं एकान्तर लगे रहते हैं। इसके पीले रङ्ग के नन्हें २ **फूलों** के वनहरे से आते हैं। **फल**–कमरख के समान ५ पहल वाले, १–२॥ इञ्च लम्बे एवं कुछ अण्डाकार होते हैं॥ १३॥

इसकी छाल का प्रयोग किया जाता है। यह मोटी, चिकनी, गुलाबीपन लिये धूसर या श्वेताभ होती है तथा पतले परतों में छूटती है। बजार में इसके टुकड़े चपटे या कुछ मुड़े हुवे, ६ इञ्च या अधिक लंबे, ४ इञ्च चौड़े एवं ०·१–०·४ इञ्च मोटे मिलते हैं। अन्दर से यह हलकी धूसर एवं सूक्ष्म धारीदार होती है। भग्न छोटा तथा गुलाबीपन लिये हुवे; स्वाद कषाय रहता है।

रासायनिक संगठन—इसकी छाल में जल-विलेय चूने (Calcium) के लवण बहुत (२५%) होते हैं। इसके अतिरिक्त टैनिन १५·८%, रवेदार पदार्थ अर्जुनाइन, शर्करा, अल्प मात्रा में मैग्नेशियम् के लवण, रंजक द्रव्य एवं सेन्द्रीय अम्ल पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—अर्जुन शीतवीर्य, कफ-पित्तशामक, हृद्य, हृदयोत्तेजक, रक्तसंग्राहिक, शोणितास्थापन, शोथघ्न, संधानीय एवं व्रणरोपण है।

इसका उपयोग हृदय के विकार, क्षतक्षय, कास, विष, रक्तविकार, रक्तपित्त, प्रमेह, ज्वर एवं व्रण में किया जाता है।

(१) हृदय के सभी प्रकार के रोगों में इसकी छाल को दूध में क्षीरपाक विधि से पकाकर देना चाहिये।

(२) रक्तपित्त में इसको देने से रक्तवाहिनियों का संकोच होकर तथा इसमें के चूने के कारण रक्त का जमने का कार्य बढने से लाभ होता है।

(३) व्रण, अस्थि भग्न, शोथ आदि में इसका बाह्य एवं आभ्यन्तर प्रयोग किया जाता है।

नोट—अर्जुन के कर्मों के विषय में प्राचीन एवं नवीन आचार्यों में पर्याप्त मतभिन्नता है। आधुनिक वैज्ञानिकों का मत है कि इसका प्रभाव केवल इसमें के चूना एवं सेन्द्रीय अम्लों के कारण है। इस सम्बन्ध में विस्तृत अनुसंधान आवश्यक है। संभव है अर्जुन यह टर्मिनेलिया से अतिरिक्त अन्य कोई वृक्ष हो। इस दृष्टि से आगे तिनिश के साथ वर्णित जारूल वृक्ष के विषय में विचार आवश्यक है जिसे कहीं-कहीं अर्जुन कहा गया है।

मात्रा—त्वक् ½ से १ तोला क्षीरपाक बनाकर; चूर्ण १ से ३ माशा।

अथ बीजकः (विजयसार)। तस्य नामानि गुणांश्चाह

बीजकः पीतसारश्च पीतशालक इत्यपि। बन्धूकपुष्पः प्रियकः सर्जकश्चासनः स्मृतः ॥२८॥
बीजकः कुष्ठवीसर्पश्वित्रमेहगुद क्रिमीन्[1]। हन्ति श्लेष्मास्त्रपित्तञ्च त्वच्यः केश्यो रसायनः॥२९॥

विजयसार के संस्कृत नाम—बीजक, पीतसार, पीतशालक, बन्धूकपुष्प, प्रियक, सर्जक और असन ये सब हैं।

विजयसार—त्वचा के लिये हितकर, बालों को उत्तम बनाने वाला, रसायन एवम्–कुष्ठ, वीसर्प, श्वेतकुष्ठ, प्रमेह, गुदा के कृमि, कफ, रक्तविकार, पित्त या रक्तपित्त को दूर करने वाला है॥

नोट—निघंटुओं ने बीजक एवं असन को एक वृक्ष माना है किन्तु ये दोनों भिन्न हैं। असन यह शाल या सर्जभेद है जिसका ले० नाम टर्मिनेलिया टोमेन्टोजा (Terminalia tomentosa) है। बंबई की तरफ 'असाना' नाम से ब्रिडेलिया मॉन्टेना (Bridelia montana Willd.) को ग्रहण किया जाता है।

१४ विजैसार

हिं०—विजयसार, विजेसार, विजैसार। **बं०**–पियाशाल, पीतशाल। **म०**–बिबला। **गु०**–बीयों। **ते०**–वेगि। **क०**–होन्नेमर। **मा०**–बिजैसार। **अ०**–दम्म उल अखवैन हिन्दी। **अं०**–Indian Kino tree (इण्डियन् काइनो ट्री)। **ले०**–*Pterocarpus marsupium Roxb.* (टेरोकार्पस् मार्सुपियम्)। Fam. Leguminosae (लेग्युमिनोसी)।

यह दक्षिण भारत, बिहार और पश्चिमी प्रायद्वीप में होता है।

इसका वृक्ष–सुन्दर बहुत बड़ा किन्तु अचिरस्थायी होता है। छाल–तिहाई इञ्च मोटी, पीताभ धूसर रङ्ग की खुरदरी होती है। **पत्ते**—पक्षवत् एवं ५–७ पत्रक युक्त जो आयताकार या अण्डाकार, ३–५ इञ्च लंबे, कुण्ठित या नताग्र, ऊपरी तल पर चमकीले एवं प्रधान शिराएँ अनेक एवं स्पष्ट होती हैं। **फूल**–चौथाई इञ्च के घेरे में किंचित् पीले या सफेद मंजरियों में आते हैं। **फलियाँ**–१–२ इञ्च व्यास में, गोल एवं चिपटी होती हैं जिसमें छोटे बीज होते हैं। छाल में घाव करने से लाल रस निकलता है जो कुछ दिनों में सूखकर काला और कड़ा हो जाता है। इसको उबाल कर सुखाकर काम में लाते हैं। इसको मलाबार काइनो (Malabar kino) कहते हैं।

यह गाढ़े लाल रंग के, चमकीले, पहलदार टुकड़ों में होता है। इसे किनारे से देखने से मानिक की तरह लाल पारदर्शक दिखलाई देता है। इसको तोड़ने से भूरे रंग का चूरा निकलता है

१. व्रणक्रिमीन् इति पाठा०।

तथा सतह चमकीली होती है। इसे चबाने से यह दांत में चिपकता है तथा लार, लाल हो जाती है। इसमें गंध नहीं होती तथा स्वाद कषाय रहता है। रखने से इसका कषायत्व कम हो जाता है। इसके गोंद एवं काष्ठसार का उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—गोंद में काइनो टैनिक एसिड (Kino tannic acid) पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह शीत, कफपित्तशामक, रसायन एवं प्रमेहनाशक है। इसका उपयोग प्रमेह, कुष्ठ, चर्मरोग, रक्तपित्त एवं रक्तविकार में किया जाता है। इसका गोंद तीव्र संग्राहक है एवं छाल ग्राही है।

(१) अतिसार, प्रवाहिका में गोंद खिलाते हैं। दाँत के दर्द में दांत में इसे रखते हैं।
(२) प्रमेह में इसके काण्डसार का क्वाथ पिलाते हैं।
(३) पत्तों का लेप शोथ एवं त्वचा के रोगों पर किया जाता है।

मात्रा—गोंद २ से ८ रत्ती; चूर्ण ३ से ६ माशा; क्वाथ ५ से १० तोला।

अथ खदिरः। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

खदिरो रक्तसारश्च गायत्री दन्तधावनः। कण्टकी बालपत्रश्च बहुशल्यश्च यज्ञियः॥ ३० ॥
खदिरः शीतलो दन्त्यः कण्डूकासारुचिप्रणुत् ॥ ३१ ॥
तिक्तः कषायो मेदोघ्नः कृमिमेहज्वरव्रणान्। श्वित्रशोथामपित्तास्रपाण्डुकुष्ठकफान् हरेत्॥

खैर के संस्कृत नाम—खदिर, रक्तसार, गायत्री, दन्तधावन, कण्टकी, बालपत्र, बहुशल्य और यज्ञिय ये सब हैं।

खैर–तिक्त तथा कषायरसयुक्त, शीतल, दाँतों के लिए हितकर एवम् खुजली, खांसी, अरुचि, मेद, कृमि, प्रमेह, ज्वर, व्रण, श्वेतकुष्ठ, शोथ, आम, पित्त, रक्तविकार, पाण्डु, कुष्ठ तथा कफ को दूर करने वाला है॥ ३०–३२ ॥

१५ खैर

हि०–खैर, कत्था। **ब०**–खयेर गाछ। **म०**–खैर, काथ। **गु०**–खेर, काथो। **ते०**–चंड्र। **ता०**–करंगालि। **अं०**–Black Catechu (ब्लैक कॅटेच्यु)। **ले०**–*Acacia catechu Willd* (ॲकेसिया कटेच्यु)। Fam. Leguminosae (लेग्युमिनोसी)।

यह भारत में अनेक स्थानों पर होता है। पंजाब, उत्तर पश्चिम हिमालय, मध्यभारत, बिहार, गंजम, कोंकण एवं दक्षिण में विशेष रूप से शुष्क जंगलों में होता है।

इसका वृक्ष, मध्यम प्रमाण का, काँटेदार, होता है। छाल गहरे धूसराभ भूरे रंग की, ½ इञ्च मोटी एवं लंबे परतों में छूटने वाली तथा अन्दर से भूरी या लाल होती है। शाखाएं पतली होती हैं। काँटे युग्म, टेढे, चमकीले भूरे या काले एवं ये उपपत्रों के रूपान्तर होते हैं। **पत्र**–१०–१५ से मी० लंबे एवं वृन्त पर काँटे तथा ४–५ ग्रन्थियाँ होती हैं। उपपक्ष २०–६०, ३·८–५ से मी० लंबे होते हैं। पत्रक-प्रत्येक उपपक्ष पर ६०–१०० की संख्या में, ४·५–६ × १·२५ मि० मी० बड़े, रेखाकार तथा अवृन्त होते हैं। **पुष्प**–छोटे, श्वेताभ या हलके पीले, ५–१० से मी० लंबी मंजरियों में आते हैं। आभ्यन्तर कोश बाह्य कोश से लगभग दूना रहता है। **फली**–५–७·५ से० मी० लंबी, १–१·६ से० मी० चौड़ी, चिपटी, पतली, धूसर, चमकीली एवं उसका अग्र नोकीला त्रिकोणाकार एवं मूल संकुचित होकर ३–६ मि० मी० लंबा, नाल सदृश हो गया

रहता है। बीज-३-१० की संख्या में रहते हैं। इसके अन्य भेदों का वर्णन स्वतन्त्र किया गया है।

कुछ पुराने वृक्षों के काष्ठ के अन्दर दरारों में एक रवेदार या चूर्ण रूप में कृष्णाभ श्वेत पदार्थ जमा पाया जाता है जिसे **खदिरसार** (खेरसाल) कहते हैं। यह बहुत महंगा होता है तथा खांसी एवं गले के विकारों में काम में आता है।

खैर के सार (अन्दर की लकड़ी) भाग को जल के साथ उबालकर कत्था निकालते हैं जो प्रधान रूप से दो प्रकार का होता है। प्रथम धूसर रंग का खाने के या औषध के काम आता है तथा दूसरा लाली लिये भूरा या हलका नारंगी विभिन्न उद्योगों में, एक तीसरा प्रकार बम्बई की तरफ सुपाड़ी से बनाया हुआ भी मिलता है। एक चौथा कत्था विदेशी वृक्ष अंकेरिया गम्बीर (Uncaria gambir Roxb. Fam. Rubiaceae) से प्राप्त होता है।

रासायनिक संगठन—इसकी अन्दर की लकड़ी में कैटेचिन (Catechin) एवं कैटेचूटैनिक ऍसिड (Catechutannic acid) होते हैं जिनमें से इसका कषायत्व दूसरे वाले द्रव्य के कारण होता है जो कत्थे में करीब ५०% होता है।

गुण और प्रयोग—खैर शीत, ग्राही, कफ, शुक्र को सुखाने वाला, रक्तपित्त-प्रशमन एवं पाचन है। इसका प्रयोग कुष्ठ, चर्मरोग, खांसी तथा गला, मुख, मसूड़े की शिथिलता, अतिसार, प्रमेह, रक्तविकार एवं व्रण में किया जाता है। कत्थे में भी यही गुण हैं।

(१) कुष्ठ में इसको खिलाते हैं तथा इससे स्नानादि भी कराते हैं।

(२) संग्रहणी, अतिसार तथा खट्टी डकार में कत्था उपयोगी है।

(३) खांसी विशेष रूप से शुष्क कास में इसको मुंह में चूसने के लिये देते हैं। कफ युक्त खांसी में इससे कफ कम होता है।

(४) मसूड़े से खून आता हो तो इसके क्वाथ से कुल्ला कराते हैं।

(५) मुख में छाले पड़ गये हों तब कत्थे को चूसने को देते हैं।

मात्रा—त्वक् चूर्ण १ से ३ माशा; कत्था १ से ६ रत्ती; क्वाथ ५ से १० तोला।

अथ श्वेतखदिरः (पपरिया कत्था)। तस्य नामानि गुणांश्चाह

खदिरः श्वेतसारोऽन्यः कदरः सोमवल्कलः। कदरो विशदो वर्ण्यो मुखरोगकफास्रजित्॥

सफेद खैर के संस्कृत नाम—श्वेतखदिर, श्वेतसार, कदर और सोमवल्कल ये सब हैं।

सफेद खैर—विशद गुणयुक्त, वर्ण को उत्तम बनाने वाला एवम्—मुखरोग, कफ तथा रक्तविकार को दूर करने वाला है॥ ३३॥

१६ सफेद खैर

हि०—सफेद खैर, पपरिया खैर। **बं०**—श्वेत खदिर। **म०**—पांढरा खैर। **गु०**—गोरड, खेर धोळा **सार** वाळो। **क०**—बिळिय तर्जि, बिळियर्ति। **ते०**—तेल चंड। **ता०**—कोविल। **ले०**—*Acacia suma Kurg.* (अंकेसिया सुमा)। Fam. Leguminosae (लेग्युमिनोसी)।

यह बंगाल, बिहार एवं पश्चिम प्रायद्वीप आदि प्रान्तों में पाया जाता है।

इसका वृक्ष-खदिर वृक्ष के समान ही होता है। इसमें केवल छाल सफेद तथा शाखाएं टेढ़ी-मेढ़ी होती हैं। आभ्यन्तर कोश बाह्य कोश से अधिक बड़ा नहीं होता। सफेद खैर का एक अन्य भेद A. ferruginea (अं. फेरूजिनिया), गुजरात, बरार तथा दक्षिण में मिलता है।

गुण और प्रयोग—यह खदिर के समान ही होने से उसी की तरह इसके भी गुण-कर्म हैं।

अथ इरिमेदः। तस्य नामानि गुणांश्चाह

इरिमेदो विट्खदिरः कालस्कन्धोऽरिमेदकः। इरिमेदः कषायोष्णो मुखदन्तगदास्रजित्।
हन्ति कण्डूविषश्लेष्मकृमिकुष्ठविषव्रणान्॥ ३४॥

दुर्गन्ध खैर के संस्कृत नाम—इरिमेद, विट्खदिर, कालस्कन्ध और अरिमेदक ये सब हैं।

दुर्गन्ध खैर-कषायरसयुक्त, उष्ण एवम्—मुख तथा दांत सम्बन्धी रोग, रक्तविकार, खुजली, विष, कफ, कृमि, कुष्ठ, विष-व्रण को दूर करने वाला है॥ ३४॥

१७ दुर्गन्ध खैर

हि०—दुर्गन्ध खैर, गन्धबबूल, गुआ-बबूल। **बं०**—गुया बाब्ला। **म०**—गुआबाभूल, घाणेरा खेर। **गु०**—गन्धिलो खर, इरिमेद। **अं०**—The Cassie Flower (दी केसी फ्लावर)। **ले०**—*Acacia farnesiana Willd.* (अंकेसिया फार्नेसियाना)। Fam. Leguminosae (लेग्युमिनोसी)।

यह प्रायः सब प्रान्तों में पाया जाता है तथा लगाया भी जाता है।

इसका वृक्ष छोटा या झाड़ बड़ा १५ फीट तक कांटेदार होता है। छाल-हलके भूरे रङ्ग की खरदरी होती है। कांटे मुलायम चौथाई से आध इञ्च लम्बे सीधे होते हैं। पत्ते-उपपक्ष ४-८ जोड़े, ½-१ इञ्च या १½ इञ्च लंबे और प्रत्येक उपपक्ष में पत्रक १०-२० जोड़े एवं पर्णवृन्त छोटा तथा एक ग्रंथि से युक्त होता है। पुष्प गुच्छ-१-१½ इञ्च लंबे आते हैं। पुष्प-गहरे नारंग वर्ण के सुगन्धित होते हैं। फली-२-३ इञ्च लंबी, टेढ़ी, अस्फोटी और लम्बगोल होती है।

इसकी जड़ तथा जड़ की छाल में तीव्र दुर्गन्ध होने के कारण इसे विट्खदिर कहा जाता है। यह नवंबर से मार्च तक पुष्पित होता है तथा इसके पुष्पों का सुगंध भी निकाला जाता है। इससे गोंद भी प्राप्त होता है।

बिलायती बबूल, रेंवा (Acacia leucophloea Willd.) को भी कुछ इरिमेद मानते हैं।

रासायनिक संगठन—इसकी फली एवं छाल में टैनिन होता है। फूलों से इत्र निकाला जाता है।

गुण और प्रयोग—बबूल की तरह ही है। छाल ग्राही तथा स्नेहन होती है। कोमल पत्तों को पीसकर सोजाक में देते हैं। शुक्रतारल्य में छाल का प्रयोग करते हैं।

अथ रोहीतकः (रोहेड़ा) तस्य नामानि गुणांश्चाह

रोहीतको रोहितको रोही दाडिमपुष्पकः। रोहीतकः प्लीहघाती रुच्यो रक्तप्रसादनः॥३५॥

रोहेड़ा के संस्कृत नाम—रोहीतक, रोहितक, रोही तथा दाडिमपुष्पक ये सब हैं।

रोहेड़ा—रुचिकारक, रक्त को साफ करने वाला एवम् प्लीहा को नष्ट करने वाला है॥३५॥

१८ रोहेड़ा

हि०—रोहेड़ा, रोहिड़ा, रोहेड़ा। **म०**—रोहिड़ा। **गु०**—रोहिड़ो। **ले०**—*Tecomella undulata Seem.* (टेकोमेला अण्डयूलेटा)। Fam. Bignoniaceae (बिगनोनिएसी)।

यह सिन्ध, पञ्जाब, गुजरात और राजपूताना से पूर्व की ओर यमुना तक पाया जाता है।

इसका वृक्ष–झाड़दार मध्यमाकार का होता है और बारहो मास हरा भरा रहता है। **पत्ते**–५–१२·५×१–३·२ से. मी. बड़े, लंबे आयताकार, कुण्ठिताग्र, अखण्ड एवं लहरदार धार वाले और देखने में अनारपत्र के समान मालूम पड़ते हैं। **फूल**–अनार के फूल के समान अत्यन्त लाल या नारंगी रंग के आते हैं। **फलियां**–६–७ इञ्च लम्बी, तिहाई इञ्च चौड़ी और पतली एवं कुछ टेढ़ी होती हैं। **बीज**–२·५×१ से० मी० (पक्षसहित) बड़े होते हैं।

इसकी छाल का प्रयोग किया जाता है। **छाल**–३–८ मि. मी. मोटी, कुछ मुड़ी हुई, बाहर से खुरदरी, धूसर या कुछ श्वेताभ भूरे रंग की, लंबे एवं आडे बल में फटने से विभिन्न आकार के भागों में फटी हुई सी, भीतर से चिकनी पीताभ भूरी तथा भग्न छोटा एवं अन्दर की तरफ रेशेदार होता है। इसका स्वाद कषाय तथा तिक्त होता है।

नोट—रोहितक के विषय में विद्वानों में मतभेद हैं। रा० नि० ने इसके दो भेद श्वेत तथा रक्त माने हैं। इसके पर्याय दाडिम पुष्प एवं दाडिमच्छद ठीक मालूम पड़ते हैं। टे० अण्डयूलेटा के पत्ते एवं फूल अनार की तरह होते हैं। इस दृष्टि से यही शास्त्रीय रोहीतक मालूम पड़ता है।

रोहीतक नाम से व्यवहार में लाया जाने वाला अन्य वृक्ष अमूरा रोहीतक (Amoora rohituka W. & A.); मेलियसी (Fam. Meliaceae) है। यह उत्तरप्रदेश में गोंडा से पूर्व की तरफ, बंगाल, आसाम तक एवं दक्षिण में पाया जाता है। इसका वृक्ष–छोटा, सुन्दर, शाखाएँ नीचे झुकी हुई। पत्ते–पक्षवत् १–३ फीट लंबे; पत्रक ४–७ जोड़े, ३–९ × ½–४ इञ्च बड़े, अखण्ड, चिकने, तीक्ष्णाग्र, कुछ कुछ लम्बाग्र, एवम् फलकमूल तिरछा होता है। पुष्प–छोटे, श्वेत, एकलिंग होते हैं। फल–३खण्ड का पीला तथा१½ इञ्च व्यास में होता है। बीज–नारंगी लाल रङ्ग के होते हैं जिनमें तेल होता है। इस तेल को आमवात में मलने के काम में लिया जाता हैं। इसकी छाल–२ से ८ मि. मि. मोटी, बाहर से एक समान, गहरे भूरे रङ्ग की तथा अन्दर से रक्ताभ भूरी, बाहर से लंबाई में फटी हुई एवं सूक्ष्म आड़ी धारियों तथा कुछ वल्सेवों से युक्त होती है। इसका स्वाद कषाय होता है तथा यह **ग्राही** है। ध० नि० ने रोहीतक को सारक लिखा है इस दृष्टि से प्रथम टे० अण्डयूलेटा के ही रोहीतक होने की अधिक संभावना है।

बाजार में रोहीतक नाम से फरहद की छाल मिलती है। यह ५–१५ मि० मि० मोटी, खुरदरी, बाहर से भूरे या श्वेताभ और हलके पीताभ रङ्ग (Buff colour) के भागों में फटी हुई, अन्दर से पीताभभूरी एवं लंबाई में धारीदार चिकनी होती है। इसमें कोई स्वाद नहीं रहता।

चरक चि० अ० १३ में रोहितक लता का उल्लेख है जिससे ऐसा मालूम पड़ता है कि कोई ऐसी लता भी थी जिसका उपयोग रोहीतक नाम से किया जाता था।

गुण-कर्म—रोहीतक तिक्त, कषाय, शीत, कफ-पित्तशामक, सारक एवं यकृत, प्लीहा, गुल्म एवं उदररोग को दूर करने वाली है। इसका यकृत तथा प्लीहा वृद्धि में विशेष उपयोग किया जाता है।

मात्रा—त्वक्चूर्ण १ से ३ माशा; क्वाथ में ½–१ तोला।

अथ बब्बूलः (बबूर)। तस्य नामानि गुणांश्चाह

बब्बूलः किङ्किरातः स्यात्किङ्किराटः सपीतकः ॥ ३६ ॥
स एव कथितस्तज्ज्ञैराभाषट्पदमोदिनी। बब्बूलः कफनुद् ग्राही कुष्ठक्रिमिविषापहः ॥३७॥

बबूर के संस्कृत नाम—बब्बूल, किङ्किरात, किङ्किराट, सपीतक तथा आभाषट्पदमोदिनी ये सब द्रव्य-गुण के जानने वालों ने बतलाये हैं।

बबूर—ग्राही एवम्-कफ, कुष्ठ, क्रिमि तथा विष का नाशक है ॥ ३६–३७ ॥

१९ बबूल

हि०–बबूर, बबूल, कीकर। बं०–बाबला। म०–बाभूल। गु०–बावल। क०–पुलई। ते०–नल्लतुम्म। ता०–करू बेलमरम्। फा०–मुगिलाँ। अ०–अमुगिलाँ। ले०–*Acacia arabica Willd.* (अकेसिया अरेबिका)। Fam. Leguminosae (लेग्युमिनोसी)।

यह सिंध तथा डेक्कन का आदिवासी होते हुवे भी अब सभी स्थानों में पाया जाता है।

इसका वृक्ष–मध्यमाकार का, कंटक युक्त, होता है। छाल–गहरे भूरे या काले रंग की एवं लम्बाई में फटी हुई होती है। पत्ते–संयुक्त; उपपक्ष ४–९ जोड़े, २·५ से० मी० लम्बे; पत्रक १०–२५ जोड़े, ३–६×१·२–२ मि० मि० बड़े, रेखाकार होते हैं। पुष्प–चमकीले पीले, गोल एवं मधुर गन्धि होते हैं। फली–३–६ इञ्च लम्बी, ०·५ इञ्च चौड़ी, माला की तरह बीच-बीच में सिकुड़ी हुई, टेढ़ी, मृदु रोमश एवं ८–१२ बीजों से युक्त होती है। कांटे सीधे, नुकीले तथा पर्णवृन्त के नीचे जोड़ी में आते हैं।

इसका गोंद विभिन्न आकार एवं नाप के टुकड़ों में, भूरा, लाल या हलका पीला, गन्धहीन, स्वादहीन एवं अपने से दुगने जल में पूर्णतः घुलनशील होता है।

इसका गोंद, छाल एवं फली का उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—गोंद में अॅरेबिक् अॅसिड के साथ बने चूना तथा मॅग्नेशियम् के लवण होते हैं। इसकी छाल में १२%, तथा फली में २०% तक टैनिन होता है।

गुण और प्रयोग—इसका गोंद स्नेहन, ग्राही तथा **पौष्टिक** है। मुख के छाले, शुष्क कास, गले का सूखना आदि में इसको चूसने से लाभ होता है। मूत्रकृच्छ्र, अतिसार तथा मधुमेह में इसको खिलाते हैं। इसकी छाल संग्राहक है। इसके क्वाथ के गण्डूष से मुखरोग, दांत हिलना तथा गले की शिथिलता में लाभ होता है।

इसकी फली का चूर्ण चीनी मिलाकर स्वप्नदोष, शीघ्रपतन आदि में देते हैं।

मात्रा—फली चूर्ण ३ से ६ माशा; गोंद ३ से ६ माशा।

अथारिष्टकः (रीठा)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

अरिष्टकस्तु मङ्गल्यः कृष्णवर्णोऽर्थसाधनः। रक्तबीजः पीतफेनः फेनिलो गर्भपातनः ॥
अरिष्टकस्त्रिदोषघ्नो ग्रहजिद् गर्भपातनः ॥ ३८ ॥

रीठा के संस्कृत नाम—अरिष्टक, मङ्गल्य, कृष्णवर्ण, अर्थसाधन, रक्तबीज, पीतफेन, फेनिल और गर्भपातन ये सब हैं।

रीठा—त्रिदोषनाशक, ग्रहबाधा को दूर करने वाला एवम् गर्भ को गिराने वाला है ॥ ३८ ॥

२० रीठा

हि०–रीठा। बं०–रीठेगाछ। म०–रीठा, रिठा। गु०–अरीठा। ते०–कुंकुडु। क०–कुकुटेकायि। ता०–पोन्नान कोट्टइ। अ०–बुन्दक हिन्दी। फा०–फुन्दुके फारसी। अं०–Soap nut Tree of North India (सोपनट ट्री ऑफ नार्थ इण्डिया)। ले०–*Sapindus mukorossi Gaertn.* (सेपिन्डस मुकोरोसी)। Fam. Sapindaceae (सेपिन्डेसी)।

उत्तर पश्चिम भारत, बंगाल तथा आसाम में इसके लगाये पेड़ पाये जाते हैं तथा हिमालय में ४००० फीट तक यह होता है।

इसका **वृक्ष**-सुन्दर होता है। **पत्ते**-संयुक्त, शाखाग्र पर समूहबद्ध एवं **पत्रक** १०–१६, २–६ × ३/५–२१/५ इञ्च बड़े, मालाकार, आयताकार, एकान्तर या न्यूनाधिक विपरीत, तीक्ष्णाग्र या कुंठिताग्र, चिकने एवं आधार पर तिर्यक् होते हैं। **पुष्प**-मंजरियों में १/५ इञ्च व्यास के एवं श्वेत या बैंगनी रंग के होते हैं। **फल**-मांसल, पीत या हलके भूरे, कुछ गोलाई लिये हुवे, ३/४ इञ्च व्यास के तथा पानी में डालने से फेन उत्पन्न करने वाले होते हैं।

इसकी एक जाति से० ट्राइफोलिएटस् (S. trifoliatus Linn.) दक्षिण तथा पश्चिम भारत में गांवों के आसपास होती है और बंगाल तथा अन्य स्थानों में लगाये हुवे इसके पेड़ पाये जाते हैं। इसमें **पत्रक**–१–३ जोड़े, ३–७ × १–४ इञ्च, मालाकार, तीक्ष्णाग्र या लंबाग्र एवं ऊपर की ओर चमकीले होते हैं। **पुष्प**–मटमैले श्वेत होते हैं। **फल**–२–३ खण्ड युक्त, मांसल, कच्चे में रक्ताभ पीत रोमों से आवृत तथा पकने पर चिकना तथा झुर्रीदार होता है।

एक अन्य जाति से० एमार्जिनेटस् (S. emarginatus Vahl.) जिसे पहले से० ट्राइफोलिएटस् का पर्याय मानते थे अब स्वतन्त्र जाति मानी जाती है। इसके वृक्ष छायादार होते हैं। **पत्रक**–२ से ३ जोड़े, आयताकार या अंडाकार, कभी-कभी अभिलट्वाकार, कुंठित या द्विविभक्त अग्रवाले और २१/२–६ इञ्च लम्बे होते हैं। **पुष्प**-श्वेत एवं **फल**-पकने पर २,३ खण्डों के होते हैं।

रीठे के फलों का उपयोग रेशमी, सूती और मूल्यवान कपड़ों के धोने के लिये किया जाता है। चिकित्सा में फलों का उपयोग करते हैं।

रासायनिक संगठन—रीठे में सॅपोनिन (Saponin) बहुत होता है।

गुण और प्रयोग—इसके फल का गूदा उष्ण, तिक्त, स्निग्ध, विषहर, कफघ्न, वामक एवं वातहर है। अधिक मात्रा में यह वामक तथा रेचन है। इससे वमन शीघ्र होता है तथा कोई नुकसान नहीं होता। यह इपीकाक का प्रतिनिधि है।

इसका लेप वेदनास्थापन तथा शोथघ्न है।

(१) श्वास, कास आदि में कफ निकालने के लिये इसको वामक रूप में देते हैं।

(२) अर्धावभेदक तथा श्वास में इसका नस्य लाभदायक है।

(३) अफीम की विषाक्तता में वमन कराने के लिये इसका पानी देते हैं।

(४) इसका **लेप** कुष्ठ, कण्डू, संधिशोथ, विस्फोट, गण्डमाला एवं बिच्छू, गोजर तथा मधुमक्खी काटने पर किया जाता है।

मात्रा—कफघ्न ५ से १० रत्ती; वामक १ से २ ड्राम।

अथ पुत्रजीवः (पितौंजिया)। तस्य नामानि गुणांश्चाह

पुत्रजीवो गर्भकरो यष्टीपुष्पोऽर्थसाधकः ॥ ३९ ॥

पुत्रजीवो गुरुर्वृष्यो गर्भदः श्लेष्मवातहृत्। सृष्टमूत्रमलो रूक्षो हिमः स्वादुः पटुः कटुः ॥४०॥

पितौंजिया के संस्कृत नाम—पुत्रजीव, गर्भकर, यष्टीपुष्प और अर्थसाधक ये सब हैं।

पितौंजिया—स्वादिष्ट, कटु तथा लवण रस युक्त, गुरु, वृष्य (वीर्यवर्धक), गर्भदायक, मूत्र तथा मल की प्रवृत्ति कराने वाला, रूक्ष तथा शीतल है। एवम् कफ तथा वात को नष्ट करने वाला है ॥ ३९–४० ॥

२१ पितौंजिया

हि०–जियापोता, पितौंजिया। **बं०**–जिया पुन्ता। **म०**–पुत्र जीव। **गु०**–पुत्र जीवक। **क०**–पुत्र जीव। **ते०**–कुडुरु जीवि। **ले०**–*Putranjiva roxburghii Wall.* (पुत्रन्जीव रॉक्सबरघाई)। Fam. Euphorbiaceae (यूफर्बिएसी)।

पितौंजिया—इस देश के गरम प्रान्तों में पाया जाता है। यह जंगली और बागों में भी लगाया हुआ पाया जाता है। इसका **वृक्ष**-मध्यमाकार का होता है और बारहो मास हरा भरा सुहावना दीखाई पड़ता है। शाखायें प्रायः लटकी हुई रहती हैं। **छाल**–कालापन युक्त खाकी रङ्ग की होती है। **पत्ते**–द्विपंक्ति, चमकदार, प्रासवत् या आयताकार एवं पत्रतट प्रायः लहरदार होता है। **पुष्प**–पुंपुष्प पीताभ तथा स्त्री पुष्प हरिताभ होते हैं। **फल**–झर बेर के आकार के, श्वेताभ तथा स्थायी कुक्षिवृन्त से युक्त होने के कारण नोकीले होते हैं।

जिनके लड़के पैदा होते ही मर जाया करते हैं वे लोग इसके गुठलियों की माला पहनते हैं।

गुण और प्रयोग—ज्वर तथा प्रतिश्याय में पत्र तथा फलों का क्वाथ पिलाते हैं। गुठलियों को घिसकर शिरःशूल में लगाया जाता है। फोड़े आदि पर लेप करने से वेदना कम होती है। सभी प्रकार के विषों में इसकी मज्जा को शीत जल में पीसकर बाह्याभ्यन्तर प्रयोग करते हैं।

अथेङ्गुदः (हिङ्गोट)। तस्य नामानि गुणांश्चाह

इङ्गुदोऽङ्गारवृक्षश्च तिक्तकस्तापसद्रुमः। इङ्गुदः कुष्ठभूतादिग्रहव्रणविषक्रिमीन् ॥
हन्त्युष्णः श्वित्रशूलघ्नस्तिक्तकः कटुपाकवान् ॥ ४१ ॥

हिङ्गोट के संस्कृत नाम—इङ्गुद, अङ्गारवृक्ष, तिक्तक और तापसद्रुम ये सब हैं।

हिङ्गोट—तिक्तरसयुक्त, विपाक में कटुरसयुक्त, उष्ण एवम् कुष्ठ, भूतादि-ग्रहबाधा, व्रण, विष, क्रिमि, श्वेतकुष्ठ तथा शूल का नाशक है ॥ ४१ ॥

२२ हिंगोट

हि०–हिंगोट हिंगन, इंगुआ। **बं०**–हिंगोन। **म०**–हिंगण। **गु०**–इङ्गोरीओ। **क०**–इङ्गलगिद। **ते०**–गारा, गारि। **ता०**–नन्जुन्द। **ले०**–*Balanites roxburghii Planch.* (बेलेनाईटीस् रॉक्सबरघाई)। Fam. Simarubaceae (सिमेरूबेसी)।

यह भारत के शुष्क भागों में दक्षिण-पूर्व पंजाब एवं दिल्ली से सिक्किम, बंगाल, मध्यभारत बम्बई तथा दक्षिण में होता है।

इसका **वृक्ष** या **गुल्म** करीब २० फीट तक होता है। शाखाओं पर मजबूत, सीधे, पर्णयुक्त, पत्रकोणीय या पत्रों के पार्श्व में कांटे होते हैं। **पत्ते**–द्विपत्रक एवं अवृन्त; **पत्रक**–अण्डाकार, अभिलट्वाकार या अभि-प्रासवत्, ३/४–१३/४ इञ्च बड़े होते हैं। **पुष्प**–हरिताभ पीत एवं सुगन्धि होते हैं। **फल**–अष्ठिल, अण्डाकार, १३/४–२३/४ इञ्च लम्बे, हलकी ५ धारियों वाले एवं पकने पर हलके पीले होते हैं। गूदा मधुर, १/५ इञ्च मोटा एवं उग्रगन्धि होता है। गुठली में एक बीज तैल युक्त होता है। बीज में ४३% पीले रंग का स्वादहीन तेल होता है। इसके गूदे को खाया जाता है तथा सिल्क को साफ करने के काम आता है।

रासायनिक संगठन—फल के गूदे में ७·२% सॅपोनिन पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—इसकी छाल तथा फल का गूदा कफघ्न, कृमिघ्न, कुष्ठघ्न एवं विरेचक होता है। अपक्व फल तीव्र विरेचक होता है। पुराने कफ विकारों में गूदे को खिलाते हैं। व्रण तथा अग्निदग्ध व्रण पर इसका तेल लगाते हैं।

मात्रा—गूदा १-५ रत्ती कफघ्न; १०-२० रत्ती विरेचक।

अथ जिङ्गिनी। तस्या नामानि गुणांश्चाह

जिङ्गिनी झिङ्गिनी झिङ्गी सुनिर्यासा प्रमोदिनी ॥ ४२ ॥
जिङ्गिनी मधुरा सोष्णा कषाया योनिशोधिनी। कटुका व्रणहृद्रोगवातातीसारहृत् पटुः ॥

जिङ्गिनी के संस्कृत नाम—जिङ्गिनि, झिङ्गनी, झिङ्गी, सुनिर्यासा तथा प्रमोदिनी ये सब हैं।

जिङ्गिनी—मधुर, कटु, कषाय तथा लवण रसयुक्त, उष्ण, योनि शोधक एवम्-व्रण, हृद्रोग, वात तथा अतीसार को दूर करने वाली है ॥ ४२-४३ ॥

२३ जिंगिनी

हि॰-जिंगना, जिंगन। **म॰**-मोयी, मुयी। **गु॰**-मवेडी, शिपटी। **क॰**-उडी मरम। **बं॰**-जिओल। **ते॰**-गमपेना। **ले॰**-*Odina woodier Roxb.* (ओडिना वुडियर)। Fam. Anacardiaceae (ॲनाकार्डिएसी)।

यह इस देश में प्रायः गरम प्रान्तों में अधिक पाया जाता है। इसका वृक्ष-मध्यमाकार का होता है और यह अधिक दिन तक नहीं ठहरता। इसके स्तम्भ से एक प्रकार का गोंद निकलता है। पत्ते-पक्षवत्, मोटे एवं टहनियों के अग्र पर दलबद्ध रहते हैं। पत्रक-५-९, विपरीत, लम्बाग्र, लट्वाकार और तिरछे फलक मूल वाले होते हैं। पुष्प-छोटे, पीताभहरित तथा एकलिंग होते हैं एवं दोनों प्रकार के पुष्पों की मंजरियां पृथक्-पृथक् रहती हैं। फल-½ इञ्च लम्बे, टेढ़े, आयताकार, चिपटे, एवं गुठलीदार होते हैं। काण्ड में स्टार्च बहुत होता है इससे इसे हाथी बड़े चाव से खाते हैं। इसकी डालियों को गाड़ देने से लग जाती हैं।

औषध में गोंद तथा छाल का उपयोग करते हैं।

गुण और प्रयोग—इसका गोंद स्नेहन तथा संग्राहक है। छाल संग्राहक एवं व्रणरोपण है।

(१) छाल का क्वाथ पिलाने से प्यास दूर होती है। इससे कुल्ला करने से गले की शिथिलता, खांसी तथा दंतपीडा दूर होती है। इसको अतिसार में देते हैं।

(२) छाल के क्वाथ से सिद्ध तेल पुराने व्रण पर लगाते हैं।

(३) पत्तों को उबालकर शोथ पर बांधते हैं।

(४) छाल का स्वरस हथियार से कटे व्रण पर डालने से शीघ्र रोपण होता है।

(५) इसका गोंद अतिसार में देते हैं। मोच आदि में इसको नारियल के पानी में पीसकर लेप करते हैं।

अथ तमालः। तस्य नामानि गुणांश्चाह

तमाल उक्तस्तापिच्छः कालस्कन्धोऽसितद्रुमः।
लोकस्कन्धो नीलध्वजो नीलतालश्च स स्मृतः ॥
तमालः शालवद्वेद्यो दाहविस्फोटहृत् पुनः ॥ ४३ ॥

तमाल के संस्कृत नाम—तमाल, तापिच्छ, कालस्कन्ध, असितद्रुम, लोकस्कन्ध, नीलध्वज और नीलताल ये सब हैं।

तमाल—गुणोंमें साल की भाँति समझना चाहिये, किन्तु विशेषतः यह दाह तथा विस्फोट का नाशक है ॥ ४४ ॥

नोट—कर्पूरादिवर्ग में तमालपत्र का वर्णन किया जा चुका है किन्तु यह उससे भिन्न वृक्ष है। जिस वृक्ष का नीचे वर्णन किया जा रहा है उसे दक्षिण में तमाल कहते हैं। वास्तव में यही तमाल है कि नहीं इस सम्बन्ध में अभी अनुसंधान की आवश्यकता है।

२४ तमाल

हि॰-तमाल। **बं॰**-तमाल गाछ। **ते॰**-पसुपुवर्णे। **म॰**-तमाल वृक्ष। **गु॰**-तमाल। **ता॰**-पुमक्की। **क॰**-जारिगेहुलि। **अं॰**-Indian Gamboge Tree (इण्डियन गॅम्बोज ट्री)। **ले॰**-*Garcinia morella Desr.* (गार्सिनिया मोरेला)। Fam. Guttiferae (गट्टिफेरी)।

तमाल—पूरब बङ्गाल के जङ्गलों में, खासिया पहाड़ एवं प॰ घाट में उत्तर कनारा से दक्षिण में ट्रावनकोर तक, ३००० फीट की ऊंचाई तक पाया जाता है।

इसका वृक्ष छोटा तथा सदाहरित होता है और शाखाएं फैली हुई होती हैं। पत्ते-३ से ५×१½ से २½ इञ्च, अण्डाकार भालाकार एवं दोनों तरफ क्रमशः संकुचित होते हैं। फूल-एकलिंगी जिनमें पुंपुष्प की अपेक्षा स्त्री पुष्प बड़े होते हैं। फल-गोल, ¾ इञ्च व्यास में, चारखण्ड युक्त एवं बीज-४, गहरे भूरे, अण्डाकार या वृक्काकार होते हैं।

गॅम्बोज (Gamboge)—तमाल वृक्ष की छाल में घाव करने से एक पीले रंग का तरल राल जैसा पदार्थ प्राप्त होता है जिसे सूखने पर **गॅम्बोज** (Gamboge) कहते हैं। यह भूरे पीले रंग के टुकड़ो में प्राप्त होता है तथा इसका स्वाद कुछ कटु होता है। जल के साथ इसका पीला घोल (इमल्शन) बनता है जो अमोनिया मिलाने से स्वच्छ एवं गहरे नारंग रक्त वर्ण का हो जाता है। इसे **गोटगनबा** भी कहा जाता है। इसकी अन्य जातियों से भी यह प्राप्त होता है किन्तु वह निकृष्ट श्रेणी का होता है।

भारत में अपने यहां के वृक्षों से इसका संग्रह कम किया जाता है और अधिकतर बजार में बिकने वाला गॅम्बोज स्याम, कम्बोडिया आदि से आता है। यह गा. हॅनबुरी (G. hanburyi) नामक जाति जो स्याम में होती है उससे निकाला जाता है। दस वर्ष पुराने वृक्ष की छाल में, वर्षा ऋतु में, कुन्तल (Spiral) चीरा लगाते हैं तथा नीचे बांस के टुकड़े लगा देते हैं जिसमें इसे संग्रह कर फिर पतले बांसों में १ महिना रखते हैं, जिससे यह जम जाता है। बाद में इन्हें आग पर गरम करते हैं जिससे बांस चटक कर यह अलग हो जाता है। यह २-५ से. मी. व्यास के लंबे, बेलनाकार, रक्ताभ पीत या भुरापन लिये नारंग वर्ण के टुकड़ों में होता है जिसकी सतह पर बांस के अन्दर की धारियों के निशान दिखलाई देते हैं। कभी-कभी यह अंदर से पोला होता है।

इसे बजार में **उसारे रेवन्द** कहा जाता है किन्तु यह रेवन्द चीनी (हीअम् एमोडी-Rheum emodi नामक गुल्म की मूल) का उसारा (सत्व) नहीं है। इसे कुछ विद्वान् **कंकुष्ठ** भी मानते हैं। औषध के अतिरिक्त इसका रंग के लिये उपयोग करते हैं।

रासायनिक संगठन—बीजों में ३०% गाढ़ा स्नेह होता है। यह भूरापन लिये पीला होता है तथा खाद्य के रूप में काम में आता है। इसके बीजावरण, काण्डत्वक्, पत्र तथा फलों में एक पीला रंजक द्रव्य मोरेलीन (Morellin, $C_{33}H_{38}O_7$) पाया जाता है जो पूयोत्पादक

दण्डाणु, माइक्रोकोकस् पायोजैनीज हेराइटी ऑरियस् (Micrococcus pyogenes var. aureus) का नाशक है। गॅम्बोज में मुख्यतया राल तथा गोंद जैसे पदार्थ होते हैं।

गुण और प्रयोग—गॅम्बोज तीक्ष्ण विरेचन है। इससे पानी जैसे पतले दस्त होते हैं। इसकी क्रिया इन्द्रायण के फल की तरह होती है। इसे कृमिघ्न भी मानते हैं। रक्तभाराधिक्य में शीघ्र विरेचन कराने की आवश्यकता होने पर इसे देते हैं। जलोदर, अनार्तव तथा कृमि रोग में इसका उपयोग किया जाता है।

अधिक मात्रा से पाचन संस्थान के अंगों पर तीव्र प्रक्षोभक क्रिया होकर मरोड़, वमन आदि होकर मृत्यु भी हो सकती है। १ ड्राम मात्रा से मृत्यु हुई है।

मात्रा—½–१ गुंजा सुगंधि द्रव्य के साथ।

अथ तूणी। तस्या नामगुणानाह

तूणी तुन्नक आपीनस्तुणिकः कच्छकस्तथा। कुठेरकः कान्तलको नन्दीवृक्षश्च नन्दकः ॥४५॥
तूणी रक्तः कटुः पाके कषायो मधुरो लघुः। तिक्तो ग्राही हिमो वृष्यो व्रणकुष्ठास्रपित्तजित् ॥

तून के संस्कृत नाम—तूणी, तुन्नक, आपीन, तुणिक, कच्छक, कुठेरक, कान्तलक, नन्दीवृक्ष और नन्दक ये सब हैं।

तून—कषाय, मधुर तथा तिक्त रसयुक्त, विपाक में कटु रसयुक्त, रक्तवर्ण, लघु, ग्राही, शीतल, वृष्य (वीर्यवर्धक) एवम् व्रण, कुष्ठ, रक्तविकार, पित्त या रक्तपित्त का नाशक है ॥४५-४६॥

२५ तून

हि०—तुन, तून, तूनी, महानिम। **बं०**—तूनगाछ। **म०**—तूणी, कूरक। **गु०**—तूणी। **ता०**—तूनमरम्। **ते०**—नन्दि वृक्षमु। **क०**—बिलिगंधगिरि। **अं०**—The Toon (दि तून)। **ले०**—*Cedrela toona Roxb.* (सेड्रेला तून)। Fam. Meliaceae (मेलिएसी)।

यह हिमालय के निचले प्रदेशों में ४००० फीट तक, आसाम, बंगाल, छोटा नागपूर, पश्चिमी घाट एवं दक्षिण प्रायद्वीप में होता है।

इसका वृक्ष—ऊंचा या मध्यम ऊंचाई का, ७०–१०० फीट तक होता है। पत्ते—सदल पर्ण, १–२½ फीट लंबे; पत्रक ५–११ जोड़े, भालाकार या आयताकार-भालाकार, ३–७ इञ्च लंबे, अखण्ड, सवृन्त तथा तिरछे फलक मूल वाले होते हैं। पुष्प—छोटे, सुगंधित तथा नवीन टहनियों पर निकलते हैं। फली—१ इञ्च तक लंबी आयताकार होती है। बीज—दोनों सिरों पर सपक्ष होते हैं। इसकी लकड़ी फर्नीचर बनाने के काम आती है। छाल तथा पुष्प का उपयोग चिकित्सा में किया जाता है।

रासायनिक संगठन—फूलों में लाल रंजक द्रव्य निकटॅन्थिन् (Nyctanthin, $C_{15}H_{18}O_3$) होता है जो पारिजात के रंजक द्रव्य के समान होता है। छाल में टेनिक एसिड, कड़वी राल, साइट्रिक ॲसिड, स्टार्च तथा अन्य द्रव्य होते हैं। इसमें कोई क्षाराभ नहीं पाया गया है। राख में चूना (Calcium) काफी होता है। काष्ठ में ०·४४% स्वर्ण पीत रंग का उड़नशील तैल होता है।

गुण और प्रयोग—इसकी छाल ग्राही, बल्य, पौष्टिक एवं अल्प प्रमाण में ज्वर प्रतिबंधक है। पुष्प गर्भाशय संकोचक हैं।

(१) बच्चों के जीर्ण अतिसार आदि में छाल का प्रयोग करते हैं। विषम ज्वर में दस्त होते हों तो इसको दिया जाता है।

(२) गर्भाशय की शिथिलता के कारण यदि अत्यार्तव हो तो पुष्प या छाल का फांट देते हैं।

(३) छाल का लेप या चूर्ण व्रण पर लगाने से व्रण का संकोचन अच्छा होता है।

मात्रा—छाल २½ तोला फांट बनाकर काली मिर्च के साथ।

अथ भूर्जपत्रः (भोजपत्र)। तस्य नामानि गुणांश्चाह

भूर्जपत्रः स्मृतो भूर्जश्चर्मी बहुलवल्कलः। भूर्जो भूतग्रहश्लेष्मकर्णरुक्पित्तरक्तजित् ॥ ४७ ॥
कषायो राक्षसघ्नश्च मेदोविषहरः परः ॥ ४८ ॥

भोजपत्र के संस्कृत नाम—भूर्जपत्र, भूर्ज, चर्मी, तथा बहुलवल्कल ये सब हैं।

भोजपत्र—कषाय रसयुक्त एवम् भूतग्रहबाधा, कफ तथा कर्ण सम्बन्धी रोग, पित्त, रक्तविकार तथा राक्षसबाधा का नाशक है। और विशेषतः यह मेद तथा विष को दूर करने वाला है ॥ ४७–४८ ॥

२६ भोजपत्र

हि०—भोजपत्र, भूजपत्र, भोजपत्तर। **बं०**—भूजिपत्र। **म०**—भूर्जपत्र। **ते०**—भोजपत्रमु। **अं०**—Himalayan Silver Birch (हिमालयन् सिल्व्हर बर्च)। **ले०**—*Betula utilis D. Don.* (बेटुला यूटिलिस्)। Fam. Betulaceae (बेटुलेसी)।

यह गरम हिमालय में काश्मीर में ७ से ११ हजार फीट तक और सिक्कम में ९ से १४ हजार फीट तक और भूटान में उत्पन्न होता है।

इसका वृक्ष—४०–६५ फीट तक ऊँचा होता है। छाल—चिकनी, चमकीली, सफेद या किञ्चित् लाली युक्त सफेद, आड़े धब्बेदार (Lenticel) पर्त के पर्त, कागज के समान एक साथ सटी रहती है और वह आसानी से पृथक् पृथक् हो जाती है। पत्ते—२–३ इञ्च तक लम्बे, १½ इञ्च चौड़े, लट्वाकार, लम्बाग्र, दन्तुर एवं नये पत्ते पीत राळीय बिन्दुओं से युक्त होने के कारण चिपचिपे होते हैं। फूल—बारीक मञ्जरियों में आते हैं और फल—काष्ठवत् गोल होते हैं। वृक्ष की छाल को ही भोजपत्र कहते हैं। प्राचीन काल में इनका लिखने के काम में प्रयोग किया जाता था।

इसकी एक अन्य जाति बे. अल्नाइडीस (B. alnoides Buch.) होती है जिसके पेड़ १०० फीट तक ऊंचे होते हैं। छाल मोटे परतों में छूटती है तथा धब्बे छोटे होते हैं।

रासायनिक संगठन—इसमें बेटुलिन (Betulin) तथा उड़नशील तैल पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—इसकी छाल का क्वाथ वातानुलोमक एवं प्रतिदूषक होता है। इसे कामला, पैत्तिक ज्वर एवं योषापस्मार में दिया जाता है। कर्णस्राव तथा विषाक्त व्रण प्रक्षालन के लिये भी इसका उपयोग करते हैं।

इसके पत्र उत्तेजक एवं स्तम्भन माने जाते हैं। भूतबाधा एवं ग्रह दोष में इसका धूप दिया जाता है।

मात्रा—क्वाथ ५ से १० तोला; चूर्ण १–३ माशा।

अथ पलाशः (ढाक)। तस्य नामानि गुणांश्चाह

पलाशः किंशुकः पर्णो यज्ञियो रक्तपुष्पकः। क्षारश्रेष्ठो वातपोथो ब्रह्मवृक्षः समिद्वरः ॥४९॥
पलाशो दीपनो वृष्यः सरोष्णो व्रणगुल्मजित्।
भग्नसंधानकृद् दोषग्रहण्यर्शः क्रिमीन् हरेत् ॥

कषायः कटुकस्तिक्तः स्निग्धो गुदजरोगजित् ॥ ५० ॥

ढाक के संस्कृत नाम—पलाश, किंशुक, पर्ण, यज्ञिय, रक्तपुष्पक, क्षारश्रेष्ठ, वातपोथ, ब्रह्मवृक्ष तथा समिद्वर ये सब हैं।

ढाक—कषाय, कटु तथा तिक्त रस युक्त, अग्निदीपक, वृष्य (वीर्यवर्धक), सारक, उष्ण, टूटी अस्थियों को जोड़ने वाला, स्निग्ध एवम्-व्रण, गुल्म, वातादिक दोष, ग्रहणी, अर्श (बवासीर), क्रिमि तथा गुदा में उत्पन्न होने वाले रोगों को दूर करता है ॥ ४८–५० ॥

अथ तत्पुष्पफलयोर्गुणानाह

तत्पुष्पं स्वादु पाके तु कटु तिक्तं कषायकम् ॥ ५१॥

वातलं कफपित्तास्रकृच्छ्रजिद् ग्राहि शीतलम् । तृड्दाहशमकं वातरक्तकुष्ठहरं परम् ॥ ५२ ॥

फलं लघूष्णं मेहार्शःक्रिमिवातकफापहम् । विपाके कटुकं रूक्षं कुष्ठं गुल्मोदरप्रणुत् ॥ ५३ ॥

ढाक के फूल—स्वादिष्ट, तिक्त तथा कषाय रस युक्त, विपाक में कटु रस युक्त, वातजनक, कफ-पित्त, रक्तविकार तथा मूत्रकृच्छ्रनाशक, ग्राही, शीतल, तृषा और दाह को शमन करने वाले एवम् वातरक्त तथा कुष्ठ को अत्यन्त दूर करने वाले होते हैं।

ढाक के फल—लघु, उष्ण, विपाक में कटु रस युक्त, रूक्ष एवम्-प्रमेह, अर्श, कृमि, वात, कफ, कुष्ठ, गुल्म तथा उदररोग के नाशक हैं ॥ ५१–५३ ॥

२७ ढाक

हिं०-ढाक, पलाश, परास, टेसू। बं०-पलाश गाछ। म०-पळस। गु०-खाखरो। मु०-खाकरो। क०-मुत्तग। तै०-मोदुगु। ता०-पलासु। अं०-The Forest flame (दि फॉरेस्ट फ्लेम)। ले०-Butea frondosa Koen. ex Roxb. (ब्यूटिया फ्रॉन्डोसा)। Fam. Leguminosae (लेग्यूमिनोसी)।

यह अत्यन्त शुष्क भागों को छोड़कर प्रायः सब प्रान्तों में पाया जाता है और इसको वाटिकाओं में भी रोपण करते हैं।

इसके वृक्ष-छोटे या मध्यम ऊँचाई के होते हैं तथा समूहों में रहते हैं। पत्ते-त्रिपत्रक होते हैं। पत्रक-१० से २० से० मी० चौड़े, कर्कश, ऊपर से कुछ चिकने किन्तु नीचे मृदु रोमश तथा उभरी हुई शिराओं से युक्त होते हैं। अग्र पत्रक तिर्यगायताकार, वृन्त की तरफ कुछ पतला या अभि अंडाकार, कुण्ठिताग्र या खण्डिताग्र एवं बगल के तिर्यक् अण्डाकार होते हैं। पुष्प-बड़े, सुन्दर, नारंग रक्तवर्ण के होते हैं जो प्रायः पत्रहीन शाखाओं पर एकसाथ बहुत होते हैं। स्वरूप में ये दूर से सुग्गे की चोंच की तरह मालूम होने से इसे किंशुक कहा जाता है। फली-१२·५–२०×२·५–५ से० मी० बड़ी, अग्र की तरफ एक बीज युक्त होती है। बीज-चिपटे, वृक्काकार, २५–३८ मि० मी० लंबे, १६–२५ मि० मी० चौड़े, १·५–२·० मि० मी० मोटे, रक्ताभ भूरे, चमकीले, सिकुड़नयुक्त, स्वाद में कुछ कटु एवं तिक्त तथा गंध हलकी होती है। इसका गोंद (Bengal Kino-बंगाल किनो)-रक्तवर्ण, सूखने पर कृष्णाभरक्त, भंगुर और चमकदार होता है।

इसके बीज, पुष्प तथा गोंद का उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—बीजों में १८% स्वादहीन तैल, अलब्यूमिनाम द्रव्य, शर्करा तथा पुष्पों में ग्लूकोसाइड १·५% पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—इसके बीज कृमिघ्न, भेदन तथा कुष्ठघ्न हैं। पुष्प-मूत्रजनन हैं। गोंद उत्तम ग्राही है।

(१) इसके ताजे, कीड़ों द्वारा न खाये हुये बीज, केंचुवे (Round worm-राउण्ड वर्म) के लिये सैन्टोनिन (Santonin) की तरह लाभप्रद होते हैं। इसका स्वाद अच्छा नहीं रहता तथा कभी कभी इससे मिचली, पेट में दर्द या वमन हो सकता है। छिलका निकाल कर बीज देने से दस्त नहीं होता किन्तु छिलके के साथ देने से दस्त होता है।

(२) बीजों को नींबू के रस के साथ घिसकर दाद आदि चर्म रोगों में लगाते हैं।

(३) गोंद अतिसार, प्रवाहिका तथा भोजनोपरान्त गले में खट्टा पानी आता हो तब देते हैं।

(४) फूलों का फांट शोरे के साथ मूत्रावरोध में पिलाया जाता है तथा फूलों से पेड़ू, कमर आदि सेंकते हैं।

मात्रा—बीजचूर्ण ५–१० रत्ती, गोंद ५–१५ रत्ती।

अथ शाल्मलिः (सेमर)। तस्य नामानि गुणांश्चाह

शाल्मलिस्तु भवेन्मोचा पिच्छिला पूरणीति च।

रक्तपुष्पा स्थिरायुश्च कण्टकाढ्या च तूलिनी ॥ ५४ ॥

शाल्मली शीतला स्वाद्वी रसे पाके रसायनी।

श्लेष्मला पित्तवातास्रहारिणी रक्तपित्तजित् ॥ ५५ ॥

सेमर के संस्कृत नाम—शाल्मलि, मोचा, पिच्छिला, पूरणी, रक्तपुष्पा, स्थिरायु, कण्टकाढ्या तथा तूलिनी ये सब हैं। **सेमर**-रस तथा विपाक में मधुर रसयुक्त, शीतल, रसायन, कफजनक एवम्-पित्त, वात, रक्तविकार या वातरक्त तथा रक्तपित्त को दूर करने वाला होता है। इसके पुष्पों के गुण आगे शाकवर्ग में दिये हुये हैं।

२८ सेमर

हिं०-सेमर, सेमल। बं०-शिमुल गाछ, रक्त सिमुल। म०-काटे सांवर, लाल सांवर। गु०-शेमलो, सोमुलो। तै०-बुरुग चेट्टु। ता०-शाल्मवृ। मा०-शेमल, सरमलो। अं०-Silk Cotton Tree (सिल्क काटन ट्री)। ले०-*Bombax malabaricum DC.* (बॉम्बॅक्स मालाबारिकम्)। Fam. Bombacaceae (बाम्बेकेसी)।

सेमर—इस देश के प्रायः सब प्रान्तों के वन, उपवन और वाटिकाओं में उत्पन्न होता है।

इसके वृक्ष-बहुत विशाल और मोटे हुआ करते हैं। डालियों पर छोटे-छोटे नुकीले कांटे होते हैं। सतिवन के पत्तों के समान इसके पत्ते-एक एक डण्डी के अन्त में ५–७ फैले हुये होते हैं। फूल-लाल। पुष्पदल-मोटा, लुआबदार एवं २–३ इञ्च तक लम्बा होता है। फल-५–६ इञ्च लम्बे, लम्ब गोलाकार, काष्ठवत् एवं हरे होते हैं और उनके भीतर रेशम जैसी रूई तथा काले बीज होते हैं। इसके १–१॥ साल के छोटे वृक्ष के मूल निकाल कर सुखा लेते हैं जिन्हें सेमल मूसली कहा जाता है।

इसके पुष्प, गोंद तथा कंद का उपयोग किया जाता है। गोंद का आगे स्वतंत्र वर्णन किया गया है।

रासायनिक संगठन—बीजों में स्नेह २२·३% होता है।

गुण और प्रयोग—सेमल मुसली स्नेहन, संग्राहक, पौष्टिक, बृंहण तथा वयःस्थापन है। जननेन्द्रिय पर इसकी कुछ उत्तेजक क्रिया होती है।

(१) इसका १ तोला चूर्ण १ तोला चीनी के साथ १० तोले जल में घोलकर वाजीकरण के लिये पिलाते हैं।

(२) कोमल फल मूत्रजनन होते हैं तथा मूत्रकृच्छ्र में बहुत लाभ करते हैं। यह पाठा की तरह मूत्रेन्द्रिय के लिये शामक होते हैं।

(३) इसके पुष्प, पोस्ते का बीज, चीनी एवं दूध उबालकर अर्श में दिन में ३ बार पिलाते हैं।

(४) गांठों की सूजन पर पत्तों को पीसकर लगाते हैं।

(५) इसके कांटों को मुहांसे आदि पर लगाने से लाभ होता है।

मात्रा—सेमल मूसली चूर्ण ½-१ तोला; फल चूर्ण १ से ३ माशा; पुष्प १ से २ तोला।

अथ मोचरसः। तस्य नामानि गुणांश्चाह

निर्यासः शाल्मलेः पिच्छा शाल्मलीवेष्टकोऽपि च।
मोचास्रावोमोचरसो मोचनिर्यास इत्यपि ॥ ५६ ॥
मोचास्रावो हिमो ग्राही स्निग्धो वृष्यः कषायकः।
प्रवाहिकाऽतिसारामकफपित्तास्रदाहनुत् ॥ ५७ ॥

मोचरस के संस्कृत नाम—शाल्मलिनिर्यास, पिच्छा, शाल्मलीवेष्टक, मोचास्राव, मोचरस, और मोचनिर्यास ये सब हैं।

मोचरस—कषाय रसयुक्त, शीतल, ग्राही, स्निग्ध, वृष्य (वीर्यवर्धक) एवम्—प्रवाहिका अतीसार, आम, कफ, पित्त, रक्तविकार तथा दाह को दूर करने वाला होता है ॥ ५६-५७ ॥

२९ मोचरस

हि०—मोचरस, सेमर का गोंद। बं०—मोचरस, शिमुलेर आठा। म०—सांवरी चा डीक। गु०—शेमलानो गुन्द। अं०—Gum of Silk Cotton Tree (गम् आफ् सिल्क काटन ट्री)।

सेमर वृक्ष के गोंद को "मोचरस" कहते हैं। यह सेमर वृक्ष के स्तम्भ से, जहां कीड़े आदि डंक से छिद्र कर देते हैं निकलता है। यह ताजेपन में भूरे रंग का, फिर लाल होता है तथा पुराना होने पर काला सीसम के रंग का हो जाता है। यह भंगुर, पोला तथा हलका होता है। जल में डालने पर यह फूलता है। इसका स्वाद कषाय होता है।

रासायनिक संगठन—इसमें कैटेचूटैनिक असिड (Catechutannic acid) रहता है।

गुण और प्रयोग—यह कषाय, शोणितास्थापन, वेदनास्थापन, स्नेहन, जोरदार संग्राहक एवं बल्य होता है। इसका उपयोग जीर्ण अतिसार, संग्रहणी आंव तथा अत्यार्तव में किया जाता है।

मात्रा—१ से ३ माशा।

अथ कूटशाल्मलिः (कालासेमर)। तस्य नामानि गुणांश्चाह

कुत्सितः शाल्मलिः प्रोक्तो रोचनः कूटशाल्मलिः।
कूटशाल्मलिकस्तिक्तः कटुकः कफवातनुत् ॥ ५८ ॥
भेद्युष्णः प्लीहजठरयकृद्गुल्मविषापहः। भूतानाहविबन्धास्रमेदःशूलकफापहः ॥ ५९ ॥

काला सेमर के संस्कृत नाम—कुत्सितशाल्मलि, रोचन, कूटशाल्मलि और कूटशाल्मलिक ये सब हैं।

काला सेमर—तिक्त तथा कटु रसयुक्त, कफ वातनाशक, मल का भेदन करने वाला, उष्ण एवम्—प्लीहा, उदररोग, यकृत्, गुल्म, विष, भूतबाधा, आनाह, मलबन्ध, रक्तविकार, मेद, शूल तथा कफ का नाशक है ॥ ५८-५९ ॥

३० कूटशाल्मली

हि०—सफेद सेमल, हतिमान, कटन। बं०—श्वेत सेमुल। म०—पांढ़री सांवर। ते०—बुरूगु। ता०—इलवम्। क०—बिलिबूरग। अं०—White Silk Cotton Tree (ह्वाइट सिल्क काटन ट्री); True Kapok Tree (ट्रू कॅपोक ट्री)। ले०—*Ceiba pentandra (Linn.) Gaertn.; Syn. Eriodendron anfractuosum DC.* (सेबा पेन्ट्एन्ड्रा; एरिओडेन्ड्रोन अॅन्फ्रॅक्टयूओसम्)। Fam. Bombacaceae (बाम्बेकेसी)।

यह पश्चिम तथा दक्षिण के उष्ण प्रदेशों के जंगलों में पाया जाता है।

इसका वृक्ष-मध्यमाकार का, ५०-१०० फीट ऊँचा होता है। शाखाएं-भूमि के समानान्तर एवं चारों तरफ फैली रहती हैं। केवल नवीन शाखाओं पर कांटे होते हैं। पत्ते-सेमर जैसे करतलाकार संयुक्त होते हैं। फूल-श्वेत रंग के आते हैं। फल-३ इञ्च लंबे, २ इञ्च व्यास के, गोलाकार लंबे होते हैं जिनके भीतर चमकीली सिल्क की तरह रुई से लिपटे काले बीज रहते हैं।

इससे गहरे लाल रंग का अपारदर्शी गोंद प्राप्त होता है जिसे दक्षिण में **हत्तिमानके गोंद** कहते हैं।

एक साल से कम आयु के वृक्षों की जड़ सफेद मुसली या सिमुल मुसला के नाम से बेची जाती है किन्तु वास्तविक सफेद मुसली इससे भिन्न है जिसका वर्णन पृष्ठ ३९१ पर किया गया है।

रासायनिक संगठन—इसके बीजों में २०-२५% हलके पीले या भूरे रंग का तेल निकलता है।

गुण और प्रयोग—इसकी मुसली मूत्रजनन, बल्य तथा वाजीकर होती है। गोंद संग्राहक होता है। कोमल पत्ते और फल स्नेहन और संग्राहक होते हैं।

(१) मुसली की पेया अतिवीर्यपात से उत्पन्न थकावट में दी जाती है। उदर तथा शोथ में भी मूत्रजनन होने के कारण देते हैं जिससे सूजन कम होती है।

(२) बच्चे रात में सोते समय पेशाब करते हैं उस अवस्था में इसका गोंद दिया जाता है। अतिसारादि में भी इसे देते हैं।

(३) सोजाक में कोमल पत्ते पीसकर देते हैं।

मात्रा—सेमर के समान।

अथ धवः (धौरा)। तस्य नामानि गुणांश्चाह

धवो धटो नन्दितरुः स्थिरो गौरो धुरन्धरः। धवः शीतः प्रमेहार्शः पाण्डुपित्तकफापहः ॥
मधुरस्तुवरस्तस्य फलञ्च मधुरं मनाक् ॥ ६० ॥

धौरा के संस्कृत नाम—धव, धट, नन्दितरु, स्थिर, गौर तथा धुरन्धर ये सब हैं।

धौरा—मधुर तथा कषाय रसयुक्त, शीतल एवम्—प्रमेह, अर्श, पाण्डु, पित्त तथा कफ का नाशक है। धौरा का फल-थोड़ा मधुर रसयुक्त होता है ॥ ६० ॥

३१ धौरा

हि०–धौरा, धौं, धव, धों, धवबृक्ष। **बं०**–धाउया गाछ। **म०**–धावड़ा, धामोड़ा, धवल। **गु०**–धावड़ो। **क०**–दिंदुग। **ते०**–येल्लमद्दि। **अं०**–Axle-wood (ॲक्सेल-वुड)। **ले०**–*Anogeissus latifolia Wall.* (एनोजिस्सस् लेटीफोलिया)। Fam. Combretaceae (कॉम्ब्रेटेसी)।

यह पूर्व बंगाल तथा आसाम को छोड़कर प्रायः सब प्रान्तों में कहीं न कहीं पाया जाता है। इसका **वृक्ष** बड़ा या मध्यम ऊँचाई का होता है। **छाल**–$\frac{1}{2}$ इञ्च मोटी, चिकनी, श्वेताभ धूसर एवं पपड़ी छूटने के कारण कुछ गढेदार होती है। **पत्ते**–चौड़े, आयताकार, अंडाकार, २–४ इञ्च लंबे, कुण्ठित या गोलाग्र, सनाल एवं पृष्ठ पर बिन्दुकित होते हैं। फरवरी में गहरे लाल रंग के पत्र गिरते हैं तथा मार्च अप्रैल तक वृक्ष पर्णहीन रहता है। **पुष्प**–छोटे, हरिताभ, मुण्डक के रूप में सितंबर से जनवरी तक आते हैं। **फल**–चिपटे, द्विपक्ष, चोंचदार एवं दिसम्बर से मार्च तक पकते हैं।

इसकी लकड़ी बहुत मजबूत और लचकदार होती है और गाड़ी के धूरे तथा औजारों की मुठियाँ आदि बनाने के काम आती है। इसका पर्याय धुरन्धर तथा व्यापारी नाम Axle-wood इसीलिये पड़ा है।

इससे गोंद प्राप्त होता है जो बबूल के गोंद के स्थान पर प्रयोग किया जा सकता है।

रासायनिक संगठन—इसकी छाल तथा पत्तों में टैनिन (Tannin) बहुत होता है।

गुण और प्रयोग—यह शीत, स्तम्भन, रक्तरोधक एवं व्रणरोपक है। इसका उपयोग, अतिसार, प्रवाहिका, अर्श, रक्तपित्त, प्रमेह एवं विष में किया जाता है।

मात्रा—क्वाथ ५ से १० तोला; गोंद ५ से १० रत्ती।

अथ धन्वङ्गः (धामिन) तस्य नामानि गुणांश्चाह

धन्वङ्गस्तु धनुर्वृक्षो गोत्रवृक्षः सुतेजनः ॥ ६१ ॥
धन्वङ्गः कफपित्तास्रकासहृत्तुवरो लघुः। बृंहणो बलकृद्रूक्षः सन्धिकृद् व्रणरोपणः ॥ ६२ ॥

धामिन के संस्कृत नाम—धन्वङ्ग, धनुर्वृक्ष, गोत्रवृक्ष तथा सुतेजन ये सब हैं।

धामिन—कषाय रस युक्त, लघु, बृंहण (रस–रक्तादि–वर्धक), बलकारक, रूक्ष, सन्धानकारक (अस्थियों को टूटने पर जोड़ने वाला), व्रण का रोपण करने वाला एवम्–कफ–पित्त, रक्तविकार तथा खांसी को दूर करने वाला है ॥ ६१–६२ ॥

३२ धामिन

हि०–धामिन, धामन। **म०**–धामणीचा वृक्ष। **गु०**–धामण। **बं०**–धामना गाछ। **ते०**–चरचि। **ता०**–सद्दचि, थड़। **क०**–बुतले। **ले०**–*Grewia tiliaefolia Vahl.* (ग्रेविआ टिलीफोलिआ)। Fam. Tiliaceae (टिलीएसी)।

यह हिमालय पहाड़ के निचले भागों में जमुना से नेपाल तक, ४००० फीट की ऊँचाई तक एवं मध्यभारत, मद्रास, बिहार एवं उड़ीसा में पाया जाता है। इसका **वृक्ष**–मध्यमाकार का होता है। **पत्ते**–२ से ५ इञ्च तक लम्बे तथा १ से ४ इञ्च तक चौड़े, अण्डाकार, मध्यशिरा के दोनों ओर के भाग छोटे-बड़े, प्रायः कुण्ठिताग्र, गोल दन्तुर, आधार का भाग एक ओर अत्यधिक बढ़ा हुआ एवं १ इञ्च लंबे वृन्त से युक्त होते हैं। **पुष्प**–सफेद रङ्ग के छोटे २ फूलों के गुच्छे लगते हैं

जिनके भीतर पीलापन झलकता है। **फल**–२ से ४ खण्ड के, मटर के समान एवं पकने पर काले पड़ जाते हैं। इसके फल खाने लायक खट्टे होते हैं। इसकी छाल का उपयोग किया जाता है। यह बाहर से धूसर या गहरे भूरे रंग की तथा मोटी होती है। पत्तों को बाल धोने के लिये काम में लाया जाता है। लकड़ी का भी उपयोग फर्नीचर इत्यादि बनाने के लिये किया जाता है।

गुण और प्रयोग—इसकी छाल कटु, मधुर, शीत, स्नेहन तथा रक्तसंग्राहिक होती है।

(१) इसके अन्तर्छाल का रस १ से २ तोले की मात्रा में रक्त युक्त आंव में पिलाया जाता है।

(२) कैंवाच की फली शरीर में लगने से खुजली होने पर छाल को शरीर पर मलते हैं जिससे त्वरित आराम मिलता है।

(३) अफीम के विष को उतारने के लिये इसकी लकड़ी का कोयला वमन कराने के लिये देते हैं।

मात्रा—छाल स्वरस १ से २ तोला।

अथ करीरः। तस्य नामानि गुणांश्चाह

करीरः क्रकरीपत्रो ग्रन्थिलो मरुभूरुहः। करीरः कटुकस्तिक्तः स्वेद्युष्णो भेदनः स्मृतः ॥
दुर्नामकफवातामगरशोथव्रणप्रणुत् ॥ ६३ ॥

करील के संस्कृत नाम—करीर, क्रकरीपत्र, ग्रन्थिल तथा मरुभूरुह ये सब हैं।

करील—कटु तथा तिक्त रस युक्त, स्वेदजनक, उष्ण, मल का भेदन करने वाला एवम् अर्श, कफ, वात, आम, विष, शोथ तथा व्रण को दूर करने वाला होता है ॥ ६३ ॥

३३ करील

हि०–करीर, करील, करेल। **बं०**–करील। **म०**–नेवती, किरल, सोदद। **गु०**–केरडो, केर। **क०**–चिप्पुरी। **ते०**–करीरमु। **फा०**–सोदाब। **ता०**–सेंगम्। **ले०**–*Capparis aphylla Roth.* (कॅपेरिस् एफीला)। Fam. Capparidaceae (कॅपेरीडेसी)।

यह पंजाब, सिंध, कच्छ, प० राजपुताना, गुजरात एवं दक्षिण के उत्तरी भाग में शुष्क प्रदेशों में होता है। इसका **वृक्ष**–झाड़दार, कांटेदार, घना, बारीक शाखाओं से भरा हुआ एवं ६–७ फीट तक ऊँचा होता है। **पत्ते**–केवल नवीन शाखाओं पर होते हैं तथा ये $\frac{1}{8}$ इञ्च लम्बे, रेखाकार, नोकीले, स्वाद में कटु तथा शीघ्र ही गिर जाते हैं। **फूल**–गुलाबी रङ्ग के, $\frac{3}{4}$ इञ्च व्यास के गुच्छों में वसन्त ऋतु में फूलते हैं। **फल**–गोल $\frac{1}{2}$–$\frac{3}{4}$ इञ्च व्यास के, लाल या गुलाबी एवं छोटे से वृन्त पर आते हैं।

इसकी कली एवं फलों का अचार बनाते हैं। औषध में कली, फल तथा छाल का उपयोग करते हैं।

गुण और प्रयोग—इसकी छाल तिक्त एवं स्रंसन, स्वेदजनन, अर्शोघ्न एवं शोथहर है। कोमल पत्ते तथा शाखा स्फोटजनन होते हैं। फल संग्राहक होते हैं।

(१) दंतशूल में पत्ते तथा नवीन शाखाएँ चबाने को देते हैं। सूजन, फोड़े आदि पर इसे लगाने से लाभ होता है।

(२) अतीसार तथा पुरानी आंव में फलों का अचार देते हैं।

(३) मूल तथा मूल की छाल आमवात तथा विषमज्वर में दी जाती है।

मात्रा—त्वक् चूर्ण १ से २ माशा।

अथ शाखोटः (सहोरा) । तस्य नामानि गुणांश्चाह

शाखोटः पीतफलको भूतावासः खरच्छदः ।
शाखोटो रक्तपित्तार्शोवातश्लेष्मातिसारजित् ॥ ६४ ॥

सहोरा के संस्कृत नाम—शाखोट, पीतफलक, भूतावास और खरच्छद ये सब हैं ।
सहोरा—रक्तपित्त, अर्श, वात, कफ तथा अतिसार को दूर करने वाला होता है ॥ ६४ ॥

३४ सिहोरा

हि॰—सहोरा, सिहोड़ (ड़ा), सिहोर । **बं॰**—शेओडा । **म॰**—सहोड़, करवती । **गु॰**—साहोड़ा । **ते॰**—मारिगिके चेट्टु । **ता॰**—पिरे । **क॰**—आखोड़ । **ले॰**—*Streblus asper Lour.* (स्ट्रेब्लस् असपेर्) । Fam. Moraceae (मोरेसी) ।

सहोरे के वृक्ष जांगल देशों के अधिक शुष्कभागों में रुहेलखंड से पूर्व और दक्षिण की ओर ट्रावनकोर तक तथा बंगाल, बिहार, मध्य प्रदेश आदि प्रान्तों में अधिक होते हैं । ये क्षीरी वृक्ष—अत्यन्त गठीले, झाड़दार और मध्यमाकार तथा २० फीट तक ऊँचे होते हैं । इसके पत्ते कुछ गोल, छोटे छोटे, दोनों ओर से खरदरे और २–४ इञ्च लम्बे होते हैं । उन पर छोटी २ उठी हुई बून्दे होती हैं । फूल—सफेद रङ्ग के, पुरुष और स्त्रीजाति के अलग अलग लगते हैं । फल—पीले रंग के और उनमें एक एक बीज निकलते हैं । पौष से फाल्गुन महीने तक इसके फूल लगते हैं और वैसाख से आषाढ़ तक फल पक जाते हैं । बकरी के दूध मे इसके क्षीर को डालने से दूध जम जाता है । (रा॰ नि॰) । इसकी छाल एवं क्षीर का उपयोग करते हैं ।

रासायनिक संगठन—इसकी छाल में तिक्त द्रव्य पाया जाता है ।

गुण और प्रयोग—(१) इसकी छाल का क्वाथ ज्वर, अतिसार तथा प्रवाहिका में दिया जाता है । गोमूत्र के साथ क्वाथ को श्लीपद में देते हैं ।

(२) इसके मूल को पुराने व्रण तथा नाड़ी व्रण में लगाते हैं । हाथ पैर फटने पर इसका दूध लगाते हैं ।

अथ वरुणः (वरना) । तस्य नामानि गुणाँश्चाह

वरुणो वरणः सेतुस्तिक्तशाकः कुमारकः ।
वरुणः पित्तलो भेदीश्लेष्मकृच्छ्राश्ममारुतान् ॥ ६५ ॥
निहन्ति गुल्मवातास्रकृमींश्चोष्णोऽग्निदीपनः ।
कषायो मधुरस्तिक्तः कटुकोरूक्षको लघुः ॥ ६६ ॥

वरना के संस्कृत नाम—वरुण, वरण, सेतु, तिक्तशाक और कुमारक ये सब हैं ।

वरना—कषाय, मधुर, तिक्त तथा कटु रस युक्त, रूक्ष लघु, पित्तजनक, मल का भेदन करने वाला, उष्ण, अग्निदीपक एवम्—कफ, मूत्रकृच्छ्र, पथरी, वायु, गुल्म, वातरक्त तथा कृमि को दूर करने वाला होता है ॥ ६५–६६ ॥

३५ वरना

हि॰—वरुन, बरना । **बं॰**—बरुन गाछ, बरुण गाछ । **म॰**—वायवर्णा । **गु॰**—वरणो, कागडाकेरी । **क॰**—नारूवे । **ते॰**—मगलिगम् । **ता॰**—मरलिङ्गम । **ले॰**—*Crataeva nurvala Buch.-Ham.* (क्रे॰ नुर्वाला) । Fam. Capparidaceae (कॅपेरीडेसी) ।

यह मालाबार और कनारा में नदियों के आस पास पाया जाता है तथा सभी स्थानों पर लगाया हुआ भी होता है । इसका वृक्ष—मध्यमाकार का होता है और शाखाएँ—फैली हुई रहती हैं । छाल—आध इञ्च मोटी सफेद रङ्ग की होती है । टहनियों पर सफेद दाग होते हैं । पत्ते—तीन-तीन पत्रकों के पाणिवत् सदल पर्ण होते हैं जो बेल की तरह किन्तु लंबे वृन्त से युक्त दिखलाई देते हैं । पत्रक—लट्वाकार या भालाकार एवं लम्बाग्र होते हैं । पुष्प—श्वेत, पीत या गुलाबी, भिन्न-भिन्न रंग के होते हैं । फल—नीबू के आकार के तथा पकने पर लाल हो जाते हैं । पत्तों का स्वाद कड़वा तथा उन्हें मसलने से उग्र गंध आती है ।

इसकी छाल, पत्ते तथा पुष्पों का उपयोग किया जाता है ।

रासायनिक संगठन—छाल में सैपोनिन तथा टॅनिन पाया जाता है ।

गुण और प्रयोग—यह तिक्त, उष्ण, वातनाशक, दीपन, स्रंसन, मूत्रजनन, अश्मरीघ्न, एवं शोथघ्न है । ताजे पत्तों का लेप करने से त्वचा लाल हो जाती है तथा फोड़े निकल आते हैं ।

(१) अश्मरी, शर्करा, बस्तिशूल, मूत्रकृच्छ्र आदि मूत्रविकारों में इसकी छाल का प्रयोग अपामार्ग, पुनर्नवा, यवक्षार, गोखरू, मुलेठी इत्यादि के साथ किया जाता है ।

(२) मूल का क्वाथ मधु मिलाकर गण्डमाला तथा अपक्व विद्रधि में दिया जाता है । (च॰ द॰) । गण्डमाला में लेप भी किया जाता है । क्वाथ में सोंठ एवं कचनार की छाल भी मिलाई जा सकती है ।

(३) पेट फूलना तथा कुपचन में पत्तों का फांट बनाकर देते हैं । इससे वमन बंद होता है ।

(४) पत्तों का साग मेद कम करने के लिये खिलाते हैं ।

(५) पुष्प ग्राही तथा पित्तविरेचक माने जाते हैं ।

मात्रा—क्वाथ ५ से १० तोला; मूल या त्वक् चूर्ण ३–६ माशा ।

अथ कटभी । तस्य नामानि तत्फलस्य च गुणाँश्चाह

कटभी स्वादुपुष्पश्च मधुरेणुः कटम्भरः । कटभी तु प्रमेहार्शोनाडीव्रणविषक्रिमीन् ॥ ६७ ॥
हन्त्युष्णा कफकुष्ठघ्नी कटू रूक्षा च कीर्तिता । तत्फलं तुवरं ज्ञेयं विशेषात्कफशुक्रहृत् ॥६८॥

कटभी के संस्कृत नाम—कटभी, स्वादुपुष्प, मधुरेणु तथा कटम्भर ये सब हैं ।

कटभी—कटुरसयुक्त, रुक्ष, उष्ण एवम्—प्रमेह, अर्श, नाडीव्रण (नासूर), विष, क्रिमि, कफ तथा कुष्ठ को नाश करने वाली होती है ।

कटभी का फल—कषाय रस युक्त तथा विशेषतः कफ और शुक्र का नाशक होता है ॥६७-६८॥

३६ कटभी ? कुम्भी, कुम्भीर

नोट—कटभी के संबंध में विद्वानों में मतभेद है । ज्योतिष्मती का नाम भी कटभी दिया हुआ है । श्री ठा॰ बलवन्तसिंह जी श्वेत शिरीष, आलबीजिया प्रोसेरा (Albizzia procera) को कटभी मानते हैं । श्री बापालाल शाह वैद्य कॅरेया आर्बोरिया (Careya arborea) को कटभी कुम्भी दोनों मानते हैं जिसे अन्य विद्वानों ने केवल कुम्भी माना है । शिरीष के अन्तर्गत श्वेत शिरीष का वर्णन किया जा चुका है जिसके कटभी होने की अधिक संभावना है । यहां संक्षेप में कुम्भी का भी वर्णन किया जा रहा है ।

हि॰, बं॰—कुम्भी । **म॰**—कुम्भा । **ले॰**—*Careya arborea Roxb.* (कॅरेया आर्बोरिया) । Fam. Lecythidaceae (लेसीथीडेसी) ।

यह हिमालय के निचले भागों में कांगड़ा से लेकर पूर्व में बंगाल तथा मध्य, पश्चिम एवं दक्षिण भारत में ५००० फीट तक होता है।

इसके वृक्ष-छोटे या मध्यम ऊँचाई के होते हैं। पत्ते-बहुत बड़े, ६-१५ इञ्च लंबे, अभिलट्वाकार (ऊपर की ओर चौड़े तथा नीचे की ओर संकुचित), चिकने, गोल दन्तुर एवं टहनियों के अग्रपर समूहबद्ध होकर रहते हैं। पुष्प-श्वेत या गुलाबी, गुच्छे में रहते हैं। फल-गोलाई लिये हुये, हरे, २½-३ इञ्च व्यास के एवं शीर्षपर बाह्यनाल से युक्त रहते हैं।

इसकी छाल का प्रयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसके पत्तों में १९% टैनीन होता है।

गुण और प्रयोग—इसकी छाल उत्तम स्तम्भन है।

(१) सूखी खांसी में छाल के क्वाथ से कुल्ला कराते हैं तथा इसकी गोली चूसने को देते हैं। खांसी में ताजी छाल का रस या पुष्प मधु के साथ देते हैं।

(२) प्रदर में छाल को ६ से १२ रत्ती की मात्रा में घृत एवं मधु के साथ देते हैं। विस्फोटक ज्वर जैसे मसूरिका में ज्वर तथा कण्डू दूर करने के लिये छाल का प्रयोग करते हैं।

(३) पीडा युक्त शोथ तथा व्रण पर छाल को पीस कर बांधते हैं तथा व्रण प्रक्षालन के लिये इसका क्वाथ प्रयोग करते हैं।

(४) सर्प विष में छाल का रस पिलाते हैं तथा पीसकर दंश स्थान पर बांधते हैं।

मात्रा—छाल १ से ३ माशा।

अथ मोक्षः (मोखावृक्ष) पलाशवत्पर्वतवृक्षः। तस्य नामानि गुणांश्चाह

मोक्षस्तु मोक्षकोऽपि स्याद् गोलीढोगोलिहस्तथा।
क्षारश्रेष्ठः क्षारवृक्षो द्विविधः श्वेतकृष्णकः॥ ६९॥
मोक्षकः कटुकस्तिक्तो ग्राह्युष्णः कफवातहृत्। विषमेदोगुल्मकण्डूबस्तिरुक्‌कृमिशुक्रनुत्॥७०॥

मोखा के संस्कृत नाम—मोक्ष, मोक्षक, गोलीढ, गोलिह, क्षारश्रेष्ठ तथा क्षारवृक्ष ये सब हैं। यह सफेद तथा काले के भेद से दो प्रकार का होता है।

मोखा—कटु तथा तिक्त रसयुक्त, ग्राही, उष्ण एवम्—कफ, वात, विष, मेद, गुल्म, खुजली, बस्तिसम्बन्धी रोग, कृमि तथा शुक्र का नाशक है॥ ६९-७०॥

नोट—गुडूच्यादिवर्ग में पाटला के भेद में मोक्षक को बतलाया गया है किन्तु मोक्षक यह उससे भिन्न है। इसी प्रकार इसमें भी दो भेद श्वेत एवं कृष्ण, भावप्रकाशकार ने माने हैं। यहां दोनों का वर्णन किया गया है। मोक्षक अधिकतर श्वेत को कहा गया है।

३७ मोखा

सं०—मोक्षक, श्वेत मोक्षक। हि०—मोखा, पकसिरा। बं०—घण्टा पारुल। म०—मोखाडा। ता०—मगलिंगम्। ते०—मगलिंग। ले०—*Schrebera swietenioides Roxb.* (श्रेबेरा स्वीटेनियोइडिस्)। Fam. Oleaceae (ओलिएसी)।

यह कुमाऊं से पूर्व, मध्यभारत तथा राजपुताना में पाया जाता है।

इसका वृक्ष-मध्यम ऊँचाई का होता है। पत्ते-पक्षवत् सदल होते हैं। पत्रक-संख्या में ३-७, लट्वाकार, आयताकार या लट्वाकार-प्रासवत्, ३-७ इञ्च लंबे, फलक क्रमशः

संकुचित होकर सूक्ष्म वृन्त से युक्त और अग्र किंचित् लम्बाग्र होता है। पुष्प-श्वेताभ, बाह्यकोश घंटिकाकार, और आभ्यंतर कोश व्यस्त छत्राकार होते हैं। फल-नीचे की ओर लटका हुआ, नाशपाती के आकार का, २·५ इञ्च लंबा तथा १ इञ्च चौड़ा होता है। बीज-प्रत्येक कोष्ठ में २-४ कोनदार सपक्ष बीज होते हैं।

गुण और प्रयोग—इसके जड़ से सिद्ध घृत कुष्ठ में लाभदायक है। (सु० चि० अ० ९)। इसका क्षार अच्छा माना गया है तथा मुखरोग तथा ग्रहणी आदि में लाभदायक बताया गया है। बिहार में आदिवासियों में बच्चों के अण्डकोश बढ़ने पर इसके फल को कमर में बांधने की प्रथा है।

३७ (क) कालामोखा

सं—कृष्णमोक्षक ?। हि०—कालामूका, रतनगरुर। बं०—भूतपत्र, भूतकेशी। ले०—*Elaeodendron glaucum Pers.* (एलिओडेन्ड्रोन् ग्लॉकम्)। Fam. Celastraceae (सिलेस्ट्रेसी)।

यह अनेक स्थानों में पाया जाता है तथा बगीचों में लगाया हुआ भी मिलता है।

इसके छोटे वृक्ष होते हैं। पत्ते-गहरे हरे रंग के, चिकने, २-६ × १-३ इञ्च बड़े, लट्वाकार, नोकीले, सवृन्त (वृन्त १ इञ्च तक) एवं गोल या नोकीले दांतों वाले होते हैं। पुष्प-हरित-श्वेत या भूरे; फल-अष्ठिक तथा ½ इञ्च लंबे होते हैं।

गुण और प्रयोग—इसकी छाल ग्राही एवं शोथघ्न होती है। भूतोन्माद में पत्तियों का धूआं दिया जाता है जिससे चेतना आती है तथा शिरःशूल में नस्य दिया जाता है।

अथ जलशिरीषिका (जलसिरिस–टिण्टिनी-ढाढोन इति च)। तस्य नामानि गुणांश्चाह

शिरीषिका टिण्टिनिका दुर्बलाऽम्बुशिरीषिका। त्रिदोषविषकुष्ठार्शोहरी वारिशिरीषिका॥७१॥

ढाढोन के संस्कृत नाम—शिरीषिका, टिण्टिनिका, दुर्बला, अम्बुशिरीषिका तथा वारिशिरीषिका ये सब हैं। ढाढोन—त्रिदोष, विष, कुष्ठ तथा बवासीर को दूर करने वाला होता है॥ ७१॥

३८ जलसिरिस

जल शिरीष क्या है इसका निर्णय अभी नहीं किया जा सका है। संभव है शिरीष की तरह का कोई वृक्ष हो जो जल के समीप होता हो। मराठी नाम 'जल शिरसी' यह ट्राइकोडेस्मा झेलेनिकम् (Trichodesma zeylanicum R. Br.) के लिये लिखा हुआ मिलता है। अभी इसके विषय में अधिक अन्वेषण की आवश्यकता है।

अथ शमी (छोंकरा)। तस्या नामानि गुणांश्चाह

शमी शक्तुफला तुङ्गा केशहन्त्री शिवाफला।
मंगल्या च तथा लक्ष्मीः शमीरः साऽल्पिका स्मृता॥ ७२॥
शमी तिक्ता कटुः शीता कषाया रेचनी लघुः।
कफकासभ्रमश्वासकुष्ठार्शःकृमिजित् स्मृता॥ ७३॥

शमी के संस्कृत नाम—शमी, शक्तुफला, तुङ्गा, केशहन्त्री, शिवाफला, मङ्गल्या तथा लक्ष्मी ये सब हैं। छोटे शमीवृक्ष का नाम 'शमीर' है।

शमी—तिक्त, कटु तथा कषाय रसयुक्त, शीतल, रेचक, लघु एवम्-कफ, कास (खांसी), भ्रमरोग श्वास, कुष्ठ, अर्श तथा कृमि का नाशक है ॥ ७२-७३ ॥

३९ छोंकर (शमी)

हि०—छोंकर, शमी छिकुर। **बं०**—शांई। **म०**—शमी। **गु०**—खीजड़ो, खमड़ी। **ता०** कलिसम्, वण्णि। **ते०**—जम्मि। **पं०**—जंड, जंडी। **ले०**—*Prosopis spicigera Linn.* (प्रोसोपिस् स्पिसिजेरा) Fam. Leguminosae (लेग्युमिनोसी)।

यह पञ्जाब, सिन्ध, राजपूताना, गुजरात, और बुन्देलखण्ड में अधिक होती है और इस को वाटिकाओं में भी लगाते हैं। इसका कांटेदार वृक्ष छोटा होता है और शाखायें पतली होती हैं। कांटे शंकाकार, सीधे तथा कुछ चिपटे होते हैं। पत्ते-द्वि-पक्षवत्, उपपक्ष प्रायः दो जोड़े, विपरीत, १-२ इञ्च लम्बे और उपपक्षों के प्रत्येक जोड़े के बीच में एक-एक ग्रंथि होती है। पत्रक ८-१२ जोड़े, अवृन्त, तिर्यगायताकार, चिकने, चमड़े जैसे कड़े एवं उनका अग्र कड़ा और तीक्ष्ण होता है। पुष्प-पीताभ, छोटे, २-३ इञ्च लम्बी मंजरी में आते हैं। फली—लटकी हुई, बीच-बीच में संकुचित तथा ५-१० इञ्च लम्बी होती है जिनमें १०-१५ बीज मधुर फलमज्जा के भीतर रहते हैं।

कच्ची फलियों का साग बनाकर मारवाड़ तथा पंजाब में खाते हैं। दशहरा को लोग इस वृक्ष का पूजन करते हैं।

इसकी छाल, पुष्प तथा फली का उपयोग किया जाता है।

गुण और प्रयोग—इसकी छाल संग्राहक एवं रक्तपित्तशामक होती है। इसकी फली केश को हानि पहुंचाने वाली होती है। (च. सू. अ. २७, सु. सू. अ. ४६)। बालों को हटाने के लिये इसकी राख को मलते हैं।

गर्भपात न हो इसलिये इसके फूलों को कूट कर मिश्री मिलाकर गर्भिणी को खिलाया जाता है।

अथ सप्तपर्णः (छतिवन-सतौना)। तस्य नामानि गुणांश्चाह

सप्तपर्णो विशालत्वक् शारदो विषमच्छदः ॥ ७४ ॥
सप्तपर्णो व्रणश्लेष्मवातकुष्ठास्रजन्तुजित्। दीपनः श्वासगुल्मघ्नः स्निग्धोष्णस्तुवरः सरः ॥७५॥

छतिवन के संस्कृत नाम—सप्तपर्ण, विशालत्वक, शारद तथा विषमच्छद ये सब हैं।

छतिवन—कषायरसयुक्त, अग्निदीपक, स्निग्ध, उष्ण, सारक एवम्-व्रण, कफ, वात, कुष्ठ रक्तविकार, जन्तु, श्वास तथा गुल्म का नाशक है। ७४-७५ ॥

४० सतौना

हि०—सतौना, सतवन, छतिवन, सतिवन। **बं०**-छातिम। **म०**—सातवीण। **गु०**—सातवण। **क०**-हाले। **ते०**—एडाकुलरि। **ता०**-एलिलैप्पालै। **ले०**—*Alstonia scholaris R. Br.* (एल्स्टोनिया स्कोलेरिस्)। Fam. Apocynaceae (एपोसाइनेसी)।

सतिवन का वृक्ष प्रायः सब आर्द्र प्रान्तों में पाया जाता है। किन्तु विशेषरूप से प० समुद्र के किनारे के जंगलों में अधिक पाया जाता है।

इसका वृक्ष-सुन्दर, विशाल, सीधा, सदाहरित एवं क्षीरयुक्त होता है। शाखाएं तथा पत्ते चक्रिक क्रम में निकले रहते हैं।

पत्ते—प्रति चक्र में ३-७, प्रायः ६, चिकने, आयताकार-भालाकार या अभिअंडाकार ऊपर से चमकीले किन्तु नीचे से श्वेताभ, ४-८ इञ्च लंबे तथा ६-१३ मि० मी० लंबे वृन्त से युक्त होते हैं। पुष्प—हरिताभ श्वेत तथा गुच्छों में आते हैं। फली—दो-दो एक साथ, नीचे लटकी हुई, १-२ फीट लंबी तथा ३ मि० मी० व्यास की होती है। बीज—६ मि० मी० लंबे, चिपटे तथा रोमश होते हैं।

छाल—टहनियों की ३-४ मि० मी० मोटी, मुड़ी हुई एवं काण्ड की ७ मि० मी० मोटी होती है। बाहर से नवीन छाल गहरे धूसर या भूरे रंग की तथा पुरानी बहुत खुरदरी, असमान, फटी हुई होती है तथा उन पर अनेक गोल या आडे धूसर या सफेद धब्बे रहते हैं। अन्दर से यह भूरे-पीताभ या गहरे धूसराभ भूरे रंग की, कुछ धारीदार तथा गद्देदार रहती है। यह गंधहीन एवं स्वाद में तिक्त रहती है।

इसकी छाल, पत्र, पुष्प तथा दुग्ध का उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—छाल में क्षाराभ की मात्रा ०·१६-०·२७% रहती है जिस में प्रधानता एचिटेमाइन (Echitamine, $C_{23}H_{28}O_4N_2H_2O$) की तथा अल्प मात्रा में एचिटामिडीन (Echitamidine, $C_{20}H_{26}O_3N_2$) रहता है। इन क्षाराभों का मलेरिया के लिये कोई लाभदायक परिणाम नहीं पाया गया है। क्षीर में केउटचौक (Caoutchouc) तथा राल होती है तथा इसका स्वाद कडुवा होता है।

गुण और प्रयोग—इसकी छाल उष्ण, तिक्त, तिक्तपौष्टिक, कषाय, स्तंभन, कृमिघ्न, स्तन्यजनन, दीपन एवं कुष्ठघ्न है। इसका उपयोग ज्वर, विषमज्वर, अतिसार, प्रवाहिका, चर्मरोग एवं कृमि में किया जाता है।

(१) इससे ज्वर कम होता है। आधुनिक परीक्षणों से देखा गया है कि मलेरिया में कोई विशेष लाभ नहीं होता, केवल ज्वर का वेग कम होता है तथा बाद में तिक्त पौष्टिक रूप में इससे लाभ होता है जिससे पाचन सुधरता है तथा मन्दज्वर भी चला जाता है।

(२) अतिसार एवं प्रवाहिका की जीर्णावस्था में समग्र त्वचा का क्वाथ लाभदायक होता है।

(३) प्रसूति के पश्चात् इसके साथ सुगंधि द्रव्य देने से दुग्ध की मात्रा बढ़ती है तथा ज्वर, नहीं आता तथा पाचन ठीक रहता है।

(४) पुराने व्रणों पर इसका लेप करते हैं। चर्मरोगों में क्षीर का लेप भी लाभदायक है।

मात्रा—त्वक् चूर्ण ४-८ माशा; क्वाथ के लिये २-४ तोला; घनसत्व ½-३ तोला।

अथ तिनिशः (तिरिच्छ)। तस्य नामानि गुणांश्चाह

तिनिशः स्यन्दनो नेमी रथद्रुर्वञ्जुलस्तथा। तिनिशः श्लेष्मपित्तास्रमेदःकुष्ठप्रमेहजित् ॥
तुवरः श्वित्रदाहघ्नो व्रणपाण्डुकृमिप्रणुत् ॥ ७६ ॥

तिरिच्छ के संस्कृत नाम—तिनिश, स्यन्दन, नेमी, रथद्रु तथा वञ्जुल ये सब हैं।

तिरिच्छ—कषाय रस युक्त एवम् कफ, पित्त, रक्तविकार, मेद, कुष्ठ, प्रमेह, श्वेतकुष्ठ, दाह, व्रण, पाण्डु तथा कृमि का नाशक है ॥ ७६ ॥

नोट—तिनिश के संस्कृत पर्यायों के आधार पर यह निःसंदेह यूजिनिया डलबर्जिओडिस् (Ougeinia dalbergioides) वृक्ष है। किन्तु गलती से कहीं-कहीं इसका नाम लाजरस्ट्रोमिया फ्लोस रेजिनी (Lagerstroemia flos-reginae) लिखा मिलता है जिसे अर्जुन भी कहा गया है। यहाँ दोनों का संक्षेप में वर्णन किया गया है।

४१ तिनिश, पानन

हि० सानन, पानन, सन्दन। **बं०**–तिनिश। **गु०**-तणछ। **म०**–तिमस। **ता०**–नारिवेगई। **ते०**–तेल्ल मोट्टुकु। **ले०**–*Ougeinia dalbergioides Benth.* (यूजिनिया डल्बर्जिओडिस्)। Fam. Leguminosae (लेग्युमिनोसी)।

यह हिमालय में ५००० हजार फीट तक पञ्जाब से भूटान तक एवं अवध, बुंदेलखण्ड, छोटा-नागपुर, मध्य भारत, उड़ीसा, सरकार, मध्यप्रदेश, बंबई तथा मारवाड़ में होता है।

इसके **वृक्ष**–छोटे तथा टेढ़े-मेढ़े होते हैं। **शाखा**–पतली तथा श्वेताभ होती है। **पत्ते**–त्रिपत्रक तथा प्रायः नीचे से कुछ रजावृत होते हैं। अग्रय पत्रक ३–६ इञ्च लंबे, अंडाकार, वृत्ताकार या अभिअंडाकार, कुण्ठिताग्र, एवं अखण्ड या गोल-दन्तुर होते हैं। पार्श्व पत्रक छोटे, विपरीत तथा तिर्यक् होते हैं। **पुष्प**–श्वेत या गुलाबी एवं प्रायः पुराने काण्ड से बहुत बड़ी संख्या में निकलते हैं। **फली**–२–४×३⁄४ इञ्च लंबी होती है।

इसकी लकड़ी बहुत मजबूत होने के कारण प्रायः गाड़ी के धुरों के लिए काम में लाई जाती है। इसके स्थानिक नाम तिनसा तथा सानन संस्कृत पर्याय तिनिश एवं स्यन्दन के अपभ्रंश मालूम पड़ते हैं। इसी तरह रथद्रु नाम इसका रथ में उपयोग की ओर संकेत करता है।

इसकी लकड़ी में घाव करने से एक प्रकार का गोंद भी प्राप्त होता है।

गुण और प्रयोग—यह कषाय, ग्राही, कफपित्त शामक, रसायन एवं वयस्थापन (सु० चि० अ० १) है। इसका उपयोग कुष्ठ (च० चि० अ० ७), रक्तातिसार (सु० उ० अ० ४०), प्रमेह, रक्तदोष एवं ज्वर में किया जाता है।

(१) इसके छाल का क्वाथ ज्वरहर माना जाता है तथा जब पेशाब का रंग गहरा होता है तब इसे पिलाते हैं।

(२) इसका गोंद अतिसार तथा प्रवाहिका में देते हैं।

४२ जारूल

हि०—जरुल, जारुल, अर्जुन ? **बं०**–जरूल। **म०**–नामण। **ता०**—कोदली। **ते०**–वारगोगु। **ले०**—*Lagerstroemia flos-reginae Retz.* (लाजरस्ट्रोमिया फ्लोस रेजिनी)। Fam. Lythraceae (लिथरेसी)।

यह पूरब बङ्गाल, आसाम और रत्नागिरी आदि प्रान्तों में उत्पन्न होता है।

यह प्रायः नदियों के किनारे तथा पहाड़ियों से निर्गम स्थान पर होता है। इसको शोभा के लिये बागों में लगाते भी हैं।

इसका **वृक्ष**–बड़ा, ३०–६० फीट तक ऊंचा होता है। **पत्ते**–४ से ८ इञ्च तक लम्बे कुछ चौड़े, किञ्चित् अण्डाकार, आयताकार-भालाकार और नुकीले होते हैं। **फूल**–सुन्दर, २ ३ इञ्च के घेरे में बैंगनी युक्त लाल होते हैं। बाह्यदल श्वेत रज से आवृत होते हैं। **फल**–१३⁄४–१ इञ्च बड़े कुछ गोल होते हैं।

रासायनिक संघटन—इसके प्रत्येक भाग में विशेष करके पुराने पत्तों एवं पके फलों में इन्सु-लिन (Insulin) के समान, रक्तगत शर्करा की मात्रा को कम करने वाला पदार्थ पाया गया है।

गुण और प्रयोग—इसकी छाल तथा पत्ते-रेचक होते हैं। बीज मादक माने जाते हैं। मूल ग्राही तथा ज्वरनाशक है। छाल का क्वाथ ज्वर में दिया जाता है। मुख के व्रणों में फल का स्थानिक उपयोग किया जाता है।

अथ भूमीसहः (सागोन)। तस्य नामानि गुणांश्चाह

भूमीसहो द्वारदारुर्वरदारुः खरच्छदः। भूमीसहस्तु शिशिरो रक्तपित्तप्रसादनः ॥ ७७ ॥

सागोन के संस्कृत नाम – भूमीसह, द्वारदारु, वरदारु तथा खरच्छद ये सब हैं।

सागोन—शीतल एवं रक्तपित्त को शुद्ध करने वाला है ॥ ७७ ॥

४३ सागोन

सं०—शाक, साग। **हि०**–सागोन, सागवन, सागु (ग) वान। **बं०**–सेगुन गाछ। **म०**–**गु०**–सागवान। **क०**–तेगिन। **ते०**–तेकु। **ता०**–टेकु। **अं०**–Indian Teak Tree (इण्डियन टीक ट्री)। **ले०**—*Tectona grandis Linn.* (टेक्टोना ग्रॅन्डिस)। Fam. Verbenacese (वर्बिनेसी)।

इसके **वृक्ष** दक्षिण तथा मध्य भारत में अधिक होते हैं। यह **वृक्ष**–बहुत ऊँचा, सीधा और विशाल होता है। ५०–६० फीट की ऊंचाई पर शाखाएं होती हैं। इसके **पत्ते**–बहुत लम्बे चौड़े, ऊपर से खरदरे और नीचे से सफेद रोवेंदार होते हैं। इनको हाथ से मलने से हाथ लाल हो जाता है। **फूल**–सफेद रंग के गुच्छों में आते हैं। **फल**–छोटे, ३⁄४ इञ्च व्यास के, गोलाकार रोमश होते हैं। सागोन एक प्रयोजनीय और प्रसिद्ध काष्ठ है। इसकी लकड़ी से तख्ते, बक्स, आलमारी इत्यादि बहुत चीजें बनाते हैं। यह हलकी, चिक्कन और टिकाऊ होती है तथा इसमें दीमक नहीं लगती। इसके सभी भागों का उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसके काष्ठ में क्विनीन सदृश पदार्थ टेक्टोक्विनीन (Teotoquinine), राल २·९३% जो चर्म के लिये प्रक्षोभक होती है, कुछ उड़नशील तेल तथा अन्य स्नेह पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—इसकी छाल या काष्ठ पित्तशामक कुछ स्तम्भन एवं कृमिघ्न है। शोथ एवं शिरःशूल में इसका लेप किया जाता है। कुपचन, पित्त प्रकोप तथा पेट की जलन में इसका चूर्ण ३–१२ माशे की मात्रा में देते हैं।

इसके पुष्प तथा बीज मूत्रजनन हैं। मूत्रावरोध में फूलों से पेड़ू पर सेंकते हैं तथा फांट पिलाते हैं।

बीजों का तेल केशवर्धक है तथा खुजली (पामा) में लगाया जाता है।

इसके पत्तों का रस खपड़े में गरम करके विसर्प पर लगाते हैं। पत्तों को पीस कर बिसारी (Whitlow) पर बांधते हैं।

सर्प (फुरसा) दंश से रक्तस्राव होता हो तो इसके कोमल अंकुरों के रस से बंद होता है।

मात्रा—त्वक् चूर्ण ३–१२ माशा।

इति श्रीमिश्रलटकनतनयश्रीमिश्रभावविरचिते भावप्रकाशे मिश्रप्रकरणे षष्ठो

वटादिवर्गः समाप्तः ॥ ६ ॥